TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182328

UNIVERSAL
LIBRARY

तारक वध

[महाकाव्य]

रचयिता

श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

OUP—2273—19-11-79—10,000 Copies.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 S56T Accession No. P.G. H166

Author शुक्ल, गिरिजादत्त गिरीश

Title नाटक कला. 1958.

This book should be returned on or before the date last marked below.

गौरव वंश

[महाकाव्य]

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

ग्रन्थ-संख्या—२१७
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण
१२ मई१, ९५८
मूल्य १०)

आवरण पृष्ठ
श्री विजय सिनहा

मुद्रक
भार्गव प्रेस
१ बाई का बाग, प्रयाग

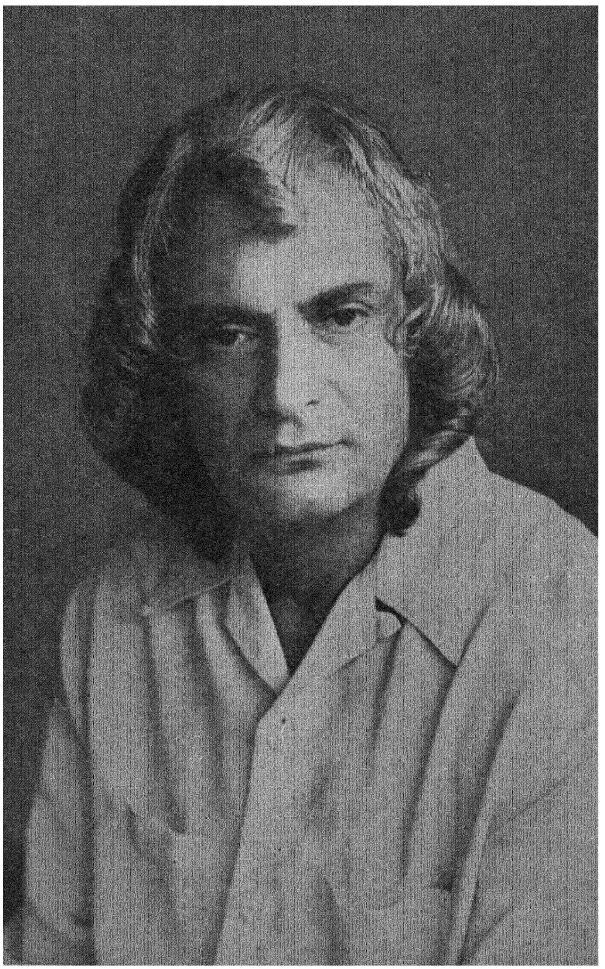

श्री सुमित्रानन्दन पंत

प्राक्कथन

'तारकवध' जैसे बृहत्काय काव्य-ग्रंथ का प्रणयन कर श्री गिरीश जी ने हिंदी महाकाव्यों के शिखरों की श्रेणी में एक नवीन शिखर जोड़ दिया है। इस युग में हिंदी में जिस अबाध गति से महाकाव्यों की सृष्टि हो रही है, उससे हिंदी की उर्वरता तथा सृजनशीलता का ही प्रमाण मिलता है, इसमें संदेह नहीं।

'तारकवध' की भूमिका लिखना सरल कार्य नहीं : और किसी भी महाकाव्य के लिए यह बात निःसंशय रूप से कही जा सकती है कि उस पर भूमिका लिखने का उत्तरदायित्व-न्यायपूर्वक केवल उसका प्रणेता ही वहन कर सकता है; क्योंकि महाकाव्य कवि का विराट् मानस-प्रासाद होता है, जिसका विन्यास विधाता की ही सृष्टि कला का नमूना होता है, जिसके अन्तःपुर में पैठना आसान नहीं होता। महाकाव्य के निर्माण में कवि अपने समस्त जीवन के व्यापक, गंभीर, सूक्ष्म, बहुमूल्य अनुभूतियों का मानव-कल्याण के लिए उपयोग एवं कलात्मक प्रयोग करता है; उसके भीतर देश, जाति या विश्व-मानवता की अनेक पीढ़ियों का जीवन-सत्य निवास करता है। संक्षेप में, महाकाव्य मानव सभ्यता के संघर्ष तथा सांस्कृतिक विकास का जीवंत पर्वताकार दर्पण होता है, जिसमें अपने मुख को देखकर मानवता अपने को पहचानने में समर्थ होती है। आलोचक प्रवर गिरीश जी ने 'तारकवध' की भूमिका स्वतः लिख कर यह कार्य अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ढंग से संपन्न किया है और मुझे स्वयं 'तारकवध' को समझने में उससे अत्यन्त सहायता मिली है।

'तारकवध' का कथानक केवल नाम मात्र को प्राचीन परिचित पौराणिक कथानक है। कवि ने उसे अपनी कल्पना का संजीवन पिलाकर, उसे वर्तमान युग की जीवन-समस्याओं का व्यापक रंगमंच बनाने के अभिप्राय से, उसका आमूल कायाकल्प कर दिया है। कथा का जीर्ण-शीर्ण पंजर नवीन प्राणों का शक्तिशाली स्पर्श पाकर मूर्त्तिमान होकर जाग उठा है। वास्तव में पात्रों के प्राचीन नामों को छोड़ कर समग्र कथावस्तु प्रतीकात्मक परिधान धारण कर, जैसे किसी जादू के बल से, मानव सभ्यता तथा संस्कृति की आधुनिकतम समस्याओं का निरूपण कर, युगमानव के सम्मुख उनका समाधान प्रस्तुत करने में सफल हो सकी है। कवि ने मानव जीवन की मौलिक, चिरंतन समस्याओं को अपने कथा-पट के तानेबाने में नये रूप से उपस्थित कर, देश

दानव और मनुष्य को एकही महासत्य के त्रिगुणात्मक रूपों में अंकित कर, उनके समन्वय-द्वारा मानव जीवन की पूर्णता का लक्ष्य सिद्ध किया है। 'तारकवध', जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, मुख्यतः रहस्यवादी महाकाव्य है।

कार्त्तिकेय या कुमार द्वारा, हिंसात्मक आदिम साधनों से तारकासुर का वध न करा कर कवि ने शृंगीऋषि द्वारा अहिंसात्मक प्रयोगों से तारकासुर का हृदय-परिवर्तन तथा रूपान्तर कर प्राचीन कथा के प्रेत को जीवित रूपक में परिणत कर दिया है। प्राचीन कथानक के भीतर से, उसकी सीमाओं को अतिक्रम कर, आधुनिकतम गांधीयुग का दर्शन मूर्त्तिमान रूप में चलता-फिरता प्रतीत होता है। इस महाकाव्य में शृंगीऋषि तथा महाराजा दशरथ की पुत्री शान्ता के चरित्र अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से उदात्त नायक तथा नायिका के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। शान्ता के हृदय को कवि ने वासना की दुर्धर्ष अग्नि में तपा कर सोने की तरह निखारा है। उसका जीवन तप्त खारे आँसुओं का मधुर पवित्र सागर है। शृंगीऋषि और शान्ता की सृष्टि कर कवि ने जैसे देशकाल-व्यापी मानव-जीवन को मथ कर उसमें से दो मानस नवनीत की शुभ्र मूर्त्तियाँ गढ़ डाली हैं, जिनका व्यक्तित्त्व अपनी व्यापक गहनता तथा पूर्णता में अनन्य एवं अनुपम है।

समस्त कथानक तथा पात्रों के चरित्रों में विकास एवं गति के चिह्न परिलक्षित होते हैं। दानवत्व तथा मनुष्यत्व के भीतर भी सर्वत्र विकास-शक्ति कार्य कर रही है। मानव जीवन का समस्त संघर्ष, कर्दम, कलुष तथा कोलाहल अनेक उत्थान-पतनों की सूक्ष्म स्थूल प्रणालियों द्वारा संतुलन तथा सामंजस्य ग्रहण करता हुआ मधुर, मनोरम, पवित्र तथा मंगलमय बन जाता है। अनेक अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती हुई मानव नियति आशा तथा शुभ का अंचल नहीं छोड़ती। शृंगीऋषि इस महाकाव्य में सच्चे प्रगतिवादी के रूप में चित्रित हुए हैं। उनके व्यक्तित्व में प्रगतिवाद का निखरा हुआ प्रकृत, परिपक्व स्वरूप सामने आता है। शांता को वह अनेक परीक्षाओं के बाद अपनी सहधर्मिणी के रूप में अंगीकार करते हैं। शृंगीऋषि की सिद्धि के योग्य सहयोगिनी बनने के लिए उसे अनेक मानसिक, प्राणिक संघर्षों के भीतर से तप कर विकसित होना पड़ता है। इस महाकाव्य में सुख-दुःख, संयोग-वियोग, संघर्ष-विराम, पूर्णता-अपूर्णता—सब के भीतर से मानव जीवन के सत्य की सार्थकता दिखायी गयी है। दशरथ यदि सामाजिकता के प्रतीक हैं तो शृंगी-ऋषि मनुष्यत्व के। देवर्षि नारद इस महाकाव्य के बृहत् कथानक के मानों सूत्रधार हैं। वह समस्त काव्य में आकाश की तरह व्याप्त मिलते हैं और

विभिन्नधर्मा घटनाओं तथा परिस्थितियों में तारतम्य मिलाते रहते हैं। उनकी वाणी की मनोमोहिनी गूँज जब तब कानों के भीतर प्रवेश कर नवीन तत्वों, तथ्यों तथा परिवेशों का उद्‌घाटन करती रहती है।

'तारकवध' के कथानक को कवि ने अपने जीवन-दर्शन का सुदृढ़ आधार दिया है। कथानक के विकास के साथ ही अत्यंत सहज और स्वाभाविक ढंग से जैसे कवि की दार्शनिक दृष्टि भी विकसित तथा विस्तृत होती जाती है। कवि का दर्शन तर्कगत विचारों तथा सिद्धान्तों से बोझिल तथा साम्प्रदायिक न होकर व्यापक, गंभीर जीवन-अनुभूतियों पर आधारित है। उसका स्रोत कवि के मस्तिष्क में न होकर उसके हृदय में है; इसीलिए वह अपनी उपयोगिता एवं कल्याणकारिता में अत्यंत मर्मस्पर्शी तथा मानवीय बन पड़ा है। गिरीशजी ने वर्तमान ऊहापोह के युग की सभी जटिल विचार-क्लिष्ट गुत्थियों पर अपनी व्यापक जीवन-दृष्टि का प्रकाश डाल कर युग की व्यक्ति-समाज, प्रगति-अगति, जड़-चेतन-सम्बन्धी धारणाओं को विरोध-मुक्त कर उनसे नवीन जीवन-सामंजस्य का पट बुना है। भौतिकता-आध्यात्मिकता, द्वैत-अद्वैत सम्बन्धी एकांगी दृष्टि को कवि ने मंगलमय सामंजस्य में बाँधकर उनकी साम्प्रदायिक हठधर्मी का उपहास किया है और यह सब सजीव कथावस्तु के विकास तथा पात्रों एवं परिस्थितियों के घात-प्रतिघात द्वारा संपन्न कर उसे काव्यगत सौन्दर्य से मंडित किया है। निःसंदेह अपने जीवन-दर्शन को काव्य का मांसल, मूर्त्त, कलात्मक रूप प्रदान कर कवि ने रससिद्धि प्राप्त की है। रुद्र और शंकर के विरोधी रूपों तथा तत्त्वों का गिरीश जी ने अत्यंत विद्वत्ता के साथ विश्लेषण-संश्लेषण कर उनकी, सृष्टि के लिए, सार्थकता तथा उनमें परस्पर एकता स्थापित की है। संहार तथा सृजन को कवि की जागरूक दृष्टि ने एक ही सत्य के दक्षिण-वाम करों की तरह सहायक तथा पूरक मान कर मानव जीवन के विकासशील सत्य को सार्वभौम चिरंतन व्यक्तित्व प्रदान किया है। शिव द्वारा मदन-दहन के रूपक को भी एक नवीन दृष्टि से देख कर कवि ने उसे अहिंसात्मक एवं रचनात्मक रूप दे दिया है। हिंसा-अहिंसा, प्रकृत-विकृत, प्रगति-अगति, रुद्र और शंकर के बाह्य दृष्टि से विरोधी द्वन्दों पर विद्वान् लेखक ने स्वयं अपनी विस्तृत भूमिका में व्यापक प्रकाश डाला है, जो मानव जीवन की जटिल गंभीर समस्याओं के हृदयंगम करने के लिए पठनीय तथा मननीय है। 'तारक-वध' की भूमिका में कवि के चिन्तक तथा द्रष्टा का स्वरूप विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। कवि के शब्दों में "प्रियप्रवास, कामायनी, साकेत आदि महाकाव्य भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से प्रेरित रचनाएँ हैं, किन्तु दानवत्व का नाश

होना चाहिए—इस बात में सभी सहमत हैं। यह दानवत्व सर्वथा तिरस्करणीय है अथवा जीवन के विधान में कहीं उसकी उपयोगिता ही नहीं, अनिवार्य आवश्यकता भी है, उसका निवास केवल कतिपय दानवों के व्यक्तित्व में है अथवा हमारे समाज में ऐसी जगहों में भी है, जहाँ उसके होने की कम से कम आशा की जाती है, इन्हीं और इनके ढंग के अन्य आनुषंगिक प्रश्नों का उत्तर खोजने की दिशा में 'तारकवध' एक प्रयोग है। इस दृष्टि से 'तारकवध' पिछले आधुनिक महाकाव्यों से एक पृथक् सत्ता रखता है।"

कवि और उसके पाठकों के बीच व्यवधान-स्वरूप न बन जाने के कारण ही मैं इस महाकाव्य की विशेताओं की ओर पाठकों का ध्यान कम-से-कम शब्दों में आकर्षित करना चाहता हूँ। यह सत्य है कि बिना समुद्र-मंथन किये उसके रत्न उपलब्ध नहीं हो सकते। 'तारकवध' महाकाव्य भी मानव जीवन की अनुभूतियों का आरपार-व्यापी महासागर है, जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए कागज की नाव छोड़ने से काम नहीं चलेगा। उसके अन्तस्तल में पैठ कर उसका गंभीर मनन करना पड़ेगा। कवित्व तथा शिल्प-सौंदर्य की दृष्टि से 'तारकवध' एक महत् दर्शनीय पर्वत फलक के समान है, जिसमें कवि ने अपनी प्रखर कला-कल्पना की छेनी से मानव मानस की अनुभूतियों का सूक्ष्मतम सौंदर्य अंकित कर काल के गर्भ में विलीन निष्क्रिय पौराणिक आख्यान को नवीन मानव जीवन का स्पंदन कंपन प्रदान कर उसे कलापारखियों के मनश्चक्षुओं के सम्मुख साकार एवं मूर्तिमान कर दिया है। 'तारकवध' में 'छायावाद', 'प्रगतिवाद' तथा 'प्रयोगवाद' के सभी काव्यात्मक कला-तत्त्व महाकाव्य के व्यापक पट में अवतरित होकर अधिक हृष्ट-पुष्ट, आयामयुक्त, मूर्त्त, उपयोगी तथा मर्मस्पर्शी बन गये हैं। कवि की इच्छा अपने महाकाव्य को लोकप्रिय बनाने की रही है, जो कि इस भू निर्माण के युग की सर्वावश्यक माँग है, इसीलिए उसने माधुर्य, पद-लालित्य, भावव्यंजना, अलंकरण तथा ध्वन्यात्मकता के साथ सारल्य तथा प्रसाद गुण को इसमें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। 'तारकवध' की शैली इतनी सहज, सरल तथा स्वाभाविक है कि उसके भाव शब्दों में स्वतः अंकुरित तथा प्रस्फुरित होते हुए से प्रतीत होते हैं एवं अनायास ही हृदयंगम हो जाते हैं, जिसे मैं कवि की विशेष सफलता मानता हूँ।

समस्त महाकाव्य अनेक मनोरम एवं विस्तृत प्राकृतिक चित्रों एवं सौन्दर्य-वर्णनों से ओत-प्रोत है। निसर्ग के विभिन्न मनोमुग्धकर रूप आँखों के सामने खुलते रहते हैं। ऋतु वर्णनों को कवि ने विशेष रूप से सँवारा है। अष्टम सर्ग में पावस वर्णन अनेक मौलिक उपमा-रूपकों में उष्ण प्रधान भारत के प्रावृट

के ऐश्वर्य को उद्घाटित करता है। यत्र-तत्र विशेष स्थलों पर मधुर गीतों के पद छंदों के अंचल-पट में गुंफित कल-कल बहते हुए झरनों की तरह हृदय में माधुर्य का स्रवण करते रहते हैं। त्रयोदश सर्ग के अन्तर्गत कवि ने मुक्त छंद का प्रयोग भी अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। शंकर आदि के स्तवन अत्यन्त तन्मयता से लिखे गए हैं। मैंने उद्धरणों का समावेश कर अपने कथन को व्यर्थ का आकार देना उचित नहीं समझा, वैसे इस महाकाव्य में अनेक ऐसे मधुर, मनोरम, मर्मस्पर्शी स्थल मिलते हैं जो अपने कवित्व, भाव-गाम्भीर्य, विचार-उत्कर्ष, नैसर्गिक सौन्दर्य तथा कला-शिल्प की अभिव्यंजना की दृष्टि से अद्वितीय बन पड़े हैं और अनायास ही सहृदय पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि 'तारकवध' नामक महाकाव्य श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' की हिन्दी-साहित्य को महान् देन है। इतने बृहत् ग्रन्थ के प्रणयन के लिए जिस हृदय-मंथन, चिन्तन, चयन, अध्ययन, संयम, संयोजन, धैर्य तथा सर्वोपरि अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है, उसका अनुमान लगाकर ही इस कृति के प्रति मस्तक संभ्रम से झुक जाता है। महाकाव्य के रसास्वादन के लिए लगन, श्रद्धा, एकांत, अवकाश एवं सर्वाधिक सहृदयता से प्लावित कवि-हृदय चाहिए। महाकाव्य का पठन तीर्थाटन के समान हृदय मुग्धकर, पवित्रकर तथा आत्मोन्नयनकारक है। मुझे विश्वास है कि श्री गिरीश जी के काव्यशृंग को हिन्दी पाठकों का सहज स्नेह तथा सम्मान सुलभ हो सकेगा। इसके प्रकाशन में गिरीश जी को जितना कष्ट उठाना पड़ा है वह किसी से छिपा नहीं है। आज इसे इस सुन्दर वरेण्य रूप में उपस्थित देखकर हृदय में जिस आनंद का अनुभव होता है वह अवर्णनीय है। कवि का यह जरामरण-हीन शुभ्र यशः काय भारती के भंडार की शोभावृद्धि करेगा, यह वह स्वयं प्रमाणित कर सकेगा। शुभास्तु

१४।३।१९५८

सुमित्रानंदन पंत

लेखक के दो शब्द

[१]

समय कभी-कभी असंभव प्रतीत होनेवाली बातों को भी संभव कर दिखाता है। सन् १९२६ में जब मैंने इस महाकाव्य की नींव डाली थी, मैं नहीं जानता था कि इसे कभी लिख पाऊँगा। समस्त बाधाओं को पार करके सन् १९४७ में मैंने इसे समाप्त किया। तब ऐसा जान पड़ने लगा कि इसका प्रकाशन मेरे जीवनकाल में नहीं हो सकेगा। वह बाधा भी आज पार हो सकी है और मेरे जिस कार्य को मेरे अनेक मित्रों ने, अत्यन्त औचित्यपूर्वक, अव्यावहारिक कहा था, वह भी काल की कृपा से आज सम्पन्न हो गया है। यह सब मेरे लिए संतोष की बात है।

'तारकवध' के निर्माण के मूल में कौन सी समस्या है, उसमें किस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, उसका मर्मस्थल कहां है, इसकी एक संक्षिप्त व्याख्या, सहृदय पाठकों की सहायता के लिए, मैं कर देना चाहता हूं।

'तारकवध' में जो प्रधान प्रश्न उठाया गया है, वह यह है कि हमारे जीवन में दानव का क्या स्थान है? वह हमारी घृणा का, हमारे क्रोध का पात्र है अथवा हमारी करुणा का, कृतज्ञता का, हमारे प्रेम का? वह विकृत हिंसक कैसे बना? विकृत हिंसा से उसकी तथा उसके द्वारा बंधन में पड़ने वाले लोगों की मुक्ति कैसे होगी? इस प्रश्न का जो उत्तर 'तारकवध' में दिया गया है, वह यह है कि दानव-मानव-देव की आन्तरिक एकता के कारण दानव मूलतः हमारी करुणा, हमारी कृतज्ञता ही का अधिकारी होने योग्य है; उसे हमारा प्रेम-दान ही मिलना चाहिए। उक्त प्रश्न और उत्तर के मध्य में प्रगति-अगति, रुद्र-शंकर, अग्नि-जल, केन्द्रापसरण-केन्द्रानुसरण आदि में निहित दानव-मानव-देव की मौलिक अभिन्नता को हृदयंगम कराने का प्रयत्न चला चलता है। इस अभिन्नता के पहचानने में ही ज्ञान है, धर्म है—'तारकवध' ने अपने कथानक में यही तत्त्व भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा संघटित आघात-प्रतिघात के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है। 'तारक-वध' की आधारभूत इसी विचारा-धारा के सम्बन्ध में कुछ कथन करने के अनंतर मैं उसके काव्य-स्वरूप की भी स्थानाभाव से केवल एक साधारण चर्चा करूँगा।

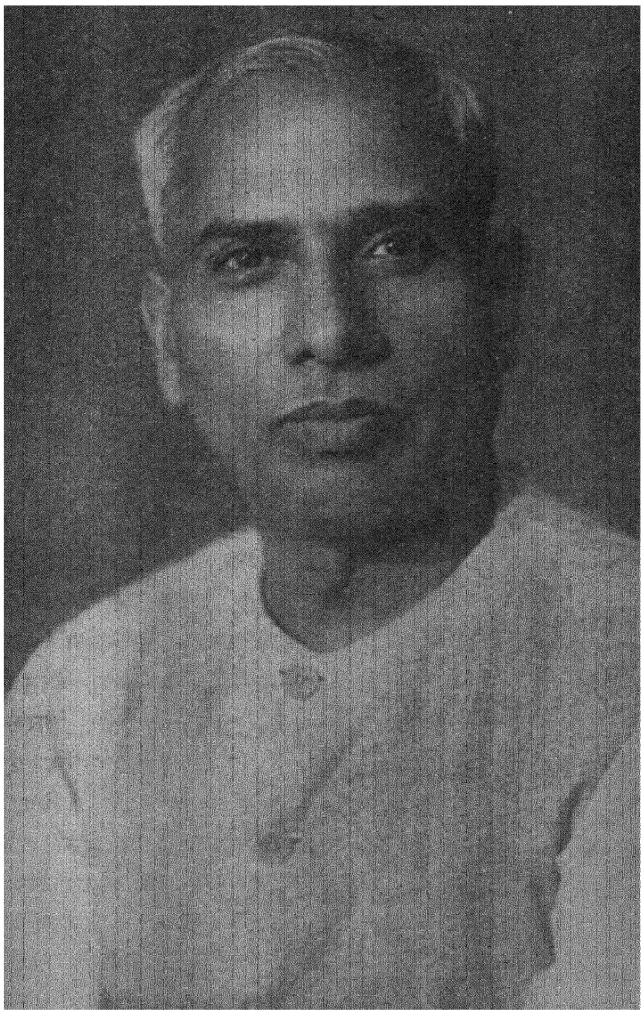

श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

[२]

सम्पूर्ण सृष्टि प्रगति की भावना से अनुप्राणित है, यही नहीं, सृष्टि और प्रलय का क्रम एक विराट् प्रगति-योजना का अंगमात्र है। जैसे प्रत्येक सृष्टि के साथ निश्चित रूप से एक विलय है, वैसे ही प्रत्येक प्रगति के साथ एक अगति अथवा विश्राम भी सुनिश्चित है, भले ही उसकी अवधि अत्यन्त स्वल्प हो। क्रिया और प्रतिक्रिया की तरह प्रगति और अगति का जोड़ा अविराम रूप से कार्यशील रहता है। यहां अगति में मैं निश्चित रूप से किसी निषेधात्मक तत्त्व का समावेश नहीं मानता हूं. कालचक्र में अगति भी उतनी ही रचनात्मक हो सकती है जितनी प्रगति है; प्रगट रूप में विरोधी होने पर भी वास्तव में दोनों एक दूसरे की पूरक हैं और दोनों ही मिलकर सम्पूर्ण, अविभाजित ऐक्य का निर्माण करती हैं। इसी शाश्वत, पूर्ण अविभाजित ऐक्य को जीवन में अनुभव करने की ओर अग्रसर होना मानव व्यक्तित्त्व का धर्म है; उसका यह कार्य कभी प्रगति के द्वारा और कभी अगति के द्वारा सम्पन्न होता है। जब प्रगति विशेष रूप से क्रियाशील होती है तब भी वह अगति को अपने अंक में लिये चलती है और जब अगति प्रधानता ग्रहण करती है तब भी वह प्रगति को सर्वथा त्याग नहीं देती। प्रगति बहिर्मुखी है, अगति अन्तर्मुखी। मानव व्यक्तित्त्व के विकास के लिए यदि बहिर्मुखी आदर्शों की आवश्यकता है तो साथ ही साथ अतर्मुखी आदर्शों के साथ उनका समन्वय भी कम अपेक्षित नहीं है। मैंने 'तारक-वध' में यही समझाने की चेष्टा की है कि यदि कहीं पुण्य है तो वह इसी समन्वय को प्राप्त करने में है, और यदि कहीं पाप है तो वह इसी सामञ्जस्य, इसी संतुलन को खोकर एकांगी हो जाने में है।

यहां प्रगतिवाद के जिस स्वरूप की ओर इंगित किया जा रहा है, उसमें प्रत्येक प्रगति अपने साथ आने वाली अगति से नूतन उत्साह, नवीन स्फूर्ति प्राप्त करती हुई अग्रसर होती है और वह परिस्थिति भी आती है जब अगति की वेष-भूषा धारण कर लेती है और वह अगति किसी अचिन्त्य महा अगति में विलीन होकर उस समय तक प्रतीक्षा करती है जब तक प्रगति के नवीन, भयंकर विस्फोट के रूप में व्यक्त होने के लिए वह तैयार नहीं हो जाती। भारतीय दार्शनिकों ने जिसे ब्रह्म कहा है वह उक्त महा अगति एवं महा प्रगति के सम्मिलन, समन्वय से भिन्न अन्य कोई तत्त्व नहीं। ब्रह्म जहां समस्त स्थूल तत्त्वों को अपनी ओर आकर्षित करता है वहां वह उन्हें नवीन परिवर्तित रूप में आकस्मिकता की सारी शक्ति के साथ फेंकता भी रहता है।

उसके विकर्षण से सृष्टि का प्रसार एवं आकर्षण से सृष्टि का लोप अथवा प्रलय प्रस्तुत होता है। यह विकर्षण और आकर्षण अनादि, अनन्त, अज्ञेय, अनिर्वचनीय रूप से चलता है और जहां प्रथम तत्त्व सृष्टिगत समस्त विषमताओं, संघर्षों और समस्याओं को जन्म देकर उनका अधिकतम विस्फोट करता है, वहां द्वितीय तत्त्व उनका समाधान और अवसान प्रस्तुत करके, उन्हें आत्मसात् करके, स्वयं भी अपने महाकेन्द्र में विलीन हो जाता है।

यहां जो बात कही जा रही है उसका समर्थन द्वन्दात्मक दार्शनिक ज़ेनो* ने ईसा के पाँच शताब्दी पूर्व किया था। उसका कहना है कि जिस समय बाण वेग से चला जा रहा है उस समय भी अपने मार्ग के किसी निश्चित विंदु पर उसका होना और एक निश्चित स्थान ग्रहण करना अनिवार्य है, ऐसी स्थिति में वह प्रत्येक क्षण एक निश्चित विन्दुपर गतिहीनता अथवा अगति की स्थिति में है और हम कह सकते हैं कि वह गति नहीं कर रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विरोधी कथनों का आश्रय लिये विना प्रगति की अभिव्यक्ति ही नहीं की जा सकती। वाण एक निश्चित स्थान में है, और फिर भी उस स्थान में नहीं है—एक साथ ही इन दोनों विरोधी बातों की अभिव्यक्ति करके ही हम प्रगति को यथार्थ रूप प्रदान कर सकते हैं। ज़ेनों के मत का यह सारांश है।

हींगेल‡ नामक दार्शनिक का भी कहना है कि विरोध ही समस्त जीवन और प्रगति का मूल है; अपने ही भीतर विरोधी तत्त्व की उपस्थिति के कारण प्रत्येक वस्तु गति, प्रेरणा और क्रियाशीलता प्राप्त करती है। समस्त प्रगति और विकास की यही प्रक्रिया है।

---

* An arrow in the course of its flight is bound to be at some definite point of its path and occupy some definite place. If that be so, then at each given moment it is at a definite point in a state of rest, that is motionless; hence it is not moving at all. We therefore see that motion can not be expressed without resorting to conradictory statements. The arrow is in a given place, yet at the same time is not in that place. It is only by expressing both these contradictory affirmations coincidentally that we can depict motion.

‡Contradiction is the root of all motion & of all life. It is only because a thing contains a contradiction within itself that it moves and acquires impulse and activity. That is the process of all motion & all development.

—Hegel.

भारतीय ब्रह्मवाद जेनो और हीगेल की इस विचार-धारा से ओत-प्रोत है। ब्रह्मवादी ब्रह्म को प्रगति और अगति का मिलन-विन्दु मानकर कहते हैं कि वह है भी और नहीं भी है। उसके पैर नहीं हैं, फिर भी वह चलता है; उसके हाथ नहीं हैं, फिर भी वह काम करता है, उसके मुँह नहीं है, फिर भी वह सब रसों का भोग लेता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म-निरूपण के प्रसंग में कहा गया है।

"त्वमक्षरं, परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वत धर्म्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।"

एक ओर सम्पूर्ण संसार का निवास-स्वरूप, उक्त अव्यय, सनातन ब्रह्म अचल है, दूसरी ओर वह चलायमान है :

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।"

× × ×

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव-समन्विताः।"

तात्पर्य यह है कि भारतीय ब्रह्मवाद में मुझे प्रगति का प्रकृत स्वरूप दिखलायी पड़ा—वह स्वरूप जो बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों ही प्रकार के आदर्शों से समन्वित होने के कारण मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए विशेष रूप से सहायक हो सकता है। प्रगति-सम्बन्धी इस विचार-धारा को मैंने केवल एक वाद के रूप में नहीं, वरन पूर्ण सत्य के रूप में ग्रहण किया है और उसी के आधार पर 'तारकवध' के कथानक की रचना की है।

प्रगति और अगति-रूप दृश्य के द्रष्टा के रूप में यदि हम ब्रह्म को ग्रहण कर लें तो वर्त्तमान युग का अधिकांश विवाद समाप्त हो जाय; 'अधिकांश' इसलिए कहता हूं कि बात द्वन्दात्मकता तक ही परिमित नहीं है; उसके साथ भौतिकवाद के संगठन ने एक सरल विषय को जटिल बना दिया है। हीगेल का द्वन्दवाद आदर्शवाद से पीड़ित बतलाया गया है और कहा गया है कि उसके सम्पूर्ण दर्शन के मूल में विचार की प्रगति मात्र है। इसके विपरीत मार्क्स और लेनिन ने द्वन्दवाद को भौतिकवादी साँचे में ढाला है और जड़ पदार्थ को ही प्रत्येक वस्तु का आधार मान कर कहा है कि उसे हमारे मन के बाहर स्वतन्त्र अस्तित्त्व प्राप्त है। वे बाह्य जगत् के जड़ पदार्थ को प्रधान और मन को गौण स्थान देते हैं। उनका कहना है कि मन मस्तिष्क ही की क्रियाशीलता से उत्पन्न है तथा जड़ पदार्थ की एक विभूति है, जिसमें बाह्य

जगत् बिम्बित होता है। उनके मतानुसार मस्तिष्क के बिना मन अथवा विचार का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

भौतिकवाद के विरुद्ध मैं कोई विशेष तर्क नहीं प्रस्तुत करूँगा, यहां उसके लिए उचित स्थान नहीं है; थोड़े में मुझे केवल यही कहना है कि वह प्रगति को उसके केवल एक रूप में देखने की चेष्टा कर रहा है, केवल एक पक्ष उसके सामने आ रहा है, जिसमें प्रगति पदार्थवादी परिधान पहनती दिखायी पड़ रही है; वह प्रगति के उस स्वरूप को नहीं देख रहा है जिसमें वह अपनी ही तीव्रता से क्लान्त होकर, क्रमिक विश्रान्ति के उद्देश्य से, प्रगति की परिहार-मूलक वेषभूषा स्वीकार करती तथा महा अगति एवं महा प्रगति के समन्वय रूप ब्रह्म में अपने आप को निमज्जित करके वहीं से पुनः नवीन विस्फोट के लिए तैयार होती है। दार्शनिक ज़ेनो ने बाण की गतिशीलता और अगतिशीलता की जो बात कही है, मैं तो उसी का औचित्य स्वीकार करता हूं; हां अपनी ओर से उसमें इतना और बढ़ा देता हूं कि वह बाण समरांगण में अवतीर्ण रामचंद्र का बाण है जो भयंकर वेग से उनके तूणीर से निकलकर शत्रु के हृदय में प्रवेश करता है तथा अपेक्षाकृत प्रशमित होकर अपनी तीक्ष्णता को अपने ही अंतर में छिपाये हुए पुनः तूणीर में प्रवेश करता है और वहां अपना विश्राम प्राप्त करने के अनन्तर शत्रु के हृदय को विदीर्ण करने के लिए फिर भीषण आवेग लेकर प्रगतिशील होता है।

एकान्त भौतिकवाद हमें अपने लक्ष्य पूर्ण सत्य तक नहीं पहुँचा सकेगा और न एकान्त अध्यात्मवाद ही इस कठिन कार्य की सिद्धि में सफल होगा। इस युग्म-सम्बन्धी पार्थक्य धारणा ही देव-दानव-मानव की अन्तर्निहित अभिन्नता में भिन्नता की प्रतीति कराती है। वास्तव में प्रगति और अगति, भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का सम्मिलन, समन्वय ही हमारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकेगा।

'तारकवध' न एकान्त प्रगति का समर्थक है और न एकान्त अगति का; वह न एकान्त भौतिकवाद के पक्ष में है और न एकान्त अध्यात्मवाद के पक्ष में। उसने हाथी के पैर, पूँछ, सूँड़ आदि को पाकर हाथी का अनुमान मात्र किया है, उसी को हाथी नहीं मान लिया है; प्रगति और अगति का, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का जहां सम्मिलन होता है और जहां से उनकी यात्रा आरम्भ होती है उसी संधि-स्थल का अनुसंधान ही उसका अभीष्ट है; दो विरोधी तत्वों के प्रसार रूप में प्रवाहित जीवन का आप चाहें तो उसे महाकेन्द्र समझिए, चाहे ब्रह्म कहिए, चाहे शून्य कहिए,—'तारकवध' को नाम-विशेष के

सम्बन्ध में कोई आसक्ति नहीं है। हां, उसका एक आग्रह भी है—जीवन के अमृत का पान करके अमर वही हो सकेगा जो अनन्त विभिन्नताओं और विषमताओं के अन्तर में प्रवाहित एकता का दर्शन कर सकेगा, जो अगति को लेकर प्रगति को तिरस्कृत नहीं करेगा, जो अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में से किसी एक को स्वीकार करके अन्य को ठुकरा न देगा। जो इस सम्बन्ध में असमंजस और दुविधा में पड़ेगा वह अमरत्व से भ्रष्ट होकर मानवत्त्व की परिस्थितियों में भटकेगा और जो उक्त पूर्ण सत्य का हठपूर्वक तिरस्कार करेगा वह और भी नीचे खिसककर दानवत्त्व की कठोर दुर्भावनाओं, दुष्कर्म्मों और दुष्परिणामों से आक्रान्त बनेगा।

[३]

प्रगति में उष्णता है, सघर्ष है, उत्तेजना है, क्रोध है, अग्नि है, अतएव उसका प्रतिनिधि रुद्र है; अगति में शीतलता है, उदासीनता है, धैर्य्य है, शान्ति है, जल है, अतएव उसका प्रतिनिधि शंकर है। रुद्र में रुद्रत्व होने के साथ ही साथ शंकरत्व भी है; इसी प्रकार शंकर में शंकरत्व होने के साथ ही साथ रुद्रत्व भी है। इस पूर्ण सत्य से बहुत अधिक दूर प्रगति न करने के कारण अमर सृष्टि के विधान में आकर साधना के बिना भी, अपने अमरत्व को सँभाले रहता है; किन्तु मानव बहुत अधिक दूर प्रगति कर लेने के कारण ही संशय-मग्न हो जाता है और या तो साधना का अवलम्ब लेकर पुनः अमरत्व को प्राप्त करता है या सहज रूप से अधोगामी होकर दानवत्व के जाल में आबद्ध होता है। दानव साधना द्वारा मानवत्व की ओर तथा पुनः साधना द्वारा अमरत्व को प्राप्त होकर उक्त सन्तुलन-विशिष्ट, समन्वयपूरक पूर्ण सत्य के समीप पहुँचता है। 'तारकवध' ने सृष्टि का जो विधान प्रस्तुत किया है उसमें दानव भी इस प्रकार साधना द्वारा दिव्य प्रकाश से सम्पन्न होकर देव हो सकता है, और देव भी पूर्ण सत्य से बहुत अधिक दूर प्रगति करने के कारण दानव हो सकता है। एक ही नियम के शासन में दानव-मानव-देव सभी को चलना पड़ता है।

रुद्र और शंकर में कोई मौलिक भिन्नता नहीं है, दोनों ही अन्योन्य प्रतिक्रियात्मक हैं। जहां रुद्रत्त्व की शक्ति पराकाष्ठा को पहुँचती है और आगे अपने लिए मार्ग नहीं पाती, वहीं ऊर्ध्वगति का त्यागकर वह शंकरत्त्व को धारण करती है और अधोगामिनी होकर चलती है। रुद्रत्त्व की शक्ति का यह चरम विन्दु रुद्र का महाताण्डव नृत्य है। सृष्टि में प्रथम अवतरण होने के कारण उन्हें और कुछ न मिलने पर अपना ही संहार करना पड़ता है। इस आत्मसंहरण

के परिणाम-स्वरूप उन्हें क्लान्त होना पड़ता है, उनकी महाशक्ति उनसे पृथक् होकर वियोगिनी हो जाती है; प्रगतिशील, भयानक, हिंसक रुद्र प्रगतिशील, मनोहर, अहिंसक शंकर के रूप में परिणत होते हैं और जहां पहले अगति को अपने हृदय में धारण कर के प्रगति ज्वालामुखी पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़ रही थी, वहां अब प्रगति को अङ्क में धारण करके अगति महासमुद्र के तल की ओर धँसने लगती है। रुद्र आकाश है तो शंकर पाताल; इन्हीं दोनों के बीच में सम्पूर्ण जीवन दामिनी को कौंध और नदियों के कलरव के स्वर में प्रवाहित होता चलता है।

रुद्र का अवतरण प्रगति का प्रथम तथा उनके आत्मसंहरण के कारण महाशक्ति का पृथक् अस्तित्व ग्रहण करके वियोगिनी होना उसका द्वितीय चरण है। अब महाशक्ति के सामने समस्या यह है कि समाधि की ओर उन्मुख प्रियतम में फिर से उमङ्ग का संचार कैसे हो, शंकरत्त्व का परिहार और रौद्र भावना का संस्कार किस प्रकार सम्पन्न हो? नवीन, मनोहारिणी, रसोन्मेषिनी सृष्टि प्रस्तुत करके उन्हें रिझाना ही उसे एकमात्र उपाय जान पड़ता है और इस कार्य की प्रगति के लिए नियोजनीय सामग्री प्राप्त करने के उद्देश्य से वह कामदेव को शंकरत्त्व-प्राप्त रुद्र के पास भेजती है। पूर्णसत्य की समष्टि पर अपने त्रिशूलाघात द्वारा तोड़-तोड़कर अनेक खण्ड-सत्य प्रस्तुत करने के लिए वे तैयार हो जाते हैं, आंशिक रुद्रकला धारण करते हैं और स्वयं कामदेव से ही अपना संहार-कार्य आरम्भ करते हैं और आत्मसंहरण के स्थान में परसंहरण की नींव डालते हैं। महाशक्ति के आदेश के अनुसार, उपलब्ध सामग्री के आधार पर सृष्टिकार रचना-कार्य को अग्रसर करते हैं। वे पृथ्वी का निर्माण करके उत्तरी ध्रुव में देव को, दक्षिणी ध्रुव में दैत्य को और मध्य में मानव को स्थान देते हैं। मर्त्यलोक में जाने के पूर्व अपनी तपस्या द्वारा दानव रुद्र और महाशक्ति को अपने वश में कर लेता है और वे प्रेमपूर्वक अपने हिंसात्मक अस्त्रों को उसके हवाले करके मर्त्यलोक में शंकर और पार्वती के रूप में समाधिस्थ होने के लिए चले जाते हैं। अस्त्रों को देते समय खंड-रुद्र और खंड-महाशक्ति दोनों ही का आग्रहपूर्ण आदेश यह होता है कि वह उनके द्वारा उन लोगों का हनन करे जो सृष्टि-धारण एवं सौन्दर्य-वर्द्धन-विषयक महाशक्ति की इच्छा की ओर ध्यान न देकर विकृत अहिंसा और विकृत हिंसा द्वारा उसके अंगों को पीड़ा पहुँचाते हैं। इस प्रकार उसे आवश्यकता पड़ने पर प्रकृत हिंसक मात्र होने का आदेश था। किन्तु प्रमाद-मग्न होकर उसने इस आदेश को भुला दिया और स्वयं ही विकृत हिंसक का कार्य

अपना लिया। उसने यह घोषणा भी कर दी कि देवता हमारे परम शत्रु हैं, मनुष्य हमारा खाद्य है, परसंहरण और हरण हमारा धर्म है और एक मात्र रुद्र हमारे आराध्य देव हैं। उसने अपने राज्य में ललकार कर कह दिया कि शंकर देवताओं और मनुष्यों के पूज्य हैं, अतएव हमारे यहां उनकी पूजा वर्जित रहेगी। इस प्रकार उसने रुद्र और शंकर में विभेद-भावना का प्रचार किया तथा घृणा और द्वेष, उत्तेजना और क्रोध, कलह और संघर्ष की गहरी नींव डाल दी।

[४]

रुद्र कौन है? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों ने दिया है। अथर्वशिर उपनिषद का कहना है—"देवाह वै स्वर्गलोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति। सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं, वर्त्तामि, भविष्यामिच, नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति।"

* * * *

"यत्सूक्ष्मं तद्वैद्युतम्, यद्वैद्युतं तत् परं ब्रह्म, यत् परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रः, यो रुद्रः स ईशानः, य ईशानः स भगवान् महेश्वरः।"

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है—

"यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो, रुद्रो महर्षिः।
हिरण्य गर्भमपश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्त।"

तैत्तिरीयारण्यकोपनिषद का कथन है—

"ऋतं (रुद्रं) सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्ण पिंगलम्।
ऊर्ध्वरेतं, विरूपाक्षं, विश्व रूपाय वै नमः।"

* * * *

"सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु।"

ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि अग्नि ही रुद्र है और उसके (१) घोर तथा (२) शिव, ये दो स्वरूप हैं—

"अग्निर्वै रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वौ, घोरान्या च शिवान्याच।"

श्री ऐंटानी मैक्डानेलने अपनी वेदिक रीडर नामक पुस्तक में रुद्र के सम्बन्ध में लिखा है—

"उसके होंठ सुन्दर हैं, रंग बादामी है, सिर पर बड़े-बड़े बाल हैं, उसका शरीर सूर्य के समान देदीप्यमान है। वह वज्र हाथ में लिये हुए है तथा आकाश से विद्युत रूपी प्रचण्ड बाण चलाता है।"

इस सम्बन्ध में श्री डासन, एक पाश्चात्य विद्वान्, का कथन भी उल्लेखयोग्य है। उन्होंने निम्न-लिखित ढंग से रुद्र का वर्णन किया है—

"यह रुद्र घोर गर्जन करनेवाला देव है, जो तूफान का अधिष्ठाता और

रुद्रों अथवा मरुतों का पिता है। कभी-कभी इसका सम्बन्ध अग्निदेव से जोड़ा जाता है। यह देवता रोग-प्रसारक एवं संहारक भी समझा जाता है, साथ ही इसे आरोग्यप्रदायक एवं सुखदाता भी माना जाता है। यही मूल अंकुर है जिसे आगे चल कर शिव का रूप प्राप्त हो गया।"

उक्त अवतरण में अन्तिम वाक्य ध्यान देने योग्य है, उसका स्पष्ट संकेत इस बात की ओर है कि रुद्र ही की प्रतिक्रिया शिव है।

रुद्र प्रगतिकारक, प्रसारकारक है, यह कहा जा चुका है, शिव इसका ठीक विपरीत है—अर्थात् वह अगतिकारक, आकुञ्चनशील है। "श्येते सर्वम् यस्मिन् इति शिवः"—जिसमें सब कुछ समा जाय वह शिव है। रुद्र की एक विशेषता है उसका हिंसात्मक आग्नेय स्वरूप; इसके विपरीत शिव साम्ब, जलमय कहा गया है:—

"श्रुतयश्च पुराणानि भारतादीनि सत्तम।
शिवमेव सदा साम्बं हृदि कृत्वा ब्रुवन्तिहि।"

समस्त भूतों (प्राणियों आदि) का निवास शिव ही में है:—

"सर्वानन शिरोग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।"

सृष्टि के प्रथम अवतरण रुद्र हैं, किन्तु सृष्टि के पूर्व तो शिव ही थे। कहा गया है :—

"यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रि नं सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं, तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।"

ये शिव सृष्टि के पूर्व किस रूप में थे, 'तारकवध' ने इसका स्पष्ट विवेचन किया है। उसका कहना है कि रुद्र के विस्फोट की चरम परिणति के अनन्तर केन्द्रानुसारिणी अथवा आत्मविलयन प्रवृत्ति के वशीभूत होकर शिव रुद्र के प्रसार को क्रमशः उदरस्थ करते हैं, समाधिस्थ होने की प्रवृत्ति रखने के कारण अपने अन्तर में सम्पूर्ण विश्व को समाधिस्थ करने की चेष्टा करते हैं और जब यह कार्य सम्पन्न हो जाता है तब प्रगति और अगति के समन्वय-स्वरूप, असत् और सत् के मिलन-विन्दु के रूप में मान्य अचिन्त्य ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। उस अवस्था को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि सृष्टि के पूर्व न अकेला सत् था और न अकेला असत् था, वरन ब्रह्मीभूत शिव रुद्र-विस्फोट के रूप में व्यक्त होने की प्रतीक्षा कर रहे थे; परम अगति परम प्रगति का रूप ग्रहण करने के लिए आतुर हो रही थी।

मैंने अभी कहा है कि सृष्टि से पूर्व शिव थे—वह सृष्टि जिसके प्रथम

अवतरणरुद्र हैं। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि सृष्टि से पूर्व रुद्र क्यों माने नहीं गये ? इस प्रश्न का कोई समाधानकारक उत्तर प्राप्त कर लेना आवश्यक है, क्योंकि 'तारकवध' की कथा का प्रारम्भ रुद्र के विस्फोट से किया गया है।

रुद्र अग्नि है और शिव जल है, यह अभी मैं कह आया हूं। थोड़ी देर के लिए रुद्र और शिव को ध्यान से हटाकर हम अपने सामने अग्नि और जल को ही रखें और उक्त प्रश्न को यह स्वरूप दे दें—सृष्टि का प्रथम अवतरण अग्नि है अथवा जल ? छान्दोग्य उपनिषद् ने इसके उत्तर में जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि प्रारम्भ में केवल ब्रह्म था और उसके अतिरिक्त और कुछ न था। एक से अनेक होने की प्रेरणा के वशीभूत होने पर इस ब्रह्म ने अग्नि को उत्पन्न किया। एक से अनेक होने की उक्त भावना ही से प्रभावित होकर अग्नि ने जल को उत्पन्न किया। × × × (६, २,१-७)

'तारकवध' में कहा गया है कि महाशक्ति के आदेश से कामदेव ने शंकरीभूत रुद्र में, ब्रह्मा और विष्णु में जागरण, उष्णता-संचार किया। इसका यही तात्पर्य है कि सृष्टि में प्रथम अवतरण अग्नि ही का है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि पहले शरीर में उष्णता का संचार होता है, उसके अनन्तर पसीने का; पहले पृथ्वी सूर्य द्वारा तप्त होती है तब उस पर बादल जल की वृष्टि करते हैं। इस प्रकार अग्नि और जल की अभिन्नता स्वयंसिद्ध है। अतः जो इस अभिन्नता को अस्वीकार करता है वही अज्ञानी है, वही पापी है, वही शोचनीय है; इसके विपरीत जो इस अभिन्नता को अंगीकार करता है, इसी के निकट निवास करता है वही ज्ञानी है, वही धार्मिक है, वही धन्य है।

अग्नि के अनन्तर जल का अवतरण तो सिद्ध हो गया, किन्तु फिर प्रश्न किया जा सकता है कि अग्नि के पूर्व क्या था? इसका उत्तर 'तारकवध' में यह दिया गया है कि अग्नि से पृथक अस्तित्त्व प्राप्त कर के जल, अन्ततोगत्त्वा, अग्नि और जल दोनों ही के समन्वय-रूप तत्त्व में विसर्जित हो जाता है और वहीं से यथासमय अग्नि के विस्फोट रूप में प्रगट होता है। दूसरे शब्दों मे, अग्नि जल के रूप में और जल अग्नि के रूप में क्रम-क्रम से व्यक्त होता रहता है।

सूक्ष्म दशा में जिस तत्त्व को हम सोम कहते हैं वही घन होने पर वायु और अधिक घन होने पर अप् अर्थात् जल कहा जाता है। इसलिए यदि हम चाहें तो अग्नि और जल के स्थान में अग्नि और सोम भी कह सकते हैं। जल की तरह ही अग्नि की भी तीन अवस्थाएं हैं, पृथ्वीलोक की अग्नि ही अंतरिक्ष लोक में वायु और द्युलोक में आदित्य रूप में परिणत हो जाती है। सूर्यमण्डल से परे जाकर उक्त अग्नि सोम रूप में परिणत होती है और अधोगामी

होकर पहले वायु और उसके अनंतर जल का रूप धारण करती है ! सूर्यमण्डल से परे सोम की गति एक निश्चित सीमा तक मानी गयी है, उसके अनन्तर उसे अधोगामी होना ही पड़ता है। अब अग्नि के स्थान में रुद्र तथा जल के स्थान में शिव को प्रस्तुत करके हम रुद्र की बाह्यगतिशीलता, विकासशीलता, प्रसरणशीलता और विरलता एवं शिव की अंतर्गतिशीलता, संकोचशीलता, आकुंचनशीलता, तथा घनीकरणशीलता की प्रवृत्तियों को सहज ही हृदयंगम-कर सकते हैं। रुद्र की केन्द्रापसरणशीलता, और शिव की केन्द्रानुसरण-शीलता एवं उभय के समन्वय में जीवन के प्रगतिवाद-विषयक रहस्य का उद्घाटन भी यहीं हो जाता है। ब्रह्म के व्यक्त रूप संसार का सच्चा स्वरूप भी हमें यहीं झलकने लगता है—वह संसार जो न अकेली सृष्टि को लेकर चलता है और न अकेले प्रलय को लेकर ही अग्रसर होता है, जो वास्तव में दोनों ही का मिलन-विंदु है।

जीवन का वह महाकेन्द्र, ब्रह्म जो ज्यामितिशास्त्र के विंदु की तरह ही अकथनीय, अकल्पनीय और अचिन्त्य है, सब प्रकार की क्रियाशीलता से रहित है। फिर भी समस्त क्रिया का आरम्भ वहीं से मानना पड़ता है और हम यह कहने के लिए वाध्य हैं कि आत्मसंहरण और केन्द्रापसरण प्रवृत्ति का उदय वहीं से हुआ, और उस महाअगति में शिवरूप अगति निमज्जित होकर ही रुद्र-रूप प्रगति के विस्फोट का कारण हुई। सृष्टि में रुद्र के अतिरिक्त और कुछ न होने के कारण रुद्र को आत्मसंहरण करना पड़ा, अर्थात् अपने ही संहार के रूप में केन्द्रापसरण प्रवृत्ति को अग्रसर करना पड़ा। यह आत्म-संहरण ही रुद्र का महाताण्डव नृत्य है। अपने उस रूप में रुद्र विज्ञान-कथित उस प्रचण्ड नीहारिका (Nebula) से भिन्न अन्य कुछ नहीं है जो भयंकर गति के साथ अपने अक्ष पर आवर्त्तन करती है और जिसे हमारे शास्त्रों में हिरण्यगर्भ नाम दिया गया है। उस नीहारिका के आवर्त्तन को ही रुद्र का महाताण्डव नृत्य कहते हैं।

उक्त नीहारिका अथवा हिरण्यगर्भ में से कोटि-कोटि प्रकाशमान सूर्य विशकलित हुए और अपने-अपने अक्ष पर आवर्त्तित होने लगे। इन्हीं में से कुछ ऐसे खण्ड पृथक् हुए, जो क्रमशः शीतल हो गये और उन पर सृष्टि ने अपनी भूमि प्राप्त की। रुद्र के भी शंकरीभूत होने और रचनात्मक ज्वालामय काम के आलिंगनपूर्वक सत्यं की समष्टि पर त्रिशूलाघात द्वारा प्रस्तुत, खण्ड सत्य-सामग्री के रूप में, खंड-रुद्रत्व के विविध अवयवों को सृष्टिकार के उपयोग-निमित्त उपस्थित करने का यही आशय है। इस प्रकार

'तारकवध' की कथा को आरम्भ ही से विज्ञान की संगति में लाने का प्रयत्न किया गया है।

रुद्र के आत्मसंहरण ने महाशक्ति को, महाशक्ति के आत्मसंहरण ने कामदेव को, कामदेव के आत्मसंहरण ने खण्ड-रुद्र, ब्रह्मा तथा विष्णु को पृथक अस्तित्व प्रदान किया। ब्रह्मा के आत्मसंहरण से कार्त्तिकेय और शारदा की उत्पत्ति हुई। खंड-रुद्र ने प्रकृत संहरण अथवा प्रकृत केन्द्रापसरण-वृत्ति का प्रसार किया। इसके अनुगामी कार्त्तिकेय ने भ्रमवश अन्यमनस्कता-निवारणार्थ प्रवासिनी शारदा को शाप देकर उसकी चेतना हरण कर ली, उसे मिट्टी के रूप में परिणत कर दिया। भ्रम के निराकरण के अनंतर उनका विलाप-कलाप आरम्भ हुआ। इस प्रकार ज्ञान का दुर्भेद्य दुर्ग टूट गया; कार्त्तिकेय को अमर लोक से मर्त्यलोक में आना पड़ा।

कार्त्तिकेय के विलाप-कलाप में एक नवीन प्रगति का दर्शन करके अमर-लोक के स्थिर जीवनशून्य आदर्शों के प्रति विरक्त अमर कार्त्तिकेय के अनुकरण में प्रवृत्त हुए। अमरेश्वर ने शासन करना चाहा, बहिष्कार का भय दिखा कर अमरों की नव प्रगति-पिपासा को रोकना चाहा। किन्तु रुद्र के नेतृत्व में अमरों ने अमरलोक को त्याग कर मर्त्यलोक में इच्छित स्थान प्राप्त किया। प्रगति-विरोधी इन्द्र और इन्द्राणी अमरलोक में अकेले रह गये।

कल्प के आरम्भ में खण्ड-रुद्र ने कामदेव को गले लगा कर उन्हें जो प्रचण्ड रस-पिपासा दे दी थी; उसके कारण केन्द्रापसरण करते हुए वे देव-लोक से मानवलोक और मानवलोक से दानवलोक में पहुँच गये थे, जहां दानवों ने उन्हें तारकासुर की राजधानी शोणित नगर में बन्दी बना लिया। विकृत हिंसकों ने उन्हें विकृत हिंसक के रूप में परिणत कर दिया। विकृति की अन्तिम सीमा को पहुँच जाने के अनन्तर अनुताप के रूप में उनमें केन्द्रानुसारिणी प्रवृत्ति का उदय हुआ। जहां वे पहले स्वेच्छा से आये थे वहां अब कारावास का अप्रिय अनुभव हुआ। आत्म-ग्लानि की अधिकता के कारण उन्हें साधन प्राप्त हुए; विष्णु ने उन्हें शंकर के कैलास-स्थित आश्रम तक पहुँचाया। विकृत हिंसा के प्रभाव से कामदेव इतने क्लान्त और जर्जर हो गये थे कि रचनात्मक, केन्द्रानुसारिणी शक्ति के भण्डार खण्ड-शंकर के साथ मानसिक सम्पर्क प्राप्त किये बिना उनका जीवन-धारण भी कठिन हो रहा था। ऐसी अवस्था में अपने और लोक के हित से प्रेरित होकर, प्रकृत अहिंसा की परम आनन्दमयी स्थिति को प्राप्त शंकर पर, अपने समस्त आवेग और समस्त आतुरता के साथ पंचबाणों द्वारा उन्होंने प्रहार किया। इस प्रहार के

परिणाम-स्वरूप शंकर के क्षोभ के कारण उन्हें जो मृत्यु प्राप्त होती है, वह मृत्यु नहीं है, वरन नवजीवन एवं अमरता के प्रकृत स्वरूप का लाभ है। देव-देव ने कामदेव के कल्मष-कलुषित शरीर का नाश करके उन्हें उस शरीर की दृष्टि से अनङ्ग बना दिया तथा करुणापूर्वक अपने मन में स्थान देकर नवीन मनसिज स्वरूप प्रदान किया। इस परिवर्त्तन द्वारा कामदेव की प्रगति सम्पन्न की गयी और यह प्रगति लोक की प्रगति का कारण हुई।

[५]

केन्द्रापसरण-प्रवृत्ति के द्वारा आरम्भ होकर कल्प अपनी मध्य स्थिति को पहुँचने पर उक्त प्रवृत्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है; उसके अनन्तर क्रमशः उतार शुरू होता है और केन्द्रानुसरण-प्रवृत्ति बलवती हो उठती है। सृष्टिकार का दुहिता के कष्टों की कल्पना से व्याकुल होकर महामुनि नारद को मर्त्यलोक की ओर प्रेषित करना केन्द्रानुसरण-प्रवृत्ति के बलसंग्रह का प्रथम दर्शन है। शंकर द्वारा अनुशासित कामदेव की स्वीकृति, पार्वती के साथ विवाह, सन्तानोत्पादन आदि क्रियाएं केन्द्रानुसरण प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर क्रमिक विकास की सूचनाएं हैं। सत्य रूप शंकर और शक्ति-रूप पार्वती के संयोग से 'कार्त्तिकेय' नामक तृतीय नूतन शक्ति का आविर्भाव और दानव के संहार के लिए उसका आक्रमण के लिए प्रस्थान और कुछ नहीं केन्द्रानुसरण-प्रवृत्ति द्वारा केन्द्रापसरण-प्रवृत्ति के शक्ति-संन्तुलन का प्रयत्न मात्र है। अन्त में तारकासुर के कार्त्तिकेय की शरण में जाने पर, केन्द्रानुसारिणी प्रवृत्ति को पूर्णांश में स्वीकार कर लेने पर तथा इस प्रकार दानवत्त्व का देवत्त्व में सम्यक् विलयन होने पर सृष्टि के बने रहने के लिए अवकाश नहीं रह जाता, क्योंकि सृष्टि का अर्थ ही है केन्द्रापसरण और जब केन्द्रापसरण शून्यांश पर पहुँच गया तब केन्द्रानुसरण की भी वही स्थिति हो जाती है और तब कल्पान्त स्वतः उपस्थित हो जाता है। कल्पान्त होने पर क्लान्ति और जड़ता को प्राप्त पृथ्वी चैतन्य लाभ करती है, इसी को शारदा का शाप-मोचन कहते हैं। अमरलोक में शारदा और कार्त्तिकेय का फिर मिलन होता है। केन्द्रानुसरण की प्रक्रिया के द्वारा कार्त्तिकेय और शारदा दोनों ही सृष्टिकार के व्यक्तित्व में विलीन हो जाते हैं, जिसका प्रारम्भिकरूप है कारागार-सेविनी शान्ता की मुक्ति तथा प्रिय-प्राप्ति। इस प्रकार दिन का कार्य समाप्त करके सृष्टिकार शयन करते हैं और १००० महायुगों के दिन की तरह ही १००० महायुगों की रात्रि व्यतीत करके द्वितीय कल्पारम्भ में पुनः कार्यसंलग्न होते हैं। सृष्टि का खण्ड अगति-

केन्द्रापसरण की खोज में लग जाता है। इस घटना का वर्णन करते हुए गीताकार ने कहा है :—

'सहस्र युग पर्य्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युग सहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके।"

उक्त व्यवस्था के कारण 'तारकवध' में केन्द्रापसरणशील, विकृत हिंसक दानव का उतना ही महत्त्व स्वीकार किया गया है जितना केन्द्रानुसरणशील प्रकृत अहिंसक देव अथवा प्रकृत हिंसक मानव का; सृष्टि के विधान में तीनों ही की उपयोगिता है। जब दानव के कन्धे पर सम्पूर्ण कल्प का भार रखा गया तब उसके यह प्रश्न करने पर कि इस सेवा के बदले मुझे क्या पारिश्रमिक मिलेगा, सृष्टिकार ने उसे आश्वासन दिया कि सृष्टि-रहस्य का उद्घाटन होने पर, अद्वैत ज्ञान के पथ में प्रस्तुत व्यवधान के हटने पर जितना आनन्द देव अथवा मानव को मिलेगा उससे मात्रा में कहीं अधिक आनन्द दानव को मिलेगा। वास्तव में यह आश्वासन सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि जो अधिक भ्रान्ति में पड़ेगा, जीवन के केन्द्र से अधिक दूरी तक अपसरण करेगा, उसी को केन्द्रानुसरण-जन्य विश्राम प्राप्त होने पर अधिक सुख मिलना सम्भव है तुलसीदास जी ने भी कहा है—

"जो अति आतप व्याकुल होई।
तरु-छाया-सुख जानै सोई।"

[६]

सिद्धान्त ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रंथ सूर्य्य सिद्धान्त ने उत्तरी ध्रुव में देवताओं का तथा दक्षिणी ध्रुव में दैत्यों का निवास माना है। उसमें भूगोलाध्याय के संख्या ३२ से ३५ तक के श्लोकों में जो कुछ कहा गया है, उसका आशय यह है कि इस ब्रह्माण्ड के बिलकुल बीच में यह भूगोल ब्रह्मा की धारणात्मिका परम शक्ति के बल पर शून्य में ठहरा हुआ है; इस भूगोल की भीतरी परतों में अति सुन्दर सात पाताल भूमियां हैं जहां नाग और असुर निवास करते हैं और जहां प्रकाश देनेवाले और रसीले वृक्ष हैं। नाना प्रकार के रत्नों से भरा हुआ, स्वर्णमयी जाम्बू नदी से सुशोभित, भूगोल के आर-पार दोनों ओर निकला हुआ सुमेरु पर्वत है; इस सुमेरु पर्वत के ऊपर की ओर इन्द्र के साथ देवता और महर्षि लोग रहते हैं और नीचे की ओर असुर रहते हैं। ये देवता और असुर एक दूसरे के शत्रु हैं।

श्लोक सं० ३५ में देवताओं और महर्षियों का निवास सुमेरु पर्वत के ऊपर की ओर तथा दैत्यों का निवास सुमेरु पर्वत के नीचे की ओर होने की जो बात कही गयी है, वह ध्यान देने योग्य है।* केन्द्रापसरण नीचे की ओर सहज गति से होता है; इसी प्रकार केन्द्रानुसरण साधना-सापेक्ष होकर नीचे से ऊपर की ओर चलता है। केन्द्रापसरण जितनी ही दूर तक होगा, केन्द्रानुसरण के लिए उतनी ही उत्कृष्ट साधना की आवश्यकता होगी। अतएव केन्द्रापसरण की अंतिम सीमा तक पहुँच जानेवाला दानव यदि जीवन के समस्त आस्वाद, सृष्टि की सम्पूर्ण सरसता का आधार माना जाय तो यह सर्वथा उचित ही है। केन्द्रापसरण के शून्य हो जाने पर केन्द्रानुसरण आप ही शून्य हो जायगा और तब किसी प्रकार की सृष्टि सम्भव ही नहीं हो सकती। अतएव सृष्टि के रूप में हमने जो कुछ विभूति प्राप्त की है उसके लिए हमें दानव के प्रति आभार मानना चाहिए।

दानवत्त्व का मूल उस संहार-कार्य में निहित है जो रुद्र ने महाशक्ति के कार्य को सुगम बनाने के लिए किया और जिसके परिणाम-स्वरूप खण्ड-सत्यों के रूप में कुछ सामग्री सृष्टिकार के सम्मुख इस उद्देश्य से प्रस्तुत की जा सकी कि वे अपने रचना-कार्य को आगे बढ़ावें। महाशक्ति अथवा प्रकृति के लिए हितजनक होने के कारण रुद्र की यह हिंसा प्रकृत हिंसा कहलायी। प्रकृत हिंसा ही का अपना विशेषाधिकार देकर रुद्र ने दानव को मर्त्यलोक में भेजा था किन्तु वहां उसने प्रकृत हिंसा को भुलाकर ऐसी हिंसा आरम्भ कर दी जो प्रकृति की अद्वैत साधना में रोड़ा डालने के कारण विकृत अहिंसा तथा विकृत हिंसा कही गयी। वस्तु। सृष्टि के विधान में मूल,प्रधान स्थान के अधिकारित्त्व के कारण दानव सहज ही अहंकार-मग्न हो जाता है और द्वैत भावना उस पर इतना अधिकार कर लेती है कि वह रुद्र में शम्भु के तथा शम्भु में रुद्र के सहज दर्शन नहीं कर सकता; वह रुद्र को 'स्व' और शम्भु को 'पर' समझने

"मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्। ३२।
तदन्तरपुटाः सप्त नागासुर समाश्रयाः।
दिव्यौषधि रसोपेता रम्याः पाताल भूमयः। ३३।
अनेक रत्ननिचयो जाम्बू नद मयो गिरिः।
भूगोल मध्यगो मेरु रुभयत्र विनिर्गतः। ३४।
उपरिष्टास्थितास्तस्य सेन्द्रा देवा महर्षयः।
अधस्तादसुरास्तद्वत् द्विषन्तोऽन्योन्यमाश्रिताः। ३५।"

लगता है; वह अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर शम्भु की उपासना को वर्जित करके एक मात्र हर की आराधना को प्रचलित करता है। पर धनहरण, पर नारी हरण, अग्निकाण्ड, रक्तपात—यही सब विकृत हिंसक दानव का कर्म-काण्ड है और इन्हें वह प्रखर उन्मादपूर्वक कार्यान्वित करता है। उसे इस बात का भान नहीं रह जाता कि रुद्र और महाशक्ति ने अपने प्रकृत हिंसात्मक अस्त्र लोक को पीड़ित करनेवाली विकृत हिंसा के उन्मूलन के उद्देश्य से दिये हैं, न कि स्वयं ही विकृत हिंसक होकर जन-निपीड़न के लिए। उसे यह बात स्मरण नहीं रह जाती कि खंड रुद्र अपनी क्लान्ति के मोचन के लिए, शान्ति के इच्छुक होकर मर्त्यलोक में कैलास पर्वत पर समाधिस्थ हुए हैं और यह कभी नहीं पसंद करेंगे कि उनकी इच्छा की पूर्त्ति में किसी तरह की बाधा खड़ी हो।

दानव के सम्बन्ध में मैंने कहा है कि सृष्टि में यदि किसी की रचना प्रकृति ने मरण के लिए की है तो वह एक मात्र दानव है। विचारणीय केवल इतना रह जाता है कि उसका मरण प्रकृत-अहिंसात्मक साधनों द्वारा हो अथवा प्रकृत हिंसात्मक साधनों द्वारा। देवता, अमर जीवन के शाश्वत सत्य के इतने समीप स्थित है कि वह मर नहीं सकता। मानव भी अपने में देवत्त्व का विकास करके चाहे तो अमर हो सकता है। किन्तु दानव को तो मरना ही है। केन्द्रानुसरण-प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ने से उसमें अपनी नीति के प्रति संदेह उत्पन्न हो, क्रमशः आत्मग्लानि का संचार हो और वह द्वैत भावना का त्याग करके अद्वैत साधना की अंगीकृति की ओर बढ़े—एक प्रकार का मरण यह भी है। इसके विपरीत एक प्रकार का मरण यह भी है कि अकारण ही, अन्यायपूर्वक किसी पर आक्रमण करके वह आक्रान्त की प्रकृत हिंसा का आवाहन करे और अंतिम समय तक अपने ही द्वैत सिद्धान्त पर अटल रह कर प्रकृत हिंसक के अस्त्रों से मरे। 'तारकवध' में तारकासुर का मरण प्रथम प्रकार का तथा रामायण और महाभारत में क्रमशः रावण और दुर्योधन का मरण द्वितीय प्रकार का है।

[७]

पिछले पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि जब तक सृष्टि बनी रहेगी, तब तक हिंसात्मक रुद्र और शक्ति से संहारास्त्र तथा उनके अहिंसात्मक प्रतिरूप समाधिस्थ शंकर और पार्वती से करुणा और कृपा प्राप्त करने वाले दानव की परम्परा चलती रहेगी और उसकी सबसे बड़ी सफलता यह होगी कि रुद्र, महाशक्ति आदि के आत्म-संहरण तथा प्रकृति-सम्मत, प्रकृत पर-संहरण सिद्धान्त को सर्वथा भुलाकर उसके विकृत अहिंसा अथवा

विकृत हिंसा-प्रसूत संहरण अथवा हरण-सम्प्रदाय में मानव-समाज बहुसंख्यक इकाई के रूप में दीक्षित होता चले। प्रकृत अहिंसा, शक्तिशाली की क्षमा-प्रेममयी अहिंसा तो सर्वोत्तम है; किन्तु यदि उसके सक्रिय हो सकने के योग्य विशेष परिस्थितियां न हों तो प्रकृत हिंसा का आश्रय लेना भी अनुचित नहीं है; किन्तु विकृत, छल-कपट के आवरण से ढकी हुई अहिंसा और विकृत, परोत्पीड़नकारिणी हिंसा की वृद्धि से मानव-समाज को सावधान रहना चाहिए। पराधीनता का पट्टा गले में पड़ने के कुछ पूर्व विकृति के ये दोनों रूप प्रत्येक समाज में अत्यन्त सक्रिय और भयावह रूप धारण कर लेते हैं।

विकृत अहिंसा और विकृत हिंसा की ज्वाला जब तक मानव के रक्त और भाव-सम्बन्धों के घेरे से बहुत दूर रहती है, तब तक तो वह अपनी न्याय-बुद्धि को सँभाल पाता है; किन्तु जब यह परिस्थिति नहीं रहती, जब उस ज्वाला की आँच उसके निकट सम्बन्धियों के पास पहुँच जाती है, तब उन्हें दण्ड और अपयश से बचाने के लिए वह मिथ्या का आश्रय लेने लगता है; जिस समाज में मिथ्या के प्रति यह असंयत आसक्ति बढ़ जाती है, उसके कर्णधारों को दानव के प्रति प्रेम रखकर भी दानवत्त्व के विरोध की शिक्षा लेनी और देनी चाहिए। दानवत्त्व की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के लिए भिन्न-भिन्न उपचारों की योजना में समर्थ समाज-शास्त्री ही, जो स्वयं भी संग्रह-वृत्ति से विरत रहकर, पहले आत्म-परीक्षा में अत्यन्त निर्ममतापूर्वक संलग्न होते हैं, समाज की शक्ति के ह्रास और वृद्धि की पहचान कर सकते हैं और डूबता हुआ समाज उन्हीं की देख-रेख में रहकर प्रकृत अहिंसात्मक अथवा प्रकृत हिंसात्मक आदर्शों और कार्य-प्रणालियों के सम्पर्क से अपनी रक्षा कर सकता है।

इन्हीं विचार-धाराओं के आधार पर 'तारकवध' के कथानक का संगठन हुआ है।

[८]

'तारकवध' प्रधान रूप से एक रहस्यवादी महाकाव्य है। इसमें व्यक्ति ही नहीं, सम्पूर्ण समाज—जिसमें मानव के अतिरिक्त जड़-चेतन, जीव-जन्तु, चर-अचर सभी समाविष्ट हैं—परम सत्य में विलय के लिए उन्मुख होता हुआ दिखाया गया है। कार्त्तिकेय के मानव संस्करण शृंगीऋषि अपने पूर्ण, प्रकृत रूप की सिद्धि के लिए भारतवर्ष के दक्षिण भाग में स्थित एक वन में आश्रम की स्थापना करते हैं, जहां उनकी अद्वैत भावना-विशिष्ट साधना अग्रसर होती है। आश्रम के समस्त जड़ चेतन के प्रति उन्होंने तादात्म्य की अनुभूति करली है और सब की सुविधा एवं सुख-वृद्धि के लिए अपनी उत्कृष्ट तपस्या की शक्ति

से उसे, शेष जगत् में चतुर्दिक व्याप्त तारकासुर के प्रभाव से, सुरक्षित कर लिया है। उनके आश्रमवासी सब तरह की बाधाओं से मुक्त होकर, मिलन के रस को तुच्छ मानते तथा विरह-भावना के आस्वाद में निरत रहते हैं। स्वयं शृंगीऋषि शान्ता के विरह में निमग्न हैं, उसकी विरह-कथा में लीन रहते हैं और अपने आश्रम के सहचरों को निमग्न किये रहते हैं। वहां प्रति दिन का यही कार्यक्रम है। किन्तु अन्य लोगों में तथा शृंगीऋषि में थोड़ा सा अन्तर है; अन्य लोग विरह मात्र के रसिक हैं, किन्तु शृंगीऋषि शान्ता का मिलन भी चाहते हैं। मिलन की इसी इच्छा के कारण वे अपनी गणना कामियों में करते हैं। इस सकामता का रहस्य यह है कि शृंगीऋषि अपने आश्रम के विकास और सुख मात्र से सन्तुष्ट नहीं हैं, वे शेष जगत् का विकास और सुख भी चाहते हैं और इस कारण कि शान्ता के सहयोग के बिना उन परिस्थितियों का निर्माण न हो सकेगा जिनमें शेष जगत् पर से तारकासुर का प्रभाव हटाया जा सके वे निरन्तर ही, अज्ञात भाव से, शान्ता के मिलन के लिए अधीरता का अनुभव करते हैं। अतः रहस्य-साधना की जिस स्थिति में वे हैं, वह मध्य की एक स्थिति है, अंतिम परम परिणत स्थिति नहीं है। अंतिम स्थिति तो तब आती है जब तारकासुर का हृदय-परिवर्त्तन हो जाता है, उसे भी कार्त्तिकेयत्त्व की प्राप्ति होती है और सारा विश्व अबाध रूप से अद्वैत भावना की साधना की ओर उन्मुख हो जाता है।

शान्ता शारदा की अनुकृति है और शारदा अजर, अमर एवं अजन्मा रुद्र की प्रिया महाशक्ति की अंशीभूता वह शक्ति है जिसने कामदेव के बाण से आहत सृष्टिकार की वेदना को मधुर बनाया। इस शक्ति के आवाहन में रत होकर शृंगीऋषि शक्ति की रहस्य-साधना में संलग्न थे—वह शक्ति जो मानव व्यक्तित्त्व को मूल अद्वैत रहस्य-रसास्वादन की ओर ठेलती है। शक्ति का यह रहस्यवाद छाया के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत लौकिक व्यापार के भीतर अप्रस्तुत अलौकिक सत्ता का संकेत छिपा रहने के कारण एक प्रकार से छाया-ग्रहण होता ही है।

यहां एक प्रश्न यह खड़ा हो सकता है कि शृंगीऋषि शक्ति के रहस्यवादी कब तक थे और मूल रहस्यवादी कब हुए? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि शान्ता-हरण के पूर्व शृंगीऋषि शक्ति के रहस्यवादी थे, तदनंतर उक्त हरण द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिए नवीन प्रगति की खोज में निकले और जब उनकी नव साधना ने उन्हें उद्दिष्ट सफलता के पास पहुँचा दिया तब सम्पूर्ण संसार के सम्बन्ध में सर्वथा निश्चिन्त होकर वे मूल

रहस्यवादी हुए। इसमें संदेह नहीं कि मूल रहस्यवाद का समस्त जगत् के परिपूर्ण विकास की धारणा से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। एक छोटे से घेरे के भीतर भी सर्वथा निश्चिन्त होकर कवि मूल रहस्य-साधक हो सकता है। किन्तु शृंगीऋषि इस प्रकार के रहस्यवादी नहीं थे, उन्हें एक साधारण नहीं विराट् चिन्ता लग गयी थी और उसका निराकरण किये बिना उनका मूल रहस्योन्मुख होना संभव नहीं था; यह उनकी एक विशेष परिस्थिति थी, जिसमें उन्हें इस कारण पड़ना पड़ा कि वे मूल रूप में कभी कार्त्तिकेय थे और सम्पूर्ण जगत् के उद्धार के बिना उनकी प्रिया शारदा का शापमोचन नहीं हो सकता था; शृंगी-ऋषि की प्रकृति में अन्तर्निहित यह संस्कार उनकी मूल रहस्य-प्रवृत्ति में सहज ही बाधक हो गया था।

'तारकवध' में शृंगीऋषि के मूल रहस्यवाद की परिस्थिति 'मधु महोत्सव' के रूप में सम्पन्न होकर अपने चरम विंदु को प्राप्त हो जाती है; देव, मानव और दानव तीनों ही का विकास समता के स्तर पर हो जाता है, पार्थिव सृष्टि अपनी पार्थिवता को त्याग कर एक अलौकिक स्वर्गीय आलोक में परिणत हो जाती है तथा व्यक्ति और सम्पूर्ण समाज, जिसमें समस्त जड़-चेतन, चराचर सम्मिलित हैं—ज्ञान की देवी, सृष्टिकार की दुहिता-स्वरूपा शारदा में अपना विलय प्राप्त करते हैं।

[६]

छायावाद के दो स्वरूप इस काव्य में विशेष रूप से प्रकट हुए हैं। प्रथम स्वरूप की जहां अभिव्यक्ति हुई है, वहां प्राकृतिक तत्त्वों का मानवीकरण प्रस्तुत हुआ है। तृतीय सर्ग में जहां महामुनि नारद का ब्रह्मलोक से मर्त्यलोक की ओर अवतरण हुआ है, वे मार्ग में सूर्य, संध्या, यामिनी, चंद्र, उषा, हिमालय आदि से संवाद में रत होते हैं। वे सभी मुनि के प्रश्न के उत्तर में इस बात की पुष्टि करते हैं कि मर्त्यलोक में जिस नवीन रस की उपलब्धि हुई है वह लोकोत्तर है और उन्होंने इस लोक का जीवन स्वीकार करके किसी प्रकार का प्रमाद नहीं किया है। यहां मानवीकरण के साथ-साथ अप्रस्तुत योजना भी है; सूर्य कर्म का, संध्या चिन्ता का, यामिनी विषाद का, चंन्द्रमा सांसारिक जीवन का, उषा आशा का, हिमालय जड़ जीवन का संकेत करते चलते हैं। स्वयं महामुनि मानव आत्मा की उस अन्तर्निहित शक्ति के प्रतिनिधि रूप में झलकते हैं, जो अवतरण, संलाप एवं कार्यकलाप-मग्नता की परिस्थितियों में मानवी वृत्तियों और व्यापारों के परीक्षण में रत होती है, उन्हें उनकी सीमाओं का बोध करा कर असीम, मुक्त जीवन की ओर प्रगति करने की प्रेरणा देती

है तथा जो अमरत्त्व की दिव्य आभा से सम्पन्न होने के कारण देव, मानव और दानव—तीनों ही को अपना पावन सम्पर्क देकर उसी प्रकार धन्य बनाती है जिस प्रकार पारस पत्थर अपने स्पर्श से लोहे को स्वर्ण के रूप में परिणत कर देता है।

इसी प्रकार नवम सर्ग में जहां शोणितपुर में तारकासुर की बंदिनी शान्ता आत्मचेतना खोकर अपने चित्र-लिखित भ्रमर को जीवनधारी भ्रमर मानकर अयोध्या जाने तथा उसका समाचार देने के लिए प्रेरित करती है, वहां परोक्ष सत्ता के प्रति जीवात्मा की प्रगति का संकेत भी चला चलता है। 'मधुप कहां से आये हो तुम,' 'तुमसे हितकी बात कहूँगी,' 'अवध नगर का पंथ विषम है', 'सहजपूत थी, पूत अधिक अब', आदि गीतों में परोक्ष सत्ता के प्रति आकर्षण अथवा प्रगति की प्रवृत्ति अंतर्निहित है।

छठें सर्ग में छायावाद के पूर्व-निर्दिष्ट द्वितीय स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। जहां महारानी कौशल्या ने शान्ता को शृंगी ऋषि के पास जाने के लिए विदाई के उद्‌गार प्रगट किये हैं वहां अन्योक्ति के रूप में अप्रस्तुत दार्शनिक व्यंजनाएं भी उपस्थित होती चली हैं।

[१०]

तारकवध में प्रगतिवाद जिस रूप में ग्रहण किया गया है उसकी एक झलक इस निबन्ध के आरम्भ में दी गयी है, अन्यत्र भी उसका संक्षिप्त आभास दिया जा चुका है। यहां इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार प्रगति सिद्धान्त की मान्यता है तथा प्रगति की धारणा ने ही उसे समन्वयपरक बनने की प्रेरणा दी है। 'प्रगति' सिद्धान्त इतना व्यापक है कि अखिल सृष्टि-प्रसार को अपने अंक में विलीन और पुनः उसे विकास के लिए मुक्त करने वाले ब्रह्म की अचलता तथा चलता की निर्दिष्टकारिणी मूल शक्ति उसी को मानना पड़ता है। विश्व-जीवन की समस्त समस्याओं के समाधान में सक्षम इस मत को आज के प्रतिकूल वातावरण में पावस के सूर्य की तरह कुछ हतप्रभ हो जाना पड़ा है। यों भी कह सकते हैं कि कालचक्र के प्रभाव से प्राप्त निशा में इस सूर्य को लुप्त और निष्क्रिय हो जाना पड़ा है तथा एकाङ्गी जड़वादमूलक जीवन-दृष्टिकोण पर आधारित प्रगतिवाद द्वितीया के चंद्रमा की तरह, अत्यन्त स्वल्प प्रकाश से सम्पन्न होने पर भी, लोक-लोचनों को प्रिय लग रहा है। इस अपूर्ण प्रगतिवाद का पक्ष 'तारकवध' में तारकासुर के प्रथम राजकुमार तारकाक्ष ने प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत, प्रगतिवाद के अखिल विश्व-जीवन-हितैषी दृष्टि कोण का प्रतिपादन महामुनि नारद

द्वारा किया गया है। तारकाच्च की विचार-धारा के विरोध में महामुनि का तर्क यह है कि उससे जगत-जीवन का सर्वकालीन और सर्वाङ्गीन परितोष संभव नहीं है, क्योंकि उसमें निहित हिंसात्मक सम्भावनाएं सदैव लोक-विकास को क्षति पहुँचाने वाली समानान्तर रेखाओं की परिचालना करती रहेंगी। 'तारकवध' ने महामुनि ही के निर्देश को मान्यता दी है और यह अंकित करने की चेष्टा की है कि प्रेम और अहिंसा पर आधारित काव्य ही—वह प्रेम और अहिंसा, जिसमें घृणा और द्वेष का सर्वथा बहिष्कार न करके उनकी भी रचनात्मक शक्ति का समावेश कर लिया गया है—सच्चे अर्थ में प्रगतिशील काव्य माना जाना चाहिए। साथ ही महामुनि की वाणी का अवलम्ब लेकर 'तारकवध' ने उक्त अपूर्ण प्रगतिवाद के रचनात्मक अंशों की उपादेयता भी स्वीकार की है और इस प्रकार वह तारकाच्च के प्रगतिवाद अथवा साम्यवाद का अनुगमन करने वाले काव्य को भी, उसकी रचनात्मक मात्रा के अनुपात में प्रगतिशील मानता है।

आशा है, 'प्रगतिवाद' के सम्बन्ध में इतना ही निवेदन पाठकगण पर्याप्त समझेंगे।

[११]

मैं कह आया हूं कि 'तारकवध' की रचना कर के मैंने एक प्रयोग किया है। यह प्रयोग किस दिशा में है, इसे भी थोड़ा सा स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है।

आधुनिक हिंदी काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु के समय से ही प्रयोग किये जा रहे हैं। द्विवेदी-काल तक तो काव्य-भाषा-सम्बन्धी प्रयोग ही हमारी समस्त रचना-शक्ति को आकर्षित कर रहा था, किन्तु बाद को शैली और विषय-सम्बन्धी प्रयोग भी महत्त्व प्राप्त करने लगे; जिन वादों की चर्चा अभी की गयी है वे इसी प्रकार के प्रयोग हैं। जान पड़ता है, थोड़े समय से हम प्रयोग के प्रति अधिक जागरूक हो गये हैं; हमारे काव्यक्षेत्र में 'प्रयोगवाद' का अवतरण इसी बात को सूचित करता है। यद्यपि 'प्रयोगवाद' की अभी विशेष प्रगति नहीं हो सकी है और जिस शीघ्रता से छायावाद तथा प्रगतिवाद की धूम मच गयी थी उस शीघ्रता से उसका प्रसार नहीं हो पाया है, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने अवरुद्ध वातावरण में गति-संचार किया है। नवीन, काम-काजी और चलतू विषयों को भी काव्य का सम्पर्क प्रदान कर के उसने हमारे मनोरंजन के साधनों ही की वृद्धि नहीं की है, कहीं-कहीं हृदय को प्रभावित करने में भी सफलता पायी है। किन्तु, फिर भी कहीं कुछ कसर अवश्य है,

जिसने उसके पैरों को आगे बढ़ने से रोक दिया है। मेरा प्रयोग उक्त 'प्रयोग-वाद' के प्रयोगों से कुछ भिन्न रूप का है।

नवीन भारत प्रबुद्ध हो रहा है, अपने जीवन को एक नये साँचे में ढालने की आतुरता उसमें बढ़ रही है। यह नया साँचा कहां से आये? इंग्लैण्ड से अथवा अमरीका से? अथवा रूस से? थोड़े ही दिनों पूर्व इंग्लैण्ड एक प्रथम श्रेणी का राष्ट्र माना जाता था, किन्तु आज उसकी गणना द्वितीय श्रेणी में आ गयी है। आज अमरीका और रूस प्रथम पंक्ति के राष्ट्र हैं, किन्तु कोई नहीं कह सकता कि आगामी महा समर के अनन्तर किसकी क्या गति होगी। गत महासमर के पहले जर्मनी और जापान के नाम से लोग आतंकित हो जाते थे, आज वे दोनों धूलि में मिल गये हैं, उनकी नसें टूट गयी हैं और नहीं कहा जा सकता कि कब तक वे शक्ति-सम्पन्न होंगे। जीवन में किसी तत्व का अभाव और किसी की अधिकता हो जाने के कारण ही जर्मनी और जापान का पराभव हुआ और आज वे पराधीनता के पंक में धँसे हुए हैं; वैसी ही कोई बात अमरीका और रूस के साथ तो नहीं घटित हो रही है? हमें किसी भी देश के जीवन-सम्बन्धी मापदण्डों को स्वीकार करने के पहले इन प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहिए और तब सन्तुलित मस्तिष्क की सहायता से वह साँचा तैयार करना चाहिए जिसमें हमारी भावी पीढ़ियां ढलेंगी। प्राचीन भारत की सभी बातें त्याज्य नहीं हैं, और न आज के पाश्चात्य देशों की सभी बातें ग्रहण-योग्य हैं। प्रत्येक अवस्था में हमें अपने विवेक का उपयोग करके अपने विकास और प्रगति का मार्ग निर्दिष्ट करना होगा।

भारतीय संस्कृति सदैव युग सत्य को स्वीकार करके अपनी सजीवता का परिचय देती रही है। वर्तमान युगसत्य प्रकृत श्रमिक एवं श्रम-सिद्धान्त की अनिवार्य उपयोगिता के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो रहा है। काव्य-गत अनुरंजना प्रदान कर के 'प्रयोगवाद' इस श्रम-सिद्धान्त को कितनी मात्रा में आकर्षक और मनोहर बना पाता है—इसी कसौटी पर वह कसा जायगा। यदि वह केवल खिलवाड़ और फुलझड़ी के तमाशों से अपनी तृप्ति करता रहा तथा चमक-दमक और तड़क-भड़क वाली विदेशी वस्तुओं के नाम के आतंक से ही धाक जमाने में अपनी सफलता मानता रहा तो जिस आवश्यक, उपयोगी, रचनात्मक कार्य की उसके द्वारा पूर्त्ति न होगी वह औरों के हाथ में चला जायगा तथा अन्य काव्य-शैलियों का विकास हुए बिना नहीं रहेगा। इस परिणाम से बचने के लिए उसे हमारी समस्याओं के मर्म-स्थल पर गम्भीर आघात करने की ओर भी ध्यान देना पड़ेगा।

'प्रियप्रवास', 'कामायनी', 'साकेत' आदि महाकाव्य भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से प्रेरित रचनाएं हैं, किन्तु दानवत्व का नाश होना चाहिए—इस बात में सभी सहमत हैं। यह दानवत्व सर्वथा तिरस्करणीय ही है अथवा जीवन के विधान में कहीं इसकी भी उपयोगिता ही नहीं, अनिवार्य आवश्यकता है; इसका निवास केवल कतिपय दानवों के व्यक्तित्व में है अथवा हमारे मानव-समाज में ऐसी जगहों में भी है जहां इसके होने की कम से कम आशा की जाती है; दानव का संहार-तत्व कितने अंशों में अग्राह्य है और कितने अंशों में ग्राह्य, कहां वह बर्बर हो जाता है और कहां क्षत्रिय—इन्हीं और इनके ढंग के अन्य आनुषंगिक प्रश्नों का उत्तर खोजने की दिशा में 'तारकवध' एक प्रयोग है। इस दृष्टि से 'तारकवध' पिछले आधुनिक महाकाव्यों से एक पृथक सत्ता रखता है।

मेरी इच्छा 'तारकवध' के रूप में एक जनप्रिय महाकाव्य लिखने की रही है; इसी कारण मैंने उसकी अभिव्यक्ति की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया है। मुझे पूर्ण आशा है कि इस काव्य को जन-समाज की प्रीति भी प्राप्त होगी।

[१२]

'तारकवध' के मुद्रण के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने सन् १९५६-५७ के आर्थिक वर्ष में १०००) का अनुदान देने का अनुग्रह किया है। तदर्थ धन्यवाद। 'तारकवध' को भारती-भंडार, लीडर प्रेस का जो सहयोग मिल सका है, उसका समस्त श्रेय उसके कुशल व्यवस्थापक श्री वाचस्पति पाठक को है, जिनकी सुरुचि-सम्पन्नता एवं साहित्य-रसिकता के सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक है, क्योंकि वे स्वयं भी एक साहित्यकार हैं। उन्हें धन्यवाद देकर मैं उनके अमूल्य बन्धु भाव के महत्त्व को घटाना नहीं चाहता। राजर्षि टंडन, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, डा० उदय नारायण तिवारी तथा अन्य अनेक मित्रों की शुभ कामनाएं एवं लाला रामनारायण लाल प्रकाशन-संस्था के हिंदी विभागीय अध्यक्ष श्री प्रह्लाद दास एम० ए० की सद्भावनाएं मेरे लिए चिर-स्मरणीय रहेंगी।

१।१।१९५८ —गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

समर्पण

जीवन संगिनी

श्रीमती उमा देवी शुक्ल को—

जिनकी

निष्ठा से इस ग्रंथ की पूर्ति में

मुझे बड़ा बल मिला

—लेखक

विषय-तालिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
धूलि और पंक	१	'विरह ही जीवन०'	५२
कवि-जीवन	२	शारदा को शाप	५३
श्रोता की खोज	४	'व्यर्थ आह अब०'	५६
मंगलाचरण	८	'पागल हरिणी !'	५६
काव्यावाहन	१२	'पिक क्या तुमको०'	५७
लेखनी !	१३	'धौरी, याद तुझे क्या०'	५७
विरहिणी वनदेवी	१५	रुद्र का विद्रोह	५८
मधु-वनदेवी	१८	मर्त्यलोक-निर्माण	६०
एक जन्म में मैं०	१६	मानव-अवतरण	६०
ईश्वर-निरूपण	२३	अमरों का प्रयाण	६२
शक्ति के दो रूप	२७	शंकर-समाधि	६७
वैचित्र्यमयी शक्ति	२८	इंद्र-इंद्राणी-साधना	६८
ब्रह्म-निरूपण	२६	ब्रह्मा की व्यथा	६८
रुद्र-विस्फोट	३०	नारद और रति	६६
नृत्य करो०	३१	नारद और श्रीहरि	७२
शक्ति का वैदग्ध्य	३४	नारद और सूर्य	७५
शक्ति की प्रगति	३६	—संध्या	७६
कामदेव का महल	३७	—यामिनी	७७
अनंग का आवाहन	३८	—चंद्र	७८
'जय जय हे जगदम्बे !'	४०	शंकर-दर्शन	७६
कामदेव की प्रगति	४१	'जय गिरिजावल्लभ०'	८०
रुद्रका शंकरत्व	४३	नारद-हिमाचल	८१
काम का आक्रमण	४४	विभांडक आश्रम	८६
शारदा-कार्त्तिकेय	४६	शृङ्गीऋषि-जन्म	८७
'जय शिवशंकर'	४७	नारद-यमुना	८८
अमरलोक-निर्माण	४६	बूढ़ी अबला	६०
विधाता का मोह	५०	तरुण विद्रोही	६१
लक्ष्मीवल्लभ-काम	५१	कोशल-राजलक्ष्मी	६२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कार्त्तिकेय-अवतरण	६४	शृंगी-शान्ता	२७१
शृंगीऋषि-शैशव	६५	पावस-वर्णन	२४२
——तारुण्य	६७	शान्ता-शृंगी-विहार	२२७
ग्रीष्म-वर्णन	६६	शान्ता-जल-याचना	२४७
कार्त्तिकेय-दर्शन	१०२	शान्ताआश्वासन	२४६
शान्ता का चित्र	१०३	विरह-वेदना	२५२
ऋषि-नारद	१०५	अरुण कुसुम	२५२
'मधुकर मेरे प्यारे'०	१११	शोणित द्वीप	२५५
'मधुप अभी तुम'०	११२	शोणितनगर	२५६
'जो मैं भ्रमरी होती'०	११३	तारकाक्ष	२६८
'विधि अतिशय'०	११४	मोहिनी	२७०
'मधुप उड़े, पर'०	११४	शीलमयी	२७१
'प्रियतम का'०	११५	तारकाक्ष-बन्धन	२७४
'कीर्त्ति श्रवण में !'०	११६	शांता-बंधन	२७५
'कोयल तू क्यों !'०	११७	'मधुप कहां से'०	२८३
'शुक किस वन से !'०	११८	'तुमसे हित की'०	२८३
'नारद-वशिष्ठ	११६	'अवध नगर का'०	२८४
'कहीं से आया था'०	१२१	'सहजपूत थी'०	२८५
नारद-दशरथ	१२४	'होंगे व्यथित'०	२८६
शान्ता-वन-गमनोत्कंठा	१३३	'अलि सब'०	२८६
राजधर्म-लोप	१३७	वियोगिनी शान्ता	२८६
अस्तव्यस्त रानियां	१३८	अरुणे !	२६०
वशिष्ठ-उद्बोधन	१४३	हे रजनीवर !	२६२
नारद के उपदेश	१६६	शान्ता-संदेश	३००
वशिष्ठ के उपदेश	१७२	संदेश-निर्वहन	३०२
कौशल्या के उद्‌गार	१७७	वियोगी ऋष	३०६
वशिष्ठ-नारद	८१६	कमलेश्वर-दर्शन	३२०
कालिन्दी-शान्ता	२०७	ऋषि का प्रस्थान	३२१
गिरिजा-शान्ता	२११	वनदेवी-प्रश्नावली	३२३
शृंगेरि-वर्णन	२१३	अवध की स्थिति	३२४
ऋषि की व्याकुलता	२१६	वशिष्ठ-प्रवास	३२५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
शान्ता की खोज	३२६	समुद्र वर्णन	३७७
अयोध्या में वृष्टि	३२७	नारद का चित्र	३८१
ऋषि अकेले क्यों ?	३२६	मन्त्री का पत्र	,,
लोकसभा	३३०	नारद का स्वागत	३८३
दशरथ-भाषण	३३१	नारद-शान्ता	३६१
वशिष्ठ ,,	३३१	सौन्दर्य-व्याख्या	३६२
सुमंत्र ,,	३३१	ब्रह्मलोक को प्रयाण	३६४
सेनापति ,,	३३२	नारद-इन्द्र	३६५
ऋषि ,,	३३३	ब्रह्मा की चिन्ता	३६७
ऋषि-गमन	३३६	ब्रह्मा-नारद	,,
विद्रोही रणधीर	३४०	क्षीरसागर को—	३६६
वशिष्ठ-परामर्श	३४२	सृष्टि-प्रगति	४००
'चलो रण प्रांगण'०	३४५	कामदेव अभियान	४०५
'हमें करना है'०	३४५	काम-मरण	४१०
'जलाना है वह'०	३४६	रति पर करुणा	,,
'हृदय में हिंसा'०	,,	विवाह-प्रस्ताव	४१२
'आज तो जागे'०	३४७	पार्वती-नारद	४१३
रण की तैयारी	,,	मैना की चिंता	४१३
शरद-वर्णन	३४८	शंकर का दरबार	४१५
रणयात्रा	३५०	इन्द्रलोक को—	४१६
दानवत्त्व का वेग	३६१	शिव-गण	४१८
करुणादेवी	३६२	शंकर-शृंगार	४१६
दैत्य-मनोबल	३६३	शंकर की बारात	४२०
प्रकृत अहिंसा	३६६	विचलित मैना	४२१
प्रकृत हिंसा	३६७	मनोज्ञ शिव	४२३
विकृत अहिंसा	,,	हर-विवाह	४२४
विकृत हिंसा	३६८	पार्वती-मान	४२५
रघुकुल-मान्यता	३७०	गंगा-यमुना-मिलन	,,
क्षमा शक्ति के साथ	३७२	कार्त्तिकेय-अवतरण	४२७
बन्दीगण की मुक्ति	३७४	जन्म-दिन-उत्सव	४२८
नारद के व्याख्यान	३७५	तारक-व्याकुलता	४३६
शोणितपुर को—	३७६	तारक-लेख	४३१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ब्रह्मास्त्र-प्राप्ति	,,	शान्ता के पास महाप्रभु	४६६
कार्त्तिकेय विकास	,,	शान्ता-शृंगी-प्रयाण	४६७
कार्त्तिकेय-अभिधान	४३२	करुणा-याचना	४६८
हेमंत-वर्णन	४३५	राजधर्मोपदेश	४६६
ऋषि-साधना	४३७	शिशिर-वर्णन	५०६
कार्तिकेयदर्शन	४३८	फिर अयोध्या में	५१२
उमाके बाण	४३६	राम-जन्म	५१६
शम्भु के बाण	४३६	फिर प्रमोद-वन में	५१६
विराट रूप	४४०	राम-राज्य	५१७
साधक द्विज	४४१	वसंत-वर्णन	५२०
'जयति षड़ानन०'	४४२	ऋषि-षड़ानन	५२२
दशरथ को दर्शन	४४४	—की कृतज्ञता	५२३
कार्त्तिकेय का पत्र	४४६	शान्ता का अनुरोध	५२४
कार्त्तिकेय-रण-रीति	४४८	ऋषिमाता का अनुरोध }	
पत्र-वाहक नारद	४४६	ऋषि पिता ,, }	,,
तारक-दंभोक्ति	४४६	मधु-उत्सव	५२५
नारद का उत्तर	४५१	अमरलोक-जागरण	४५०
आतिथ्य-ग्रहण-आग्रह	४५४	सृष्टिकार-शयन	५४१
आक्रमण-प्रगति	४५५	नारायण-शयन	५४२
नारद-आन्दोलन	४६१	रति-काम-शयन	५४२
विद्रोह	४६५	'हर संहार करो'	४४३
तारक-अनुताप	४६६	रुद्र-शक्ति-मिलन	५४४
तारक का पत्र	४७०	वनदेवी के तीन प्रश्न	५४६
तारकाद्य-दम्पति	४७२	मधुमोहन के उत्तर (१)	५४६
रणधीर का स्वप्न	४८३	(२)	५४६
महाप्रभु-पदार्पण	४८६	(३)	५५१
तारक-चिंतन	४८७	पारायण-पर्व	५५५
तारकाद्य को आश्वासन	४८८	रुष्ट मुनिका दर्शन	५५५
तारक की ग्लानि	४६०	तिरोभाव	५५६
तारक-व्याख्यान	४६३	महागान का }	
तारकाद्य को आशीर्वाद	४६४	उद्गम }	५५७
—का व्याख्यान	४६४	संशोधन-पत्र	परिशिष्ट

प्रवेश

तरणि-ताप से विकल, छाँह में बैठ रहा हूं।
उड़ कर धूलि समान आप में पैठ रहा हूं।
यहीं छाँह में बैठ ताप सब दूर करूँगा।
किया क्लान्ति ने चूर, उसे अब चूर करूँगा।

पकड़ हवा का साथ फिरा मैं मारा मारा।
हवा हो गया हाय सरस मानस - रस सारा।
वंचक ही की भाँति हवा ने मुझको मारा।
छीन लिया ऐश्वर्य प्राण से था जो प्यारा।

खोकर अपना आप खोज की मैंने रस की।
रही न तन में ताप गँवायी पूँजी बस की।
जीवन रस औ स्वाद आप ही में सब भाई।
खोजूं अपना आप बात यह जी में आयी।

रोगमयी ही अमित रोग ही ले मँड़रायी।
आयी तो दृग हेतु किरकिरी ही ले आयी।
अपना भी तो पेट नहीं भ्रमिता भर पायी।
नभ तक उड़ कर धूलि भलाई क्या कर पायी?

नहीं भली यह धूलि हवा भी जिसे उड़ाती।
फिरी फाँकती धूलि सरसता सब बिनसाती।
बड़ी भली यह कीच कमल सा फूल खिलाती।
भौंरों को दे धूलि आँख को भी सरसाती।

नहीं भली यह धूलि आँख में धूलि डालती।
पड़ी हवा के हाथ पथिक का हृदय सालती।
बड़ी भली यह कीच न खोती अपना पानी।
रह पानी के संग शान्ति पाती मनमानी।

सब को तज इस ठौर अकेले में आया हूं।
साथी बिना परन्तु यहां भी घबराया हूं।
अपने जैसा एक चाहिए मुझको संगी।
कहां मिलेगा हाय सलोना, रसिया, रंगी।
संगी मेरा कौन? आँख में जिसके पानी।
आहें भर अविराम जगत गति जिसने जानी।
कितने ही पड़ गये पाँव में छाले जिसके।
कितने ही गड़ गये हृदय में भाले जिसके।
जिसने आँसू थाम आह की की गति को रोका।
जिसने लिया सँभाल कलेजे पर का झोंका।
साध भुलायी प्रबल साधनाएं सब छोड़ीं।
तजीं उमगें सकल सकल आशाएँ तोड़ीं।
अंधकार आलोक एक सा जिसने माना।
जिसने हर्ष-विषाद उभय में प्रिय रस जाना।
मीठा-तीता एक भाव से जिसको भाया।
जिसने खोकर स्वाद स्वाद समता का पाया।
जिसे न कोई काम, नहीं बंधन भी कोई।
तजी भीति नव प्रीति जगत प्रति जिसने बोयी।
जिसको विगत अतीत लगा बस रसमय सपना।
आये दे अनुराग वही प्रिय सहचर अपना।
मेरी व्यथा विराट गीत भी गौरवशाली।
अनुपभुक्त रसयुक्त मुक्त मधु वैभव शाली।
अस्थिरता को त्याग सुने जो सुनने आवे।
जग से मान विराग सुने जो सुनने आवे।

कवि-जीवन ने आप व्यथा अपने हित बोयी।

लगे किसी को बाण और घायल हो कोई।
कवि की दुरगति देख स्वयं कविता ही रोयी।
गिरि के उर में परम प्रेम से पोसा-पाला।
क्यों अनजाने देश चला झरना मतवाला?
गूढ़ गहन वन अगम कंटकित मग पर धाया।
कवि-जीवन-उन्माद हाय उसको भी भाया!
कान्त-मिलन के हेतु चली थी बिजली बाला।
उत्कण्ठा थी अमित पान-हित कान्ति रसाला।
छन में उखड़े पाँव, विवश भागी हतभागी।
मिली निगोड़ी लाज अहह! कवि-जीवन-पागी। ६०
जल ने ले रवितापआप को भाप बनाया।
देश, वेश, कुल, वर्ण, जाति का मोह भुलाया।
लिया शून्य में वास, आग उर में धधकायी।
हा! कवि-जीवन-रसिक-जलद-पदवी तब पायी।
पीड़ित लोक विलोक अनलमय-लोचन होता।
कभी हृदय में घाव अपरिमित लेकर रोता।
काँटों का यह मुकुट उच्च नभ ने क्यों धारा?
कवि-जीवन-अनुराग-विकल वह भी बेचारा!
"जाता हूँ जिस ओर मुझे जाने दो लोगो!
पागल ही का नाम मुझे पाने दो लोगो!"— ७०
कवि-जीवन-आस्वाद-गर्जनामयि कल्याणी—
चन्द्र-परस हित मत्त सिन्धु की सुन लो वाणी!
अब न टलेगी हाय साढ़ साती वह देखो।
जल जल कर गल गयी मोम-बाती वह देखो।
देती जग को ज्योति तिमिर खाती वह देखो।
कवि-जीवन का गान सतत गाती वह देखो।
इसी ताप से दीप्त गीत शशि मैंने पाया।
जो अवनी पर आज गगन का रस ले आया।
यही गीत नवशक्ति यही मेरा जीवन-धन।
इसकी ही अनुरक्ति सँजोयी मैंने कन-कन। ८०

कवि का क्या सम्मान करेगा कोई जग में!
रवि का क्या यशगान करेगा कोई जग में!

दोनों ही का मान यही—तपनिधि में डूबें।
मिले नहीं आदान दान से तदपि न ऊबें।
नभ को आदर—मान की कहां आशा तुमसे ?
घन को स्वागत—गान की न अभिलाषा तुमसे।
पवन, अग्नि, रस, रसा सरस जीवन के दाता।
इनमें से कब कौन मान का रसिक दिखाता ?
उषा ललित तारुण्य दिखाकर ललचायेगी।
संध्या निज कारुण्य-वारि-रस बरसायेगी।
चन्द्र-चन्द्रिका रुचिर हरेगी हृदय निरन्तर।
गाएँगे रस-गान अचल से विचलित निर्झर।
सुमनावलि में मदन सुमद-संचार करेंगे।
सौरभ से उन्मत्त मधुप गुञ्जार करेंगे।
सबको अपने कर्म-धर्म का पालन करना।
जग-जीवन के हेतु सुकवि को जीते मरना !

किया सिंह का मान उसे पिंजड़े में डाला।
किया सुकवि से स्नेह राजकवि कहकर पाला।
मुझे न दो यह मान, न मैं उसका अनुरागी।
मुझे न होना शेष किसी बन्धन का भागी।
मैं स्वतन्त्र ज्यों ओस सुमन सरसाने आया।
जीवन का शृङ्गार, सार दरसाने आया।
मुझको लेकर मोल, मोल मेरा न गिराओ।
मोती से अनमोल, मुझे रज में न मिलाओ।
मैं पपीहरा, धर्म 'पी कहां' कहना मेरा।
स्वाती के घनश्याम—बूँद का निशिदिन चेरा।
मुझे न दो सम्मान सुनो यह मेरा गाना।
जब तक पी का विरह, किसी विधि काल बिताना।
मैं प्रभात का भ्रमर, कार्य मेरा मँड़राना।
अरे न रोको नेक, मुझे कुंजों में जाना।
मैं कौड़ी के मोल नहीं बिकने को आया।
मैं प्रियतम के हाथ बिना ही मोल बिकाया।

अहो शून्य आकाश ! मित्रता मुझसे कर लो।

रस का दिव्य प्रवाह श्रवण में, मन में भर लो।
किन्तु कहां तुम शून्य ? हृदय में घाव घनेरे !
रोते-तपते मिले सदा तुम साँझ - सबेरे !
प्रखर तपस्वी सूर्य ! किया तुमने तप भारी।
आओ लो विश्राम, सुनो गाथा सुखकारी।
किन्तु ! कहां अवकाश, तुम्हें अस्ताचल जाना।
सन्ध्या रमणी सङ्ग काम-क्रीड़ा - रस पाना। १२०
आओ तुम थक गये निशाकर ! कटते कटते।
मिट जाओगे सखे ! कर्मऋण पटते पटते।
हाय वेदना - अनल जलाता तुमको जाता।
सर्वनाश की ओर बढ़ाता तुमको जाता।
प्यारे तारकवृन्द ! सुनो तुम सरस कहानी।
तिमिर-नाश की कीर्ति लहें रवि-शशि मनमानी।
किन्तु तुम्हें भी हाय कहीं तड़के ही जाना।
कर्म-जाल के दास तुम्हें भी नियम निभाना।
आओ बादल ! गान तुम्हें अति मंजु सुनाऊं।
रोना जाये भूल, मोद-रसधार बहाऊं। १३०
किन्तु व्यस्त हो हन्त ! तुम्हें नित रोना होगा।
मोती से बर बीज कृषक-हित बोना होगा।
रोके भी क्यों नेक नहीं वह झरना ठहरा ?
अहह ! कौन आघात अचल के उर में गहरा ?
आर्त्त-नयन - जल सरिस चला क्यों वह लहराता ?
दर्शक - मानस - धैर्य - बाँध को तोड़ गिराता।
बड़वानल से दग्ध सिंधु रह रह कर विचलित।
दावानल-प्रज्वलित, कंटकित कानन भी नित।
जलता ही तो हाय लता का भी उर देखा।
फूल नहीं अंगार, - मान लो सच यह लेखा। १४०
तनिक न रुकती सरित प्रगति के हित उतावली।
क्या जाने किस प्राणनाथ के हेतु बावली।
मणि - सोपानों संग निरन्तर ही टकराना।
चलने का प्रण विकल - प्राण सर ने भी ठाना।

होता संशय एक हो, रहा सब को संशय।

दे न सकेगा गान हमारा प्रिय रस अक्षय।
और कहीं सब लोग इसी से हृदय लगाते ।
मुझे सामने छोड़ चले द्रुत गति से जाते ।
उठा उठा कर लहर उदधि हे अवनि-विहारी!
कहते हो तुम सत्य गीत में कान्ति न प्यारी।
चन्द्र - वदन अवलोक पा रहे जो रस झोंके ।
कहां गीत में हाय ? तुम्हें फिर कैसे रोके ?
ले गर्जन का गान श्याम जलधर वे आये ।
नाचो नाचो मोर मोद से पंख फुलाये ।
तुम्हें देख तल्लीन आप ही माना मैंने ।
मेरा गाना हीन आप ही जाना मैंने ।
स्वर्ण विभूषित वसन लिये रवि ! चले कहां तुम ?
पाओगे क्या अधिक मधुर संगीत वहां तुम ?
क्यों मेरा उत्साह धैर्य लेकर जाते हो ?
मेरी श्री सब छीन दैन्य देकर जाते हो ?
हर रजनी का हार जहां जाती हो जाओ ।
मुझे निराश निहार न ऊषे यों मुसकाओ ।
यही जगत की रीति जहां जो रस पायेगा ।
नीरस से तज प्रीति वहीं को वह जायेगा ।
होता कुछ सन्तोष हवा भी जो सुन लेती ।
दवा हृदय को हाय नहीं वह भी तो देती ।
फूलों ही की धूलि चाटती फिरती हरदम ।
उनकी लेकर महक बाँटती फिरती हरदम ।
फूलों से ले खेल खेलना उसको भाता ।
उनकी चाटे धूल इसे भी जी सह जाता ।
किन्तु राह की धूल लिये उसका यह फिरना—
सह लूं कौन प्रकार वज्र का उर पर गिरना ।
आँखों से यह देख करूं किससे अब आशा ?
मिली धूलि में हाय सभी मेरी अभिलाषा ।
मिट्टी से भी अधम आह मेरा यह गाना ।
मानेंगे सब लोग हवा तक ने जब माना ।
झरने को लो देख चला जाता लहराता ।

"गीत तुम्हारा क्षुद्र"—अनवरत मानों गाता ।
वह हो रहा अधीर हाय नीचे जाने को—
नीचे से भी नीच समझ मेरे गाने को ।

जब इनका यह हाल मानवों का क्या कहना !—
जिनको अति ही जटिल पेच में पड़ कर रहना ।
जिनका ईर्ष्या-द्वेष रसिक को मूढ़ बनाता ।
जिनका कपट-निवेश सरल को गूढ़ बनाता ।

ऐसों से उपहास कराने क्यों मैं जाऊं ?
इससे तो अति उचित न यह गाना ही गाऊं ।
मानस में आवास इसे देकर विकसाऊं ।
गाऊं तो इस भाँति अकेला मैं सुन पाऊं ।

निर्बल के तो दीनबन्धु ही नित्य सहारे ।
वे ही मेरी नाव लगायें सिंधु-किनारे ।
वे चाहें तो यही दीनता दानमयी हो ।
वे चाहें तो यही हीनता मानमयी हो ।

अंधकार कर त्याग किया मन का घर निर्मल ।
आयें उसमें वास करें मेरे प्रिय अविकल ।
फैला दें निज ज्योति सभी गत हो आशंका ।
बज जाये सब ओर कुकवि का भी जय-डंका ।

वे करते नित सृष्टि उसी का रस नित पीते ।
करते जीवन-दान उसी जीवन में जीते ।
वाणी स्फूर्ति प्रदान करें वे रस संचारी ।
ले लें मधुमय दान उसी के मानस हारी ।

अलंकार-आस्वाद-प्रकाशक वे जितने ही ।
वसन-हीन लावण्य-उपासक भी उतने ही ।
निरलंकारा करें करें या सालंकारा ।
मेरी कविता करें यथारुचि गूढ़ उदारा ।

मेरे प्रिय को भूख प्यास भी हो जब जैसी ।
वैसा ही आहार वारिधारा भी वैसी ।
आह-अश्रु के व्याज इसी गाने में धर लें ।
लें अपना परितोष धन्य मुझको भी कर लें ।

वे जब होंगे संग न कोई खोया होगा।
कहीं उन्हीं में अखिल जगत भी सोया होगा।
वे देंगे आशीश विश्व क्यों गाली देगा।
वे देंगे पाथेय और वह थाली देगा।
सींचूँगा मैं मूल मिलेंगे पत्ते मुझको।
मधु की मक्खी मिली मिलेंगे छत्ते मुझको।
उनकी रस की वृष्टि सींच देगी मग मग को।
उनकी करुणा दृष्टि खींच लेगी पग पग को।

सगुण-अगुण सब रूप ब्रह्म का मुझको भाया।
आया एक समझ एक को चिन्तन लाया।
जो लोचन की ओट, सगुण उसको बतलाता।
क्यों न सगुण आराध्य वही निर्गुण व्याख्याता।
निर्गुण ही तो विविध रूप धर आने वाला।
दानव-मानव-देव नाट्य दिखलाने वाला।
वंदनीय यदि ब्रह्म वंद्य जग सारा होगा।
उनसे बढ़ कर पात्र प्रीति का प्यारा होगा।
तुंदिल-उदर मनोज्ञ प्रथित जो मूषक वाहन।
एक दंत द्युति ओक मदन-मद हरित गजानन।
जिनकी मोदक-निरति अमित जग-मानस-रंजिनि।
जिनकी अगति-निमग्न प्रगति भव-खेद-विभंजिनि।
रुद्र-शक्ति मानसिक रसिक संकल्प रूप जो।
सर्व प्रथम आराध्य प्रफुल्लित छवि अनूप जो।
वे ही दिव्य गणेश हरें मेरी गति-बाधा।
चलूं बिना श्रम आज प्राप्त कर प्रीति अगाधा।
ताण्डव नृत्य-निमग्न शक्ति को अंक लगाये।
अमित लोकपति मुंड माल से कंठ लसाये।
जिनके मानस-मध्य शयित बहु अज कमलावर।
प्रगतिशील वे रुद्र मुझे दें प्रगति निरन्तर।
जो समाधि में लग्न प्रिया की विस्मृति-तल तक।
अचल हिमाचल सदृश प्रणय अद्वैत प्रवर्त्तक।
जिनके मानस मध्य सो रहे रुद्र भयंकर।
अगतिशील वे शम्भु मुझे दें अगति शिवंकर।

जिसने ठाना समर जगतपति के मानस से ।
जिसने सींचा हृदय उमावर- जीवन -रस से ।
तज अनुचित विद्रोह बना जो ईश्वर-अनुचर—
वह मन्मथ रतिनाथ मुझे दे भाव मनोहर ।
जिसकी पीड़ा विषम सृष्टि को चालित करती ।
जन - जन को हो प्राप्त अनवरत पालित करती ।
वही विधाता ताप तत्व रचना का देवे ।
जग का रचनाकार प्रणति शत मुझसे लेवे ।
अज - वेदना विराट कहायी जो ब्रह्माणी ।
जिससे चंचल विकल विश्व का प्राणी - प्राणी । २५०
दे मुझको वरदान व्यथामय वाणी पाऊं ।
जन-जन - मानस- मध्य सदनुभव-स्रोत बहाऊं ।
पालन का संकल्प किया कण-कण हित जिसने ।
मरहम दिया अमोल जगत-व्रण-व्रण हित जिसने ।
वही सिन्धुजारमण करे मम मानस पोषण ।
निकले नवल सरोज हृदय-रुज का हो शोषण ।
सत्य रूप शिव और शक्तिरूपिणी भवानी ।
जनक जननि से जन्म मिला जिसको अभिमानी ।
दानव मानव दनुज सभी को ज्योति दिखायी ।
प्रेम - समर की दिव्यकला जिसने सिखलायी । २६०
ब्रह्म लोक से प्रणय-चूर्ण जो भू पर लाया ।
अखिल विश्व का ऐक्य प्रगट जिसने दिखलाया ।
शम्भु - उमा - ब्रह्मास्त्र कंध पर जिसके राजे ।
वही षड़ानन कार्त्तिकेय मेरा बल साजे ।
प्रखर दृष्टि-सम्पन्न अचानक दृष्टि गँवायी ।
काल विवश ही प्राण प्रिया की कुगति करायी ।
देकर निर्दय शाप आप ही युग-युग रोया । २७०
नयन नीर से गात धरा का निशिदिन धोया ।
एक कल्प का विरह सहन जिसने कर डाला ।
लेकर जन्म अनेक एक ही प्रण प्रतिपाला ।
वही षड़ानन भव्य शारदा-हृदय--दुलारा ।
जग जीवन–सम्भूत मुझे दे अनुभव प्यारा ।

जिसने लिया प्रहार प्रथम अपने सिर ऊपर ।
धरा-अवतरण भार किया स्वीकार अरुचिकर ।
रुद्रदेव-आघात, कान्त-अभिशाप निबाहा ।
महाशक्ति की केलिकला का स्रोत प्रवाहा ।

देख-देख कर तप्त जिसे अज भी अकुलाये ।
जननि-वेदना देवि-दृगों में आँसू आये—
वही शारदा दिव्य मुझे धीरज औ बल दे ।
२८० असहनीय अपमान-सहन की शक्ति अचल दे ।

कौशल्या कैकयी सुमित्रा - हित दृग - अंजन ।
जो थी दशरथ हेतु बालिका ताप - विभंजन ।
प्राणी प्राणी हेतु सदय भावों से मंडित ।
सेवाहित अवतरित अखिल जगती जन वंदित ।

अमर शारदा-अंश प्राप्त कर जग में आयी ।
मधुराका की भाँति अवध में छवि से छायी ।
लोकलाभ के हेतु चली जो सब को तज के ।
पाऊँ मैं विश्राम उसी शान्ता को भज के ।

निमल ज्ञान-निधान, तदपि विरही कहलाये ।
२९० विरह--भोग--प्रति स्वाद चले अविराम बढ़ाये !
ताप-ग्रस्त जग मध्य खेद से विरहित बैठे ।
विरह-कथा के कथन -श्रवण के निधि में पैठे ।

भू पर ही जो स्वर्ग ला सके निज विक्रम से ।
दानव को भी देव बना पाये जो श्रम से ।
वह शान्ता-प्राणेश षड़ानन-मनुज रूप धर -
शृंगीऋषि निज विरह मुझे भी दे मानस हर ।

शेष न कोई कार्य, नहीं बंधन भी कोई ।
इंधन सकल समाप्त अनल-ज्वाला सब सोयी ।
तदपि कर्म का जाल लिया अपने सिर ऊपर ।
३०० क्षण में विचरण अमरलोक में क्षण में भूपर ।

महाकाल का चक्र - प्रवर्तन - नियम सँभाला ।
जिसने शीतल सलिल म्लान कलियों पर डाला ।
वह नारद ब्रह्मर्षि प्रणति मेरी स्वीकारे ।
दुर्बल मेरा हृदय शक्ति उसमें संचारे ।

मर्यादा की मूर्ति राम रविवंश-विभूषण ।
जननि जानकी देवि अमल गुणराशि अदूषण।
लखन भरत रिपुदमन एक-से-एक यशस्वी।
दशरथ उन्नत-भाल, रानियां परम मनस्वी।
लोकाराधन-मात्र ध्येय नित रखने वाले।
रात्रि-दिवस तप-स्वाद सतत ही चखने वाले। ३१०
जिनसे पा अवलम्ब हो गये ऋषिगण निर्भय।
उन वीरों को खान जयति जय रघुकुल की जय!
भानु-वंश की नाव सदा ही खेने वाले।
अनुभव अमल अमोल उसे नित देने वाले।
लेकर आश्रित-भार भीर में पड़ने वाले।
धीर वीर इव भक्त कुगति से लड़ने वाले।
जीवन में हरि कीर्ति गान ही किया जिन्होंने।
लोक-व्यथा-विषपान-दान हो लिया जिन्होंने।
श्री गुरुदेव वशिष्ठ कृपा इस जन पर कर दें।
मेरे दृग दें खोल ज्योति पथ में भी भर दें। ३२०
त्रिगुण सृष्टि आधार सार सारी संसृति का।
उसमें ही सौंदर्य निहित चतुरानन-कृति का।
देव मनुज औ दनुज-तीन में एक न होवें।
तो सब सरस प्रभाव नवल रचना के खोवें।
पंक न हो तो कमल कहां से विलस सकेगा?
अमा बिना राकेश कीर्त्ति किस भाँति लहेगा?
वंदनीय इस हेतु दैत्यपति तारक रावण।
जिनका भ्रम अवलम्ब बना जगती का पावन।
ब्रह्मरूप सब लोक-लोक के प्राणी-प्राणी।
जड़-चेतन-चर-अचर मयी जगती रस दानी। ३३०
सब मेरे आराध्य सभी का मैं अनुचर हूँ।
सब के प्रति साष्टांग प्रणति-रत निशि-वासर हूँ।

अहा! हृदय खिल गया हृदय-धन मेरे आये।
कितना करुणा भाव दीन जन के प्रति लाये!
श्रवण करेंगे गान सुनाऊँगा मैं जब लौं।
लेंगे वे मधुदान पिलाऊँगा मैं जब लौं।

देंगे भूल सँभाल दया के धाम रसीले ।
काढ़ेंगे सब शूल करेंगे बंधन ढीले ।
निन्दा औ उपहास न मुझको प्रियतम देंगे ।
दोषों का कर नाश गोद में निज ले लेंगे ।

मेरे प्रियतम गान ! कढ़ो अब मेरे उर से ।
पड़े रहे चिरकाल विरह में मग्न विधुर - से ।
धरती में तुम लीन आज अंकुर हो जाओ ।
बढ़ कर दो फल फूल काम जगती के आओ ।
कितनी रातें गयीं गये कितने दिन प्यारे ।
निराकार ही रहे उदासी में मन मारे ।
अब तो लो आकार मनोहारिणि भाषा का ।
करो कर्म-संचार तोड़ बन्धन आशा का ।
ताराओं की भाँति रहे तप-लग्न दिवा भर ।
जाओ नभ में वास करो सामोद निशा भर ।
तरसे कितने बरस अधिक तो अब मत तरसो ।
आँसू बनकर आज आँख में मेरी बरसो ।
सोये कड़वी नींद सिन्धु में जैसे शशिकर ।
ज्योत्सना-रस से मग्न करो अब नभ को सत्वर ।
जागो मेरे गान ! कुमुद का मोद बढ़ाओ ।
देकर मादक परस पुलकमय विश्व बनाओ ।
अन्धकार को भेद गर्भकारा भंजन कर ।
जाओ लो अवतार, बहाओ रस रञ्जनकर ।
सरस तोतली बोल शीघ्र जा श्रवण कराओ ।
प्यासे बैठे श्रवण उन्हें पीयूष पिलाओ ।
ले विरक्ति—तूणीर बाण अनुरक्ति चलाओ ।
फूट पड़े रस स्रोत धरा का उर सरसाओ ।
उदासीनता-हृदय कामना - चालित कर दो ।
कर कर के नव सृष्टि जगत रस लूटे, वर दो ।
शुभ कर्मों के पुण्य—उदय से जग में जाओ ।
जहां लालसा-ताप वहां नव रस बरसाओ ।
कंज - कोष में बद्ध मधुप को नव झंकृति दो ।
चक्रवाक को विरहहारिणी समलंकृति दो ।

ऊषा की मुसकान विकासित करने जाओ।
सन्ध्या का अवसान प्रकाशित करने जाओ।
नीड़ों में चापल्य मुखरता भरने जाओ।
सूनेपन की प्रखर विकलता हरने जाओ।

राह तुम्हारी जोह रही वनलता दुलारी।
मिलीं धूलि में हाय उमंगें जिसकी सारी।
फूलों की ले याद पास उसके तुम जाओ।
पायेगी फिर फूल नये उसको समझाओ।

मलयानिल ले संग नवल कलियों ढिग जाओ।
जो उदास हों छेड़ उन्हें नव केलि बढ़ाओ।
जो नितान्त हों म्लान नया उत्साह उन्हें दो।
नये लोक में नये खेल की चाह उन्हें दो।

कहीं थिरकते हुए कहीं पथ में थम जाते।
कहीं दृश्य रमणीय देखकर के रम जाते।
क्रीड़ा करते कहीं, कहीं पीड़ा में डूबे।
कहीं आक्रमणशील, कहीं व्रीड़ा में डूबे।

जाओ मेरे गान विविध गति में मतवाले।
गति गति पर यतिदान वितरते नव रसवाले।
लाना मेरे हेतु कीर्ति का धन नित नूतन।
देना मुझको प्रगति-प्रीति-साधन नित नूतन।

कार्य-भार से क्लान्त यहां जब आओ प्रियवर।
करो हंस इव वास सुमानससर में सत्वर।
यहीं वारि के मध्य पंक में पैठा हूँगा।
आओगे कब; ध्यान लगाये बैठा हूँगा।

रसिक लेखनी! आज सफल कर ले निज जीवन।
लिख दे रुचिर प्रबन्ध मोह ले जो मानव-मन।
मेरे उर का भार निरन्तर ही हरती चल।
मानस में आभार अनवरत ही भरती चल।

रुद्र-शक्ति, - शारदा-षड़ानन, शृङ्गी-शान्ता—
वनदेवी-मधु विरह-कथा रमणीया, कान्ता—
अंकित कर दे आज जान लें प्रेम-उपासक—
प्रणय-ज्वाल सब काल अश्रुमाला-परिचालक।

जहां हँसेंगे लोग वहीं रोना भी होगा।
रस-खेती के हेतु बीज बोना भी होगा।
हँसना-रोना एक तत्व केवल दो काया।
जीवन लेकर सीख यही जगती में आया।

घोषित करदे सृष्टि-स्वाद का कारण दानव—
जिसे घृणा का पात्र बताते निर्जर, मानव।
दानवता से प्राण मिला जगती की गति को।
उसने ही उत्फुल्ल किया साधक की मति को।

कामदेव-हर - मिलन - धरातल क्यों मिल पाता ?
४१० दानव-हाहाकार न जो धरती पर आता।
होता जगत विपन्न , वही तो चक्र चलाता।
शंम्भु - उमा - संयोग वही सम्पन्न कराता।

कार्त्तिकेय - उत्पत्ति, सिद्धि श्रृंगी ऋषि द्वारा।
दिव्य प्रणय - संग्राम मुक्ति - रस - साधक न्यारा।
चित्र सभी के खींच हृदय का तिमिर भगा दे।
झलका दे नव ज्योति निराले भाव जगा दे।

वनदेवी- मधु मिलन , मिलन श्रृंगी शान्ता का।
कार्त्तिकेय से मिलन शारदा अक्लान्ता का।
कल्प - कल्प यह खेल कोटिशः बार प्रवर्त्तित।
४२० आया वह भी काल शम्भु भी ब्रह्म - विसर्जित।

रौद्र शांकरी वृत्ति परात्पर - विलय अनन्तर—
सहसा फिर प्रस्फुटन रुद्र का अमित भयंकर।
रुद्र - चंडिका - मिलन महा ताण्डव नर्त्तन में।
लहरित चण्डावेश चलित भीमावर्त्तन में।

नहीं कहीं भी विरह सभी को मिलना होगा।
कुम्हलाया जो फूल उसे फिर खिलना होगा।
रुद्र - चंडिका - मिलन - अवधि की ओर निहारें।
जो हो रहे हताश हृदय में धीरज धारें।

ले आशा-संदेश संचरण कर रसदायिनि !
४३० मुझको भी अवलम्ब तनिक दे सुमति-विधायिनि !
चलती चल मसि-पात्र कभी मसि - हीन होगा।
पाकर मेरे अश्रु कभी वह दीन न होगा।

विश्वनाथ का धाम जहां जीवन-मल - हारी।
गङ्गा-तट अभिराम भुक्ति - उन्मुक्ति - प्रसारी।
वहीं विरहिणी एक विरह - पावक में जलती।
तपे स्वर्ण की भाँति खरी अविराम निकलती।

वनदेवी को छोड़ गये मधुकान्त सलोने।
कहीं दिव्य सौन्दर्य्य - स्वाद के रसिया होने।
झलक मिली रसमूल वही तो थी निधि सारी।
सकी न उसको भूल यत्न कर कर के हारी। ४४०

पागलिनी सी नाम कान्त मधु का लेती थी।
मधु को आया देख उलहना ही देती थी।
प्रिय मधु का लावण्य नहीं थी मधु में पाती।
भरती दीर्घ उसाँस दृगों से वारि बहाती।

प्रिय उन्माद ले गये मेरा सब उल्लास ले गये।
मेरी क्रीड़ा, मेरा गाना मेरा हास ले गये।
मेरा गौरव, मेरा वैभव, अहंकार सब छीना।
चले गये वे मेरे स्वामी मुझको करके दीना।

तारे दिये, रात आँखों में काटूं उनको गिन गिन।
चिंता की दी चिता उन्होंने जलूं उसी में निशि दिन।
रानी को रंकिनी बनाकर चले गये प्रिय मेरे।
नवल कली से मेरे मन को मले गये प्रिय मेरे।

होगी कोई बात तभी तो प्रिय ने दीं ये आहें।
होगा कोई भेद हिये को जो ये मिलीं कराहें।
प्रिय का कोई कौशल होगा मुझको हीन बनाया।
तड़पाने में भी रस होगा निर्जल मीन बनाया।

एक बात तो समझ रही हूँ-तोल गया बढ़ मेरा।
प्रिय-वियोग में मिटने ही से मोल गया चढ़ मेरा।
निज देहाभिमान में डूबी, मैं थी खिंची सभी से।
अब देहाभिमान से ऊबी, मैं हूं मिली सभी से। ४६०

तब मैं दिवस सरिस हँसती थी, अब रजनी-सी रोती।
तब जग को तापित करती थी, अब संतापित होती।
पावक के अंगार मनोहर, रजत-खंड बन आये।

कौन कहेगा प्रिय से मैंने, बढ़ के दाम न पाये ?
तब मैं हँसती थी बिजली-सी अब बादल-सी रोती।
तब मैं खोती थी औरों को, अब अपने को खोती।
वे प्यारे अनार के दाने, मोती होकर आये।
कौन कहेगा प्रिय से मैंने, बढ़ के दाम न पाये ?
तब मैं संध्या-सी हँसती थी, अब ऊषा-सी रोती।
तब माथे में शशि बेंदी थी, अब सब गहने खोती। ४७०
तब प्रिय थे आँखों के आगे, अब उर भीतर आये।
कौन कहेगा प्रिय से मैंने, बढ़ के दाम न पाये ?

इन्हीं भावनाओं में डूबी, वह वियोगिनी नारी।
रोती थी, धीरज धरती थी, दोनों बारी-बारी।
कभी अभागी समझ स्वयं को, माथा ठोंका करती।
ज्यों-त्यों फिर जी को समझाकर दृग-जल रोका करती।
भौंरे मँड़रा कर कहते थे, "तुम हो सरस नवेली।
चारु चमेली से भी बढ़कर, बेला से अलबेली"।
वह कहती थी—"रसिक निराले, यों न मुझे बहलाओ।
मुझे देखना हो तो प्यारे, प्रिय की आँखें लाओ"। ४८०
मलय-पवन का सरस परस पा नव कलियां रस-बोरी—
कहती थीं, "प्रियतम से हीना, कैसी हो तुम गोरी ?"
"गोरापन यह तज ओला-सा, वे किसान से भागे।
कहीं नये रस की खेती के, करने में अनुरागे।"
उसके काले बाल देख कर, मेघ सिहर पड़ते थे।
पैरों पड़ते थे, ऊँचे से, नीचे गिर पड़ते थे।
"आग लगे इनमें"—कहती थी, "काम कहां ये आये।
इनका बल तो देखा, प्रिय के उर को बाँध न पाये।"
नटखट हवा अलक की लेकर, लटें खेल करती थी।
सूनापन तिल का हरने को, उनके ढिग धरती थी।
सिर से साड़ी को सरका कर हैरानी देती थी।
हैरानी ही में छबि न्यारी, दीवानी देती थी।
कहती थी वह ऊब हवा से—"मुझे न छेड़ो रानी।
वह छबि दो मुझको प्रिय जिससे प्रीति करें मनमानी।
होता रस जो इन बातों में, क्यों न इन्हीं में रमते ?

खाक छानते फिरते फिर क्यों धरती भर में भ्रमते ?
चंद्र-किरण हँस-हँस कहती थी—"सुघर चंद्र से भी तुम।
उत्तर पाती थी—"सुघराई लो सारी मेरी तुम।
नहीं सुघरता प्रिय यह प्रिय को इसका मुँह कर काला—
कहीं खोजने चले गये वे नव लावण्य निराला।
सूखी पत्ती ढिग आयेंगे क्यों वे मेरे प्यारे।
गये सदा को चले गये वे नव मधु ग्राहक न्यारे"।
इसी निराशा का बल पाकर प्राण कभी पाती थी।
दिल की प्रति पल की तड़पन से त्राण कभी पाती थी।
कभी कुम्भकर्णी निद्रा तज आशा जग जाती थी।
आँधी सी नैराश्य-घनों की माला बिखराती थी।
आशा और निराशा का यह झूला बड़ा निराला।
जीवन-दान किया करता था, जीती थी वह बाला।
कभी मनाती थी वे आयें, चन्द्रवदन दिखलाएं।
सूख गयीं जो नसें उन्हें नव रस की धार पिलाएं।
कभी समझती थी वे आये चन्द्रवदन दिखलाने।
सागर सी कल्लोलमयी थी उठती गले लगाने।
आएं वे, आये वे—दोनों में थी पीड़ा तीखी।
कभी न आयें मेरे प्यारे—शान्ति इसी में दीखी।
कभी न आयँगे—यह सबसे बढ़कर था रसदायक।
बारी-बारी होते थे सब भाव शेष के नायक।
कभी कोकिला से कहती थी—"हे आली मृदु बैनी।
क्या पाओगी मुझको देकर तुम इतनी बेचैनी।
मैं अनुरागमयी हूं यों ही मेरे मधु वैरागी।
जाओ उन्हें दिखाओ निज बल हो जाओ यश भागी"।
फिर कहती थी, "यहीं रहो तुम तुममें बोल रहे वे।
मेरे कानों में मिसरी सी आकर घोल रहे वे।
छद्म रूप धारण कर आये मुझे खिझाने प्रियतम।
नया रसीलापन ले आये मुझे रिझाने प्रियतम।
नहीं, नहीं, तुम जाओ कोकिल, कह दो कभी न आयें।
पायें जहां कहीं रस रुचिकर उर का ताप बुझायें।
प्रिय के सुख में ही सुख मेरा उन्हें नहीं दुख दूँगी।

प्रीति रंग में रँगकर दुख को सुख से प्रिय कर लूँगी।
नहीं, न आयेंगे अब मेरे कान्त बड़े ही रंगी।
लहरों ही से कहीं प्रफुल्लित होंगे बड़े तरंगी।
आगे चली गयी जो लहरी पीछे क्यों आयेगी?
जायेगी जो कहीं अतल की गोदी में जायेगी"।

और प्रबल संयोग यही था आये वे मनभाये।
उजड़े उपवन में वसन्त से बड़े सलोने आये।
खड़े हो गये आगे उसके श्वेत वसन-धारी वे।
पहले से भी अधिक मनोहर प्राण-मुग्धकारी वे।
रखती थी प्रदोष का व्रत वे उसके फल से आये।
तप्त धरा उर को सरसाने बादल-दल से आये।
चकोरिका का प्रण था भारी—पान करूँगी हिमकर।
प्रिय पीयूष बूँद लाये वे सरस पूर्णिमा-शशिकर।
जाती थी, कर विश्वनाथ के मंदिर में आराधन।
नहीं जानती थी लायेंगे सिद्धि आज के साधन।
विस्मित चकित चित्र सी अंकित खड़ी हो गयी बामा।
नयन अघाते थे न पान कर प्रिय की छवि अभिरामा।

"देवि, देवि, मैं आज सुमन का सौरभ होकर आया;
जग को दिया, तुम्हारे हित भी दान प्रगति का लाया।
प्रीति प्रगाढ़ तुम्हारी मुझको खींच यहां तक लायी।
मन ने अनुरति, चरणों ने गति उससे नूतन पायी।
मेरे विरह-ताप से तुमने पाया मधु का संचय।
मधु देने को आया हूं मैं आज निराला, अक्षय।
सरिता को प्रवाह देने भर को न यहां मैं आया।
सरिता ही को सिन्धु बनाने वाला रस मैं लाया"।

यों कह देवालय-समीप ही एक शिला के ऊपर।
बैठ गया वह सान्ध्य दिवाकर ज्यों हो उतरा भू पर।
हर्ष-निमग्ना ने निज नत शिर पति-पद ओर बढ़ाया।
परस मात्र से विरत कान्त ने रुचिर रहस्य बताया।
"मेरे चरणों को छूकर भी संकट, देवि न लाओ।

जीवन का जो मिला सुअवसर व्यर्थ उसे न गँवाओ।
मेरा परस तुम्हें मिल जाये मुझको मिले तुम्हारा।
मानो सत्य न रोक सकेगा कोई मरण हमारा। ५६०
क्रुद्ध सर्प की भाँति भयंकर पीछा करता चलता।
शाप एक योगी का अविरत हमको दलता चलता।
पूर्व जन्म की स्मृतियां आकर मुझको विकल बनातीं।
सतर्कता-प्रेरणा निरन्तर वे ही मुझमें लातीं।

एक जन्म में मैं भौंरा था तुम गुलाब थीं प्यारी!
बना रहे थे क्रीड़ा-पुलकित हम मंजुल फुलवारी।
अकस्मात मधुपान समय ही निर्दय माली आया।
उसने तुम्हें डाल से तोड़ा पीड़ित मुझे बनाया।
अपने उसी अपार विरह की पीड़ा में सिर धुनकर।
मैंने त्यागे प्राण तुम्हारे गुन मन-ही-मन गुनकर। ५७०
तुम भी चढ़ीं देव-चरणों में और वहीं कुम्हलायीं।
वे पंखड़ियां अरुण तुम्हारी रज कण में मिल आयीं।

एक जन्म चातक का पाया पायी प्यास निराली।
स्वाती-घन की घटा बनीं तुम रस वाली मतवाली।
रटते ही पी कहां, पीकहों सूखी चोंच हमारी।
मिली न फिर भी एक बूँद भी जीवन-श्रम अपहारी।
और हाय! साधना सफल जब होने के दिन आये।
दिखीं गगन में, आँखें बरसीं, प्राण देह ने पाये।
औचक झंझा ने आ तुमको छिन्न-भिन्न कर डाला।
पंकज से कोमल मेरा उर, डाला उस पर पाला।५८०

जन्म नवीन मिला फिर हमको, मैं चकोर हो आया।
तुमने भी स्वरूप शशिकर की सरस किरण का पाया।
चलीं गगन से मेरे हित ही अवनि-विहारिणि होने।
अपनी निर्मलता से मेरे मानस का मल धोने।
करके पान तुम्हारा प्रिय रस था कृतार्थ जब होना।
बादल ने आ तुम्हें छिपाया शेष रहा बस रोना

उस कठोर-दिल बादल ने भी तुम्हें निहत कर छोड़ा।
और विरह में तड़प-तड़प कर मैंने भी दम तोड़ा।
यों ही विविध जन्म ले विचरे हम तुम प्रेम-तपस्वी।
मिल न सके वियोग-पावक में जल जल बने मनस्वी।
मानव जन्म आज लेकर तुम चन्द्रमुखी बन आयीं।
मुझको भी नर-तनु में अपने संग संग-ही लायीं।
ऐसा करो, अभाग्य निरन्तर-ही विजयी न दिखाये।
जीवन-स्वाद-प्राप्ति के पहले नहीं मरण आ जाये।
शीघ्र उपाय बताऊँगा मैं पहले शाप-कहानी।
श्रवण करा दूं तुम्हें निराली मर्मव्यथा से सानी।

योगी एक परम पद पाने के हित नित अभ्यासी।
मेरे और तुम्हारे कारण बना विकार-विलासी।
उसके ही अभिशाप-विवश हम सतत यातना-भोगी।
यत्न बिना चिरकाल रहेंगे दीन, मलीन वियोगी।
क्या अपराध हमारा था यह सावधान हो सुन लो।
अनजाने भी किये पाप का जो प्रभाव सो गुन लो।
तरुवर और लता थे हम तुम गले लगी थीं मेरे।
अति उल्लसित सुमनमय गुंजित मधुकर रसिक घनेरे।
मेरी मंजु रसाल डाल पर कल कोकिल थी गाती।
मधु के गीत अलाप विपिन में थी नव मधु बरसाती।
कुकल्पना उन्माद - विचालित योगी - उर में पैठी।
प्रखर कामना जो निद्रित थी, फिर सचेत उठ बैठी।
विरम गया भ्रमरों का गुंजन मारुत का मृदु झोंका।
सुमनों ने इठलाना, कोयल ने निज गाना रोका।
उसकी वह उद्दाम वेदना उस विनोदमय वन में।
भरने लगी विषाद-भावना क्रम-क्रम से कण कण में।
अरुण हो गये नेत्र शीघ्र ही योगिराज के ऐसे।
ज्वालाभरे अँगारे होवें ज्वलित अनल के जैसे।
शाप दिया उसने हमको, तब—जन्म जन्म में जाओ।
प्रिय का परस मात्र पाते ही विरह जन्म भर पाओ।
क्षण में फिर योगेश्वर ने निज पूर्व सरलता पायी।
तब उससे विनती करने की बात ध्यान में आयी।

मुने, किया अपराध न हमने जान बूझ कर कोई।
हाय! न जाने क्यों तुमने निज मानस की धृति खोयी।
मेरे शाप-ग्रस्त प्रेमिकवर, मन में खेद न मानो।
यदपि अहित हो गया तुम्हारा हित इसमें भी जानो।
मानव-जन्म जभी पाओगे विरत भोग से रह कर।
शोक-सिन्धु-पारंगत होगे प्रभु के गुण गण कह कर।
यह कह चले गये निशि में मुनि फिर तप में रत होने।
कर भावी वियोग-चिन्ता हम लगे विकल हो रोने।
प्रात समय में वहां एक जन लिये कुल्हाड़ी आया।
काट-काट कर मुझको तुमको उसने वहीं गिराया।

मानव जन्म मिला यह हमको बड़े भाग्य से देवी!
आओ हम दोनों हो जायें प्रभु-पद-पंकज-सेवी।
सोना सा यह जीवन भी यदि हमने यों ही खोया।
तो समझो भावी विपदा का विषम बीज ही बोया।
मेरा भी उपकार इसी में जीवन-संगिनि मेरी।
तुम्हें खेद में देख रहेगी मुझको व्यथा घनेरी।
परदा पड़ा तुम्हारी आँखों पर जो अतिशय काला।
उसे हटाये बिना हृदय मम शान्ति न पाने वाला।
मैं एकान्त विरागी होकर जीवन त्याग न दूँगा।
एकाकी अनुरागी होकर मिट्टी में न सनूँगा।
मैं विराग-अनुराग-समर्थन सीख शम्भु से आया।
इसमें ही रस का रहस्य भी मुझे अनूप दिखाया।
तुम्हें ज्ञान देने के हित मैं यहां निवास करूँगा।
रुचिर कथा का स्वाद चखा कर उर के क्लेश हरूँगा।
आश्विन की रसधाम पूर्णिमा तिथि अतिशय अभिरामा।
कल से ही आरम्भ करूँगा मैं प्रियकथा ललामा"।

मंजुल दिन का अन्त पधारा गमने पूत प्रभाकर।
क्रमशः संध्या की गोदी में गिरे श्रान्त वे जाकर।
क्लान्ति मिटाने को उनकी ही शशिकर शीतल आये।
रस में स्नान कराया, रसकण छिटिक गगन में छाये।
कुमारिका के अधरों का ले मृदु मंजुल मुसकाना।

बालचन्द्र ने वनदेवी से होड़ मनोहर ठाना।
फिर भी दीखी नहीं सफलता बड़े कटे—शरमाये।
देने को उत्कोच मोतियों की माला ले आये।
सरस सुमन—मधु-गंध-मोदिता बही पवन यों कहती।
कुमारिका से अधिक सरसता वियोगिनी में रहती।
माली-कर-गूँथी माला में मृदु कौमार निराला।
रसिक किन्तु पीड़ित पंखड़ियों में रस पाने वाला।

वनदेवी आनन-छवि की थी आज न कोई उपमा।
मूर्त्तिमती हो गयी स्वयं ही मानों प्यारी सुषमा।
घोषित करती थी नीरव ही बिना विरह में डूबे।
कहां पूर्ण हो पाये किसके मौज भरे मनसूबे?
मंजु आरती स्वर्ण थाल में साज कान्त ढिग आयी।
तनु में पुलक, हृदय में श्रद्धा, दृग में जल भर लायी।
शम्भु-ध्यान में डूबे थे मधु बाघम्बर पर बैठे।
लोकोत्तर आनन्द-सिन्धु के अन्तस्तल में पैठे।
उतारने आरती लगी वह परम प्रेम की भूखी।
हरी हो गयी आज हर्ष से वह होकर भी सूखी।
देवांगना-जनों का भी तो होगा भाग्य न ऐसा।
बही पवन मानों यों कहती, देवि तुम्हारा जैसा।
अस्त हो गये बाल कलाधर हार मान कर मन में।
अथवा खंड-खंड हो बिखरे अमित गगन-प्रांगण में।
या वनदेवी वैभव-व्रीड़ित थम न सके वे थोड़ा।
नवछवि हित नव तप करने को देश उन्होंने छोड़ा।

प्रियतम का वह रूप देखकर ललना के दृग बरसे।
दृगजलकण ढलके कपोल पर फूल-ओस से सरसे।
रोने ही में जीवन का रस उसने अब पहचाना।
विरह-ताप देने वाले का परम अनुग्रह माना।
अपलक लोचन से निहारती थी पति की सुघराई।
गिरीं लाज से पलकें जब प्रिय-दृष्टि सामने आयी।
कान्त अधर डोले, "हे कान्ते, मानस सरस तुम्हारा।
प्रभु गुण गान कमल मुद मधुकर केलि-भवन अब न्यारा।

सोने सा मानव तनु पाकर जो बस खाकर सोये।
बने काम के दास जिन्होंने जीवन के दिन खोये।
नहीं उन्होंने प्रिय रस पाया इस जग में आने का।
नाहक ही क्यों खोया गौरव पशु ही कहलाने का।

अखिल विश्व में पूर्ण रूप से व्यक्त न प्रभु हो पाते।
कुछ बाहर आते कुछ जीवन-नाथ छिपे रह जाते।
अपनी इच्छा ही से परिमित होते वे नटनागर।
सहज भाव से तब भर देते गागर में भी सागर।
सम्राटों के भी स्वामी वे दीन कुटी में आते।
खेलखेल में यह छोटी सी सृष्टि विचित्र बनाते। ६९०
छोटी सृष्टि उन्हीं की महिमा को विलोकते छोटी।
हमको तो उसकी असीमता लगती कितनी खोटी।
बच्चों के तोतले बोल में कलियों के हिलने में।
लाली भरे नवल पल्लव के मधुऋतु से मिलने में।
मेरे स्वामी का ही बचपन जहां तहां दिखलाता।
उन्हें न जाने क्यों नवीन बन आना इतना भाता।
माता की आँखों में आकर कभी थकान मिटाते।
कभी पिता के उल्लासों में मचल-मचल रह जाते।
ठुमुक-ठुमुक कर चलना उनका कितना मोहक लगता।
देख धूलि में गिरते-पड़ते हृदय प्रेम में पगता। ७००
नारी की तिरछी चितवन में हाव-भाव वे करते।
उनके ही मद से घायल हो कितने निशि-दिन मरते।
कालिन्दी के तट पर बंसी वही बजाने आते।
मरे अनंग काम को वे ही नाथ जिलाने आते।
वे ही नायक, वही नायिका वे ही रस के सोते।
बैठे ठाले मेरे स्वामी क्रीड़ा में रत होते।
कभी चुरा कर माखन खाते कभी चीर हर लेते।
उनके खेलों से भी 'शिव-शिव' सभी लोग कर देते।
कभी वसन्ती वसन पहन कर अपना गात सजाते।
कभी कराल ग्रीष्म की लू में सरसर दौड़े आते। ७१०
पावस की तममयी निशा में किसी प्रिया के कामी।
बूँदों की डोरी पर चढ़कर नभ से उतरे स्वामी।

शिशिर काल में तीर चलाना प्रिय को रुचिकर लगता।
महाशीत से पीड़ित सी-सी हा-हा सब जग करता।
भाँति-भाँति के भेस बना कर वे लीलाधर आते।
कभी रोष से कभी प्रणय से हमको गले लगाते।
अति प्राचीन कभी बन कर वे शरद-चन्द्र से शोभन।
दाढ़ी श्वेत लगा कासों की हँसते विश्व-विमोहन।
कभी आप ले गात ठिठुरता जाड़े में आ जाते।
बैठ आग के आगे प्रभुवर गरमाहट पा जाते।
अनुरागी होकर रमते वे बने विरागी भ्रमते।
वे ही हो निर्लिप्त उभय से कभी कहीं न विरमते।
कभी महल में कभी कुटी में धूप और छाया में।
पाया उनको सजग देह में प्राणहीन काया में।
बादल होकर वही गरजते वे ही बनते पानी।
रूप भाप का धर फिर बादल होते वे रसदानी।
वे ही लहर बुलबुले वे ही वे ही रस की धारा।
देखो जहां वहां प्रियतम का खेल हो रहा प्यारा।
वही चन्द्र होकर मुसकाते हो चकोर रस पीते।
घहराते स्वाती-घन बन कर चातक बन कर जीते।
वही दिवाकर होकर आते वही कमल हो खिलते।
चकवा-चकई के मिलाप में मेरे मालिक मिलते।
कभी विराट रूप धर कर वे निगल विश्व को जाते।
कभी मशक बन कर वे मेरे कानों के ढिग आते।
उनकी कमर कभी तो पतली आँखां को न दिखाती।
कभी समुद्र - मेखलाधारिणि अति अपार हो जाती।
कभी मुकुट हिम का धारण कर राज-काज वे करते।
शेषनाग पर कभी शयन कर वे सानन्द विहरते।
कभी निर्झरों की कलध्वनि से गिरि को मुखर बनाते।
कभी तिमिरमय गहन गुहा में समाधिस्थ हो जाते।
कभी सिंह की सी दहाड़ से दिल वे दहला देते।
बोली बोल कभी कोयल-सी जी को सहला देते।
वन-वैभव से बहला देते कभी खगों के मन को।
कभी शिकारी हो खर शर से आहत करते तन को।

ईर्ष्या की ज्वाला में वे ही बैठे आप धधकते।
वही प्रेम-विह्वल हो दृग से वारि-विमोचन करते।
कभी घृणा से पागल होकर वे ही अस्त्र उठाते।
अपने प्रिय से भी प्रिय के वध में तत्पर हो जाते।
वही समर का शंख बजाकर समरोन्मत्त बनाते।
वे ही शीस काटते अरि का वे ही शीस कटाते। ७५०
वही विजेता, वही विजित भी, वही शान्ति के वाहक।
ये खिलवाड़ किया करते प्रभु बैठे-बैठे नाहक।
पौधा एक लगाकर उसमें पल भर पानी देते।
फिर अमूल उसको कर के भी मुसकाते रस लेते।
रसिया होकर रचना करते होकर क्रूर मिटाते।
मेरे पागल प्राणनाथ के ढंग न जाने जाते।

जिस धरती पर हम-तुम बैठे कितनी अमित दिखाती?
विचित्रता से मंडित होकर किसे न चकित बनाती।
उस पर एक जीव को भी तो हमने जान न पाया।
उसके अगम अनन्त भेद को भी पहचान न पाया। ७६०
कोटि-कोटि प्राणी प्रति पल में नवल देह में आते।
कोटि-कोटि प्राणी प्रति पल में नव-नव यौवन पाते।
नाना योनि, प्रकृति नाना विधि भोग-लालसा नाना।
गूढ़ रहस्य भरे सब के मन किसने अगम न माना?
सो उतनी ही धरती जग में जितने नभ में तारे।
उतने ही रवि और कलाधर लोक अनेकों न्यारे।
बुद्धि हमारी यह छोटी सी सोच सोच थक जाये।
सम्भव नहीं कि कोटि जन्म में जगत-कल्पना पाये।
जब इस व्यक्त जगत का मुनिगण बोध न अणुभर पाते।
रोते-धोते और कलपते जीवन-काल बिताते। ७७०
तो अव्यक्त, अनादि अलख की वह क्या बात बताये।
तनिक फूँक के लगने से जो उड़ी गुड़ी हो जाये।
मन को खींच सभी विषयों से प्रभु पर केंद्रित कर दो।
उनकी लीला-श्रवण-प्रीति से प्रिय मानस को भर दो।
लौकिकता में तन डूबा हो प्रभु में मन हो डूबा।

मुझे दिखोगी सुन्दर जब यों जी बहलाओ ऊबा ।
भोग लोभ रूपी तारक ही तुम पर अत्याचारी ।
ज्ञानरूप तुम किंतु बनीं जड़ ज्यों शारदा दुलारी ।
इस तारक का वध करने को व्रत लेकर के बैठो ।
प्रेमाग्रह-रत शृंगीऋषि सम समर-सिंधु में पैठो ।
कार्तिकेय सम प्रणय हमारा तव उद्धार करेगा ।
दानव-मानव-देव तत्व में एकाकार भरेगा ।
मेरा पोषण-भाव रूप धर नारद का विचरेगा ।
सत्य रूप शिव सोये तुममें उन्हें सचेत करेगा ।
सत्य भाव से देवि तुम्हारा उर हो यदि अनुरागी ।
तो मेरे निमित्त हो जाओ तुम नितान्त ही त्यागी ।
अन्य त्याग मैं एक न चाहूं मंद भाव निज त्यागो ।
जग-जीवन के परम तत्व प्रति तन मन से अनुरागो" ।

प्रियतम के उपदेश श्रवण कर वनदेवी हरषायी ।
बोली, "देव, अमृतमय वाणी तुमने श्रवण करायी ।
मेरा यह सौभाग्य मिले तुम कान्त ज्ञानप्रद ऐसे ।
तिमिर मग्न हूं विधि बतला दो ज्योति लहूँगी कैसे" ।
विमल प्रेम की डोरी में बँध श्रोता-वक्ता बैठे ।
उत्कण्ठा का झोंका खाकर मन खो रस में पैठे ।
अन्तर्दृग से पड़े दिखायी संसृति-पीड़ा-मोचन ।
नव प्रकाश पाकर चमके से विरत कान्त के लोचन ।
अश्रु-पुलक-संचार रोक कर प्रिय ने कथा चलायी ।
अथवा नवल भगीरथ ने नव भागीरथी बहायी ।
करने लगी श्रवण वनदेवी तनु की सुधि बुधि भूली ।
ज्यों रविकर की रसिक कमलिनी प्रिय-दर्शन से फूली ।

———

प्रथम सर्ग

शिशिर-घाव का मरहम लेकर क्यों ऋतुराज पधारा।
पावस की आँखों से निकली क्यों आँसू की धारा।
क्यों चन्द्रिका श्याम रजनी को गले लगाने आती?
कोई शक्ति वितरती फिरती विमल प्रेम की थाती।
क्यों मलयाचल-पवन कली का उर विकसाने आती?
क्यों ऊषा उसका मुँह धोकर दीप्त बनाने आती?
क्यों मधु की दूतिका कोकिला मादक गाना गाती?
कोई शक्ति वितरती फिरती विमल प्रेम की थाती।
दिनकर क्यों प्रति दिन ही आकर मंजुल ज्योति जगाता?
सीदित सरसिज-मानस में क्यों नव रस-राशि बढ़ाता? १०
संध्या क्यों कुमुदों को मुद का संदेसा ले आती?
कोई शक्ति वितरती फिरती विमल प्रेम का थाती।
क्यों घन अपना जीवन देकर जग जीवन सरसाता?
तृषित चकोरी-हित क्यों शशिकर किरण अमृत बरसाता?
क्यों गिरि द्रुम सहते हिम, वर्षा, ताप कड़ी कर छाती?
कोई शक्ति वितरती फिरती विमल प्रेम की थाती।

परम लाड़ला, दृग का तारा मां का हृदय-दुलारा।
हँसता आप रुलाता उसको जाने कहां सिधारा।
अब बरखा की भाँति रहे मां विमल वारि बरसाती।
कोई शक्ति चीरती फिरती पाली-पोसी छाती। २०

क्षण भर के आनन्द के लिए कुहरा जग में आया।
किसने इसको भी न सहन कर दिनकर बाण चलाया?
ऐसा मिटा कि पद-चिन्हों की रेख न एक दिखाती।
कोई शक्ति चीरती फिरती पाली-पोसी छाती।

कितना तप करने पर पायीं अपनी सकल कलाएं।
पीछे क्यों लग गयीं चाँद के हाय तुरन्त बलाएं?
क्यों लटने लग गया वदन-छवि क्यों कुम्हलाती जाती?
कोई शक्ति चीरती फिरती पाली-पोसी छाती।

सरोजिनी ने दिन से पायी सुरभि और छवि न्यारी।
भौंरे रसिक उसी से पाये मधु के हेतु भिखारी।
क्यों संध्या उसका धन हरने दाँत पीसती आती?
कोई शक्ति चीरती फिरती पाली पोसी छाती।

महाशक्ति वैचित्र्यमयी वह नव नव चित्र बनाती।
किसी भाव के वश होकर फिर उन्हें तुरन्त मिटाती।
क्यों उखाड़ देती वे पौधे जिन्हें प्रेम से पाले?
जाने कौन रहस्यमयी के भेद अतीव निराले।

प्राण हवन संकल्प स्वयं कर तपस्विनी हो बैठी।
जीवन पाये अखिल लोक यह पयस्विनी हो बैठी।
वही भुजंगी सी विकराला क्यों प्राणों को हरती?
कंचन से तन को छन में ही क्यों मिट्टी सा करती?

ऊषा की मधुमयी कला में दोपहरी की लू में—
दिव्य प्रखर थी, फिर क्यों बिखरी बरसाती बदबू में?
मिट्टी में से कला काढ़ती देती मंजुल यौवन।
क्यों पंखड़ियां तोड़ बनाती उसको फिर मिट्टीकन?

दिन के हेतु सुवर्ण मुकुटवर परम प्रदीप्त बनाती।
उसी मुकुट की श्री हरने में क्यों न तनिक सकुचाती?
सारी रात बनाती बैठी मोती की मालाएं।
भानु-करों द्वारा क्यों देती उन्हें मरण-ज्वालाएं?

मुसकाते शिशु की किलकारी में मन हरती आती।
मदोन्मत्त कामिनी-नयन में वह झूमती दिखाती।
कंकालों के ढाँचों में क्यों अट्टहास कर बैठी?

कौन रत्न जीवन - अम्बुधि - तल से लाने को पैठी ?
निर्दयता अविराम कहां यह महाशक्ति ने पायी ?
हृदय - हीनता अमित क्रूरता कैसे उसमें आयी ?
मीठी कितनी लगती पहले फिर तीती क्यों होती ?
अनुरक्ता क्यों रक्तलोचना होकर धीरज खोती ?

शक्ति किसी ऐसे की रसिका जो न हाथ में आता।
कमल - पत्र पर वारि-बूँद सा जो ढलका ही जाता।
चन्द्रकिरण से भी जो पतला नहीं पकड़ में आता।
उससे ही तो जोड़ा उसने अंध प्रीति का नाता। ६०
ऐसे प्रेमपात्र में रत हो किसने क्लेश न पाया ?
किसे न अपने मंद भाग्य पर रह रह रोना आया ?
रोना ही जिसको जीवन भर खीझ न क्यों वह जाये ?
क्यों न रसीली होकर भी वह क्रूर भावना पाये ?

महाशक्ति के अंध प्रणय का कौन रसिकवर अधिकारी ?
कौन महा चंचल जिससे वह परम चंचला भी हारी ?
महाशक्ति जो आप, उसी को किसने दुर्बल कर डाला ?
किसने रिक्त बनायी उसकी मंजुल मानस-मधुशाला ?
कहता हूँ मैं, श्रवण करो तुम इसमें जीवन-तत्व अनूप।
मरण भयंकर आया इसमें लेकर पावन अमर स्वरूप। ७०
देवि, महादेवी विरहाकुल कैसे बनी बताऊँगा।
काल-जलधि के अन्तस्तल से मुक्त-मालिका लाऊँगा।

कहीं कुंज में एक सुमन है जिसका आप वही उपमान।
सबसे परे, निराला सबसे दिव्य रूप-सौरभ की खान।
आँखों को न दिखायी पड़ता फिर भी "है"-लेते यह मान।
सुरभित मारुत के झोकों से उसका हम करते अनुमान।
हारे थके खीझ कह देते —नहीं, कुसुम वह कहीं नहीं।
तब तक गूँज कहीं से आती—ठहरो, यह है यहीं कहीं।
उलझ उलझ काँटों में मधुकर अंक रुधिर से लेता रंग।
मिलता नहीं और मिलने की आशा नहीं छोड़ती संग॥ ८०

पंखड़ियां आती-जाती हैं निर्विकार खिलता वह फूल।
भौंरे लगन लगाये चलते पथ में ही पथ जाते भूल।
जो भी गया न आ पाया वह किससे हम पायें सन्देश।
कोई हमें बताये आकर कैसा है वह पावन देश।

सीमाहीन कहीं लहराता रत्नाकर रस-राशि अपार।
ऊर्मिविलास विकास प्रकाशित जिसका नित्यानंद प्रसार।
गर्जन-नाद श्रवण करके ही खोज रहे उसको गतिमान।
यात्रा कहीं समाप्त न होती दिखता नहीं तरंग-निधान।
कोटि-कोटि रवि उसका जीवन हरण किये जाते प्रतिवार।
फिर भी वह ज्यों का त्यों रहता नित्य एकरस औ अविकार।
अमित मेघ टोलियां निरन्तर आकर उसमें होतीं लीन।
हो न सका समृद्ध उन्मादित फिर भी वह परिवर्तन-हीन।
उस महान अम्बुधि का शोषक कुम्भज कहीं नहीं बलवान।
उसे पार कर जाने वाले विधि भी बना न पाये यान।
जिसकी रूप कल्पना ही में मग्न हो गये लोक महान।
उस अनदेखे की गाथा का कौन विदग्ध करेगा गान?

कहीं व्योम में प्रखर तेज का आलय दिनकर एक प्रचण्ड।
सारा विश्व पा रहा जिससे दिव्य ज्योति की राशि अखंड।
सरसिज देख न पाते उसको फिर भी लेते उसका नाम।
लोक-लोक में भेज सँदेसा पूछा करते उसका धाम।
यमनिकेत का अन्धकार नित अविरत हरता उसका ताप।
फिर भी अक्षत ही रह जाता उसका व्यापक तीव्र प्रताप।
उसकी ऊष्मा के विकास हित अग्नि वायु आते अविराम।
पा न सका अभिमान स्वल्प भी वह सदैव निर्मल निष्काम।
अस्तोदय बाधा से विरहित वारिद से न कभी आक्रान्त।
रहता कहां विचित्र तरणि वह जिसका रूप अनंत प्रशान्त।
गये खोजने लौट न पाये चंड-किरण के उर में लीन।
कौन बताये हाल वहां का अन्धकार-पीड़ित हम दीन।

इसी अनादि अनन्त केन्द्र से ले संहरण-यत्न-उद्देश।
हिंसकत्व-साकार रूप इव आये रुद्र भयंकर-वेश।

आये किन्तु कहां से आये इसको सका न कोई जान।
शैशव कहां विगत कर आये बता नहीं पाये मतिमान।
सर्प-ग्रन्थिता जटा भयानक अग्निविलोचन दीप्त प्रचंड।
बंक भृकुटि आतंकित शंकित लोक-समाधि-अनन्त अखंड।
वाष्पीकृत जाह्नवी प्रतप्ता विकलीकृत छविहीन कलेश।
नासा-रन्ध्र उष्णता-चारक ओष्ठ प्रकम्पित तीक्ष्ण अशेष।
लोहित वर्ण युगल नेत्रों में प्रज्वलिता क्रूरता अपार।
दंष्ट्राएं विकराल महाभय उर में करती थीं संचार।
नीलकंठ आलीन हलाहल युग-युग लोक-मुंड की माल।
जिसे विलोक चेतना खो दें महाकाल के भी जो काल। १२०
भीषण बाण गदा हाथों में भाला और त्रिशूल समेत।
विविध बाहु आनन जिह्वाएं विकट भयानक भाव निकेत।
चीर-फाड़ की प्रबल वृत्ति थी रक्त-पान-हित दुर्दमनीय।
क्रोधोद्वेग-विकल वे दीखे नहीं किसी विधि भी शमनीय।
चंचल पद के आघातों में आकुलता उनकी अवलोक—
यों अनादि वाणी तब गूँजी ज्योति प्रकम्पमयी गतशोक।
हे संहारक हर करना है आज तुम्हें अपना संहार।
जिससे सोया पड़ा तुम्हीं में जाग पड़े अभिनव संसार।

—गीत—

नृत्य करो, नृत्य करो, हे कराल देव!
नृत्य करो, नृत्य हे कपाल—माल देव! १३०
कृष्ण मेघ श्याम वर्ण नीलाम्बर धारी
जटा-जूट काल रूप सर्प-दर्प हारी।
जाह्नवी—प्रतापिता प्रतप्त शीर्ष ज्वाला।
नृत्य करो नृत्य क्षीण चन्द्रभाल देव! नृत्य करो०
इस मनोज्ञ नृत्य के विकास के लिए।
इस विलास-दीप-के प्रकाश के लिए।
स्वीय खण्ड—खण्ड करो हे अखंड-ज्वाला।
पी के विष मत्त बनो हे विषाल देव! नृत्य करो०
गति से वियोग मिला गति से संयोग भी।
अमरों ने पाया उससे ही तो भोग भी। १४०

गति ही से भरा शक्ति का पियूष-प्याला।
गति ही में मग्न बनो महाचाल देव ! नृत्य करो०
सो रहे विरंचि और सो रहे खरारी।
अंगना समेत काम सो रहे विहारी।
रिक्त क्यों रहे मनोज्ञ भोग-राग-प्याला।
शेष क्यों अशेष-लीन हों त्रिकाल देव ! नृत्य करो०
सूर्य जगें, चन्द्र जगें और जगें तारा।
भूमि जगे, वायु-व्योम का बढ़े पसारा।
अनल, वरुण का विकास हो चले निराला।
प्राण दो त्रिलोक को त्रिलोक काल देव ! नृत्य करो०
साँझ जगे, रात जगे, उषा जगे प्यारी।
चन्द्रिका जगे बड़ी मृगांक की दुलारी।
श्री जगे प्रभात की जगे तमिस्र काला।
स्वीय नाश करो क्रुद्ध ज्वालमाल देव ! नृत्य करो०
नृत्य करो पूर्ण से अपूर्ण के प्रसारी।
रूप जोड़ते चलो अरूपता-विदारी।
महाशक्ति-योग हेतु तीव्र करो ज्वाला।
चाल दो त्रिकाल को अहो अकाल देव ! नृत्य करो०

नभवाणी द्वारा उत्तेजित ताण्डव नर्त्तन चला प्रचण्ड।
रुद्र-विराट देह के अणुगण अस्थिर होने लगे अखण्ड।

मन्मथ सृष्टिकार चतुरानन श्रीपति अग्निदेव गन्धर्व।
रवि शशि यक्ष असुर सिद्धादिक पीड़ामग्न हो चले सर्व।
नृत्यावेश-पराकाष्ठा ने किया अमित उद्दीपित भाव।
चन्द्रकला के संग बढ़ा ज्यों रजनी का उन्माद-प्रभाव।

पाया अन्त चढ़ाई ने जब तब क्रमशः आ गया उतार।
जैसे चन्द्र पूर्णता पाकर प्रतिदिन खोता चलता सार।
रुद्रदेव की परम क्लान्ति ने दिया पृथक जीवन का स्वाद।
कामदेव श्रीहरि धाता ने उसको लिया सहित आह्लाद।

कक्ष नवल पाकर सत्वर वे गये वहां करने विश्राम।
उर-उत्ताप-शमन हित सहचर चले यथारुचि उनके धाम।
केवल महाशक्ति हित लाया यह वियोग वेदना अनन्त।
तप्त कटाह-तैल-पतिता-सी लगी छटपटाने अत्यन्त।

"किस प्रकार हृदयेश सजग हो फिर से मुझे करें स्वीकार ?"
मर्माहत रुद्राणी बोली, था उसका दुर्भाग्य अपार।

सोयी थी वह रुद्र अंक में हाय न रहने पायी।
बहती थी रस की लहरों में हाय न बहने पायी।
सकल लालसाएं सोयी थीं एक अभाव नहीं था।
नव कर्त्तव्य-कर्म-शंका का शेष प्रभाव नहीं था।
अर्ध अंग से श्रीगणेश कर थी समग्र अधिकारिणि।
द्वैत भावना-विलय-लोक में थी एकान्त विहारिणि। १८०
किस अज्ञात अचिन्तित ने आ विष की वेलि लगायी ?
रुद्रदेव की भी लीला में इति की कली खिलायी।
जहां नियति का नाम नहीं था जहां न यम की छाया।
जहां मन्द का जन्म नहीं था नहीं क्रूर की काया।
बाधा वहां कहां से आयी जब न कहीं था कोई।
देवदेव नर्तन करते थे, आद्या उनमें खोयी।

कोई न था, नियम था तद्यपि अक्षय मधु पीने का।
भूल-भुलैयां में पड़ फिर-फिर मरने औ जीने का।
ब्रह्म रूप वह नियम अनश्वर शासक बन कर आया।
क्लान्ति रुद्र हित और अम्बिका-हित विरहानल लाया।१९०
"किसने अहित किया यह मेरा"—गूँजा विकट महारव।
अग्निबाण-सा चला भयानक करने शत्रु - पराभव।
किन्तु वहां आकार कहां था ? शत्रु कहीं न दिखाया।
विवश भाव से नयन-अनल जल में परिणत हो आया।
"तुम्हीं प्रयास करो हे देवी प्रिय में नव बल आये।
और उपाय नहीं कोई भी क्लेश तुम्हारा जाये—"
देवी विकल प्रश्न-उत्तर में गूँज पड़ी यह वाणी।
करके श्रवण हो गयी चिन्तित वियोगिनी कल्याणी।

दिखा प्रकाश एक देवी को अन्धकार के भीतर।
करूं नवल शृङ्गार निराला प्रियतम-हृदय-वशीकर।२००
मानस में उल्लास बढ़ाऊं नव नव रस बरसाऊं।
क्यों न कान्त की क्लान्ति जायगी मदन राग सरसाऊं।

यह मादक संकल्प हृदय में देवी के ज्यों आया।
बीजरूप में शेष जगत ने कम्प विमोहक पाया।
अमर लोक के नन्दन वन में स्मर ने ली अँगड़ाई।
अनायास रति ने पुलकावलि प्रिय-गादी में पायी।

महाशक्ति की विदग्धता की कितनी करूं बड़ाई।
प्राचीनों में भी नवीनता उसने नित्य दिखायी।
उषादेवि कितनी वय वाली! किन्तु सदैव नवीना।
२१० नयी खिली कलिका सी मंजुल कुमारिका रसलीना।
देखो तो वह चाँद युगों से जग-जीवन का सहचर।
पड़ता जान अभी ही आया छवि-सर में से कढ़कर।
हिमगिरि की वह टोपी देखो बरफीली अभिरामा।
पड़ता जान किसी दरजी ने आज रची रसधामा!
वे लहरें चंचल सागर की युग-युग से वैसी ही।
लड़ती-भिड़ती आगे बढ़तीं प्रतिदिन पहले सी ही।
वही गरजना सरिताओं से कर पाकर मनमाना!
वही उमंग पकड़ शशिकर-कर आसमान को जाना।
वह सतरंगी चाप शक्ति का सदा नया ही दीखा।
२२० कुसुम-बाण उसका युग-युग से लगता आया तीखा।
कमल पंक में से निकालती मिट्टी में से सोना!
मुर्दे को भी उसके हाथों छैल-छबीला होना!

नवल सृष्टियां कर आद्या ने निज शृंगार दिखाये।
नेति-नेति वादी प्रियतम को नहीं एक भी भाये।
अभी नहीं मधु पाया मैंने, प्रियतम से सुन सुन कर।
रह जाती थी प्रकृति रसज्ञा अपना सिर धुन-धुन कर।
खीझ अन्त में अपनी रचना वह लग गयी मिटाने।
उसकी खीझ विलोक रसिक वे लगे मधुर मुसकाने।
इसी खीझ को चख कर बोले अब थोड़ा मधु पाया।
२३० शक्ति चकित हो लगी सोचने कैसी प्रिय की माया।
करके यत्न विविध हारी थी फिर भी मोह न पायी।
महाकोप में महाशक्ति को मोहन शक्ति दिखायी।
इसीलिए रचनाएं करती; उन्हें बिगाड़ा करती।

नव नव अम्बर धारण करके उसको फाड़ा करती।

कितनी बार निराशाओं का झोंका खाया होगा।
कितनी बार शक्ति के माथे पर बल आया होगा।
जिस पर रीझ रीझ कर मरती खीझी होगी कितनी।
इसी खीझ के परम ताप में सीझी होगी कितनी।

कितने बार अहंकारिणि वह अहंकार में डूबी।
होगी गयी प्राणधन के ढिग दिखलाने छवि-खूबी। २४०
कितने बार घमण्ड रूप का उसका टूटा होगा।
कितने बार प्रखर पीड़ा से धीरज छूटा होगा।

जल-भुनकर कितने सोने को क्षार बनाया होगा।
कितना मुसकानों को दृगजल में नहलाया होगा।
ठण्डा पानी फेरा होगा कितनी अरमानों पर।
ढायी होगी विपदा कितनी नन्हीं सी जानों पर।

कितनी लतिकाओं के दिल को उसने तोड़ा होगा।
कितनी कलियों का अति कोमल गला मरोड़ा होगा।
हाय कोयलें कितनी उसने मौन बनायी होंगी।
कुञ्जों से भौंरों को कितनी भीर भगायी होंगी। २५०

कितने कृतयुग भुला-भुला कर त्रेता लाये होंगे।
कितने द्वापर सुला-सुला कर कलि दिखलाये होंगे।
कोटि-कोटि मधुयामिनियों का मधुघट कर-कर खाली।
लायी होगी तप्त दुपहरी आग लगाने वाली।

प्रिय के थोड़े से प्रसाद से तृप्त न होती होगी।
पाकर लाभ लोभ बढ़ जाता धीरज खोती होगी।
तड़प-तड़प उठती होगी प्रिय में लय हो जाने को।
प्रिय तांडव नर्त्तन-वेला में परम विजय पाने को।

अमित प्रतीक्षा उत्कण्ठा का अन्त अचानक आकर।
प्रिय पीयूष पिलाता होगा देवी को करुणा कर। २६०
अगणित कोटि कल्पगत पीड़ा उसकी मिटती होगी।
प्रखर निदाघ-तप्तउर-लतिका रस से सिंचती होगी।

कितने बार विरह ने देवी को तरसाया होगा।
कितने बार मिलन ने आकर रस बरसाया होगा।

इसकी गणना कौन करेगा कौन गणित-पण्डित वह।
कौन पारगामी ज्योतिष की विद्या से मण्डित वह?
अयि वनदेवि, गणेश, शारदा, शेष सहम जायेंगे।
कोटि वदन पायें फिर भी तो सफल न हो पायेंगे।
केवल एक बार की गाथा तुम्हें सुनाऊँगा मैं।
२७० मिलन वियोग चला ज्यों क्रम-क्रम उसे बताऊँगा मैं।

अन्त महा ताण्डव नर्तन का एक बार जब आया।
और महादेवी ने अपना विरहित जीवन पाया।
शिथिल कान्त में नव चंचलता लाने को मनहारिणि।
लगी सोचने यत्न विविध विधि वह लीला-विस्तारिणि।
किसके पास चलूं मैं पहले, किसको व्यथा सुनाऊं?
किसका पा सहयोग रूप का अंकुर शीघ्र उगाऊं?
पंकज-कर ललाट पर धर के स्मृतियां लगी जगाने।
कठिन तपस्या-जनित सिद्धि की भाँति लगीं वे आने।
बिना कामना के प्रवाह के सृष्टि न रस पा सकती।
२८० अज हरिहर को भी न कार्य की रतिहित ललचा सकती—
तो पहले रति और काम ही की सेवा में जाऊं।
उन्हें कर्म्म में निरत बनाकर आगे चरण बढ़ाऊं।
निश्चय जभी किया देवी ने दोल हृदय में आया।
राग दृगों में, रस अधरों में पुलक गात में छाया।
अङ्ग-अङ्ग ने रुचिर लुनाई औ सुघराई पायी।
जगे विना ही मदन देव के व्यथा मदन की आयी।
ले अज्ञान पुंज का कन्दुक उछालती अभिरामा।
क्षण-क्षण में नवनव कौतुक-रत क्रीड़ामयी ललामा।
आदिशक्ति जगती की जननी सृष्टि-कुंज की मालिनि।
२९० चली विराट विभूतिधारिणी निरुपम गौरव शालिनि।
जब न जगत था कहां चली वह मार्ग कहां से आया।
अयि वनदेवि, बताऊं कैसे महाशक्ति की माया?
मानव-मन-विहंग में ऐसी शक्ति कहां, उड़ जावे—
जहां रहस्य छिपे देवी के वहां प्रगति कर पावे।

पथ कल्पना, कल्पना साधन, लक्ष्य कल्पना केवल ।
बीज कल्पना, विटप कल्पना सकल कल्पना-सम्बल ।
अगति कल्पना, प्रगति कल्पना खेल कल्पना का सब ।
क्या फिर कहूं कल्पना ही भर जगन्नियन्ता भी जब ।
इसी कल्पना-बल से देवी नन्दन-वन में आयी ।
जहां नवीन उमङ्गमयी थी कुसुमित मधुऋतु छायी ।
नवल रसाल-डाल पर कोयल मतवाली गाती थी ।
पाकर ताल पवन पल्लव से तान भरे जाती थी ।

थे रसाल-पल्लव-शैया में रति औ मन्मथ सोये ।
निर्विकारता में विशेषता अपनेपन की खोये ।
चँवर झल रही थी बौरों का झूम-झूम कर डाली ।
भौंरे चारण से गाते थे यशगीतिका निराली ।
लिपटी थीं तरु से लतिकाएं जिनमें सुमन लसे थे ।
सुजनों के उर के भावों से जो सामोद बसे थे ।
द्रुत-धावित झरनों में ज्योत्स्ना नवल छटा भरती थी ।
मदन-गान बदले में उनसे श्रवण किया करती थी ।
चारों ओर उमङ्ग रङ्ग का वहां बोल बाला था ।
उस नगरी की डगर पकड़ कर ज्ञानी मतवाला था ।
वहीं सलोने औ मीठे का देखा सङ्ग मनोहर ।
ज्यों-ज्यों नमक बढ़ा त्यों-ही-त्यों बढ़ी मिठाई रुचिकर ।
वहीं वेदना की डाली में रस पाटल खिलता था ।
वहीं आह भरने में जीवन का विनोद मिलता था ।
वहीं दीप ने मीठी-मीठी मन्द हँसी हँस दी थी ।
वहीं पतङ्गों ने जल जल कर जान निछावर की थी ।
वहीं प्यास थी, जीवन का मधु दान किसी को कर दें ।
और किसी न्यारे ही रस से निज मानस को भर दें ।
वहीं भटकता था मन मृग सा मृगतृष्णा में खोया ।
वहीं रसिक ने काँटा उर में गड़ने के हित बोया ।
रस दो, रस दो, नया-नया रस हमको नित्य पिलाओ ।
प्रतिपल नव मधु देते जाओ जब तक हमें जिलाओ—
प्यास प्यास के पीड़ित स्वर से कम्पित अतनु गढ़ी थी ।
सोये थे सब, सपने ही में इतनी प्यास बढ़ी थी ।

कामदेव का महल देखकर देवी तन-मन भूली।
दम्पति को अवलोक विवश हो प्रेम-दोल में झूली।
सौ सौ बार गयी बलि बलि वह देख मुँदी वे आँखें।
रजनी में सम्पुटित कमल सी लेख मुँदी वे आँखें।
धनुष-बाण का पता नहीं था वे थक कर सोये थे।
चिर विश्राममयी निद्रा की मुद्रा में खोये थे।
पति-पत्नी का भाव भुलाये सोये थे वे ऐसे।
खेल खिलौनों से दो बच्चे ढुलक पड़े हों जैसे।
कभी काम की और कभी रति की अलकों को लेकर।
महाशक्ति ने चूमा उनको बदले में मन देकर।
पलकों को, गालों को चूमा कण्ठ और कर चूमा।
जाग न जायं, बड़े धीरे से अधर मनोहर चूमा।
जिनके सोने में इतना रस जाग जायं तो कैसा!
जो विराग में ऐसे वे अनुराग जायं तो कैसा!
धधक पड़ी देवी के उर में प्रखर प्यास की ज्वाला।
अधीरता बढ़ गयी निराली बना हृदय मतवाला।

आत्म-संहरण-वृत्ति-विवश हो संकोचों को खोकर।
मदन देव को लगी जगाने तब वह चंचल होकर।
"जागो, जागो, हे रति के पति! रचना में अनुरागो।
बड़ी देर तक सोये, जागो, अलस शिथिलता त्यागो।
हे रस के संचारक! जागो, मेरी ऊब मिटाओ।
मेरे मानस-चातक के हित स्वाती-घन बन आओ।
खाली खाली कान्त ने दिया, मुझको जीवन-प्याला।
जागो, इसमें वह मधु भर दो कर दे मन मतवाला।
मतवाली न बनूँगी जो मैं छवि न नयी पाऊँगी।
प्रिय को मोहित कर न सकूँगी प्यासी रह जाऊँगी।
हे अनङ्ग! मुझको तरङ्ग दो वह चंचल गतिवाली।
मेरे प्रिय फिर से मेरे हों अनुरंजित मतिशाली।
हृदय-सिन्धु बैठा मन मारे पूर्णचन्द्र बन आओ।
ज्वार और भाटा का झूला दे उल्लास बढ़ाओ।
ललित हिंडोले में लहरों के झूलूं, आपा भूलूं।
मारूं ऐसी पेंग कि प्रिय के चरण-नखों को छूलूं।

अन्धकार ही अन्धकार में मुझे नहीं भटकाओ।
हे मनोज ! मेरे जीवन में उषा रसीली लाओ।
दे दो मुझको रङ्ग-तूलिका ऐसे चित्र बनाऊं।
जिन्हें देख कर रीझें प्रियतम मैं फूली न समाऊं।

चित्र बनाऊं एक—कामिनी रस की प्यासी बैठी।
आयेंगे कब प्रिय मनभावन—चिन्ता-निधि में पैठी।
आये, आँखमिचौनी खेली, चले गये चटपट वे।
उन्हें पकड़कर भेंटे तब तक भाग गये नटखट वे।
चित्र बनाऊँ एक—जोहती बैठी राह निशा थी।
आयें वे, उमँगायें उर को भरती आह निशा थी।
आये चाँद दूज के होकर आँखें ठंडी करने।
आते-आते चले, न बूझी जी की प्राणेश्वर ने।
चित्र बनाऊं एक—कली थी प्रिय भौंरे पर मरती।
रस लेकर मुझको प्रिय रस दें, ध्यान यही थी धरती।
आया गुन-गुन करता छन भर कैदी सा रह भागा।
सगुन उसे निर्गुन बतलाकर निर्गुनता-अनुरागा।
हे मन्मथ! मेरा मन मथ दो निकले अमृत हलाहल।
दोनों ही की प्रखर प्यास से जग-रचना हो चंचल।
मंजु फूल का बाण चलाकर चीरो उर यह मेरा।
अपने मानस के सब रस को दे दो उसमें डेरा।
शान्त, निरीह अमर गण नव मधु-हेतु विकल हो जायें।
मुनियों की समाधि खण्डित हो, अचल चपल हो जायें।
सोये कैसी नींद अरे तुम, नहीं अभी तक जागे।
किस तल में जा बसे जहां सब को तजकर अनुरागे ?

जीवन के सब बीज धरा ही में कुम्हलाते जाते।
तुम सोते हो पड़े और वे नहीं उभड़ने पाते।
जागो, जागो मार तुम्हारा ही लेकर अवलम्बन।
सृष्टि-सरोज-तुषार-राशि के टूटेंगे सब बन्धन।
कन्याओं के नयन श्रवण के ढिग जाते सकुचाते।
उनके उर सुकुमार लजीले नवल विकास न पाते।

कामिनियों की प्रगति मरालों की गति से मनहारी ।
रस से हीना बनी बिना गति पाये देव ! तुम्हारी ।
माता का मातृत्व तुम्हारे ही बिन सारा सूना ।
बूढ़ी का शिशु-हाव-भाव-प्रिय सुमन बना रस-ऊना ।
रुका पड़ा यह चक्र चले तो कैसे ? तुम हो सोये ।
चले बिना रस-बीज चक्र भी किस कल-बल से बोये ?
जागो, जागो, मदन कुसुमशर ले लो अपना कर में ।
लिखो जागरण-अक्षर उससे उर-उर में पल भर में ।
जागो, जागो शंकरारिवर ! रचना में अनुरागो ।
बड़ी देर तक सोये, जागो, अलस शिथिलता त्यागो ।

यह जागरण-गान गाते ही शक्ति बनी मदमत्ता ।
मदन-अधर पर निज अधरों को धर भूली सब सत्ता ।
देकर प्रखर प्रवेग उठी जब आँख अतनु ने खोली ।
आम्रता माधवी लता सी कान्तिमती रति डोली ।
आदि शक्ति को देख सामने रति औ काम लजाये ।
थे निर्वसन, विलोचन दोनो के अवनत हो आये ।
पड़े-पड़े थे धँसे जा रहे वे धरती में मानों ।
वसन मिले हमको—नीरव ही कहते से थे मानों ।
महाशक्ति ने भाव समझ ये पल्लव नवल मँगाये ।
रति मनोज ने उन्हें पहनकर उर-संकोच नसाये ।
परम प्रीति से गद्‌गद दोनों गिरे शक्ति-पाँवों पर ।
उठे उठाया जब देवी ने बलि जाकर भावों पर ।

—गीत—

जय जय हे जगदम्बे !

तुम्हीं जगत की रचनाकारिणि तुम्हीं प्रलयकारिणि भी ।
तुम्हीं सकल रस की आधारिणि और तुम्हीं हारिणि भी ।
तुम्हीं नाद हो, तुम्हीं विंदु हो, अहंकार भी तुम हो ।
मन हो तुम्हीं, बुद्धि भी तुम हो, चित्तसार भी तुम हो ।

हे जीवन-अवलम्बे ! जय०

कर्मविहीन प्रधाना तुम हो, तुम्हीं सकर्म प्रकृति हो ।

तुम अज्ञेय अनन्त अपरिमित विस्तृत अखिल विकृति हो।
शब्द तुम्हीं हो, स्पर्श तुम्हीं हो, गंध, रूप, रस तुम हो।
व्योम अनिल तुम धरा अनल जल अकथनीय बस तुम हो। ४२०
हे करुणामयि अम्बे! जय०

सकल कर्म कर्तृत्व तुम्हारा अगति प्रगति मय सारा।
बस निमित्त के संयोजन से यश का भाग हमारा।
सोयें जब तक हमें सुलाओ जागें, जभी जगाओ।
महादेवि! आज्ञा सिर माथे, चाहे जहां पठाओ।
रस-विकास-आलम्बे! जय०

कामदेव-रति दोनों ही ने यों देवी का स्तवन किया।
आशीर्वाद महामाया ने दे बल का संचरण किया।
तदुपरान्त हो गयी तिरोहित जगती जीवन-दायिनि।
अपरा-परा प्रकृति में विस्तृत चर औ अचर विधायिनि। ४३०

स्वप्न अनेक सहज ही जागे मदन-हृदय लहराया।
रति मानस में भी रस-सोता उमड़ सहज ही आया।
समाधिस्थ अमरों ने मादक सरस प्रकम्पन पाया—
जो संदेश नवल जीवन का चपल तरंगित लाया।

उन्मादक मधु औ मदिरा के मिश्रण से उर पीड़क।
हँसा हँसा कर, फँसा फँसा कर, रुला रुला कर क्रीड़क।
सृष्टि-मूल के आरोपक वे रतिपति मनसि विहारी।
चले रुद्र को देने के हित पीड़ा रस संचारी।

बादल से घूँघर वाले थे बाल बड़े ही काले।
रस बरसा कर भी जो प्रतिपल प्यास बढ़ाने वाले। ४४०
लटें लटक आयी थीं आनन-रस हित मतवाली सी।
पीती अमृत-पिलाती थीं विष चंद्रलोक व्याली सी।

फूल-मुकुट शिर पर कानों में, फूलों का था कुंडल।
कमल-नयन में वह कर्षण था जिससे सब जग चंचल।
अधरों पर मुसकान मधुर थी चारु चंद्रिका-मोहन।
जगमग सजग जगतमग जिससे शोभन भरित प्रलोभन।

नव पल्लव का ललित वसन था कटि-प्रदेश में राजित।
चम्पक फूलों का कंकण था कंजकरों में भ्राजित।

अरुण कपोलों की सरिता में थी भँवरों की जाली।
मुनियों के मन को भी रत कर निहत बनाने वाली।
बचा भुजंगों के दंशन से मदिरा, हालाहल से।
किन्तु न कोई भी बच पाया भँवरों की हलचल से!
बचा भँवर से भी जो कोई उस पर बिजली टूटी।
जिसने पलक मारते भर में सारी स्मृति-धृति लूटी।
बिजली की भी चोट सहन कर जो हो गया न बेबस।
उसके लिए सुमन-बाणों का कंधे पर था तरकस।
दाएं कंधे पर तरकस था और धनुष बाएं पर।
नये शिकारों की खोजों में चंचल लोचन तत्पर।

———

द्वितीय सर्ग

नर्त्तन के अंत में रुद्र में विवर्त्तन था।
महाशक्तिहीनता, थी प्रगट मलीनता थी,
दीनता थी नेत्र और वाणी में,—
रंग अरुणाम्बर का हो रहा था धूमिल।
कोटि कोटि लक्ष्मीपति और चतुरानन को
भस्मसातकारी वह
ज्वालामय लोचन तृतीय बंद हो रहा था;
बाल चंद्र देव वहां कर में पीयूष लिये—
आ रहे थे क्रमशः।
प्रलयेश हर के उच्छ्वास को विषाक्तकरी
फुफकार विकराल काल रूप भुजगों की
सो रही थी सहित भयानकता, रौद्रता।
ज्यों ज्यों बीतते थे क्षण
काले बादलों सा काला गात था बदलता,
धीमे चरण से चली आ रही थी श्वेतता—
मनोरम मन्दार का, हेमन्त हिमागार की।
शूल धनुर्बाण, असि गदा और भाला
कापालिक हर के करों से गिरे जाते थे;
मालिका रुद्राक्षमयी और वेद आ रहे थे
पूर्त्ति करने के लिए सरल स्वभाव से।
जटा राशि खो रही थी

प्रज्वलित पावक के अपने स्फुलिंग सब,
आ रही थी शीतलतामयी वहां जाह्नवी।
रुक्षता, भयंकरता दारुण स्वरूप की
छीजी जा रही थी प्रतिपल में निमिष में,
ला रही थी दिव्य वर अभय प्रदान की—
मुद्रा शान्त-विहसित मृगांक से वदन में।
उग्र नाग आहारी, कुग्रह विदारी—
वे प्रणय बढ़ा रहे थे भंग, बेलपत्र से।

अकस्मात ही गड़ा हृदय में विषमय सायक जाकर।
सिहरे वीतराग मानस में व्यथा निराली पाकर।
देखा खड़े मदन को आगे इन्द्र धनुष-छवि हारी—
सुकवि-कल्पना-मोहक धनु पर कलित कुसुमशरधारी।

सरल वज्र-आघात गदा वेदना सरल अति।
अनल गर्भमय बाण सरल झेलना सरल अति।
सरल भयंकर गरल फूँकता उर में ज्वाला।
किन्तु नहीं वह सरल काम कुसुमायुधवाला।
फूलों से सुकुमार फूल ले लड़ने जाता।
देखी बात विचित्र सभी को विजित बनाता।
जब वह आगे बढ़ा कौन आगे आ पाया?
जब वह पीछे पड़ा कौन आगे जा पाया?
उस मधु का आस्वाद बताये कैसे कोई?
उसमें जो उन्माद जताये कैसे कोई?
होश रहे तो कहे बड़ी बेहोशी लाता।
नहीं मारता आप स्वाद मरने में आता।

चकित विलोचन शंकर बोले-मदन तुम्हारी लीला।
मुझे तनिक विश्राम न देती अति चंचलताशीला।
मन्मथ बोले, महाशक्ति को प्रभु ही ने विलगाया।
सूना एकाकी जीवन दे विरह-विलीन बनाया
खर विषाद की घड़ियां कैसे काटें वे दुख-डूबी।
देखे आता हूं इन आँखों वे जैसी कुछ ऊबी।

कुछ अवलम्ब सामने उनके तो धरना ही होगा।
जी बहलाने का उपाय तो कुछ करना ही होगा।
प्रेरित किया उन्होंने मुझको सेवा में मैं आया।
दें उपकरण सरस रचना के यही सँदेसा लाया।
रौद्र त्रिशूलाघात बिना क्यों यह उपकरण मिलेगा?
देव, तुम्हारी दया बिना क्यों रचना-सुमन खिलेगा!
डमरू डिम डिम नाद करो हर! नवल जगत नादित हो।
चिता-भस्म से देह अलंकृत देख समाह्लादित हो।
देवी नव सौन्दर्य-स्वाद से तुमको तृप्त बनाये। ६०
अमरों का मंडल भी ऊबा नव पियूष पा जाये।
शंकर ने संकोच हृदय का अपना नहीं छिपाया।
परम मधुर कोमल वाणी में भाव निषेध जताया।
"हे रतिपति, हत्या करने का मुझे न काम बताओ।
मानस सरसे, नव रस बरसे वह संवाद सुनाओ।"
रतिवल्लभ मुसका कर बोले "हे हर परम भयंकर!
अपना धर्म न त्याग करो प्रभु! सतत जगत-प्रलयंकर!
नित्य नाश के हेतु तुम्हारा यह जागरण महेश्वर!
बने प्रधान सकल अमरों में हरण-कर्म-व्रत लेकर।
सभी पियेंगे अमृत हलाहल-पान तुम्हें ही करना।
सभी करेंगे भोग, रोग का ध्यान तुम्हें ही धरना। ७०
नीलकंठ! इसका तो तुमने लिया सदा ही ठीका।
मीठा मीठा दिया सभी को, पिया वही जो फीका।"
कामदेव की बात त्रिलोचन के मन में यों बैठी।
कंज-कोष में जैसे भ्रमरी परम प्रीति से पैठी।
सजल हो गये कमल-विलोचन तनु पुलकित हो आया।
काँटा सा गड़ता शरीर में भुजगवरों ने पाया।
गले लगाकर तब मन्मथ को बोले मोद सहित हर।
"मुझे परम प्रिय आज लगे तुम अतनु, जगत के ईश्वर!
करता हूं स्वीकार मनोहर प्रिय प्रस्ताव तुम्हारा। ८०
महाशक्ति को विरह-काल हित दूँगा उचित सहारा।
लो, आरंभ तुम्हीं से हो अब यह संहार हमारा।
व्याकुलता ही में बीतेगा जीवन सकल तुम्हारा।

होकर भी रस के धाराधार प्यासे रह जाओगे।
ज्वाला बढ़ती ही जायेगी ज्यों ज्यों रस पाओगे।
ऊँचे से ऊँचे जाओगे नीचे से भी नीचे।
हरी न होगी मन फुलवारी कभी तुम्हारे सींचे।
अंतिम कल्प भाग में जब तुम मुझसे समर करोगे।
हे स्मर! तभी हृदय में अपने चिर विश्राम धरोगे।"
आंशिक रुद्रकला धारण की यह कह अभयंकरने।
गमन किया अभिशाप ग्रहणकर परम प्रणत रतिवर ने।
विधि की ओर लक्ष्य था उसका रचना सरसाने हित।
उतावली थी बड़ी, निराला कौशल दरसाने हित।

चतुरानन सरोज-आसन पर निर्विकार थे बैठे।
नवल जागरण के रहस्य के चिंतन-निधि में पैठे।
जिसने जीवन दिया न उसने भेजा एक संदेसा।
रह रह कर उठता था उर में मंथन भरा अँदेसा।
औचक एक बाण उर भीतर धँसा लिए खर ज्वाला।
"त्राहि, त्राहि'-गूँजी विधि-वाणी पीड़ा-विकल रसाला
विमल शारदा हंस-आसना स्वर-व्यंजन अभिरामा।
अमृत-पात्र उपनिषद मालिका वीणा पाणि ललामा।
बाल मृगांक सघन अलकावलि ललित ललाट अलंकृत।
धात्री प्रथम नवीन जगत की आप हो गयी झंकृत।
उसका था उपकार अपरिमित धाता ने धृति पायी।
मैं भी भार उतारूं कुछ कर, चाह हृदय में आयी।
सत्य-शम्भु औ शक्ति-पार्वती रूप समन्वित आया।
कार्त्तिकेय का निरुपम दर्शन बाल जगत ने पाया।
ज्योंही थी बाला छवि-धामा अतनु-अतनुताहारिणि।
कार्त्तिकेय की कान्ति कलित थी त्यों ही रति-संचारिणि।
मृग - आसन आसीन मनोहर चन्द्र-रूप-मदहारी।
अंग अंग संगठित षड़ानन प्रीति-प्रतीति-प्रसारी।
चिन्तन की रेखा मस्तक में जटा-जूट से मंडित।
वेद, मालिका, शंख, अभय वर द्वादश पाणि अलंकृत।
जोड़ी परम विचित्र दिखी जब उमँग उठा विधि का मन।

होने लगा अतीव उल्लसित, लहरित, विकसित आनन।
ब्रह्म लोक में जीवन आया चंचलता का आकर।
ब्रह्मा ने विनोद भी पाया अमित वेदना पाकर।
लेकर ओट ललित लतिका की देखा दृश्य मनोहर
मदन देव गमने विधि के ढिग तब उत्साहित होकर।
प्रणति अनन्तर बोले—"मैं ही, व्यथा बढ़ाने वाला। १२०
आया हूँ हे प्रभु स्वीकारो क्षमा-याचना-माला।
अभी वेदना तुम्हें मिली जो दयामयी वह माता।
सहयोगिनी तुम्हारी होगी रचना करो विधाता।
बिसारने के योग्य नहीं वह उसको उर में धारो।
उसका सम्बल लेकर प्रतिपल नवल जगत विस्तारो"।
सृष्टिकार बोले, "हे मन्मथ, आज्ञा सिर माथे पर।
मेरे कर से कार्य कराओ सरस प्रेरणा—देकर"।
बारम्बार प्रणत हो माँगी क्षमा मदन ने फिर फिर।
तदनन्तर कमलापति के ढिग गमने वे अति अस्थिर।

चले गये कन्दर्प हुए चिन्तित चतुरानन। १३०
रचना कौन प्रकार करू मोहे मनसिज-मन।
आया फिर कुछ याद प्रभा आँखों में झलकी।
दीखी सीधी राह व्यथा हो आयी हलकी।
शंकर दिव्य स्वरूप सामने आया क्रमशः।
सृष्टि-रहस्य अनूप सामने लाया क्रमशः।
कढ़े स्वप्न के शब्द आपही रचनाकारक।
अगति-पंक-उर चीर प्रगति प्रिय पद्मप्रसारक।

—गीत—

जयति, जयति, जय, जय शिव-शंकर।
जग-समष्टि के संहारक हे,
प्राप्त तत्व मय संसारक हे, १४०
अनल-ज्वाल-रस संचारक हे,
तुम्हीं त्रिलोचन हो प्रलयंकर। जयति०
महावेशमय ताण्डव नर्त्तक

महाशक्ति हित विरह-प्रवर्त्तक,
रुदन - हास - आवर्त्त - विवर्त्तक,
तुम्हीं कराल रुद्र अभयंकर ! जयति०
आप्तकाम, मन्मथ मंथितकर,
ब्रह्मप्रवाह - तरंगायित - धर,
भाल-विराजित लालित शशिकर,
भृकुटिभंग-अंकित मन्वंतर ! जयति०
ब्रह्माण्डों के जन्म-मरण के,
उनके जड़चेतनीकरण के,
कोटि-कोटि अजश्रीवरगण के,
आलय हे जगपाल शिवंकर ! जयति०
अमरलोक - आलोक - विधायक,
मर्त्य-ओक-तम के उन्नायक,
उभय विषम को समतादायक,
तुम्हीं अखिल के मूल निरंतर । जयति०
तुम्हीं विराट वृक्ष हो प्यारे,
चंचल दल हम एक तुम्हारे,
तुमने हमें जिलाये-मारे,
भुजग-विभूषण, रुद्र, भयंकर ! जयति०
करके नाश स्वयं अपना ही,
सृजन किया तुमने सब का ही,
प्रखर, प्रखरतर जीवनवाही,
पीकर गरल अमर विजयंकर । जयति०
आदेशित नव सृष्टि प्रसारूं,
विरस हृदय में रस उद्गारूं,
शक्ति मुझे दो, पथ निरधारूं,
चण्डकिरण हे मेघ अलंकर ! जयति०
हरण बिना निर्माण न होगा,
जलन के बिना प्राण न होगा,
मरण के बिना त्राण न होगा,
वहन करूं यह तत्व लयंकर । जयति०
व्यर्थ परीक्षा में मत डालो,
सब के पालक ! मुझको पालो,
लोकों को रचकर संचालो,

कढ़ो चीर मेरा उर अन्तर ! जयति०

होकर अतिशय आर्त्त किया अनुनय यों अज ने ।
हृत्तन्त्री के तार लगे अनियंत्रित बजने ।
आयी रंजित उषा, तमावृत नभ था मानो ।
बिमल हो गयी दृष्टि लगा अंजन सा मानो ।
मानस में सुविकास सरसता बरस सी पड़ी ।
जग-सौन्दर्य-विभूति अपरिमित दरस सी पड़ी ।
ज्वलित नेत्र ही युगल सूर्य औ चन्द्र कहाये ।
आभा अतिशय प्रखर और शीतल ले आये ।
चली कल्पना सजग प्रकाशित करती अन्तर ।
स्मृति की सोयी शक्ति जगाती प्रतिपल तत्पर ।
एक घना आलोक छा गया जगमग जगमग ।
भार न सके सँभाल लगे होने विधि डगमग ।
अमर लोक निर्माण किया तब सपदि उन्होंने ।
अमरों को जागरण दिया फिर सपदि उन्होंने ।
उनकी अति कमनीय चिन्तना निखर-निखर कर ।
करती थी रमणीय लोक वह बिखर बिखर कर ।
देव इन्द्र वरुणादि परम आभा से मण्डित ।
नारद आदि महर्षि ज्ञान में सतत अखण्डित—
जहां बसे ले जन्म वहां की छवि बतलाना ।
होगा क्यों रविपन्थ के लिए दीप दिखाना ।
स्वर्ण-शैल पर सदन अमरनायक का सोहा ।
जिसकी सितता देख दामिनी का मन मोहा ।
देते होंगे कहीं वहां तो रस लेते थे ।
उस घर के सब ओर जलद फेरी देते थे ।
था अपूर्व आलोक अमरता ओक निराला ।
अमित ज्ञान-विज्ञान गर्भ में संतत पाला ।
अन्तहीन-उल्लास अजर मधुमास छबीला ।
अविरत हास विलास विरहमय रास रसीला ।
परम प्रखरता देख अचानक ही विधि ऊबे ।
इसे सँभाले कौन ?—अमित चिन्ता में डूबे ।

अन्धकार छा गया विधाता के दृग आगे।
मर्त्यलोक के प्रथम रूप के दर्शन जागे।
दोनो को कर संग उन्होंने जब अवलोका।
उन्हें लगा तब मधुर तृप्ति का अनुपम झोंका।
अमरलोक अवलम्ब—पूर्त्ति, रस - वृद्धि निरन्तर—
मर्त्यलोक में देख हुए पुलकित रचनाकर।
किन्तु नवल भावना चढ़ी ज्यों ही ज्यों मन में।
अकस्मात फिर पड़े जगतकर्त्ता चिन्तन में।
दीखा कहीं विनाश शारदा औ ऋषिवर का।
कंकर सा पड़ गया, आँख में आकर करका।
चित्त हो गया शिथिल रहा उत्साह न मन में।
बचा न कोई स्वाद शेष जग के जीवन में।
सावन में ज्यों मेघ घेरते नभ को आकर।
विधि-मन मथने लगे भाव त्योंही पीड़ाकर।
इकलौती शारदा ज्ञान की मूर्ति निराली।
अमित साधना और प्रीति से पोसी पाली—
जो उसके आधार, धूलि में उन्हें मिलाऊं।
हा! तब रंजनमूल जगत का फूल खिलाऊं!
जीवन में आस्वाद जिन्हीं के कारण पाया।
जिनके जीवन बीच प्राण औ मन अटकाया।
उनका सर्वविनाश हाथ से अपने लेखूं।
उन्हें धूलि में ध्वस्त आँख से अपनी देखूं।
जिनकी पावन प्रीति देख फूला न समाया।
हँसना औ बोलना सरस जिनका अति भाया।
मेरे घर में अमृत बहा जिनके ही द्वारा।
कैसे उनका आज बनूं मैं ही हत्यारा।
जिनका रूप निहार लता उमँगी हरिआयी।
उपवन-क्यारी बीच कली मृदु मृदु मुसकायी।
जिनको आते देख निरत स्वागत मन भाये।
हिला हिला दल नवल द्रमों ने हाथ दिखाये।
सुनकर जिनकी बोल चहकने लगे विहगवर।
मृगी हुई गतिहीन मधुर रसमग्ना सत्वर।

जिनके दर्शन हेतु चन्द्रमा दिनकर घूमे ।
जीवन वर्षी मेघ अमित रस लेकर झूमे ।
जो आँखों की ज्योति उन्हें जब आप मिटाऊं ।
कामदेव - आदेश - पूर्त्ति का तब यश पाऊं ।
कैसा यह अन्याय ! अहित मैं अपना साधूं ।
तब अनंग - तोषार्थ सरस रचना आराधूं ।
मिले धूलि में बाप, अनल - ज्वाला में जल ले ।
गलना उसका काम मोमबत्ती सा गल ले ।
लेकिन बेटी पले काम उसका तो पलना ।
छले न उसको बाप, नीच यह नीचे ढलना । २५०
विधि-दृग से जल ढलक बहा आनन से नीचे ।
जिसने बरबस भाग्यपत्र दम्पति के सींचे ।
पीड़ित विधि - लेखनी गयी कर में से गिर-गिर ।
दुहिता औ जामातृ- विपद से सहमे फिर-फिर ।
असमंजस में पड़े बढ़े आगे न विधायक ।
खलता था वह कार्य गड़ा उर में ज्यों सायक ।
आया कठिन विराम कर्म रचना का छूटा ।
पा ममता-आघात धर्म का बंधन टूटा ।

कौस्तुभमणिधर जहां शयित थे सरस शेष-शैया पर ।
वहां कलित-चंचला निकेतन वातायन ढिग जाकर—२६०
मधु-आवाहन-रत मन्मथ ने कुसुम - विशिख संधाना ।
तनी चाप की डोरी कानों तक ले जाकर ताना ।
अलि गुंजन का, पिक कूजन का बल सज्जित कर नाना—
रागरंग रस वाहित करके किया अचूक निशाना ।
शंख, चक्र औ गदा पद्मधर को न भान था तन का ।
कुंठित कर न सका उनको अति तीखा बाण मदन का ।
किन्तु अधिक अनुकूल समय ने दिया सहाय अतन को ।
मिली जागरणकारिणि पीड़ा प्रिय मनोज-मोहन को ।
किया प्रणाम अनंग देव ने क्षमा विविध विधि चाही ।
अशिष्टता के मार्जन के हित बचनावली प्रवाही ।२७०
"नाथ तुम्हारी शान्ति-भंग का मैं अपराधी भारी ।

महाशक्ति-आदेश-विवश हूं अविनय भाव प्रसारी।
इस समष्टि के अंग अंग सब शूली बिखरायेंगे।
विधि उनका आधार ग्रहण कर रचना निरमायेंगे।
सर्वनाश के समतोलक हे देव! बनो तुम त्राता।
पतन पतन में उत्थानों के नव-नव क्रम-निर्माता।
रसविकास की यही प्रणाली, प्रभो! इसे अपनाओ।
सृष्टिकार की रचनाओं में प्रिय पीयूष बहाओ"।
करके श्रवण वचन मधुवर्षी लक्ष्मीवल्लभ बोले—
"मार! मनोरंजन के तुमने क्षेत्र निराले खोले।
जाओ, जगती के कण कण में मेरा वास रहेगा।
जन्म-मरण के मध्य मनोहर एक विकास रहेगा"।
प्रोत्साहनमय वचन श्रवण कर रतिपति अति हरषाये।
कर प्रणाम अभिराम धाम को गमने पाँव बढ़ाये।
राह उन्हीं की जोह रही थी वियोगिनी रति प्यारी।
दृग से मोती की मालाएं गिरा गिरा द्रवकारी।

विधि-रचना-उपकरण दान हित रुद्र-कामना-धारा।
चली तोड़ती चंड सरित सी मिलित समष्टि-कगारा।
अन्तर पड़ा विचित्र शारदा के चंचल-कृत मन में।
भवन छोड़कर बनी विरहिणी चली गयी उपवन में।
प्रिय के कोमल उर को देकर पीड़ा बड़ी कँटीली।
किसी कुंज में कहीं छिपी तब वह मानिनी छबीली।
गीत न जाने कैसे उसके उर ने मादक पाया।
कोकिल कंठ बनाता नीरव जो लहराता आया।

—गीत—

विरह ही जीवन का शृंगार,
पीकहां रटता रहता है,
प्यास की पीड़ा सहता है,
तभी चातक रस लहता है,
बूँद प्रिय आता है ले प्यार। विरह०
मधुप ने काँटा पाया है,

रात ने अश्रु बहाया है,
भानु ने गात तपाया है,
चन्द्रमा है क्षय ही साकार। विरह०
तनिक कुसुमाकर से पूछो,
मदन मधु आकर से पूछो,
पिकी से जाकर के पूछो,
कहां पाया रस का भंडार। विरह०
विरह ही जग का रचनाकार,
विरह ही पोषण का आधार,
विरह ही करता है संहार,
हो सके जिससे रस संचार। विरह०

गायन था या मंजु चाप-ध्वनि थी अनंग की।
हृदय हृदय में लहर बढ़ी नव नव उमंग की।
कार्त्तिकेय थे विकल प्रिया से विरहित अविचल।
भरता था उद्वेग विरह उर-भीतर प्रतिपल।
लक्ष्य नहीं था तदपि सहज गमने उपवन में।
तड़प रहे थे प्राण प्रियतमा के चिंतन में।
अकस्मात ही गान कान में उनके आया।
कर दे जो बेहोश वही मादक मधु लाया।
जिसने गाया गान पड़ी वह भी दिखलायी।
स्वर्णलता सी मंजु पीत-वसना छवि-छायी।
मोहक ज्यों चंचला अचंचल हो विमुग्धकर।
तन-चंचलता सकल लोचनों में ही भरकर।
प्राणप्रिया-प्रति द्वेष-अनल में जलने वाली।
नित उसकी हित-हानि-कल्पना करने वाली।
क्या अनंग-कामिनी डिगाने मुझको आयी?
नव अनंग-निधि मध्य डुबाने मुझको आयी?
चर्मचक्षु ही नहीं निबल थे ज्ञान-विलोचन।
कार्त्तिकेय थे व्यस्त न हो पाया भ्रम-मोचन।
एक बार फिर और कामिनी ओर निहारा।
संशय ने विश्वास-रूप पल भर में धारा।
देखा उसकी ओर, चलित थी घातक विषधर—

अलक-पन्नगी वदन-चन्द्र-पीयूष पान कर।
बोले कम्पित गात "अहो मायाविनि बाले!
मंदभाग्यवश आज पड़ीं क्यों मेरे पाले!
महामोह में ग्रस्त नष्ट होने आयी हो।
अमर लोक से नरक-भ्रष्ट होने आयी हो।
तो लो अब अविलम्ब कुगति हो जाय तुम्हारी।
दे यातना अनन्त तुम्हें तारक कुविचारी।
३४० मर्त्यलोक में सत्य-शक्तिमय मेरे द्वारा।
कल्प अन्त में प्रबल दैत्य जायेगा मारा।
होगी आर्त्ति अनन्त, भाव निर्मल जब होगा।
मेरा यह अभिशाप विगत-पौरुष तब होगा"।
अग्नि-तप्त खर स्वर्ण-सदृश जिसका था यौवन।
कोमल ज्यों नवनीत, मिला वह मिट्टी में तन।
अभिशप्ता शारदा कल्प भर हेतु सो गयी।
ब्रह्मा की लाड़िली राख का ढेर हो गयी।
आये कमलाकान्त अचानक इस अवसर पर।
विहगनाथ-आसीन, वेग से धावित खरतर।
३५० बोले, "देकर दण्ड प्रिया पत्नी को भारी।
बने षड़ानन आप वेदना के अधिकारी।
रुद्रदेव ने आत्म-संहरण-मार्ग दिखाया।
रुद्राणी ने प्रीति-सहित उसको अपनाया।
कामदेव भी आज बने उनके सहयोगी।
नहीं पतन में ग्लानि, हो रहे नव रस भोगी।
काम-विकृति से विकृति शारदा-मन ने पायी।
नव नव रस-आस्वाद-कामना उसमें आयी।
विकृत तुम्हारे नयन हो गये मदन-प्रभावित।
अनायास ही विपद-गर्त्त को द्रुतगति धावित।"
३६० हरि-वाणी कर श्रवण रहे षटवदन ठगे से।
कर न सके विश्वास यद्यपि विश्वास-पगे से।
खोकर सारा धैर्य गिरे मूर्च्छित धरणी पर।
ज्यों होकर निर्मूल धराशायी हो तरुवर।
ब्रह्म देव का परस-दान दे शान्ति-निकेतन।

कार्त्तिकेय को दीनबन्धु ने किया सचेतन ।
दिया विविध विधि बोध, "न क्यों दुर्बल हो जाओ ।
जैसी आयी विपद धैर्य भी वैसा पाओ ।

मुझमें प्रकृत निवास पूर्ववत ही पाओगे ।
मर्त्य भोगहित मर्त्यलोक को भी जाओगे ।
कल्प अन्त में व्यथित विभांडक मुनिवर के घर । ३७०
लोगे तुम अवतार श्रेष्ठ शृंगी ऋषि होकर ।

कर शान्ता की सृष्टि शारदा के अंगों से ।
कठिन तुम्हारा खेद हरेंगे विधि ढंगों से ।
कोशलेश के गेह जन्म ले तुम्हें मिलेगी ।
उसे करोगे प्राप्त ताप की नींव हिलेगी ।

जीवन का आह्लाद वेदना में ही मानो ।
जीवन का आस्वाद खेदना ही में मानो ।
मिली वेदना आज तुम्हें तुम धन्य हो गये ।
धन्य तुम्हारा भाग्य विरह-रस आज लो नये"

यों कर धीरज दान भस्म लेकर हरि गमने—३८०
बहां, जहां था विकल किया ब्रह्म को भ्रमने ।
कन्या की वह राख प्राप्त कर के श्रीवर से ।
जला विधाता हृदय रुई ज्यों पावक परसे ।

पराधीनता प्रबल देख ब्रह्मा अकुलाये ।
जो थे कमल अनूप नवल निर्झर बन आये ।
किया अनादि अनन्त विरह का मर्म प्रकाशन ।
विधि को भाँति अनेक दिया हरि ने आश्वासन ।

तब प्रभु करुणा धाम चले आश्रम को अपने ।
रमा रही थीं देख जहां मिलने के सपने ।
सपना था ज्यों भंग, चतुर्भुज ही थे आगे ।३९०
लिये प्रफुल्ल सरोज चन्द्रमा में अनुरागे ।

रह रह तड़प तड़प उठते थे नहीं वेदना सह पाते थे ।
सर्वनाश अवलोक षड़ानन थाम कलेजा रह जाते थे ।
अपने कर से मार कुल्हाड़ी पाँवों में अब पछताते थे ।

कनी निगल करके हीरे की रोते थे अति अकुलाते थे।

—गीत—

व्यर्थ आह अब मैं भरता हूं।
जिससे खेद अचल हिलता था,
नित्य नवल जीवन मिलता था,
मंजुल प्राण-सुमन खिलता था,
मार उसे रोदन करता हूं। व्यर्थ०
जिसने दी थी छाँह निराली,
काटी वही सुकोमल डाली,
देखो प्रीति-रीति जो पाली,
अनुतापानल में जलता हूं। व्यर्थ०
आँखें रहते ठोकर खायी,
चेतन होते प्रिया गँवायी,
अपने करमों पीड़ा पायी,
हाय! हाथ अब क्यों मलता हूं। व्यर्थ०

× × × ×

पागल हरिणा रोती है क्यों?
तेरी माता मरी नहीं है,
दूर्वा लाने गयी कहीं है,
पल में आती अभी यहीं है,
मोती माल पिरोती है क्यों? पागल०
छोड़ तुझे क्यों जायेगी री,
कल न कहीं भी पायेगी री,
धीरज धर वह आयेगी री,
जोति नयन की खोती है क्यों? पागल०
मुझको सींग गड़ाती जाती,
मन में तनिक प्रतीति न लाती,
फिर फिर भोले नयन उठाती,
मेरी आँख भिगोती है क्यों? पागल०
नहलायेगी आकर तुझको,
सहलायेगी आकर तुझको,
दुलरायेगी आकर तुझको,

नाहक व्याकुल होती है क्यों ? पागल०

× × × ×

पिक, क्या तुमको याद दिलाऊं ?
वह मतवाली मधु विभावरी,
चंद्रकला से विकल बावरी,
छका गई जब चपल नागरी—
मुझको, क्या फिर से बतलाऊं। पिक० ४३०
जटा गूँथने मिस आयी थी,
फूल गँथने को लायी थी,
जाती बेला मुसकाई थी,
कैसे छवि अंकित कर पाऊं ? पिक०
बातें मीठी मधु मिसरी सी,
अमृत की धारा बिखरी सी,
तुम भी थीं गाना बिसरी सी।
कैसे वह रसघात भुलाऊं ?पिक०
घूमा फूल जटा में लेकर,
झूमा छवि को हँसना देकर, ४४०
फिर रहस्य ने दिया बिखरकर,
जो विनोद कैसे समझाऊँ ? पिक०

× × × × ×

धौरी याद तुझे क्य वह दिन ?
बैठी एक विटप नीचे,
खाती थपकी आँखें मींचे,
जुगालियाँ करती जाती थी—
तू सनेह से निज उर सींचे।
मुझे जलाती थी क्रोधागिन। धौरी० ४५०
देख सकी शारदा मुझे ज्यों,
धँस सी गयी धरा में वह त्यों,
पूजन समय टला था मेरा,
जान गयी थी मैं क्रोधित क्यों,
हरिण-दृगी ने कहा कहे बिन। धौरी०
जामुन का तरु वहीं खड़ा है,
श्याम सुफलमय सुघर बड़ा है,
मैं भी वही, वही है तू भी,

केवल काँटा एक गड़ा है।
क्या न कभी आवेगा वह दिन ? धौरी०

धौरी के ढिग हरिणी आयी लिपट-लिपट कर रोयी।
बिना कहे ही समझ गयीं वे जीवन की निधि खोयी।
रोयी सरिता, रोया निर्झर, रोयी कमलिनि प्यारी।
रोये भौंरे कुंज कुंज में पाकर पीड़ा न्यारी।
सिर धुनने लग गयीं लताएं मारुत से जब जाना
कम्पित-तनु कलियों ने ऋषि का दुख सुनकर दुख माना।
चेतन तो रोये ही जग के सकल अचेतन रोये।
कार्त्तिकेय ने निज विषाद के बीज भयंकर बोये।

मिली नहीं जो विरह-वेदना तो क्यों पाया जीवन ?
काँटा जो न विरह का लाया तो क्यों आया जीवन ?
सोना मिला नहीं जो कन भर, खान खोद कर हारे।
४६० बिना मौत ही मरे व्यर्थ ही क्यों थकान के मारे ?
मिला विरह भी तो क्या पाया मिले न जो वे मोती।
आँख जिन्हें ला किसी अतल से धरती उर में बोती।
जानेगा क्या स्वाद विरह का जिसने भरीं न आहें।
गोली लगी न जिसके उर में, मिलीं न जिसे कराहें।

कार्त्तिकेय ने खोकर पाया जो न स्वप्न में पाया।
कितने ही अमरों का मानस देख यही लहराया।
नवल विरह के रस के प्यासे बने सदा नीरस वे।
लगे खोजने अमर लोक में रह रह रस ही रस वे।
एक मौसिमी रोग की तरह फैला दीवानापन !
४७० अमर-लोक में बड़ा निराला दीखा मनमानापन।
देखो जिसे विरह का बाना वह धारे फिरता था।
घाव बिना नकली घायल बन मन मारे फिरता था।
यहां प्रकृत जीवन-विकास था देखा जाता सब दिन।
चिंतन, वचन कर्म था अविरत, रहित कामना अमलिन।
चिंता में विलीन थे वासव इस तुषार संचय से—
अमल कमल अमरत्व बचेगा कैसे भीषण भय से ?

आँखों के सामने विलोका ढीला होता शासन।
निश्चय किया सकल विद्रोही अमरों का निष्कासन।
मातलि के कर रुद्रदेव को उग्र सँदेशा भेजा।
अमर छोड़ दें उच्छृङ्खलता बारंबार सहेजा!
"मर्यादा का ह्रास न ऐसा कभी विलोका हमने"।
लिखा इन्द्र ने, "कभी न पाया ऐसा धोंका हमने"।
वज्र हमारे कर में, सब पर वज्र-प्रहार करेंगे।
द्रोहीगण को मार मार हम सुमति प्रचार करेंगे!"

उत्तर लिखा तुरत ही हरने "द्रोहीगण अनुशासन—
करो, परन्तु व्यर्थ ही होगा क्रूर क्रोध का साधन।
पाओगे विरोध ही भारी क्रोध अगर ठानोगे।
वेग हमारा मन्द न होगा हार तुम्हीं मानोगे।
आज तुम्हारे आदर्शों में केवल शोध उँचाई।
हम सब को उसमें आकर्षण देता नहीं दिखायी।
धरे रहो ऊँचाई अपनी नीचे हम जायेंगे।
वहीं निवास करेंगे नव रस जहां कहीं पायेंगे।
इतने प्रबल वेग के आगे खड़े न होओ राजन्।
बीज आपदा का अपने हित व्यर्थ न बोओ राजन्।
काल सिन्धु का गर्जन टोके कौन बली वह जग में।
उग्र तरंगित नर्तन रोके कौन बली वह जग में?
गुरु गाम्भीर्य, महत्व नियम का निश्चय धारण कीजे।
द्रोहीगण का अमर लोक से द्रुत निस्सारण कीजे।
बतलाता हूं तुम्हें शान्तिपथ जो सब काम बनाये।
बात तुम्हारी भी रह जाये हमको भी अति भाये।"

रुद्रदेव का उत्तर पाकर मघवा ने भय माना।
दुर्निवार खरतर धारा का कठिन नियंत्रण क्षाना।
निर्णय के हित व्यस्त हो गये ले अमात्य-दल सारा।
सहमत होकर निष्कासन ही सब जन ने निरधारा।

———

तृतीय सर्ग

मर्त्यलोक की रचना में तब विधि ने हाथ लगाया।
विकसित मन-अनुरूप मनोहर विस्तृत गगन बनाया।
नभ से पवन, पवन से पावक, उससे जल उपजाया।
राख शारदा की जल में धर धरणी-रूप दिखाया।
महि में ध्वनि औ परस, रूप, रस, गन्ध—पाँच गुण लाये।
अंतिम तज कर जल के भीतर चारों शेष बसाये।
क्रमशः अनल, पवन, नभ में भी एक एक को तज कर।
किये प्रदान विधाता ने गुण यथापूर्व चिन्तन कर।
नभ का लेकर अंश बनाया ज्वलित बृहस्पति तारा।
मारुत से शनि और अनल से मंगल ज्यों अंगारा।
जल से भार्गव और धरा से बुध की सृष्टि निराली।
कर के परम चतुर चतुरानन ने निज प्रगति सँभाली।
धरणी के अवलम्बन के हित मेरु दण्ड निरमाया।
उपरि प्रान्त में निर्जर गण का क्रीड़ाधाम बनाया।
मध्य भाग मानव हित, नीचा दानव हित निरधारा।
एक कल्पना ने तब औचक विधि का हृदय विदारा।
इन्हीं दानवों द्वारा होगी मेरी कन्या पीड़ित।
नीच परिस्थितियों में धँसकर परम दैन्य से व्रीड़ित।
भय का भाव विकल कारक अति दृग आगे घिर आया।
उग्र भयंकर रतनाकर सा जो अविरत लहराया।
मूर्त्तिमान प्रलयंकर दानव ने तब प्रश्न किया यों।
"रचनाकार! बताओ सत्वर जीवन मुझे दिया क्यों?"

बोले ब्रह्मा, "सकल कल्प के एक तुम्हीं हो वाहक।
जगत-प्रगति के तुम अवलम्बन रज, तम गुण के ग्राहक।
अहंकार, अज्ञान, दम्भ का तुम आकार लहोगे।
एक सहस्र महायुग-जीवन पाकर प्रबल रहोगे।
अहो भयंकर! वंश तुम्हारा होगा परम भयंकर।
रुद्रदेव की भाँति बनोगे जगती में प्रलयङ्कर।
परम प्रबल वज्राङ्ग तुम्हारे कुल का होगा भूषण।
तारक उसका तनय प्रतापी मूर्तिमंत भ्रम-दूषण ३०
त्राहि, त्राहि सब देव करेंगे मानव रुदन करेंगे।
शम्भु-उमा से जन्म षड़ानन ले तब आर्त्ति हरेंगे।
जाओ मर्त्यलोक में अपना कार्य सँभालो सत्त्वर।
रुद्र शक्ति भी सावकाश हों अस्त्र तुम्हें निज देकर।

चतुरानन के बचन श्रवण कर बोला दैत्य मनस्वी।
मुझको, विधि, आशीश दान कर बनो न व्यर्थ यशस्वी।
जाता हूं, तप कर के लूंगा जो कुछ मुझको लेना।
दान किसी असमर्थ अपाहिज निजेर को दे देना।
रुद्र-शक्ति-तोषण-हित ठाना तब उसने तप भारी।
आये रक्तनयन अहिभूषण शूल गदायुध धारी। ४०
"क्यों कठोर तप करते हो यह मांगो सो मैं दूँगा।
निशिचर बोला, देव देव मैं केवल आशिष लूँगा।
प्रलयमालिका पर अंगुलियां कर की चालित करती।
सृष्टि-तालिका के प्रति अविरत रति प्रतिपालित करती।
रुद्र मिलन की उत्कण्ठा से विचलित शक्ति पधारी।
कान्तिमती दामिनि सी अम्बा पहने नीली सारी।
"उग्र तपस्वी, क्यों करते तप माँगो वर मन भाया।
डरो न नेक, तुम्हारे सिर पर अम्बा-कर की छाया।"
मिला रुद्र को था जो उत्तर वही शक्ति ने पाया।
अभिप्राय दानव ने अपना प्रगट नहीं बतलाया। ५०
आराध्यों को अतिशय भाया यह अकाम आराधन।
आशिष सहित दिये दोनो ने निज संहारक साधन।
कहा रुद्र ने, "शम्भुरूप धर जगती पर आऊँगा।

ले अवलम्ब तुम्हारा ही मैं शांति सरस पाऊँगा।
अमर लोक की हिंसा मेरी प्रकृत, प्रकृति से सम्मत।
मर्त्यलोक में विकृत संहरण प्रगट करेगी अविरत।
अखिल कल्प लौं उसके द्वारा विघ्न प्रगट जो होवें।
मेरे प्रिय अनुचर! तुमसे वे विजित सकल बल खोवें"।
बोली शक्ति, "उमा तनु धर कर अवतरिता मैं हूँगी।
६० शंकर-शांत सिन्धु-उर कामिनि सुरसरिता मैं हूँगी।
प्रकृत संहरण करने का यह ले लो भार हमारा।
सृष्टि - उपासक सब मानेंगे अति उपकार तुम्हारा"।
पृथक पृथक आकर दोनों ही आह्लादित हो गमने।
नये कार्य्य में दानव का मन लगा रसिक हो रमने।
अकस्मात वह आन्दोलित हो दैत्य लोक को धाया।
कँपा गगन, हिल गया धरित्री प्राणी ने भय पाया।
उसका वह पद-चाप श्रवण कर थहर गये रचनाकर।
परम क्लान्त हो ठहर गये वे चौदह भुवन विभाकर।
देख विकृत हिंसा रति उसकी और अधिक अकुलाये।
७० कौन विकृति का नाश करेगा,विचलित अमित दिखाये।
चित्त सँभाल लगे फिर रचने मर्त्यलोक छवि रूरी।
अमरेश्वर-अभिमान जिसे कर अवलोकन हो दूरी।
पीड़ा रह रह उठ जाती थी फट जाती छाती थी।
विमल सरलता - मूर्त्ति शारदा याद जभी आती थी।

देश-त्याग आदेश मिला जब निर्जर गण को।
गये अचानक चौंक सिधारे रुद्र-सदन को।
रुद्रदेव अध्यक्ष सभा के होकर राजे।
८० अग्नि मरुत वरुणादि सहित ऋषि मुनि गण भ्राजे।
बोले रुद्र कराल 'नहीं कुछ सार यहां है।
चलो चलें हम लोग रंजनागार जहां है।
आहें भरना पाप जहां दृग में जल लाना।
वहां ठहरना पाप यही मैंने अनुमाना।
अमरेश्वर के नियम तोड़ डालेंगे सब हम।
अप्राकृतिक विधान नहीं पालेंगे अब हम।

अचल एक आदर्श न होगा लक्ष्य हमारा।
जीवित सत्य सदैव हमारा प्रिय ध्रुवतारा।
मर्त्यलोक-निर्माण किया ब्रह्मा ने मोहन।
वहीं बसें हम लोग भोग लें मधु का शोभन।
अमर लोक में एक अमर का वास न होवे।
हममें कोई एक इन्द्र का दास न होवे। ९०

जहां षड़ानन जायं वहीं हमको भी जाना।
वे जिस रस के रसिक वही हमको भी पाना।
विचरेंगे स्वाधीन करेंगे जो भायेगा।
बज्रपाणि का दम्भ धूलि में मिल जायेगा।
जयति षड़ानन प्रथित जयति जय रुद्र महेश्वर।
अमरेश्वर अभिमान विनाशक जयति जयति हर"।
बारम्बार अपार घोष से व्योम गुँजाकर।
भूले अपना गेह देह विचलित-मन निर्जर।

मर्त्य लोक छवि देख मोद ब्रह्मा ने पाया।
उसमें करना वास स्वयं उनको भी भाया।१००
होगी सतत समक्ष पीड़िता बेटी प्यारी।
दूँगा नेक सँभाल व्यथित जब होगी भारी।
दया करें कमलेश मुझे जग में जाने दें।
डगमग मन को ताप न पग-पग पर पाने दें—
सोचा ज्योंही, आप वहीं लक्ष्मीनारायण—
आये गरुड़ासीन निरत नव जग गुण गायन।
स्वागतार्थ हो खड़े दिया विधि ने वर आसन।
फिर बैठे सामोद वहां वे विकसित - आनन।
चन्द्र चन्द्रिका सहित दिवाकर विहँसा मानो।
काम-कामिनी संग ज्ञान वर विलसा मानो।११०

दोनों ही ने कुशल - क्षेम दोनों का जाना।
परम प्रखर सौभाग्य परस्पर मिल कर माना।
विधि बोले, 'हे नाथ! दया यह मुझ पर कीजे।
मर्त्यलोक में वास करूं सम्भव कर दीजे।
आत्मविस्मृता बनी वहीं होगी जड़ कन्या।

मेरे हित उर ताप-शमनकर बात न अन्या।"

बोले कमलाकान्त, "नहीं सम्भव चतुरानन!
कहीं जा सकें आप छोड़ कर अपना आसन।
नेक हिले यदि आप सृष्टि ही हिल जायेगी।
सकल व्यवस्था अन्त निमिष भर में पायेगी।
जग-जीवन-आधार व्यथा तव नव रसदायिनि।
वही सकल संसार-सार आनन्द-विधायिनि।
मर्त्यलोक औ अमरलोक में ग्रन्थि करेंगे।
हम दोनों के लोक उभय में सन्धि करेंगे।
क्षीर सिन्धु में बैठ मुझे भी केवल तपना।
हो न सृष्टि का अन्त यही निशिवासर जपना।
कार्त्तिकेय का रूप पूर्ववत ही धारूँगा।
दानव का कर हनन धरा को उद्धारूँगा।
तब तक की यातना सहन कर लो हे ब्रह्मन्!
तब तक की वेदना वहन करलो हे ब्रह्मन्।
आया हूं मैं आज विदा देने अमरों को।
मर्त्यलोक रस हेतु तड़पते रसिक वरों को।
चलिए उनके संग आज दो बातें कर लें।
अधिक उमङ्ग उछाह उरों में उनके भर दें"।

विधि ने उठ कर सपदि यष्टिका कर में धारी।
चले रुद्र के धाम संग अभिराम खरारी।
सोच रहे थे सृष्टिकार होकर क्या पाया!
पतितों का भी भाग्य पतित इतना न दिखाया!
देखा, निर्जर वृन्द देश निज छोड़ रहे थे।
नये देश के संग नेह नव जोड़ रहे थे।
निष्कासन - अपमान - भावना वहां नहीं थी।
प्रिय प्रवास - कामना विलोको जहां वहीं थी।
उत्कंठा में मग्न षडानन अधिक दिखाये।
असहनीय था विरह प्रिया-हित थे अकुलाये।
सूर्य आदि ग्रह और नभग सब प्रतिभा-मण्डित।

संध्या रजनी चन्द्र हिमालय उषा अखण्डित ।
अगणित देवीदेव रुद्रगण भी अगणित थे ।
सब के उर में मोद परम उत्साह-जनित थे ।
मिले सभी से एक निमिष में अज औ श्रीपति ।
जो गति-गति के जनक अकथनीया उनकी गति ।
मुनियों के सिरताज पड़े नारद दिखलायी ।
'तुम्हें न करना गमन'—बात हरि ने समझायी ।
'बूढ़े व्यथित विरंचि, उन्हें आश्वासन देना ।
निज प्रयाण का कालज्ञान मुझसे ले लेना ।'
प्रकृत षड़ानन रूप आप अपने में लेकर ।
कृत्रिम एक स्वरूप विश्व को भ्रामक देकर ।
किया निराला खेल गूढ़ ही कमला-वर ने ।
कोई सका न जान एक जाना बस हर ने ।

जिसकी जैसी प्यास पिया उसने रस वैसा ।
रति का मंजु विकास विरति-चिन्तन फिर कैसा ।
चली कल्पना जिधर अमरगण उधर सिधाये ।
दीखा जो अभिराम उसी में रत हो धाये ।
अति प्यासे जड़ परम, बने कम प्यासे चेतन ।
थी विचित्र ही सृष्टि सरस आनन्द-निकेतन ।
कितने चर हो चले अचर हो आये कितने ।
भ्रम का एक पहाड़ संग में लाये कितने ।
चेतन प्यासे अधिक प्रबल दानव हो उतरे ।
जो थे प्यासे अल्प देव बन कर वे विचरे ।
जिनकी मध्यम प्यास वही मानव कहलाये ।
दैत्य देव गुण-दोष मिलित जो लेकर आये ।
लेकर विधि की छाप समुद गमने प्रलयङ्कर ।
थी समाधि से प्रीति रमे कैलाश अचल पर ।
गयीं हिमाचल गेह शक्ति गौरी तनुधारिणि ।
कान्त-मिलन-अनुराग प्रबल प्रतिपल उद्गारिणि ।
नित्य नवल रस-कूप कुसुम-सायक खनता था ।
कान्त-मिलन-रस-पान अमर मानस करता था ।

था रस स्रोत अनन्त, थाह मिलती न कहीं थी।
बढ़ती थी अविराम, प्यास मिटती न कहीं थी।
अमरलोक में शेष नहीं जब दीखा कोई।
रोये मघवा व्यथित शची सम्राज्ञी रोयी—
'लोक हमारा हाय हो गया निर्जन कानन।'
कहते थे भर आह विकल दोनों नत आनन।
बोले वासव, "देवि, चलो हरि के ढिग चलकर।
विपद सिन्धु—तरणार्थ माँग लें तरणी सत्वर।
अशरण के वे शरण, त्राण मरते जाते के।
वे ही विश्वाधार, प्राण नव कुम्हलाते के।"
कहा शची ने, "नाथ करो अब नेक न देरी।
श्री हरि-दर्शन हेतु बढ़ी अभिलाषा मेरी।"
किन्तु उठे ज्यों युगल भाग्य बरबस ही जागे।
दीखे कमलाकान्त आप ही आगत आगे।
चरणों में गिर पड़े इन्द्र-इन्द्राणी दोनों।
बोले, "हम आपन्न निपीड़ित प्राणा दोनों।
अनुचर-मित्र-विहीन सँभालें कैसे मन को।
ज्योति दिखा दो दिव्य तिमिर-विचलित निजजन को।"
यों कहते थे सजल दृगों ही से पद धोते।
दिखे सहज आनन्दकंद भी आकुल होते।
रोये करुणाधाम भक्त पीड़ा हरने को।
खोया धीरज आप अधीरज कम करने को।
"आता हूं, अमरेश! देख अमरों का जाना।
आकर्षण अविराम स्वयं ब्रह्मा ने माना।
कितना था उत्साह चाह कितनी तीखी थी!
उत्कण्ठा इस लोक में न इतनी दीखी थी!"
बोले कमलाकान्त, "भाव क्यों व्यर्थ छिपाऊं?"
इच्छा थी दुर्दम्य हो गयी मैं भी जाऊं।
नवीनता - संचार जहां है, साए वहां है।
पीटी गयी लकीर प्राण भी भार वहां है।
तुमको था अभिमान एक ही तत्व ग्रहणकर—
बने रहेंगे अमल अचल अमरत्व वहन कर।

महाशक्ति ने प्रकृत सत्य का पथ दिखलाया।
मर्त्य-अमर - संबन्ध पाठ तुमको सिखलाया।
एक हाथ में अमृत अन्य में ले विष-प्याला।
कालचक्र अविराम चलाती शक्ति निराला।
विष का करके त्याग अमृत दे नहीं सकेगी।
कहीं विवश वह आप भार ले अमित थकेगी।
देव-देवियां सकल गयीं जगती में बसने।
जा न सकी रति एक अगम कर्दम में फँसने। २२०
नारद का आशीश प्राप्त कर वह जायेगी।
तभी तुम्हारे पास विरति शीतल आयेगी।
तदपि बनो तप-लीन निरति-बाधा मत मानो।
एक कल्प भर परम प्रखर निश्चल व्रत ठानो।
बीतेगा यह काल अमरगण फिर आयेंगे।
फिर गौरव का मुकुट तुम्हीं को पहनायेंगे।"
मधवा - दम्पति - बोध विविध विधि यों ही करके।
हर के चरण -सरोज सरस मानस में धर के।
कमलावर आसीन विहग-नायक-पंखों पर।
क्षीरसिन्धु की ओर थकित से गमने सत्वर। २३०

तैयारियों में थे सदाशिव—लें अखण्ड समाधि।
व्यापे न जिससे मर्त्य जगती की भयंकर व्याधि।
बाधा बढ़ाकर वे रसिकवर थे शमन में लीन।
जैसे सहित अवरोध निर्झर हो नवल रस-मौन।
अमरालयों से आ गयी अमरावली उस काल।
निज हृदयगत न्यारी व्यथा के कथन हित बेहाल—
"हे चन्द्रधर ! होंगे विलयगत आप विगत-विकार।
तब दे रहे हम दीन जन को कौन सा आधार" ?
शिव शम्भु के निर्मल अधर पर आ गयी मुसकान।
"तुम हो गये भयभीत क्यों यों अमर दिव्य महान ? २४०
मैं शयन के हित जा रहा हूं दे विचित्र विधान
हां, तोड़ देगी क्षुद्र चींटी प्रबल गज-अभिमान।
संतत अखंडित ही रहेगा सकल तब अमरत्व।

नव जग-सुमन-रस हेतु होगा सिद्ध तब भ्रमरत्व।
होगा तुम्हारा यदि कभी भी क्षीण जीवन-सत्व।
तो पूर्ति श्रीरंजन करेंगे प्राप्त-पोषण-तत्व।
आये मदन, आ जायगी रति शीघ्र ही रसधाम।
हे देव! दोनो से बनेगा यह जगत अभिराम।
देना सहारा मनुज को भी, हो दनुज-आक्रान्त।
छोड़े कभी यदि धैर्य, वह होकर अतीव अशान्त।"
संतोष पाकर अमर लौटे, शम्भु अपना रूप।
हृदयस्थ करने में लगे, अविगत, अचिन्त्य, अनूप।
थीं शैलजा यह वृत्त पाकर कामना में मग्न।
होने लगा शैलेन्द्र-मैना-उर व्यथा से भग्न।

चला काल का पहिया इन्द्र और इन्द्राणी—
पाकर चिन्ता, मुक्त हो गये तप में रत धृतिदानी।
रुद्राराधन करते थे वे यही प्रार्थना करते।
आयें रक्त-विलोचन फिर से नव रस दिव्य वितरते।
काल-भेद से एक तत्व के रूप रुद्र औ शंकर।
कभी भयंकर बनते वे विभु और कभी अभयंकर—
इसी साधना में विलीन हो भूख प्यास भी भूले।
क्या जाने किस रस से सिंचित सुमनों से वे फूले।

रुद्र भवन से व्यथित चले चतुरानन आये।
या कहिए इस भाँति, रमापति उनको लाये।
गये सिंधुजा-रमण, बोध मुनिवर देते थे।
कठिन भँवर में नाव कुशलता से खेते थे।
बीते जब दोपहर अधिक ब्रह्मा अकुलाये।
शोक-सिन्धु में धैर्य, ज्ञान सब मग्न दिखाये।
"कहां षड़ानन हाय! कहां प्रिय कन्या मेरी!
काटूं दिन किस भाँति? आगयी विपद घनेरी।"
कहते थे ये वचन रुदन करते थे रह रह।
ढलक रहे थे बूँद सरस कमलों से रह रह।
यदपि गये अनुमान देख गति नारद ज्ञानी।
बोले तदपि, "विरंचि! व्यथा तुमने क्यों मानी?

होती रहतीं सरस ज्ञान-विज्ञान-कथाएं।
निगमागम उपदेश विविध रोचक चरचाएं।
क्यों आयी इस काल विकलता तुममें ऐसी?
हृदय-गगन में मेघ-घटा यह छायी कैसी?
बोले विधि, मुनिनाथ! हृदय गति क्या बतलाऊं!
कन्या विषम वियोग-जलधि किस विधि तर पाऊं? २८०
जाओ जो तुम मर्त्यलोक को धीरज आये।
निरवलम्ब वह बाल एक अवलम्बन पाये।
श्रीवर का आशीश प्राप्त कर जो तुम जाओ।
तो आयास विनैव मुझे आश्वासित पाओ।
कन्या का सब क्लेश क्लेश मेरा ही जानो।
तन मेरा इस ठौर वहां मन मेरा मानो"।
"धीरज धारो देव, शीघ्र ही मैं जाऊँगा।
श्रीबल्लभ-अनुकूल भावना भी पाऊँगा।
अन्तर-प्रेरक भाव सहज अनुभव करता हूं।
उसमें हरि-संदेश धारणा ही धरता हूं। २९०
यह कह कर विधि-चरण-रेणु माथे पर धारी।
पाकर बहु आशीश चले मुनिवर अघहारी।
विचरण था उद्देश्य, अवनि का हित भी उसमें।
धाता-क्लेश-विशेष हरण केन्द्रित भी उसमें।

अकस्मात मुनि के कानों में रोदन का रव आया।
जिसने वीतराग के मानस को भी विकल बनाया।
उमड़ पड़ा करुणा का सोता सजल-नयन हो आये।
चले रुदन-स्वर मूल खोजने मुनिवर कान लगाये।
वहीं पास ही पड़ी दिखायी ललना एक ललामा।
अङ्ग अङ्ग से जिसके थी छवि छलक रही अभिरामा।३००
होकर भी लावण्यमयी वह मन्मथ की सेनानी।
किसी वेदना से व्यथिता थी रूप-लोक की रानी।
जिसकी शोभा अमित महामुनि का भी हृदय डिगाये।
सहज भाव से जो कुम्भज सम विरति-सिन्धु पी जाये।
जिसका जीवन जग-जीवन में नव जीवन बरसा दे।

जिसका केलि-कलाप सृष्टि के प्राणों को सरसा दे—
वही गँवा कर प्रफुल्लता निज म्लानमना दिखलायी।
आह दीप के तले अँधेरी कब न घनी घिर आयी।
विधि-विचित्रता से आहत से पाकर पीड़ा भारी।
करुण स्वरों में मुनिपति बोले, जा समीप सुकुमारी।
"अहो रमणि! तुम कौन? यहां यों क्यों रोती हो?
विपदा आयी कौन? धैर्य्य यों क्यों खोती हो?
जिसने यह सौन्दर्य दिया तुमको मनहारी—
उसने ही क्यों हाय व्यथा दी विचलितकारी?
मुनि को सम्मुख देख अमित रमणी सकुचायी।
लज्जा की लालिमा कपोलों पर अधिकायी।
दृग-जल-वारण-यत्न सफल हो सका न तिल भर।
रसना कुण्ठा-मग्न लगी होने रह रह कर।
बोली हृदय सँभाल, "मदन की हूं मैं नारी।
रति है मेरा नाम, सकल अमरों को प्यारी।
चिर जीवन के सङ्ग चिरन्तन यौवन पाकर।
मैं ही यह नव सृष्टि बनाती हूं रस-आकर।"
यह कह कर वह मौन हो गयी कोकिल-बैनी।
दृग-जल-धारा-लीन नवेली नीरजनैनी।
पीड़ा ही साकार खड़ी थी आगे मानो।
जीवन-रस-आधार धीरता त्यागे मानो।
मुनिवर बोले, "देवि, तुम्हारा तो यह रोना—
उचित न पड़ता जान चित्त का सब बल खोना।
चले गये सब देव देवियां मर्त्यलोक को।
क्यों न सकीं तुम छोड़ अभी इस शून्य ओक को"।
अंचल से दृग पोंछ दिया रति ने यों उत्तर—
"देव, न पाये जान आप मम पीड़ा खरतर।
थी विलास में निरत यहां के नन्दन वन में।
जाऊँगी अब हाय करीलों के कानन में।
मर्त्यलोक में तृप्ति कहां वैसी पाऊँगी।
पार्थिव जन में पतित रसिक क्या रह जाऊँगी।
महाकलुष के संग सनगी मैं हतभागी।

होंगे अघ में लीन, अधम मेरे अनुरागी।
मेरे पति तो पुरुष दोष से रहित रहेंगे।
धारा का रुख देख प्रीति-रस-सहित बहेंगे। ३४०
करने सृष्टि विकास अधम जन में जाऊँगी।
तो मैं अबला नारि पापिनी कहलाऊँगी।"
यह कह कर फिर लगी नयन से जल बरसाने।
मुनि के लोचन-कमल करुण रस से सरसाने।
पीड़ा का आक्रमण-निवारण कर बल कर के।
लगे बँधाने धैर्य्य धैर्य्य मुनिवर भी धर के—
"घबराओ मत तनिक सृष्टि कृत नव रस वर्षिणि!
जग-रति ओर विरक्त चित्त-विक्रम-आकर्षिणि!
देता हूं बरदान तुम्हें मैं हे छविशालिनि!
मानस में उल्लास-लहर अविरत सञ्चालिनि! ३५०
पार्थिव जन-संसर्ग तुम्हें जब व्यथित करेगा।
जभी अरुचि का भार तुम्हारा धैर्य्य हरेगा।
जभी तुम्हारी आह अमरगण तक जायेगी।
दृग जल-धारा हृदय जभी दहला पायेगी।
करुणा-प्रेरित अमर निम्नतर जाकर जगमें।
देंगे नव मधुदान तुम्हें विचलित पग पग में।
और एक वरदान तुम्हें देता हूं बाले!
तुम्हें न होगा दोष अमित पतिरति प्रतिपाले।
कर के भी जग-रमण प्रखरता ही पाओगी।
पतिव्रता कामिनी मदन की कहलाओगी। ३६०
तो जाओ अविलम्ब वियोगी मन्मथ होंगे।
अमरों के रस-स्वप्न विकृति से लथपथ होंगे।
हृदय हृदय में प्रखर प्रणय संचारित कर दो।
जलचर थलचर जीव जन्तु को अनुरति वर दो।
तुमसे ही नव वेलि-वदन पर ओप चढ़ेगा।
रस पीने का मधुप तुम्हीं से पाठ पढ़ेगा।
संध्या का एकान्त वन-स्थलियों में जाकर,
लगना गिरि के कण्ठ स्नेह के अश्रु दिखाकर—
पायेगा माधुर्य कहां से हे रतिरानी!

होकर अमित उदार न होगी यदि तुम दानी। ३७०
कुमोदिनी के संग कलाधर प्रीति बढ़ाओ।
सरि की प्रबल उमङ्ग जलधि के प्रति सरसाओ।
विहगी और विहंग-केलि में अमृत-धारा।
बरसाओ उन्माद निरन्तर भरकर न्यारा।"
कभी श्याम फिर श्वेत विविध विधि बूटों वाले—
वसन पहन अभिराम सुछबि रस घूँटों वाले—
निशा निशाकर-प्राण-बल्लभा कैसे होगी?
हे रति! जाकर जो न उसे तुम नव रति दोगी।
चकोरिका में लास सिंधु में लोल चपलता।
३८० भर दो रस से हीन चन्द्र में कलित सकलता।
सरोजिनी-सौन्दर्य दिवाकर रुचिकर कर दो।
चातक को दे स्वाति-सलिल जीवन-अवसर दो"।
पद-कमलों का स्मरण रहूँगी प्रतिपल करती।
मिलन-आश से प्रबल निराशा का बल हरती।
पद-रज बारम्बार शीस माथे पर धर कर।
चली गयी संग ही ले गयी मुनि-मन भी हर।

कमला-सहित चंचलाबल्लभ औचक वहां दिखाये।
प्रणति-अनंतर बोले, "हे मुनि उचित समय पर आये।
मर्त्य लोक को जाओ मुनिवर! यह आदेश हमारा।
३९० मसल न डाले सृष्टि मनोहर दानव-दल हत्यारा।
रुद्र-शक्ति से अस्त्र पा गया, इससे अधिक मनस्वी।
लीन विकृत हिंसा में निशिदिन दैत्य बना अयशस्वी।
ब्रह्म-भाव-अनुरागी जो जनउनको त्रासित करता।
जो समाज के नित हित-चिन्तक उनको ग्रासित करता।
रुद्र और शंकर में कोई भेद नहीं जो पाते।
दोनों से भी परे ब्रह्म में जो तल्लीन दिखाते।
प्रकृत-अहिंसा-के व्रतधारी महाशक्ति-आराधक—
सम्मानित हों वे समाज में प्रखर तपस्वी साधक।
विकृत हिंसकों का वध करके खेद सृष्टि का हरते।
४०० इसी भाँति जो रुद्र-शक्ति की उपासना नित करते।

ऐसे प्रकृत हिंसकों का भी मान बढ़ाना हमको।
महाशक्ति-रचना में नव-नव सौष्ठव लाना हमको। ४१०

प्रकृत अहिंसक और प्रकृत हिंसक जन के अनुचर वर।
धन से तन से सेवा करते जो सहयोग सुघर कर।
विश्व-व्यवस्था के रक्षक वे महाशक्ति-पद-रागी—
पायें प्रेम, प्रतिष्ठा सब से मम करुणा के भागी।

रुद्र-शम्भु-एकतापरक यह वर्ण विभाजन जानो।
ब्रह्मलीनता ब्रह्मप्रगति की पहली सीढ़ी मानो।
अहंकार के लिए नहीं, यह अहंकार-संहारी—
दानव देव मनुज प्रति ममता-व्रत ही का अधिकारी।

मूल त्याग कर शाखा-पत्तों को सींचने न जायें।
अन्धकार में व्यर्थ भटककर बढ़ा न लें विपदाएं। ४२०
चतुर्वर्ण, चतुराश्रम देकर मैंने ज्योति दिखायी।
मानव को विश्राम की थली मैंने रुचिर बतायी।

पाये जग विकास जीवन का, यही कामना मेरी।
आश्वासन दे देकर उसकी हर लो व्यथा घनेरी।
लोग तजें न भरोसा मेरा यह सबको समझाना।
परम निराशा-ग्रस्त मनों में मेरी याद जगाना"।

मुनि-मानस-अनुकूल कथन था कमलापति का प्यारा।
बोले, "वे विधि-सम्मत हे प्रभु! यह आदेश तुम्हारा।
आशा का, सन्तोष, प्रेम का ले प्रकाश जाता हूं।
नाथ! जगत का मूर्त्तिमान मैं बन विकास जाता हूं। ४३०

पतझड़ होगा जहां वहां मधु का संचार करूँगा।
जहां ग्रीष्म की ऊष्मा होगी पावस हो विचरूंगा।
जहां वेदना-विचलित प्राणी हाहाकार करेंगे।
मेरे वचन वहीं नव जीवन सरस प्रसार भरेंगे।

नारद के ये वचन श्रवण कर दे, आशीश विविध विधि।
अन्तर्हित हो गये अचानक विश्वम्भर करुणानिधि।
मुनि का प्रति पद-पात प्राणियों के बल का बढ़ना था।
नव कल्याण - प्राप्ति - साधन की सीढ़ी पर चढ़ना था।

मंजुल वीणा लेकर मुनिवर प्रेरित पूत प्रमोद।

चालित करने लगे उँगलियां तारों पर सविनोद।
कढ़ा गान वीणा मृदु स्वर से मादकता की खान।
करने लगा हृदय उनका नव रस के सर में स्नान।

चलो चलो उस नव जगती में जहां अनन्त विहार—
बना रहा है अमित काल हित अपना क्रीड़ागार।
चलो चलो उस नव रचना में जहां नहीं सन्तोष।
असन्तोष ही जहां बना है अति दुर्लभ रस कोष।

जहां कामना आह्लादों का गाढ़ा करती रंग।
उत्कंठा रहती प्रमाद की ताने ऊँचा चंग।
आशा और निराशा दोनों लड़ लड़ कर सोन्माद।
जहां हृदय को देतीं हँस हँस नव आनन्द प्रसाद।

सौ सौ विघ्नों की आशंका देती मधु अभिराम।
जहां मरण-भय करता जीवन को मनोज्ञता धाम।
चलो चलो उस नव जगती में जहां अनन्त विहार—
बना रहा है अमित काल हित अपना क्रीड़ागार।

वीणा स्वर ने नारद-मुनि को दी कल्पना ललाम।
जिसने उन्हें कामना का रस पिला दिया उद्दाम।
ऊषा के मंजुल विहास से रंजित-छवि, अभिराम।
दीखे स्वप्न उन्हें तब मंजुल स्वर्ण-श्री के धाम।

एक स्वप्न था नन्दन वन में मधु को लेकर संग।
कर मधुपान केलि-रत अविरत थे रति और अनंग—
अमरों के पीयूष-पात्र में मधु की बूँदें डाल।
चिन्ता में रत, पिला सभी को करें विकल बेहाल।

अन्य स्वप्न था वनकुसुमों ने पाया मान विकास।
उत्कण्ठा आशंका में बँध बैठा अलि - उल्लास।
लता लाज से लच हो आयी नव संकोच-निवास।
लगी सीखने प्रीति दबाकर करना विरति-विलास।

लहरें उठीं महामुनि - मानस में रह रह तत्काल।
शैशव त्याग बनीं जो क्रमशः चपल, विशाल, रसाल।
दीखा जग ब्रह्माण्ड-गर्भ में निरुपम शोभावान।
अवलोकन हित चले मुनीश्वर रचना सरस महान।

देखा मुनि ने सहज प्रकर्षित भ्रमण-निरत खगमाल।

नीचे क्रमशः शनि गुरु कुज रवि कवि बुध शशिमय जाल।
नीचे उनके सिद्ध विराजित विद्याधर सुकुमार।
उनके भी नीचे शोभामय श्यामल मेघ अपार।

देवलोक का दर्शन करके चमक पड़े मुनिनाथ।
दमकी दीप्ति दृगों में दोनो सरल मधुरिमा साथ।
ग्रह नक्षत्र सकल को विचलित लखकर ज्ञान-निधान—
बोले, "किस रस का दाता यह चंचल चलन-विधान"?

"कढ़ी अचंचलता ही में से चंचलता यह नाथ।
ओझल रहती तदपि न तजती रजनी दिन का साथ।
यही महागति देगी हमको मंजु अगति का स्वाद"।
नभग-वृन्द ने बारी-बारी कहा सहित आह्लाद।

किया प्रणाम कमलिनीपति ने मुनि ने आशीर्वाद।
देकर पूछा, "हे रवि कैसा जीवन में आह्लाद?"
"जीवन में आह्लाद मिला था चोखा था अति रंग।
पहले पहल बहा लायी जब नव कामना तरंग।

सतत हिमावृत शैल-विहारिणि हिमबाला के संग।
आराधना मदन की मैंने ठानी सहित उमंग।
नहीं स्वर्ग में जो रस पाया उसे यहां कर पान।
मैंने मर्त्यलोक को माना लोक विशेष महान।

किन्तु न जाने कैसा रस यह प्रवहमान सब काल।
कभी यहां है, कभी वहां है अजब निराला हाल।
हिमबाला में जो रस मुझको दीखा था अभिराम।
गया उषा में हाय न जाने कैसे परम ललाम।

उसके ही हित तड़प रहा हूं होकर अति बेचैन।
मानों युग युग से अतृप्ति औ विषम वासना-ऐन।
कोई ढंग बताओ मुनिवर प्रिया मुझे मिल जाय।
मेरे प्रति उसकी विरक्ति की नींव प्रबल हिल जाय।

एक आपदा और भयंकर आयी हे मुनिनाथ!
जिसे मुझे झेलना पड़ेगा बस मल-मल कर हाथ।
हिम प्रदेश की अखिल प्रजा में ग्रीष्म देव का नाम।
करता नस नस में बरसाकर रस मानस रसधाम।
उसी यशस्वी-संग स्वकन्या का करने को व्याह—

मेरा मन अति ललच उठा था उमँगा था उत्साह।
किन्तु न जाने कालिन्दी-उर में उठ कौन तरंग।
पावस-रँग में रँग कर उसको बहा ले गयी संग।
काला पावस ग्रीष्म-रूप की कैसे लेगा होड़।
किन्तु अल्प वय की नादानी सकी न बाला छोड़।
हिम प्रदेश का नीचा करके सबसे उन्नत भाल—
नींव भयानक उच्छृंखलता की निज हाथों डाल—
अर्द्धनिशा में चली गयी वह एक दिवस चुपचाप।
हाय! न जाने किस प्रदेश को, दे मुझको परिताप।
कोई जतन बताओ मुनिवर बेटी फिर आ जाय।
घाव कलेजे का शीतल सा मरहम कुछ पा जाय।"
मुनि बोले, "जो स्वाद ले रहे उसका मूल्य विषाद।
इसको देकर ही पा सकते जीवन का आह्लाद।
खो देता सर्वस्व सरोरुह पाता व्यथा महान।
मोती की माला भी मिलती तभी उसे छविमान।"

अरुण गात पर श्वेत वसन वर धारे शोभागार।
सहज भाव से दे कपोल को अलक-जाल छविभार।
दृग-संकोच-विषाद से भरे अचल शिला - आसीन।
आगे संन्ध्या मिली चिन्तिता, किन्तु नितान्त अदीन।
पंकज-पाणि जोड़कर उसने मुनि को किया प्रणाम।
"चिरंजीविनी हो आयि संध्ये"! बोले मुनि तप धाम।
पूछा फिर," किस हेतु यहां हो आयी तज दिविलोक।
क्यों न रहीं तुम यहीं जहां पर रहता कहीं न शोक"।
"चिर प्रमोद का रस लूटा था चिर विषाद था शेष।
इसीलिए मैं आयी हे मुनि सहने ही को क्लेश।
सृष्टि फूल का रस पी पी कर छकती हूं सानन्द।
चिन्ता में भी प्रफुल्लिता मैं रहती आनँदकंद।
जो एकान्त विनोद-रमण में रत रहते दिनरात।
बतलाती हूं उन्हें मिलेगा पीड़ा का आघात।
जिनकी आहों की लपटों में जलकर मरी उमंग।
दिखलाती हूं उन्हें लालिमा सदा कालिमा संग।
सर-सरिताओं की लहरों से कर थोड़ा अनुराग।

उनकी रँगरलियों का छवि-रस देती हूं मैं त्याग।
फूलों से हँस खेल तनिक, कर कलियों से खिलवाड़।
प्रिय पल्लव के हृदय सदन के खाल विनोद-किवाड़।

तरु-शिखरों के सरल वदन को चूम सनेह समेत।
गिरि-शृंगों से नेक लिपट कर नव लावण्य-निकेत—
मधुवाला, मृग-कुमारिका को देती हूं उपदेश।
पान करो रस का पर लोलुप बन कर सहो न क्लेश। ५४०

यह कहते कहते सन्ध्या-दृग गये कमलिनी ओ।
विषादिनी की व्याकुलता ने दिया हृदय झकझोर।
आयी याद जभा चकई की जी की गयी उमङ्ग।
लाली उतर गयी चेहरे पर चढ़ा साँवला रंग।

बारिबूँद करुणा का दृग में झलक पड़ा तत्काल।
इस छवि का करके अवलोकन मुनि हो गये निहाल।
अमर लोक में कहां मिलेगा यह सौन्दर्य महान।
विस्मय-निधि में डूब चले वे नव आनन्द-निधान।

मिली यामिनी जीवन-धन के जीवन-क्षय से दीन।
अश्रुमालिका रच प्रभु-पद के चिन्तन में लवलीन। ५५०
प्रियतम के वियोग में तनु पर काली कामर डाल।
तप-निरता सी मानो कोई अचल-व्रता ब्रज बाल।

बोले नारद, "अमर लोक से आकर क्यों तुम हाय।
सशंकता चिन्ता पीड़ा से विवश बनीं असहाय?"
"उस मुद की कल्पना करोगे कैसे हे मुनिनाथ?
जो विलसित होता प्रिय तनु-छवि के विकास के साथ।

इस अपूर्व आह्लाद अमृत के एक बूँद का पान।
निर्गत कर देगा मानस से अमरेश्वर - अभिमान।
मेरा अंचल छोर पकड़ जब कुमुद माँगते मोद।
पुलकित हो जाती तब मुद से मेरी जननी गोद। ५६०

जब दिन-कार्य-भार से आकुल जगत माँगता शान्ति।
मैं निद्रा का दान उसे कर हरता हूं सब क्लान्ति।
मैं प्रकाश-रेखा लिखती हूं जहां तिमिर घनघोर।
देख सके बिरले ही तम में मेरे मुद की ओर।

करुणा करके सत्वर आयें मेरे प्रिय सकलंक।
इसीलिए लिपटा कर बैठी अपने तन में पंक।
अति सुकुमार करों से रसमय धोते मेरी देह।
मृदु मृदु मुस्कानों में छलका अपना मृदुल सनेह।
मिलता जो आह्लाद मुझे तब अकथनीय उस काल।
अमर-लोक में मिल सकता क्या उतना रुचिर रसाल?
मर्त्यलोक चिन्ता हो रुचिकर मुझको प्रिय रसमूल।
कोरी निश्चिन्तता करूं क्या? देती उर को शूल"।

आगे मिले कुमुदिनी-मोहन हास भरे सकलंक।
कर प्रणाम बोले, "हे मुनिवर! यहां कहां निःशंक?
गणना नहीं तुम्हारी उनमें जो सह विषम विषाद।
अंगीकार करें विधि का इस कृति का प्रिय आह्लाद"।
"कुमुद-बन्धु! तुम सच कहते हो मुझे नहीं प्रिय क्लेश।
आपाधापी कर रस लेना तो न यहां उद्देश।
किन्तु कहो तो कैसा लगता तुम्हें यहां का वास।
क्षय से पीड़ित रहने में भी क्या आमोद-विकास?
माथे चढ़ा लिया शंकर ने किन्तु न किया अरोग।
रोगी भला करेगा कैसे सरस लालसा भोग?"
उत्तर दिया निशाकर ने धर अधरों पर मुस्कान—
"कैसे कहूं तुम्हें यह अविदित भेद मुनीन्द्र महान?
अन्धकार में बसती ऊषा बिजली बादल बीच।
उर में सरसिज सरस खिलाती सर की काली कीच।
जीवन का रस लेना हो तो करो मरण से प्यार।
जो उल्लास स्वाद चखना हो तो लो मन को मार"।

उज्वल घूँघट में प्रगटाती कमल-नयन-उल्लास।
दमकाती अरुणाभा-मण्डित कलित कपोल विकास।
चन्द्र-चन्द्रिका रवि-किरणाभा दरसाती इक संग।
सरसाती मनसिज की महिमा जगती-मध्य अभंग।
स्वर्णलता सी पड़ी दिखायी उषा क्षितिज के पास।
अथवा नवल प्रकृति-बाला थी लाती दीप प्रकाश।
वियोगिनी कोकिला स्वरों में उसने किया प्रणाम।

इकटक रहे निरखते ही मुनि रूप मधुर उद्दाम।
मुनि की इस परवशता ही को पावन आशिश मान—
बोली, हे मुनि! आओ हर लूं मानस-क्लान्ति महान।
मुनि ने कहा, "परम क्रूरा क्यों कहलाती हो हाय?
मुझे बताओ सुन्दरि ऊषे! तुम अति कोमल काय।" ६००
"बिना क्रूरता कहां सरसता का हो सका प्रवाह?
क्रूर बनी मैं जभी रसिकता विधि से मिली अथाह।
मैं अपने प्रियतम दिनेश की झाँकी लेकर एक—
भागी भागी ही फिरती हूं उनसे करके टेक।
पीछे पड़े रहें वे चिर दिन बनी रहूं रसधाम।
इसी कल्पना में पाती हूं मैं तो मधु अभिराम।
कहीं मिलें जो तुमको मुनिवर! वे मेरे प्राणेश।
देना मेरे गाढ़ प्रणय का उन्हें अमल संदेश।
उत्तर की न तनिक चिन्ता कर चली गयी छविधाम।
चंचलता उसकी यह भार्या मुनिपति को अभिराम। ६१०
प्रखर क्रूरता, सरस रसिकता का सम्मिलन निहार।
दिया उन्होंने बार बार निज तन-मन उस पर वार।

आगे देख हिमावृत अचलों पर रविकर की केलि।
नित्य नवल सौन्दर्य-रसिक मुनि की उलही उर बेलि।
दिवांगनाओं संग अमर बहु करते मिले विहार।
नव जीवन-मधु पीते अविरत हृदय - विकार विसार।
प्रकृति-विभव अवलोक चतुर्दिक मुनि हो गये निहाल।
मर्त्यलोक की रूप-माधुरी लगी मनोज्ञ रसाल।
हिममय नद-गर्तों में हिम के निर्मल खंड विलोक।
विधि रचना की सराहना से सके न मन को रोक। ६२०
छः मासों तक जहां चला दिन चली रात छः मास।
देखा मुनि ने वहां निराला अमर विनोद-विकास।
ज्यों-ज्यों दक्षिण ओर बढ़े वे घटा दिवस कृत मान।
ज्यों लटता जाता दिन ही दिन अभ्यागत-सम्मान।
चढ़ा अचानक मन पर शंकर-दर्शन-रस - उन्माद।
बढ़े विकल हो पाने के हित पावन परम प्रसाद।

कैलासाद्रि पड़ा दिखलायी मानो गौरव-मूर्त्ति।
मर्त्यलोक-वैभव दरसाता बरसाता सा स्फूर्ति।
पायी कठिन चढ़ाई चढ़कर वह चोटी अभिराम।
जहां विराजित थे शिवशंकर समाधिस्थ छबिधाम।
देवलोक औ दैत्यलोक की रसमय संधि समान—
गिरिजा-वल्लभ पड़े दिखायी जीवित सत्य समान।
दीख पड़ी जाह्नवी तरंगित शोभन परम पवित्र।
मानस-ताप-निवारण में रत आठों याम विचित्र।
कानों में फिर पड़ा भयंकर भुजंगों का फुंकार।
अंतरतम में थी जिनके प्रिय पेय अमृत की धार
मुनियों के सिर मौर हो गये खड़े विलीन-विराग।
शंकर-चरण-कमल-पराग हित दे मधुकर-अनुराग।
अचल समाधि-मग्न शिव को कर बारम्बार प्रणाम।
की वंदना सरस वीणा-स्वर-लहरी सँग अभिराम।

जयति जयति जय गिरिजाबल्लभ क्रीड़ा-रत रसिकेश।
जयति चंडिका चंचल मन के स्वप्न सरस सर्वेश।
कामदेव से अधिक विमोहक यम से अधिक कराल।
रुद्ररूप जग के संहारक पालक शम्भु रसाल।
तुम्हीं मिलन के सच्चे नायक हे प्रलयंकर देव!
तुम्हीं विरह के सच्चे भोगी हे विश्वम्भर देव!
प्रतिपल मिलन-विरह-रस लहरित करने वाले देव!
क्षण-क्षण में उत्पत्ति-प्रलय में रमनेवाले देव!
सृष्टि-स्वप्न के हे उद्भावक प्रिया-विरह में लीन।
उसको फिर बिखरानेवाले कान्ता में तल्लीन।
सकल स्वाद से परे निरंतर रमण-निरत सब काल।
हे निर्वाण-रूप अखिलेश्वर काल-काल विकराल।
करुणामयी तरंगित गंगा जग-कल्याण-निधान।
निकल तुम्हारे जटा जूट से करती शान्ति प्रदान।
धारण किया उच्च मस्तक में कर आशीश-स्वरूप।
आशुतोष तुमने ही द्विज का दीन-हीन अति रूप।
सुभग श्रवण में कल कुंडल का दोलन परम ललाम।

सौ सौ सृष्टि-विभव-श्री-मद से पूरित अति उद्दाम। ६६०
हे विषाद-विष-हित अति लोलुप नीलकंठ द्युतिधाम!
कंठ-प्रान्त में गंगा-यमुना-संगमकर अभिराम।
युग-युग की कपाल-माला से उर का किये सँवार।
अमरों में अनुरक्त नरों में प्रथित विरक्त अपार।
शास्ति-मूर्ति हे भुजग-विभूषण! मंजु भुजग-उपवीत!
स्वयं प्रीति के परम पुजारी दास दास के क्रीत।
बाघम्बर-आच्छादित-तनु हे नन्दीनाथ महेश!
नव नव भंग-तरंग-विचालित हे दुर्गम अचलेश!
त्रिकालज्ञ हे तीव्र त्रिलोचन! शंकर करुण महान!
एक बूँद मुझको भी दे दो जीवन-रस का दान। ६७१

बड़ी देर लौं हिले न डोले मुनिवर भाव निमग्न।
वीणा को सस्वर करने में बनी पवन तब लग्न।
मादक स्वर ने सान्ध्य किरण के प्रिय आह्वान समान—
मुनि-मन-अलि को बोध कराया समय भोग-अवसान।
कोमल दल सी सरल उँगलियों से समलंकृत तार—
झंकृत करते चले महामुनि पुलकित बारबार।
कण-कण में चंचलता भरती चंचल पवन अपार।
चली सरस आमोद-सार से हरती मुनि-श्रम-भार।

गिरिवर ने जब पाया मुनिपति का आगम-सन्देश।
अतिशय प्रीति-समेत कराया भीतर भवन-प्रवेश। ६८०
मंजु शिला पर आसन देकर पूछा कुशल-प्रसंग।
कैसे आये अमर लोक का तज आनन्द अभंग?
शैलराज, रति-कातरता से होकर परम अधीर।
मर्त्यलोक में मैं आया हूं हरने उसकी पीर।
अपना हाल बताओ मुझको कैसा पाया मोद।
जिसके हित ही त्यागी तुमने अमरलोक की गोद।
"हाल यहां का क्या बतलाऊं", बोले गिरि साह्लाद।
"विधि ने बड़े निराले रस का हमको दिया प्रसाद।
मीठे में कड़वा कड़वे में मिलता मीठा स्वाद।
मन ऐसा फँस गया न आती अमर लोक की याद। ६९०

चाँदी का यह मुकुट हमारा देख देख दिननाथ।
जलते ही जलते जब छिपते अमित व्यथा के साथ।
अहंकार-अनुभव तब मुझमें भरता जो रस भाव।
अमर-लोक में कहां मिलेगा हे मुनियों के राव!

रत्न-विभूषित नील वसन वर धारिणि शोभामूल।
श्यामल तिल विलसित शशिवदना ज्यों अलि-गुंजित फूल।
सन्ध्यागमन प्रभात-आगमन से प्रतीति औ भीति—
ले आनन पर अंकित करती जो अति भावुक प्रीति—

वह अम्बर-नागरी ललामा विकल सम्मिलन हेतु—
बड़े बड़े दिग्बाहु बढ़ाती जब आलिंगन हेतु।
बह जाती उस काल प्रणय की जो धारा अविराम।
अमर-लोक में कहां मिलेगी वह दुर्लभ रसधाम?

करुणा का जो वेग दृगों से निर्गत करता नीर।
गंगा यमुना के प्रवाह में वाहित परम अधीर।
उसकी रस-संचार-शक्ति का वहां कहां था ज्ञान?
अमरलोक में कहा मिला था उसका प्रिय आह्वान?

एक एक कर सब ऋतु आते ले उपहार विचित्र।
सुमन-भार से विनत लताएं तरुगल-हार विचित्र।
चंचल चिड़ियों की चहचह में नव रस धार विचित्र।
प्रकृति-हृदय में पुरुष पुरातन प्रति प्रिय प्यार विचित्र।

इनकी चाटुकारिता देती मन को सरस उमंग।
अमरलोक में कहां मिली थी यह उल्लास-तरंग?
मुझको तो प्राणों से भी प्रिय मर्त्यलोक का वास।
छोड़ूं इसे न जो गिरिपति से बन जाऊं तृणदास।

चिन्ता एक, साथ ही, मुनिवर! मुझे सताती नित्य।
अंधकार की घटा आँख के आगे लाती नित्य।
हिम-प्रदेश की बालाओं ने पाया भाव स्वतंत्र।
निज हृदयेश-वरण हित उनमें आया चाव स्वतंत्र।

अभी अभी दिनकर की कन्या हो स्वाधीन नितान्त।
चली गयी पावस-सनेह हित कर निज गेह अशान्त।
मम आज्ञा की अवहेला कर कर शिवपद-अनुराग।
बाल्यकाल ही से गिरिजा भी भोग रही सब त्याग।

इकलौती बालिका लड़ैती असमय तप में लग्न।
क्यों न देख कर उसे हमारा मन हो पीड़ा-मग्न।
कोई जुगुत बताओ मुनिवर, भाव विषम नस जाय,
बेटी-उर में बात हमारी किसी तरह बस जाय"।

शंकर का मंजुल चित्रण कर औचक ही इस काल।
सरल भाव से गिरिजा आयी रति-विमोहिनी बाल।
अलि से अति काले बालों में शोभित चंपक फूल।
झूल-झूल मानों कहता था—अलि की कैसी भूल! ७३०
उन्नत भाल-मध्य चिन्ता की रेखा रहित विकार।
बंक भृकुटि-विकसित-छवि दृग में गम्भीरता-प्रसार।
ललित नासिका में सुघराई का सीमा-अवरोध।
बद्ध अधर की अरुणाई में विकल कीर का बोध।
मुग्धा—तनु में नव यौवन का था यों हलका भार।
ज्यों गिरिवर—उर समलंकर हो वल्लरियों का हार।
शम्भु-पराजित काम-कुसुमशर जो थे म्लान निराश।
मानो मिला उन्हें ही गिरिजा तनु पर नवल विकास।
विश्व व्यथा-व्यथिता विलोक कर मनसिज निज मनमार।
उसके मन के गूढ़ प्रान्त में सोया था सब हार। ७४०
उसी नींद से वदन-कंज ने पाया था आमोद।
सहज विहास कपोल नयन में विकसित था सविनोद।
अकस्मात ही जगी कल्पना, आया कोई ध्यान।
आँखों में जल, पुलक गात में लाया नव आह्वान।
गये महा मुनिवर विज्ञानी आद्या को पहचान।
मन ही मन प्रणाम कर करने लगे मोद-रस पान।

निर्विकार प्रकृतिस्थ बने फिर मुनिपति ज्ञान-स्वरूप।
बोले, "हे अचलेश! तुम्हारी कन्या अति अनुरूप"।
और तुरन्त परीक्षा लेने की निज उर में ठान।
प्रश्न किया बाला से—"बेटी, किसका रूप महान"? ७५०
'शिव के पद-पद्मों में मेरे मनका अविचल राग—
अलि-गुंजन सा रत हो रहता सब से मान विराग।
सहज भा से वे ही मुझको रुचते परम रसाल"।

बिना विलम्ब दिया गिरिजा ने उत्तर यह तत्काल।
निरलंकार, निर्वसन हर में कहां रूप या कान्ति?
घर की राह गवाकर तुमने ली बस मिथ्या भ्रान्ति।
रूप-सदन सुकुमार मदन सा तीन लोक में कौन?
स्वयं शारदा होती जिसके छवि-वर्णन में मौन।
वही उमङ्गों का सोता नव तरल तरंग-निधान।
उससे ही होता उर उर में नव नव गीत—विधान
उसकी कोमलता, अजेयता से न जगत अनजान।
फूलों ही का वाण चला कर करता समर महान।
नहीं सुघरता शंकर-तनु में यह तो जग-विख्यात।
उन्हें देखकर मुनियों को भी लग जाती भय-वात।
भला तीन आँखों वाले पर मन वारेगा कौन?
बाले! यह सारल्य भयंकर उर धारेगा कौन?"

बोलीं फिर गिरिराज दुलारी, "हे मुनि ज्ञानागार!
मैं अज्ञान महा जड़-धी हूं सब प्रकार सविकार।
गुरु-वचनों में शंका करने का न मुझे अधिकार।
मेरा अकल्याण क्या होगा नहीं आप का भार?
किन्तु निवेदन सत्य करूँगी माँग क्षमा की भीख।
मेरा अन्तःकरण वताता नहीं भली यह सीख।
हर के चरणों में रति मेरी देती वह आह्लाद।
हर सकता जो एक निमिष में जीवन का अवसाद।
वश में आते वे न काम के, विवश स्वयं ही काम।
सेवक-सा आता नव मधु के अर्पण हित अभिराम।
कोटि काम से भी अति मोहक हो सकते वे ईश।
किन्तु तरंगी नव नव रस के अनुरागी जगदीश।"

गिरिबाला की बात श्रवण कर मुनि बोले सानन्द।
"क्यों न कहो यों ज्ञानमयी तुम बुद्धि प्रकाश अमन्द।"
कहा उन्होंने फिर गिरीन्द्र से, "धन्य धन्य तुम धन्य।
ऐसी कन्या पाकर तुमसा कृती न कोई अन्य।"
गिरिजा की जननी मैना ने दृग में भर कर नीर—
कहा, "देखकर इसकी शिव-रति मैं तो नाथ अधीर।

भिखमङ्गे सँग राजकुमारी के विवाह की बात—
गिरि-प्रदेश में प्रति जन-उर में देगी अति आघात।"
नारद मुनि बोले, "माता का रोना सहज स्वभाव।
विधि ने उर में दिये अम्ब के जाने कितने घाव।
इन घावों का कोई मरहम दे न सका करतार।
बिना अम्ब-दृग-जल क्यों होता हरा-भरा संसार!
मैना किन्तु तुम्हारी चिन्ता यह सब विधि निर्मूल।
निज विषाद के हेतु बनाये तुमने कल्पित शूल।
कामदेव को हर अनुचर ही निश्चय जानो देवि!
अमरों में तुम सब से बढ़ कर हर को मानो देवि!
तीन ताप का नाशक उनका तीक्ष्ण त्रिशूल कराल।
जिससे भय मानता सदा ही स्वयं काल का काल।
उनके संग अकिंचनता भी मोहक बनी अपार।
कमला का मानस इससे ही चंचल बारम्बार।
हर की चरण-सेविका होकर गिरिजा बनी कृतार्थ।
समझी वह बालापन में ही जीवन का परमार्थ।
निखिल विश्व-कल्याणकारिणी दीन-व्यथित-अवलम्ब।
उनकी परिणीता पत्नी हो यह होगी जगदम्ब।"
"बेटी! गिरिजे तुमसे भी कुछ कहना मुझको शेष।
अंकित कर लेना स्मृति-पट पर मेरा यह उपदेश।
देख तुम्हारा वय अति कोमल शंका मुझे महान।
हर-हित कैसे कर पाओगी जीवन का बलिदान?
मोह नहीं सकता शंकर को रति की भी मुसकान।
किन्तु विलोक सत्य रति वे ही होते मुग्ध महान।
राज-भवन के सब विलास तज वन में करो निवास।
जहां न जग कोलाहल हरने पाये विरति-विकास।
भोजन-निद्रा के विमोह का करना होगा त्याग।
भरना होगा उर में अपने रस-आस्वाद-विराग।
शम्भु-मिलन ही एक मात्र जब रहे कामना शेष।
वे कामारि तभी हर लेंगे सकल तुम्हारा क्लेश।"
कहा पार्वती ने फिर जो कुछ था मुनि मन अनुकूल।
किन्तु उसे ही गिरि, गिरि-पत्नी ने माना प्रतिकूल।

ऊषा देती बाल जगत पर अगणित मोती वार।
खिलता कमल किन्तु कर देता कुमुद स्वमुद परिहार।

दृढ़ निश्चल गिरीन्द्र के तनु में आया कम्प महान।
८२० उर-विषाद शतशत राहों से उमड़ चला गतिमान।
आँखों में अम्बुधि अपार था आहों में थी आग।
लहरों में, लपटों में ध्वनि थी—शोक-जनक अनुराग।

मैना के पीड़ा-अंकन में होगा कौन समर्थ?
आह-अश्रु का जहां जन्म भी हो न सका अत्यर्थ।
अचल शिला-सी हिली न डोली निर्निमेष थे नैन।
लकवा-हत मानों रसना थी कढ़ा न कोई बैन—

निष्ठुरता क्या इतनी निष्ठुर धर संतति का वेष।
मारे वाण बुझाये विष से, दे यन्त्रणा विशेष—
यही सोचती थी वह जननी वत्सलता साकार।
८३० गिरिजा और कभी धरणी-दिशि बारम्बार निहार।

बोले मुनि "गिरिजा-जीवन का शंकर-प्रति आह्वान।
खींचा जा न सकेगा उसका अन्य ओर को ध्यान।
वेगवती सरिता की गति का कौन कर सका लोप?
अवरोधों से केवल चढ़ती प्रगति-चाव पर ओप।

ब्याहोगे यदि मार-संग तो यह लेगी मन मार।
मारे बिना मरेगी बेटी कर जीवन निस्सार।
विफल करो मत इसका जीवन दो सहर्ष आशीश।
लगे साधना में यह सरला स्वीकृत करें गिरीश।"

समाधान करके गिरिपति का बहुविधि बारम्बार।
८४० मैना के परितोष हेतु कह वचन अनेक उदार।
शैलकुमारी को गुरुजन की सेवा का उपदेश—
देकर गमन किया नारद ने आशीर्वाद अशेष।

शैलोपरि से उतर चले जब मुनि नीचे की ओर।
नव-नव छवि का अवलोकन कर पाया मोद अथोर।
पर्ण-पाणि दोलित कर कर तरुगण ने किया प्रणाम।
कहा खगों ने मृदु स्वर में, "हे मुनि कर लो विश्राम।"

दिखला कर रवि-किरणों के मिस आगत मृदु मुसकान।

लोनी लोनी लतिकाओं ने गाया स्वागत-गान।
कुसुम कली के सौरभ से खिंच आये भ्रमर कुमार।
"जग-रस पान करो, मुनि!"—कहते थे कर कर गुंजार। ८५०

मुनिवर आगे चले क्रमागत रुचिर पंथ कर पार।
आये जहां सरस था गिरि का उर भी विरस अपार।
मंजु रसाल विटप-झुरमुट में पर्ण कुटी थी एक।
जिसमें से गाने कढ़ते थे स्वर-ध्वनि-सहित अनेक।

आश्रम विशद विभांडक मुनि का था वह परम प्रशान्त।
कुलदीपक-अवतरण-मोद से कूजित, मुखरित, क्लान्त।
बारहवें दिन के उत्सव का था आह्लाद अनन्त।
प्रकृति स्वयं उन्मादमयी थी मिस अभिराम वसन्त।

सरस वितस्ता विमल वारि से पाकर नव रस दान।
एक शिला पर आसन लेकर कर प्रभुवर का ध्यान। ८६०
मुनि के आश्रम ओर पधारे नारद करुणाधाम।
विरति-निरति धीं जहां समाश्रित बरसाता विश्राम।

चरण पखार लिया चरणोदक छिड़का चारों ओर।
निधि सी मिली विभांडक मुनि को थे आनन्द-विभोर।
कंद मूल, फल विविध मँगाये स्वागत हेतु रसाल।
नवल-जात शिशु को फिर लाये, दें आशीश कृपाल।

कार्तिकेय का रूप देख नव चौंक पड़े मुनिराज।
शृंगीऋषि अवतरण समय भी क्या आ पहुँचा आज?
क्या अंतिम त्रेता युग आया बीता सारा काल?
निकल गये किस भाँति महायुग शत शत परम विशाल। ८७०

फिर रहस्य का संगोपन कर शिशु का रूप निहार।
मदन देव की शोभा को भी उर से दिया बिसार।
"रविकर-लालित नवल प्रफुल्लित सरसिज-सा सुकुमार।
पाया तुमने परम भाग्य से सुत जीवन-शृंगार।

इसके जीवन से पायेगी वसुन्धरा रस-धार।
सारहीन जीवन को देगा यह निज जीवन-सार।
किसी विचित्र शक्तिशाली ने पायी मानव देह।
परम ज्योति से दीप्त हो गया मुने! तुम्हारा गेह।"

फिर गम्भीर तनिक हो बोले, "पड़े विरह के योग।
नारी का वियोग ही होगा इसका जीवन-रोग।"
खींचा चित्र किशोर वयस की कर कल्पना ललाम।
पूर्व जन्म की पत्नी के हित तप में रत उद्दाम।
देख-देख लावण्य वदन का मोह गये सब लोग।
ऐसा भी आयेगा शुभ दिन कब होगा संयोग?
रहे निरखते ही कितने ही, पलकें गिरीं न एक।
क्या उस नव रस से भी होगा आँखों का अभिषेक?
किन्तु वियोगी होकर तप में रत होगा वह हाय।
मीठे में तीते का मिलना हम कैसे निरुपाय!
जो हो, वार घड़ी वह आवे आँखों देखें रूप।
काँटों में घिर कर ही यौवन पावे सुमन अनूप।
"लेता जाता हूं इसका स्मृति-रूप चित्र अभिराम।
स्वयमागता मिलेगी इसकी पत्नी नव छविधाम"—
कह कर चलने ही को थे मुनि जागे तब सब लोग।
आह! मिला क्यों छन भर को ही योगी का संयोग।

थोड़ा और बढ़े आगे तो कलिन्दजा नव बाल।
नवल कुसुम ले मिली गूँथती अपने श्यामल बाल।
मुनि को आया देख सामने दबी लाज के भार।
पखारने लग गयी तरंगिणि चरण-कमल सुकुमार।
आशीर्वाद दिया मुनिवर ने, "जीवन का आनन्द—
भोगो तुम हे रविकुमारिके! मुद निर्मल स्वच्छन्द।
रवि से मैंने सकल तुम्हारी जानी कथा ललाम।
धन्य तुम्हारी प्यास निराली धन्य प्रीति अभिराम।"
"हिम-प्रदेश ही में रह कर यदि करती जीवन शेष।
ग्रीष्म देव से भी तब मिलता मुझको मोद अशेष।
किन्तु प्रगति के हित जब आयी अमरलोक को छोड़।
तब क्यों मुने! अधम परिमिति से लूं निज नाता जोड़।"
मर्म समझ कालिन्दी-उर का मुसकाये मुनिराज।
बोले, "समझ रहा हूं मोहक, रसमय भाव-समाज।
अपने प्रियतम इष्टदेव की रति में होकर मग्न।

बाधा-विघ्न विवारण करती बनी रहो संलग्न।"
सब का अभिवादन स्वीकृत कर देकर आशीर्वाद।
आगे चले महामुनि नव छवि विलोकते साह्लाद।
प्रकृति चली दिखलाती नव नव मोहक दृश्य अनूप।
चले बजाते वीणा मुनिपति नित आनन्द-स्वरूप।

बीस वर्ष लौं मुनिवर विचरे अमित प्रदेशों बीच।
संतापित जनता-दृश्यों ने दिया दृगों को सींच।
कोशलेश दशरथ की शासित पीड़ित प्रजा अनन्त।
नित-नूतन संकट का पाती थी न कहीं भी अन्त।
प्रबल भयंकर दानव-कुल में तारक ले अवतार।
जड़ीभूत अभिशप्त धरा का बढ़ा रहा था भार।
कालयोग पाकर करता था अत्याचार-प्रसार।
प्रकृत भूप दशरथ का हरता था सारा यश-सार।
उसके अनुचर लगवाते थे नगर नगर में आग।
भय से पीड़ित लोग भागते और न पाते भाग।
लज्जा आप लज्जिता होकर ले निज आँखें मींच।
ऐसे कर्म घृणित करवाता था वह पामर नीच।
शिशु सुकुमार नवल सुमनों से चीरे जाते हाय।
आँखों से यह दृश्य देखती मां होकर निरुपाय।
हाहाकार निरस्त्र वीर का निर्बल का चीत्कार।
गूँज रहा था नभ-मण्डल में सहृदय-हृदय विदार।
देख यातना अखिल लोक की अकुलाये मुनिनाथ।
लगे सोचने यत्न, किसी विधि हों सब लोग सनाथ।
हरद्वार में गंगा-तट पर विमल शिलोपरि बैठ।
जग-कल्याण-निरत चिन्तन में गये महामुनि पैठ।
ऋषि के वर्तमान आश्रम का मिला सहज ही शोध।
क्यों त्रिकालदर्शी को होता गम्य न सरल प्रबोध?
किसी कलित दक्षिणी विपिन में उत्कण्ठित दिन-रात।
जोह रहे थे प्रिया पधारे लाये भाग्य-प्रभात।
वीणा-वादन से प्रफुल्लता-वितरण-रत अभिराम।
चले वहां को महिमाशाली गाते हरिगुणग्राम।

गति में तीखापन विशेष था मन में दृढ़ संकल्प ।
ऋषि-दर्शन की प्रबल कामना थी न प्रेरिका स्वल्प ।
पथ में विविध प्रकृति-दृश्यों के करुण स्वरूप विलोक ।
भग्न हृदय भी होते थे वे संतत अमल, अशोक ।

मिल गयी मार्ग में बूढ़ी अबला एक ।
थी कहती सब से होकर रहित विवेक—
"हा ! खोया मैंने अपना प्यारा लाल ।
हा ! खोयी अपनी मुन्नी सरला बाल ।
सब जीवन-साथी गये, गये सब लोग ।
हा ! मैं ही जीती बचा लिये दुख, रोग ।
खल तारक ने जब मारा सब को हाय !
क्यों मैं ही छूटी इतनी हो निरुपाय ?
रह गया न धेला-पाई मेरे पास ।
दुर्दिन की मारी कर लूं किसकी आस ?
हे लोगो ! मुझे बताओ नृप का धाम ।
जो बीती उनसे कहूं कलेजा थाम ।
कह दूं उनसे, वे तज दें गद्दी आज ।
रक्षा जब करनी नहीं, करें मत राज ।
बतलाओ मुझको लोगो ! नृप आवास ।
मरने के पहले जाऊं उनके पास ।"

पाकर नवल प्रमाण प्रजाजन के विरोध का ।
करते मन में मनन हेतु इस प्रखर क्रोध का ।
आगे बढ़े मुनीश जगत-सेवा-रत अविरत ।
विश्व-विपद का मूल काटने ही में अनुरत ।
करते विविध पड़ाव जा रहे थे विज्ञानी ।
दीन-जनों के गेह धन्य करते सुखदानी ।
बच्चों के सँग खेल स्वर्ग धरती पर लाते ।
अश्रु पोंछने हेतु जननि के भी रुक जाते ।

औचक ही मुनि के श्रवण बने आक्रान्त ।
दीखी लोगों की भीड़ अतीव अशान्त ।

भाषण करता था कोई तरुण सओज—
"हे लोगो ! लो अब नूतन नरपति खोज।
तारक-अनुयायी दानव आते खूब।
इस भरत भूमि में बसते जाते खूब।
उनका बस जाना यहां नहीं उद्देश।
तारक-अधिकार बढ़ाना कार्य विशेष।
उनके शासन की और न नृप का ध्यान।
उनका विशेष बल बढ़ा रहे अनजान।
जो ठान रहे जन उनका प्रबल विरोध।
शासक का उनके ही प्रति सारा क्रोध। ९८०
निज शत्रु-मित्र को जिसे नहीं पहचान।
हम कैसे उसको लें निज राजा मान।
दशरथ की घातक नीति करेगी नाश।
बिछ रहा हमारे लिए भयंकर पाश।
क्यों समर घोषणा नहीं हो रही आज ?
क्यों अवधेश्वर का तेजहीन है राज ?
क्यों अब भी नहीं सजाते रण के साज ?
इस दुर्बलता पर क्यों न आ रही लाज ?
हम अग्नि-उपासक हमें चाहिए आग।
दाहक ज्वाला से ही हमको अनुराग। ९९०
दशरथ शीतल हो गये शक्ति से हीन।
हम नव नरपति को, वरें नहीं हों दीन।

शब्द तरुण व्याख्याता के ये मानस में कर लीन।
आगे बढ़े महामुनि चिन्ता-हर्ष-भावना-हीन।
परम रम्य रस-धाम वनस्थल पड़ा राह में एक।
गिरि, निर्झर, रसाल द्रुम कुसुमित छविनिधि कुंज अनेक।
कोकिल-कूजित आम्र-विटप की छाया का आस्वाद—
लेने के हित विरम गये मुनि मूर्त्ति सहज आह्लाद।
नवल सौरभित मंजरियों पर मधुकर की गुंजार।
देख देख कर मोह गये वे निरत मोह-संहार। १०००
इसी समय लावण्य-मूर्ति सी अमल रूप की खान।

रमणी एक वहां पर आयी श्रद्धा-भक्ति-निधान ।
चरणों पर सिर धर कर उसने सविनय किया प्रणाम ।
ध्यान भंग हो गया, महामुनि बोले वचन अकाम—
"निर्जनता में वनस्थली की प्रतिमा सी साकार—
देवि ! कौन हो समागता तुम लेकर हृदय उदार ?
अवध नगर को जाता हूं मैं लेकर विधि-संदेश
कहो कौन सी सेवा कर दूं, तुम्हें कौन सा क्लेश ?"

"राजकीय लक्ष्मी हूं कोशल राष्ट्र की
दानवेन्द्र के लोक चली अब जा रही ।
अब भी जो मुनि रोक सकें तो रोक लें ।
जाने में वेदना अमित मैं पा रही ।

अबलाओं की और दीन शिशुवृन्द की,
रक्षा होती नहीं जहां जिस देश में ।
तज के ममता सकल त्यागती मैं उसे,
क्षात्र धर्म आता न जहां आवेश में ।

जहां अवर्षण घोर काल विकराल सा—
भेज रहा यम लोक करोड़ों लोक को ।
फिर भी स्वार्थी नीच पतित होकर जहां,
लज्जित करते आज भयंकर जोंक को ।

राजा के अति उच्च कर्मपति भी जहां,
जनता का धन आँख मूद कर हर रहे ।
अघ, अन्याय, अनीति अधम अवलम्ब से,
पाप-द्रव्य से भवन पापमय भर रहे ।

मैं रह सकती वहां एक पल भी नहीं,
ज्यों जल से हो विलग न मछली जी सकी ।
आये मुनि के चरण, इसी से हूं रुकी,
नव आशा की अमृत-घूँट भी पी सकी ।

राजश्री के वचन श्रवण कर बोले यों मुनिनाथ—
"अभी निवास करो हे देवी, यहीं धैर्य के साथ ।
महाराज दशरथ के ढिग मैं जाऊँगा अविराम—

अखिल समस्या का हल लेकर, सकल बनेंगे काम
स्वल्प प्रमाद किया नरपति ने उससे बिगड़ी बात।
कर्मचारियों ने अवसर पा अधिक किया उत्पात।
दोष नाम भर को दशरथ में त्यागी वीर विशेष।
लोक-यातना से अति पीड़ित, शान्ति न उसको लेश।
रघु, इक्ष्वाकु, दिलीप वंश को यों मत छोड़ो देवि!
महामानवों के इस कुल से स्नेह न तोड़ो देवि!
रुको राजलक्ष्मी कोशल में पाओगी विश्राम।
इसी वंश में ग्रहण करेंगे जन्म किसी दिन राम।" १०४०
आश्वासित प्रसन्न अति होकर धर चरणों पर शीश।
अन्तर्हिता हुई राजश्री आगे बढ़े मुनीश।
ब्राह्मण में तस्करता, क्षत्रिय में विलासिता-चाव।
वैश्यों में वंचकता देखी, शूद्रों में पशुभाव।
नीरस लता विटप दीखे फिर पीड़क झंझावात।
अनासक्त मुनि के मन को भी मिला प्रखर आघात।
राजश्री ने निजश्री का यह दिखलाया था रूप।
समझ गये अवलोक विषमता फैली विकृत विरूप।
काल-प्रेरणा ने मुनि-मन में भर दी स्फूर्ति अपार।
चरणों ने गति पायी द्रुततर सकुचा मार्गप्रसार। १०५०
कहीं किसी के आवाहन से था उद्वेग अनन्त।
उसका समाधान अब मुनि को उचित दिखा अत्यन्त।

———

चतुर्थ सर्ग

प्राणप्रिया-स्मृति विकल षड़ानन-मन से उतर न पायी।
गये जहाँ, आघात व्यथामय बना चला अनुयायी।
योनि-योनि में विचरे केवल उर दारित करने को।
आँखों देख प्रियतमा की गति हा! हा! कर मरने को।

एक जन्म में तरु हो आये नव पल्लव-दल-मण्डित।
देते रहे छाँह कान्ता को अविरत अमल अखंडित।
सुमन गिरा कर अश्रुपात ही करते थे निशिवासर।
अवलोकन कर कुगति, प्रकम्पित होते थे रह रह कर।

एक जन्म में नद हो आये पीड़ा से लहरित मन।
तप्त प्रिया-उर को सरसाते रहे परम चंचल बन।
कल कल नाद व्याज रोते ही सिन्धु पास जाते थे।
भाप-रूप में ताप-घोष ही नभ तक फैलाते थे।

एक जन्म में पिक हो आये गाना गाते रहते।
कोमल वाणी श्रवण कराकर जी बहलाते रहते।
मन्द अचेतन प्राणेश्वरि-प्रति केलि कभी उर धरते।
घनी डालियों में पत्तों में छिप छिप कू कू करते।

एक जन्म में चातक बन कर आये वे अभिलाषी।
रहे निरन्तर कान्ता-उर में खर कामना-विकासी।
प्राणेश्वरि-मानस में रस की बूँद न एक दिखायी।
व्यर्थ सकल "पी कहां, पी कहां" की शिक्षा हो आयी।

एक जन्म में घन हो आये घनी व्यथा के आकर ।
ताप-निवारण-यत्न में लगे शीतल जल बरसाकर ।
धरती गगन एक करते थे आलिंगन लेते थे ।
भाव-विहीन प्रिया को लखकर रह रह रो देते थे ।
एक जन्म में बिजली होकर आये चंचलतामय ।
अंधकार में मग्न प्रिया हित बने ज्योति के आलय !
मुदिता होती होगी कान्ता सोच मुग्ध होते थे ।
सरस कल्पना द्वारा अपनी व्यथा तनिक खोते थे ।

चला भ्रमण यों कार्त्तिकेय का विविध योनियों भीतर ।
कहीं न औषधि मिली हृदय की पीड़ा जो लेती हर । ३०
जन्म लिया तब श्रेष्ठ विभांडक मुनि के तनय कहाकर ।
धन्य हो गये मुनि विभूति यह मूल्यवान अति पाकर ।
चंद्र समान विभांडक-शिशु सा थे कुमोद सब लोग ।
पल पल की उसकी चेष्टा में पाते थे प्रिय भोग ।
मां का दूध, पिता की थपकी, परिजन अमित दुलार ।
पाया उसने परम प्रीतिमय प्रकृति देवि का प्यार ।
कभी दिवाकर कभी कलाधर आये बारम्बार ।
गये खेलकर भोले पन से पाकर मोद अपार ।
बीते दिवस निशाएं बीतीं दे दे कर नव रूप ।
झोंके आये मन्द पवन के लेकर रस अनुरूप । ४०
लगा बैठने जब धरती पर माता का अभिमान ।
देने लगा प्राण सब को ही वह सब का ही प्राण ।
घुँघराली अलकों से आवृत विकसित वदन विलोक ।
भ्रम होता था राहु व्यथित शशि आया तज नभ लोक ।

बाजा शृंग बजा मनमाना करने लगा विनोद ।
उसका यह विनोद घर भर में बगराता था मोद ।
शृंगी नाम पड़ा बालक का अधिक शृंग पर प्रीति ।
जिसके बिना नहीं होती थी पल भर उसे प्रतीति ।
जिस दिन खड़ा हो गया शृङ्गी पकड़ पिता का हाथ ।
माना परम प्रफुल्ल जनक ने मैं हो गया सनाथ ।५०
अरुण मसूढ़ों बीच दँतुलियां निकलीं जब अभिराम ।

रक्त कमल पर दिखीं सहज ही बूँदें ओस ललाम ।
माता और पिता की आँखों में रह कर दिनरात ।
वह प्रभात-सुमनों-सा विकसा सरस सलोना गात ।
गिरता पड़ता चलता था जब वह दो कदम रसाल ।
कितनी ही आँखें हो जातीं रस से भरी निहाल ।
मां की गोदी में जाता था धूलि भरा जब लाल ।
मिट्टी भी सोना होती थी पाकर मोल विशाल ।
किलकारियां मारता था वह करता था बहु भाव ।
जग-जीवन सरसा देता था उर में भर कर चाव ।

परम विरक्त विभांडक मुनि थे, प्रभु-चिन्तन सब त्याग ।
शृंगी-चिन्तन ही में पाने लगे अमल अनुराग ।
सोचा करते—शिशु से बढ़ कर कौन यहां भगवान ।
उसे छोड़कर कहां लगाने जायें अपना ध्यान ।
उदासीन निर्गुण से थे वे बढ़ी सगुण से चाह ।
शृंगी रूप पकड़कर आया माना वही प्रवाह ।
गोते लेने लगे रसिक वे अविरत आठों याम ।
शिष्यों से कहते थे-'आये प्रभु ही मेरे धाम' ।
हँसता होता था जब बालक उसे खिजाते खूब ।
प्रीति भाव में उमँग उठाते और गिराते खूब ।
मां की आँख बचाकर बेबस उसे रुलाते खूब ।
घिरे बादलों से होंठों को लख रस पाते खूब ।
एकाकी पाकर शृंगी को गाढ़ नींद में मग्न ।
चूम चूम कर उसे जगाने में वे होते लग्न ।
मां से कहते, क्यों जातीं तुम इसे जागता छोड़?
फिर मुसका कर ही कर देते अपना भंडाफोड़ ।
प्यारों ही में उसे रुलाते, फिर कर विविध उपाय—
तरह तरह से उलझाते थे, बहल किसी विधि जाय ।
चन्द खिलौना तुमको दूँगा छोड़ो रोना ढंग ।
ताराओं के गाँव चलूँगा तुमको लेकर संग ।
विमल वितस्ता से भी बढ़कर नदियां वहां अनूप ।
बैठ नाव पर चाँदी की हम विहरेंगे बन भूप ।
काले कुंजर के सावक से बादल शोभाधाम ।

रहते जहां चलेंगे हम तुम उनके घर अभिराम ।
दिखलाऊँगा ताल - तलैया लहरित छवि रसखान ।
मेरे भैया, अधरों पर फिर ला दे मृदु मुसकान ।
चाँदी की सीढ़ियां वहां हैं फूलों ही के गेह ।
चारु चाँदनी सी धरती पर सोने ही सी देह ।

इन बातों में ठग उठता था बालक सरल स्वरूप ।
भाता था उसको सज-बज कर चलना बनकर भूप ।
सब दुलार की चोट भुलाकर हँस देता था लाल ।
मोती की माला सी पाकर होते पिता निहाल ।
शृंगी का शैशव इन खेलों में हो आया पार ।
आया वयस किशोर निराला ही लेकर संसार ।
संध्या-प्रात चक्रमय रथ पर चढ़ आया छविमान ।
कितना द्रुत-नीरव वह आया सका न कोई जान ।

यौवन के अरुणोदय का था कितना मोहक साज ।
कामदेव ही मुनि-कुमार बन आया था क्या आज ?
किन्तु कहां था चाप कुसुमशर ? क्यों उसका क्या काम ?
रूप-बाण ही काम निमिष में जब कर सका तमाम ।
गोरे तन में फूट रही थी नव आभा अवदात ।
मानो अगणित मणियों की छवि से हो वह प्रतिभात ।
अथवा बाल तरणि-किरणों से रच के मानव गात ।
प्रेषित किया विधाता ने हो न्यारा रुचिर प्रभात ।
घुँघराले केशों की लहरें ललित निहार निहार ।
कितनी ही मुनि कन्याएं थीं देती तन मन वार ।
प्राणों को उलझा देती थीं टेढ़ी अलकों बीच ।
आहें भर रस की धारा से लेती थीं उर सींच ।
आनन को क्यों घेर रहे थे काले काले बाल ?
शरद चाँदनी में निकले थे क्या काले बेहाल ?
व्याज सहित छवि-रस देते थे कैसे नमक हलाल !
मदन महाजन के करजी वे, बालाओं के काल ।
बाण बिना ही कामिनियों का बेधा उर अविराम ।
सोच सोच हँसते थे मानों लोचन आठों याम ।

कानों से यह कहने ही को थे क्या अधिक अधीर ?
"योधाओं में धीर-धुरन्धर आते मन्मथ वीर।"

हलकी भी किरकिरी न पायी कैसे हों अवसन्न ?
अनवेधे हीरे से थे वे परम प्रदीप्त प्रसन्न।
मन लेकर उसको तड़पाना प्रतिपल उनका काम।
स्वयं न श्रवण किया सपने में पीड़ाओं का नाम।

बरबस आती थी आनन पर लासमयी मुसकान।
चित्त-विहग कितने हा उसमें होते थे बलिदान।
अधरों पर अरुणाक्षर में था अंकित सा प्रिय गान—
'करो हृदय का रक्त प्रवाहित तब पाओ मधुपान'।

पीत उपरना था कंधे पर जिस पर कलित कपोत—
सी ग्रीवा थी सुघर मनोहर छवि से ओतप्रात।
पीला पट कटि में राजित था चरणों तक सुकुमार।
हाथ पाँव की मृदुल उँगलियां कलियों सी रससार।

नव रसाल मंजरी सुरभि सी करती यश-संचार।
शृंगी के उद्दाम रूप की चर्चा चली अपार।
देश देश की सुन्दरियों ने चित्र सजीव, ललाम।
निज कवि-विरचित प्रणयगीत सह भेजे रति-रस-धाम।

किन्तु न हृदय हिला शृंगी का जगी न उर में प्यास।
उसके मानस में न हो सका रस का सरस विकास।
अचल समानअविचलितथावह कलित कान्ति की खान।
देना हृदय न जाना उसने, लेने ही की बान।

प्रकृति परन्तु न सहन कर सकी शृंगी का वह भाव।
पूव जन्म की स्मृतियां लायी उपजाने को वाव।
खड़ा हो गया आँखों आगे अमर लोक का चित्र।
जिसमें थी शारदा मनोज्ञा अंकित परम पवित्र।

शाप-विवश शारदा धरा हो आयी संसृति बीच।
आया आप षड़ानन भी मैं होकर मानव नीच।
उमड़ पड़ा अनुराग हृदय में सारा बन्धन तोड़।
कैसे अपनी प्राणप्रिया से लूं फिर नाता जोड़।

मधु ने था रस अधिक बहाया जग में ।
भोग-भाव था प्रखर बढ़ाया जग में ।
ले विराग-संदेश निदाघ पधारे ।
रस-संचय का भाव हृदय में धारे ।

करना तप अविराम ग्रीष्म को भाया ।
रस पीना अभिराम ग्रीष्म को भाया । १५०
निंदनीय किस भाँति कार्य यह होगा ?
आर्य शासकों हेतु धार्य यह होगा ।

मधु ने था अति प्यार बढ़ाया ज्योंही ।
जन-जन में था द्वेष बसाया त्योंही ।
ग्रीष्म-ताप ने विलग भाव विलगाये ।
एक विटप के तले सिंह मृग आये ।

मलय पवन ही नहीं, आग भी जग में ।
राग संग ही रोग-भाग भी जग में ।
बात पते की ग्रीष्म बताने आये ।
सुमनों को यह पाठ पढ़ाने आये । १६०

नहीं ग्रीष्म संगीत-नृत्य के प्रेमी ।
वे तो तप औ वीर कृत्य के प्रेमी ।
मारा पावक-विशिख जली सुमनावलि ।
भयभीता हो भाग चली भ्रमरावलि ।

पानी से अनुराग ग्रीष्म ने माना ।
द्वेष पंक से भी न इसी से ठाना ।
उसमें दिखा न किन्तु शेष जब पानी ।
चारा उसका हृदय मन्द अभिमानी ।

ग्रीष्म चाहते बढ़े तपस्या जग में ।
विलासियों की यही समस्या जग में । १७०
गायों का कम दूध हो गया जब से ।
सब ने हाहाकार मचाया तब से ।

रहा घृणा का पात्र बबूल कुतरुवर ।
काँटे जिसके तले बिछे पग पग पर ।
दिया ग्रीष्म ने मान उसे भी भारी ।
दौड़ा उसके तले विकल पथचारी ।

नीच चरण रौंदते धरा उर चलते।
नंगेपन में अधिक नग्न हो ढलते।
रखा ग्रीष्म ने मान मही का बल भर।
चरण-निवारक अनल उसे देकर खर।

पाकर ग्रीष्म-प्रभाव हिमालय गलता।
गंगा-यमुना-पेट निरंतर पलता।
आर्य धर्म का मूल उसी ने सींचा।
कैसे कहें स्वभाव ग्रीष्म का नीचा।

नहीं पक्ष का भाव ग्रीष्म में दीखा।
न्यायी ने भी न्याय उसी से सीखा।
मंजु गुलाबी कली चूर्ण हो उड़ती।
कीच आप बन धूल उसी से जुड़ती।

सत्य तपस्वी एक जवासा जाना।
उससे ही अनुराग ग्रीष्म ने माना।
परखा बारम्बार तोष ही पाया।
देकर तप से मुक्ति उसे सरसाया।

राजा को कर-दान प्रजाजन करते।
उसका कोष अपार द्रव्य से भरते।
कलियों ने निज हृदय रक्त दे डाला।
अक्षर-अक्षर राज - नियम का पाला।

तहखानों में वास, वसन भी झीना।
शीतल चंदन-लेप, सुरभि जल पीना।
परदे का फरमान निराला आया।
अबला ने सम्मान ग्रीष्म से पाया।

नहीं मानते कृषक सींचते गन्ने।
उनका जीवन—रक्त खींचते गन्ने।
मुँह मीठा हो जाय मजूरी इतनी।
भरा न पापी पेट अधूरी कितनी।

औरों को आराम, श्रमिक को जीवन।
दिया ग्रीष्म ने दान परम मोदित मन।
जो करते श्रम नित्य नहीं वे मरते।
लू के व्याज निदाघ घोषणा करते।

अगम बिलों में धँसे साँप अकुलाये।
सिंह माँद से नहीं निकलने पाये।
द्वारों पर आग्नेय अस्त्र ले बैठी।
ग्रीष्म-प्रेरिता पवन क्रोध में पैठी।

हिमकर का विद्रोह देखकर भारी।
किया ग्रीष्म ने मरण-दण्ड ही जारी।
अर्द्ध रात्रि में बाण अनल का छूटा!
निशानाथ का अहंकार सब टूटा।

गढ़े, ताल में नीर जहाँ थोड़ा सा।
तट के ढिग ही ठाँव तनिक ओड़ा सा।
शूकर तरु के तले वहीं पर सोये।
महँगे दामों प्राप्त शान्ति में खोये।

हाथी-हथिनी संग लिये निज सावक।
करती सर में केलि प्रेम-रस-भावक।
सूँड़ों में भर वारि छोड़ती रह रह।
ग्रीष्म सरसता शत्रु—कौन सकता कह?

पिता ग्रीष्म ने एक-एक कन जोड़ा।
भोग भाव से आप सदा मुँह मोड़ा।
यही वासना एक, सरस कहलाये।
जग में पावस पूत नाम पा जाये।

नर नारी अधिकार नहीं सम माना।
विषम भाव ही उचित ग्रीष्म ने जाना।
दिन को लम्बा किया, रात को छोटी।
देकर प्रेम-प्रभाव बिठायी गोटी।

पानी से जब रहित हो गया सरवर
मछवाहों की आँख गड़ी मछली पर।
बगले का भी ध्यान उसी पर सारा।
पानी ने जब तजा सभी ने मारा।

उचित नहीं यह कथन, ग्रीष्म सब पानी—
हरते, करते हानि भरी नादानी।
पानी रखकर आप जगत को देते।
जीवन में इस भाँति विमल यश लेते।

खस की टट्टी घूस हवा ने पायी।
अनल अस्त्र को त्याग सरल हो आयी।
कितनी शीतल गंधि लगी वह देने।
सहृदयता की कीर्ति इसी विधि लेने।
कृषकों को विश्राम ग्रीष्म ने बाँटा।
करो न कोई काम निरंतर डाँटा।
सदा पेट ही पेट कौन यह जीवन!
कभी भुलाकर पेट करो हरिचिन्तन!

कहा ग्रीष्म ने लूक ब्याज ही, "मुनि के तरुण कुमार!
प्राणवल्लभा को पाने का केवल तप आधार।
कहीं विजन कानन-प्रदेश में ठानो तप निर्बाध।
कार्त्तिकेय ही सिद्ध करेंगे सकल तुम्हारी साध।"
बहु कुमारियां जोह रही थीं उस प्रिय दिन की राह—
वेलि समान बनेगी सफला जब शृंगी प्रति चाह।
परम निराशा ही उनके हित अपने पीछे त्याग।
चला गया दक्षिणी विपिन में मूर्तिमान अनुराग।

कल तुंगा नद-कूल बना कर आश्रम शोभाधाम।
करने लगा षड़ानन-अर्चन विधि से आठो याम।
अकस्मात ही पड़ी दिखायी परम प्रभामय मूर्ति।
जिसके छः आनन पर अंकित थी गरिमा की स्फूर्ति।
प्रखर अनल-ज्वाला ही से थी मानो विरचित देह।
अहि भोजी ने दान किया था जिसको सरल सनेह।
मुकुटों में मणियों की माला कर में अस्त्र अनेक।
वाणी में वत्सल अश्वासन दायक विमल विवेक।
वाम अंग में राज रही थीं अर्द्धाङ्गिनी अनूप।
ललित लहर की चंचलता सी प्रियतम सिद्धि-स्वरूप।
दिनमणि प्रभा सरिस प्रगटीकृत निर्मल नित्य नवीन।
जगदम्बा शारदा अभयदा जनहित-साधन - लीन।
"डरो नहीं," बोले करुणामय, "तुम मेरे प्रतिरूप"।
मुझमें तुममें भेद नहीं कुछ मेरे मनुज - स्वरूप!
तदपि कल्पना-कृत अन्तर से रुक न सकूँगा आज।
जीवन-रस-प्रवाह के साजो रुचिर निराले साज।

कान्ता की जड़ता से अतिशय बढ़ा तुम्हारा क्लेश।
पाते नहीं सरस भावों का उसमें तुम उन्मेष।
विचलित अमित तुम्हारे तप से होकर रचनाकार।
लाये शान्ता को अवनी पर ज्ञान अमल साकार।
रचा शारदा के तत्वों से विधि ने शान्ता रूप।
नारद - प्रेषित शीघ्र मिलेगी वह बालिका अनूप।
प्रगति विलक्षण देगी तुमको क्षण क्षण में अभिराम।
तभी मिलूँगा मैं भी तुमको हे ऋषिवर तप धाम। २८०
घोर अवर्षण से दशरथ की प्रजा विकलता-प्राप्त —
निस्सहाय निरुपाय अमित हो होने चली समाप्त।
इससे ही शान्ता आयेगी शीघ्र तुम्हारे पास।
पाओगे उससे नव जीवन नव नव प्रगति-विलास।
तब तक लो यह चित्र मनोहर परम मधुर छविधाम—"
यह कह चले गये जगवल्लभ जन-मानस-विश्राम।
विविध रंजना से रंजित था शान्ता का वह चित्र।
धन्य हो गये शृंगी के दृग रूप विलोक पवित्र।

एक शान्त एकान्त कुंज में गहे विटप की डाल।
शोभा की साकार मूर्ति सी थी वह खड़ी रसाल। २९०
नीली साड़ी में कंचन सा तन था यों प्रतिभात।
कालिन्दी की धारा में ज्यों स्नान - निरत हो प्रात।
केश एड़ियों के आलिंगन - हित उत्कंठा - मग्न।
और एड़ियां रोष ठान कर अरुणाई में लग्न।
दोनों का वैचित्र्य देखकर पीड़ित सब संसार।
और अपरिचित सकल कथा से शान्ता करुणागार।
भाल लसित बिंदी से था दशगुणित ललित लावण्य।
कंकण, कटिभूषण, नूपुर थे बने सहज ही धन्य।
आनन ओर लटक आयी थी अलकों की लट एक।
लायी थी सकलंक चन्द्रमा धरती पर कर टेक। ३००
लोचन कहते थे कानों से जब लौं कुछ सउमंग।
कर्णफूल तब लौं कपोल से करते थे रस रंग।
चपल नासिका का मोती था अधरों पर बलिहार।

सबसे प्रथम मिला था उसको यौवन - रस का सार।
वदन ओर धाये थे भौंरे प्रेमिक, रसिक अपार।
एक हाथ से उन्हें वारती थी बाला सुकुमार।
किसकी किसकी कहें, कीर था पागल बना महान।
अरुण अधर पर जाने क्यों था, तन -मन से कुरबान।
डाली में थे सुमन मनोहर परम प्रफुल्ल प्रसन्न।
उसे देखते ही वे सहसा थे हो गये विपन्न।
समझ सकी न रहस्य कुमारी क्यों हूं यों आक्रान्त।
किस प्रकार मैं बना रही हूं सब को व्यथित अशान्त।
आयी थी आनन्द बाँटने विश्व - सेविका बाल।
निरानंद यह छाया कैसे ? थी वह चकित विहाल।
करतल के आमलक-सदृश था उसे जगत का ज्ञान।
फिर भी समझी नहीं सयानी कुसुम - हृदय -विज्ञान।
आह ! कहां थी उसे कल्पना मेरा ही यह रूप—
काँटा सा गड़ गया हृदय में, ये हो गये विरूप।
अपने छवि-मद ओर नहीं था हरिण-दृगी का ध्यान।
उससे भी उर आहत होते उसे कहां था भान ?

रहे निरखते ही शृंगी ऋषि छवि का यह शृंगार।
जिसमें चिन्ता ने भी दी थी मोहकता सुकुमार।
प्राणवल्लभा की पीड़ा का कैसे हो बलिदान ?
जब पीड़ा के सर ही में हो उसका केलि विधान।
देवि ! तुम्हारे उर में सहसा उठा कौन सा द्वन्द ?
किस पिंजर में बद्ध हो गया हृदय सरस स्वच्छन्द ?
सुमनों के विषाद से पीड़ित हो तो मानों बात।
यह सौन्दर्य तुम्हारा देगा पद पद पर -आघात।
सेवा कैसे कर पाओगी अनल - शिखा सी बाल ?
तुन्हें देख मेरे उर में भी तो लग आयी ज्वाल।
लेकर यह लावण्य अवनि पर आयीं ही क्यों नारि ?
क्या न ज्ञात था कंगालों की नगरी यहीं कुमारि ?
अधिक जगत के हित ले आयीं किन्तु जगत यह नीच।
रुचती नहीं कमल की माला इसको रुचती कीच।

नाली के कीड़े को नाली का जल अमृत समान।
गंगा का जल क्यों लायीं तुम अयि रूपसि नादान?
कहीं द्वेष का, कहीं काम का बीज-वपन कर हाय।
पग पग पर इस जगती को तुम करती हो निरुपाय।
अपनी पीड़ाओं से भी तो मन लेती हो मोल।
पोर पोर में छवि-रस भर क्यों लायीं विभव अतोल? ३४०
जाओ जहां द्वेष के विष से हो न हृदय म्रियमाण।
जाओ जहां मदन की ज्वाला से न विकल हों प्राण।
हम सब जीव जगत के पामर लेंगे बस वह दान।
जो हमको अपना मनचाहा अमृत कराये पान
इन सुमनों के पास न जाओ, करुणा का क्या काम?
पीड़ा का मत द्वन्द दिखाओ, वह घातक, उद्दाम।
या जैसी रुचि हो करुणामयि, पीड़ामयि हे देवि।
वैसा करो मुझे बस रस दो व्रीड़ामयि हे देवि!
आप मिलेगी बाला आकर प्रभुवर का आदेश।
जोहूं राह कहां लों उसकी, सहूं कहां लों क्लेश? ३५०
क्यों, अकाल की ज्वाला अब भी क्यों न हुई दुर्दान्त?
'तो मेरी आहों का बल ले हो प्रज्वलित नितान्त।
एक दिवस चल पड़े अचानक बरबस लक्ष्य-विहीन।
मिले प्रिया संदेश, प्राण थे प्रबल कामना-लीन।
सहज, प्रेरणा पा चरणों ने ली गिरि-ढिग की राह।
अनायास ज्यों सरिता पाती जलनिधि ओर प्रवाह।
होकर भी उद्देश्य-रहित ऋषि जब आये मुनि पास।
परम लक्ष्य की सिद्धि सी मिली, लायी हृदय-विकास।
थे आमोद-निमग्न महामुनि, गये अचानक जाग।
प्रिय कर-परस मिला चरणों को जब प्रेरित अनुराग। ३६०
परमानन्द विभोर हो गये विह्वल और विदेह।
जिसे ढूँढ़ते थे जब आया वह साकार सनेह।
एक बात भी कढ़ी न मुँह से कढ़ा दृगों से नीर।
बही उसी जलधारा के मिस ऋषिवर की उरपीर।
बड़ी प्रीति से उन्हें लगाया उर से बारम्बार।
फिर भी नहीं अघाया मुनि का भूखा हृदय अपार।

पुलकावलि-कंटकित गात था कण्ठस्वर अवरुद्ध ।
अति आनन्द - अचेतनता से होते थे न प्रबुद्ध ।
शोभित हुए युगल तब ऐसे मानों तरणि -कलेश ।
तज आकाश अवनि पर मिलते सहित सनेह विशेष ।
अथवा वे गिरि-लघु - स्वरूप थे दो-दो निर्झरवान ।
दूर दृष्ट तरु माला सी थी जिनकी जटा महान ।
मुनि न छोड़ पाते थे ऋषि को ऋषि भी सके न छोड़ ।
पंकज -कोष फँसे मधुपों इव सके न बन्धन तोड़ ।
देख दृश्य दुंदुभी बजायी अमरों ने तत्काल ।
बरसायी अप्सरा वृन्द ने सरस सुमन की माल ।
चित्र -लिखे से इन रसिकों की विह्वलता अवलोक ।
गड़ा अवनि में लाज-विवश अति वासव का प्रिय लोक ।
त्रिविध बयारि बही, करती-सी उनका जय जयकार ।
हलकी बूँद गिरा मेघों ने दरसाया निज प्यार ।

मिलन-विरह की क्रम-प्रसिद्धि ही का रखने को मान ।
अथवा स्वाद नया लेने को संभाषण प्रिय जान ।
दोनों ही ने नयन-सलिल को दिया सरल अवसान ।
आसन लिया शिलाओं ऊपर पास पास छविमान ।

"परमपुनीत प्रदेश तुम्हारा हे ऋषि ज्ञान-प्रकाश !
आकर यहां विषाद भुलाया मैंने बिना प्रयास ।
भरत देश का खंड यही बस जो न विपद-आक्रान्त ।
कैसे इसे बनाया तुमने इतना ललित प्रशान्त ?
भोजन हेतु तरसते भूखे भरत-धरा के लोग ।
मरते बूँद बूँद पानी हित अमित यातना भोग ।
यहां अन्न की भूख नहीं है जल की यहां न प्यास
त्रास-विहीन बनाया कैसे तुमने यहां निवास ?"

"आये जहां चरण मुनिवर के करने करुणा-दान" ।
बोले ऋषि, उसका सिर ऊँचा, वह तो सिद्ध महान ।
आश्रम यहीं रुचिर अनुचर का चलें दयामय नाथ ।
स्वीकृत कर आतिथ्य स्वजन का करें कृतार्थ, सनाथ ।"

"सारा का सारा प्रदेश यह बना तुम्हारा गेह ।
फिर भी चलो चलें आश्रम को,"— मुनि बोले सस्नेह ।

सत्वर खड़े हुए शृंगी ऋषि, गमने आश्रम ओर।
पीछे-पीछे चले महामुनि परमानन्द-विभोर।
पश्चिम दिशि में बन्दी रवि ने झाँका पा संयोग।
गरजे मेघ, मुँदे उनके दृग, कठिन दासता-रोग!
कौंध. काँप जाती थी बिजली दृग भँपते सुकुमार।
"मैं भी हूं"—घोषित करती थी मानो बारम्बार।
कुसुमाच्छादित लता - द्रुमावलि गिरि-कन्दरा विचित्र।
चले दिखाते ऋषि, मुनिवर को वन पशु विहग पवित्र।
लम्बी राह नहीं थी फिर भी लम्बी बनी विशेष।
जहां-तहां मुनि थम जाते थे छवि अवलोक विशेष।

आध घड़ी के मग को बारह घड़ियों में कर पार।
आये आश्रम को मुनि के सँग ऋषिवर समुद अपार।
साँझ हो गयी ऋषि ने समझा करके विविध उपाय।
यद्यपि दिन औ रात एक थे, पावस का था न्याय।
सहज शत्रुता सकल भुलाये अहि सिंहादिक जीव।
दिखे वहां अनुराग-मूर्ति से प्रेमोन्मत्त अतीव।
अति प्रसन्न अवलोक अहिंसाविरचित शान्ति निकुंज।
उसमें प्रीति-समेत विराजे मुनिवर करुणापुञ्ज।
ऋषि ने नवल कमल दल आसन मुनि को दे सुकुमार।
तुंगा शीतल सलिल से दिये चरण सरोज पखार।
अचल द्रुमावलि, वेलि गिराकर अनायास फल-फूल।
मुनि-चरणों के आराधन में रत थी आपा भूल।
खद्योतों की पंक्ति आ गयी लेकर मंजु प्रकाश—
'देव सदय, स्वीकारें दीनों का भी नम्र प्रयास।'
करुणाजनक देखकर उनका असफल दैन्य-विकास।
बंधन-मुक्त किया मेघों ने शशि का मंजुल हास।
पवन स्वयं सेवा में रत थी हरती मुनि की क्लान्ति।
फिर भी व्यजन लगे करने ऋषि रह कर खड़े सशान्ति।
"शीत पवन की रसमयता का करो न यों ही अन्त"।
मुनि बोले, "क्यों घटा रहे हो मेरा मोद अनन्त?"
बार बार मुनिवर ने बरजा ऋषि तब हो आसीन।

४३० मधुर फलों के निर्वाचन में बने परम तल्लीन।
"यहां सभी फल मीठे ही हैं विलग करो मत एक।
प्रेम अधिकता में हे ऋषिवर! छोड़ो नहीं विवेक।"

परम प्रसन्न महामुनि ने ले रुचिर फलों का स्वाद।
शीतल तुंगा-वारि पान कर पाया प्रिय आह्लाद।
ऋषि ने सविनय किया निवेदन, "हे प्रकाश साकार!
अंधकार में परिभ्रमण का मिला कहां आधार?'
"अंधकार के बिना ज्योति को नहीं मिलेगा रूप।
रात बिना दिन की भी शोभा होगी नहीं अनूप।
मर्त्यलोक में मैं भी आया लेने को कुछ स्वाद।
४४० केवल अमर लोक ही से तो मिल न सका आह्लाद।
अधिक सत्य तो यह है हे ऋषि! मैं प्रकाश के पास—
अंधकार में से कढ़ आया लेने हेतु विकास।
मानवेंद्र की प्रजा हो रही अधःपतन में लीन।
अखिल आत्मगौरव से शून्या अतिशय दीन-मलीन।
जीवन में संघर्ष बढ़ा है इतना वहां अपार
देखा मैंने बेटे के प्रति मां को भी अनुदार।
दरिद्रता में भी विलासिता का खर ताण्डव नृत्य।
देखा वहीं अधम मानव का मैंने निर्दय कृत्य।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब अपना कर्म बिसार—
४५० अधिक लोभ-प्रेरित हो करते व्यवसायिक व्यभिचार।
हिंसा, द्वेष, घृणा पर-निन्दा, हरण हो रहा धर्म।
मानव आप बना है दानव लेकर उसके कर्म।
राजा के प्रताप में आया कोई प्रबल विकार।
उच्छृंखलता वृद्धि पा रही होता पाप-प्रसार।
वहां मित्र भी शत्रु हो रहे हिंसामय, अपवित्र।
आया हूं वह भाव खोजने जहां शत्रु भी मित्र।
आश्रम यह अति सुखद तुम्हारा बना परम रमणीय।
विराजते हो तुम इसमें ज्यों नभ में शशि कमनीय।
हिंसक और अहिंसक सब को दिया प्रेम का मन्त्र।
४६० परतंत्रता गयी दोनो की दोनो बने स्वतंत्र।
अमर लोक की उच्च कोटि में नहीं भूख या प्यास।

मर्त्य लोक के निम्न भाग में प्राणी उसका दास।
अमर लोक औ मर्त्य लोक का लेकर मंजुल सार।
तुमने जगत बनाया जिसमें रस का सतत प्रसार।"

ऋषि ने कहा, "प्रशंसामय यह प्रोत्साहन का दान—
वानि सदा गुरु जन की देखी शिशु कल्याण-विधान।
इसी भाव से लेता हूं मैं प्रभु का आशीर्वाद।
यदपि कामियों-हित यह ज्यों कपि को मणिमाल-प्रसाद।"

"कामी बढ़ें तुम्हारे जैसे तो दिन हों कमनीय।
यत्न बिना ही सब कट जायें संकट दुर्दमनीय। ४७०
खूब जानता हूं हे ऋषिवर! तुम जिस भाँति सकाम।
ऐसी सकामता का प्यासा मैं भी हूं निशियाम।

अमल शारदा के अनुरागी अनुचर प्रतिपल दास।
गुप्त रूप से पाने वाले रस मय मधुर विलास।
नारी प्रति सकामता का यह वर आवरण विशाल—
छिपा सकेगा नहीं तुम्हारा सहज स्वरूप रसाल।

क्षुद्र रूप लेकर नारी का जिसने पाया मोद।
उसके तनु-आस्वादन ही में जिसका सकल विनोद।
कामी वही अमित निन्दित मति वही परम असहाय।
वही फँसा जीवन-दलदल में त्राण-रहित निरुपाय। ४८०

तुम जीवन से मुक्त सदा हो फिर भी जीवन-रक्त।
आद्याशक्ति रूप जो नारी उसमें नित आसक्त।
अपनी महाशक्ति के कुछ कण दो मुझको बलवान।
मर्त्यलोक यह भूखा-प्यासा दूं मैं उसको दान।"

"हे मुनिवर! आशीश मुझे दो बसे हमारा गेह।
मैं तो जीवन से न विरागी नित्य माँगता नेह।
फँसा दिया मन अवलोकन कर शान्ता मंजुल चित्र।
नयन कृतार्थ कभी होंगे क्या रूप विलोक पवित्र?"

"शान्ता यदि शारदा-स्वरूपा तुम षटआनन कल्प।
विरह-काल के गये महायुग शेष समय अब—स्वल्प।" ४९०
यों उत्तर देकर ऋषिवर का मुनि ने विविध प्रकार।
कथा कही अतिशय प्राचीना ज्ञान-प्रेम-भंडार।

धेनु मृगेन्द्र भुजग विहगादिक नव रस-रसिक अपार।
प्रीति-समेत श्रवण करते थे मुनि के वचन उदार।
बढ़ा प्रसंग चलीं चरचाएं बिखरे प्रश्न अनेक।
रस-निमग्नता श्रोतागण की विकसी सहित विवेक।
तृषित मानसों की आतुरता विमुग्धता पहचान।
वर्णित करते चले महामुनि वृत्त मधुर रसखान।
रजनी बीत गयी बातों में सका न कोई जान।
अवसर मान उठे आसन से त्वरा सहित मतिमान।

लोचन-जल से पद धोकर, कर बारम्बार प्रणाम।
की याचना क्षमा की ऋषि ने मुनिवर से अविराम।
तनु में पुलक, सलिल लोचन में मुनि ने भरे उदार।
बारम्बार अङ्क में लेकर दिया हृदय का प्यार।
ऋषि के जितने सखा सनेही प्रस्तुत थे उस काल।
थपकी मिली सभी को मुनि के कर की मधुर रसाल।
स्नेह तृषामय अपलक लोचन उनके विकल विलोक।
पाया प्रगतिशील मुनिवर के चरणों ने भी राक।
पद पद्मों में लिपट लिपट जो दे पाये व्यवधान।
उनको मिला द्रवित मुनिवर के नयन-सलिल में स्नान।
आँखें बरस रही थीं सबकी मानों पावस संग।
करने को सउमंग चलेंगी अवध दैन्य का भंग।

"ऋषिवर, प्रीति तुम्हारी पाकर मैं हो गया कृतार्थ।
जाता हूं अब साधन करने अधिक तुम्हारा स्वार्थ।
अभी अयोध्या को जाता हूं लेकर हरि-संदेश।
शीघ्र मिलेगी शान्ता तुमको सकल कटेंगे क्लेश।
अधिक प्रीति से कातर होकर बाधा दो मत डाल।
शान्ता के आगमन काल को दो न व्यर्थ ही टाल।"
यह कह, फिर आशीश विविध विधि दे गमने मुनिराज।
शिथिल-देह आश्रम को लौटे ऋषिवर सहित समाज।

"उग्र रूप धारण कर छाया चारों ओर अकाल।
क्यों मेरे विवाह की चर्चा छिड़ी आज इस काल।
मैंने तो विवाह कर डाला स्वप्न-देवता संग।

वहीं ले चलें ले चलना यदि चाहें कान्त अनंग ।
राजपाट से प्रीति न मुझको प्रिय न मुझे शृंगार ।
रानी नहीं कहाना मुझको प्रिय न मुझे दरबार ।
मिला स्वप्न में जो मनभावन वह मेरा हृदयेश ।
प्रेषित करो मुझे करुणा कर उस प्रियतम के देश ।
दक्षिण के शृंगेरि-विपिन-पथ का कर अनुसंधान ।
होना मुझको प्रेम-यज्ञ की वेदी पर बलिदान । ५३०
निर्झर का प्रवाह ज्यों पाता निज मग बिना प्रयास ।
त्योंही मेरे मन ने जाना, होगा कहां विकास ।
पागलिनी सी विचरण करती जाती मैं उस ओर ।
जहां बसे आनन्द वितरते मेरे मानस चोर ।
हत भागे कोशल में आया क्यों विकराल अकाल ।
चिन्ता के स्वरूप में लाया क्यों जीवन-जंजाल ?
प्रियतम के आदेश के बिना सेवा सब रसहीन ।
कैसे करूं सलोनी उसको मैं असहाया दीन ?
और अलोनी को भी कैसे छोड़ सकूं मैं हाय !
आधी तज सारी को छोड़ूं आधी चली न जाय ।" ५४०
कभी कभी शान्ता कहती थी यों अपने से ऊब ।
लतामूल को पानी देती देती मृग को दूब ।
रोक नहीं पाती थी बेबस मानस का उन्माद ।
बातें करने लग जाती थी जिस तिस से सविषाद ।

—गीत—

मधुकर ! मेरे प्यारे !
मधु की प्रीति मुझे निशिवासर
तुम भी मधुव्रत धारे ।
देश देश में जाते हो नित ।
मधुसंचिति ही में देकर चित ।
मैंने भी मधु-अन्वेषण हित । ५५०
अपना जीवन किया समर्पित ।
सारे काज बिसारे । मधुकर०

तुम गुन गुन करते किरते हो,
रसनिधि लहरों में तिरते हो,
मैं भी गुन गुन ही करती हूं।
किसी सगुन पर ही मरती हूं।
अविरत साँझ - सकारे। मधुकर०

तुम्हें समीप सुमन मिल जाते,
तुम मधु पी बनते मधुमाते,
अपना सुमन न मैं पाती हूं,
राह देखती, रह जाती हूं।
भाग्य विभिन्न हमारे। मधुकर०

अनुगामिनी तुम्हारी हूं मैं,
विकल, दैव-हत, हारी हूं मैं,
मुझे सताओ मत, उड़ जाओ
मेरी व्यथा न अधिक बढ़ाओ।
मेरे मित्र दुलारे। मधुकर०

× × × ×

मधुप! अभी तुम मँड़राते हो।
मैंने कहा मुझे तुम छोड़ो,
तृम मुझको घेरे आते हो।

हानि नहीं इसमें कुछ मेरी,
हानि तुम्हारी ही बहुतेरी,
मेरा रोग परम संक्रामक,
देगा तुमको पीर घनेरी।
जान अजान बने जाते हो। मधुप०

देखा नहीं, सुना उनका यश।
तदपि हो गयी हूं मैं परवश,
वाण प्रेम का गड़ा हृदम में
लगता विश्व अलोना, नीरस।
इसमें भी तुम रस पाते हो। मधुप०

मनमाना विचरण करते हो,
मधु का सतत हरण करते हो,
अनायास निज पथ वारण कर,

क्यों कंटकित वरण करते हो ?
मेरा संकट अपनाते हो । मधुप०

× × ×

जो मैं भ्रमरी होती ।
क्यों एकाकी बैठ यहां पर
आहें भरती रोती ?
दक्षिण वन में विचरण करती
खोज उन्हें मैं लेती । ५८०
प्रियतम के चरणों में नत हो
दृग-जल-अंजलि देती ।
जलद जाल विलसित शशि मंडल
देख देख कर जीती ।
प्रतिकूलता भूलकर विकसित
कमलों का रस पीती ।
क्लान्ति हृदय का खोती । जो मैं०
उन कमलों का रस पीकर क्यों
ऐसे वन में आती ?
प्रति दिन संध्या जहां कोष में ५९०
बन्धन का भय लाती ।
काँटे अमित झेलने पर भी
जहां नहीं रस पाती ।
झंझावात तुषार-पात से
विदलित होती छाती ।
विपद-बीज क्यों बोती ? जो मैं०
गुन-गुन रव समेत नव सुमनों-
का मधु लाकर देती ।
प्रिय की विरह-कथा के रस में
स्वाद नवल भर देती । ६००
सर्प, नकुल, मृगराज, धेनु की
मनमोहिनी कहानी ।
और अधिक झंकृति पा जाती
प्रिय की पावन बानी ।
सहज प्रफुल्लित होती । जो मैं०

× × ×

विधि अतिशय अविचारी।
मनमानी क्षमता, अक्षमता
जग में वितरणकारी
अहि मणि-भूषित उसके द्वारा-
और कलंकित शशिकर प्यारा
दिया मुझे नारीत्व उसी ने—
लज्जा - जाल - प्रसारी। विधि०
गंध मोहिता भ्रमरी उड़कर,
जाय जहां हो उसका प्रियवर,
मैं ही बन्दीगृह में बैठूं
मौन प्रणय अधिकारी। विधि०
मिले चकोरी को न कलाधर,
किन्तु किरण तो आयी द्रुततर,
उससे भी मैं भाग्य-विहीना
दुस्सह दुख की मारी। विधि०
बड़े दिनों में मिला, मिला पर,
स्वाती घन चातकी तृषाहर,
मैं तो हूं प्यासी की प्यासी
बढ़ी निराशा भारी। विधि०
मिले अभाव मानसिक-दैहिक,
फिर भी मानव की प्रभुता ! धिक !
आत्मवंचना कितनी गहरी,
मरण-पन्थ-अनुसारी। विधि०

× × × ×

मधुप ! उड़े, पर उड़ न सके तुम।
जाना था शृंगेरि-विपिन को
जा न सके, बस यहीं थके तुम।
आगे अधिक न जाने पाये,
मंजरियों ने जाल बिछाये,
अटक गये सौरभ से मोहित,
दूर दृश्य से नयन हटाये।
हलके रहे, रहे हलके तुम। मधुप उड़े०
तुम विषाद विष पीने वाले,
नित प्रमाद कर जीने वाले,

मुक्त स्वतन्त्र न हो पाओगे,
भ्रमण करो बनकर मतवाले। ६४०
प्रगति कहां जब यहीं छके तुम। मधुप उड़े०।
पवनान्दोलित बौरों ऊपर,
कलिकाओं में हृदय रमाकर,
टिकने का प्रयास करते हो,
प्रेम-सहित गुन-गुन गुन-गुन कर।
यहीं निहाल बने बिलमे तुम। मधुप उड़े०
कमल प्रफुल्ल देख ललचाये,
उनका रस लेने को आये,
फिर विरमे, हो रहे वहीं के,
शेष जगत की याद भुलाये। ६५०
जहां फँसे, बस वहीं फँसे तुम। मधुप उड़े०।
इस उपवन में सुमन घनेरे,
विचरोगे उनके बन चेरे,
उबर नहीं पाओगे उनसे,
रहो लगाते उन पर फेरे।
दलदल में हो हाय धँसे तुम। मधुप उड़े०
अपना ही हठ ठानोगे तुम,
मेरी बात न मानोगे तुम,
शृंगेरी कानन में जाकर,
कीर्ति- वितान न तानोगे तुम। ६६०
पड़े रहो जिस ठौर अड़े तुम। मधुप उड़े०,

× × × ×

प्रियतम का प्रमोद-बन!
कैसा होगा मंजु, मनोहर,
नव आनन्द-निकेतन!
चेतन तो सदैव ही चेतन,
जहां अचेतन चेतन,
भुला सकल संघर्ष-भावना
हुए सरस सब के मन।
सहज प्रेम का प्रांगण। प्रियतम०
मधुर विश्व-संगीत में निरत, ६७०
एक एक कण अविरत—

अहम्भावना निजता तज के
पढ़ती जहाँ बिलग व्रत।
जीवन-खग-श्रम-मोचन । प्रियतम०
संसृति-तप्त अग्नि की ज्वाला
पैठ न सकी कराला
सरस बिरह की पावक लपटें
फैलीं जहां रसाला।
मधु सेवन मधुचिन्तन । प्रियतम०
६८० मुंह पर लगा हुआ है ताला
उर के भीतर ज्वाला।
प्रिय की रूप माधुरी निरुपम
कौन पिलाने वाला।
पा न सकूँगी पावन । प्रियतम०

× × × × ×

कीर्ति श्रवण में फिर क्यों आयी ?
जो उनका न मिलन सम्भव था
मानस में हिलोर क्यों लायी ?
जल का श्रोत कहीं मन भाया—
प्यासे न क्यों यह सुन पाया ?
६९० कहीं कर्ण सा दानी बैठा,
कँगले को क्यों गया बताया ?
आँखों में क्यों मद बन छायी ? कीर्ति०
राजभवन में आपा भूली,
मैं थी अपने ही में फूली
सहज मार्ग अनुसरण-रता हो,
माना सिद्धि-देह थी छूली।
सोते से क्यों गयी जगायी ? कीर्ति०
खेला करती थी मृगियों से
कोमल, चपल, सरलदृगियों से।
७०० भगकर रुककर, कान खड़े कर
जो देखती मुझे छवियों से—
नीरसता उसमें भर लायी। कीर्ति०
मेरा वह संसार मधुर था,
उसमें भी रस सार प्रचुर था,

क्षणक्षण में नव नव अनुरंजन
भरता उसमें काल चतुर था।
उसकी सुषमा गयी मिटाई। कीर्ति०
बदली दृष्टि भाव बदला सब,
बदली सृष्टि स्वाद बदला सब,
कंठ शोषिका प्यास निराली
माँग रही है रसमय आसव।
जो न सफल जीवन कर पायी। कीर्ति०
× × × × ×
कोयल तू क्यों बोली?
भौंरे न ने सीख कुछ मानी,
तू क्यों निर्दय होली?
पीली सरसों का पीताम्बर—
धर ऋतुराज पधारा।
अवनि व्योम संवाद दे रहे
नीरव ही यह सारा।
दाग रही क्यों गोली? कोयल०
क्या जानती नहीं तू आली
कोशल राजकुमारी।
आज परम असहाय हो गयी
प्रेम-वाण की मारी।
क्यों तेरी मति डोली? कोयल०
कभी न सम्भव जिससे मिलना
उससे प्रेम लगाया।
रस उससे क्या मिला? अनल ही—
मैंने उर में पाया।
विष झोली क्यों खोली कोयल०
या प्रमाद इसमें मेरा है
मुझे भ्रान्तियों ने घेरा है
मेरा प्रेम—विकलता में बस
हास्य-तत्त्व सबने हेरा है।
क्या कर रही ठिठोली? कोयल०
जो हो वह विनोद की वाणी,
मेरे लिए नहीं कल्याणी,

मुझको तो मधु की अयि रानी!
तुमसे केवल करुणा पानी
अमृत स्वरों में घोली। कोयल०

× × × × ×

शुक किस वन से आये!
शृंगेरी वन से आने के
लक्षण एक न पाये।
तुममें वह उल्लास नहीं है।
मंजुल हृदय-विकास नहीं है,
आनन पर शृंगेरी वन से-
प्राप्त मनोज्ञ प्रकाश नहीं है।
वाणी नीरस लाये। शुक०
उर का भाव छिपाते हो तुम,
कृत्रिम मोद दिखाते हो तुम,
मुझको धोखा दे न सकोगे,
नाहक धोखा खाते हो तुम।
छल किसने सिखलाये? शुक०
मिट्ठू मिट्ठू बोल रहे हो,
मेरे मन को तोल रहे हो,
सीटी देते हो रह रह कर
मेरा हृदय टटोल रहे हो।
कहां ढंग ये पाये! शुक०
मेरा शुक शृंगेरी वन का,
दास नहीं जन जन के मन का,
जन जन हाथ नहीं बिकता वह,
वह सेवक जगती जीवन का।
वैसे तुम न दिखाये। शुक०

———

पंचम सर्ग

सोते थे वशिष्ठदेव , औचक ही जाग पड़े।
अरूंधती देवी को जगा करके बोले यों—
"देवि , देवऋषि का निदेश मिला सपने में,
आगे बढ़ स्वागत के हेतु चला जाता हूं।
"अभी घनी रात नाथ !"
"नहीं देवि, उषा देवि-आगम में शेष तीन घड़ियां।
घन अन्धकार यह धोखा, एक भ्रम है।
उसको विदार कर ज्योति अभी आयेगी;
रोग है अयोध्या की दीनता तो औषधि सी—
करुणा महामुनि की उसको भगायेगी।
कू कू नहीं कोयल ने किया कई दिन से
देखना अभी ही वह रस बरसायेगी ;
दिन फिर आयेगा।
एक ही संकोच, देवि, रोकता है पैरों को
खिल के भी दीखते हैं फूल कुम्हलाये से,
मुनिपति - योग्य मंजु माला कहां पाऊं मैं।
रंकता अयोध्या की इतनी दिखाऊं क्या ?
आश्रम की दीनता भी घोषित कराऊं क्या ?
तपोबल- हीनता भी अपनी जताऊं क्या ?
यों ही मँह काला है,

अकालानल ज्वाला है, हमारे यहां रहते;
बूँद बूँद जल हेतु पौधे मुँह बाये हैं,
सुमन उदासी-मग्न,
कली खिलने के पहले ही झड़ पड़ती।
जी में यही आता देवि,
बाजी ही लगा दूं आज अपने तपोबल की,
करूं इन्द्र - आवाहन
खींच लाऊं बादलों को
ले लूं जल चाहूं जितना भी कान खींच के।
सींच दूं अभागी दूध-पीती बालिका का कंठ,
दिन दिन बीत जाता दूध जो न पाती है।
किन्तु, फिर सोचता हूं
विधि के विधान में
जिसको मिला है कर्म्मभोग उसे भोगना है,
परिशुद्ध होते हम दण्ड भोग लेने से।
तो फिर दबा कर संकोच-भाव जाता हूं
काम है त्वरा का यहां—
लाना है मुनीश्वर को
अवध-अधीश्वर से बातें आज होएँगी।"

"मैं भी चलूँगी नाथ!
और साथ ले चलूँगी सुरभित मालाएं
आप निज तप की बचाये रहें पूँजी
पूँजी अपनी ही कुछ व्यय कर दूँगी मैं.
शिष्यों को सहेज कर आश्रितों की सेवा,
मीठे फल और माला लेकर चलूँगी मैं।"

"चलो, देवि, सत्वर ही"।
अविलम्ब दम्पति पधारे दिशि पश्चिम।
ज्यों ज्यों बढ़े आगे अन्धकार छँटता ही चला,
आया वह काल जब
प्राची में एक और एक प्रतीची में भानु—
देखकर चौंके वे

किन्तु शीघ्र जान पड़ा दोनों मध्य अन्तर;
पश्चिम के भानु में थी शीतलता, तीव्रता भी
और वह सामने को बढ़ता था आ रहा,
उन्मुख उसी की ओर दोनों वहां हो गये।
एक पल में ही सब शंका-दल मेटते—
आप मुनिराज वहां सामने ही थे खड़े।
गुरुदेव दौड़ कर मुनिनाथ कंठ में
माला सुमनों की डाल लिपटे सनेह से,
भावुकता-सागर में उतराते - डूबते। ६०
जागरण आया, विऋषि ने प्रणाम किया
श्रीमती अरुंधती को गद्गद भाव से।
आशीर्वाद संग ही नवीन एक माला मिली;
अपने को कृतकृत्य माना मुनिवर ने
शीघ्र फिर तीनों गुरु-आश्रम को गमने।
एक राशि में ही दो दिवाकरों को
चंद्रमा के संग अवतीर्ण देख भूपर
पाकर संकोच मग्न
अस्थिर से दीखते थे व्योमगामी दिनमणि।

× × × ×

—गीत—

कहीं से आया था उल्लास। ६१
निराशा से आशा आह्वान,
विमल चिन्तन से नव मुसकान,
मरण से पाकर जीवन-दान,
बिहँसता था गर्वित आकाश। कहीं से०
सप्त हय-रथ में हो आसीन,
अनवरत जीवन-वितरण लीन,
विकलकारक कलम से अमलीन,
चले थे दिनमणि अमित-प्रकाश। कहीं से०
दिवाकर किरणों का संस्पर्श,
ले उड़ा था पंकज - आमर्ष,
गा पड़ा था अलि अपना हर्ष,

मुक्ति लायी थी उन्मद लास । कहीं से०
चक्रवाकी को देख, प्रवीन —
व्यथित चातक ने निज रव दीन—
किया था अधिकाधिक तल्लीन,
बँधी थी प्रिय-आगम की आस । कहीं से०
'तिमिर पल में हो गया विलीन
आग का गोला देख नवीन,
गगन-दृग जलकण थे कृतिहीन —
कूकती थी कोयल साभास । कहीं से०
सरोवर, सरिता से रसपान—
हेतु करते थे रवि द्युतिमान,
अमल, अग्रिम पीताम्बर दान,
तरंगित था नव हास-विलास । कहीं से०
अमित चञ्चल निर्झर अभिराम,
रजत से कांचन बन छविधाम,
गान सा करता था अविराम,
तरणि-गुणगण आनन्द निवास । कहीं से०
नीड़ में तव सावक सुकुमार,
कंध पर धरकर जीवन-भार, १००
विहग करते थे नभ पथपार,
प्रेम का पाकर दिव्याभास । कहीं से०

× × × × ×

अनायास ही जाना मुनि ने कृत्रिम सब शृंगार ।
प्रकृति देवि में विकृति भरी थी लेकर पीड़ा-भार ।
अलि का गुञ्जन, हास सुमन का, खग का गान रसाल ।
अंतर में धँसने वाले को भ्रम में सका न डाल ।
बाल प्रभाकर काँप रहे थे उचित पड़ा वह जान ।
लोक-हृदय स्वागत न करेगा स्यात उन्हें था ज्ञान ।
पावस का अधिकार ग्रहणकर रस के हरण निमित्त ।
चोरों से आये दीखे वे मुनि को विचलित-चित्त । ११०
असंतोष का भाव वदन पर अंकित उनके देख ।
कृतकार्यता उसी में अपनी ली मुनि, गुरु ने लेख ।
द्रुतगति से चल कर तीनों ही आये नगरी पास ।

औरों की क्या बात कहें जब दीखे भवन उदास।

राजभवन को ले चलने की गुरु की इच्छा जान—
सहज सरस वाणी में बोले वे विज्ञान-निधान—
"हे गुरुवर्य! समय थोड़ा है कार्य विशेष महान।
राजसभा ही में सम्मेलन का करणीय विधान।"
मुनिसंकेत समझ गुरुवर ने निज कुटीर की ओर—
चरण चलाये मुनि अरुन्धती ने आनन्द विभोर। १२०
सत्वर वहां पहुँच कर पाया यथाउचित सत्कार।
सब प्रकार सम्पन्न हो गया मुनिवर-श्रम-परिहार।
अरुन्धती के प्रश्न विविध विधि गुरुवर के संदेह—
मुनि की वार्त्ताएं उमँगाते चले बढ़ाते स्नेह।
सहसा राजसभा को चलने का आया जब ध्यान—
गोष्ठी आप समाप्त हो गयी उठे महामतिमान।
किया न था गुरु ने विज्ञापन फिर भी भीड़ अपार।
चली आ रही थी दर्शन हित करती जय जय कार।
आगे बढ़ उससे मिलने को गुरु अरुन्धती संग—
निज कर्त्तव्य कर्म की चिन्ता ले गमने सउमंग। १३०

स्फटिक शिलाओं से निर्मित था राजसभा का गेह।
उसकी छवि सस्नेह देखकर मुनि हो गये विदेह।
विविध विचित्र अलंकृतिमय थे जन-प्रवेश के द्वार।
जहां सिंह गज आदि मूर्तियों से था सुछवि-प्रसार।
आध मील की गोल परिधि में था संगठित विशाल।
अस्त्रसहित प्रहरी गण-रक्षित नाना विधि सब काल।
भली भाँति गुरु ने दिखलाया यह शोभा-भंडार।
इन्द्र-भवन की भ्रांति में पड़े जिसे मुनींद्र निहार।
किन्तु किया मुनिवर ने अनुभव गहरा एक विषाद।
जिससे चारों ओर घिरा था वह अमोल प्रासाद। १४०
फूल लता फौवारे करते थे यह नीरव नाद।
देखो चीर हमारे उर को यहां कहां आह्लाद।
गुरु ने करके यत्न छिपाया था मुनि-अभिसंवाद।

किन्तु रुई में आग छिपाना होगा क्यों न प्रमाद ?
नहीं लोक में पड़ा दिखायी जैसा कहीं स्वरूप।
क्यों न बनाता उत्कंठित अति वह अतिमानव रूप।

लोग पूछते थे ये काली जटा बढ़ाये कौन ?
श्रीचिन्हित ललाट में अतुलित आभा पाये कौन ?
भौहें घनी, नयन नीरज से , जिनके लम्बे कान ?
रुचिर नासिकावाले ये मुनि कौन परम मतिमान ?१५०
शरद-कलाधर - कला वदन पर जिनके करती केलि।
अमृतपाणि ये कौन पधारे सरसाने उर बेलि ?
श्वेत गात पर वर पीताम्बर, मंजुल बाहु विशाल।
वीणाधर ये कौन सिधारे हसित-वदन सब काल ?
जिन्हें न खेद जगत का व्यापा मूर्तिमान आनन्द।
आये किस अभिराम लोक से ये सब विधि स्वच्छन्द ?
बिजली सी जिनके पाँवों में जो आलोक समान।
यहां तिमिर में कैसे आये मोहन प्रतिभावान ?१६०
खड़े हो गये सब मुनिनायक को आगत अवलोक।
स्वल्प समय के हित भागा सा उनका सारा शोक।
दायें बायें महाराज के सिंहासन के पास।
आसन दिया सचिव ने मुनि को कर शुचि विनय-विकास।
सोहे वे, मानों रवि-शशिकर उदित मंच- नभ बीच—
चमत्कार कर तम हरते हों आशा-लतिका सींच।

पत्री पाकर मंत्रीवर की त्वरा-सहित नृप आये।
संग संग शान्ता बेटी को मुनि दर्शन-हित लाये।
खड़ी हो गया सकल सभा जब वे उस ठौर पधारे।
१७० उठे प्रेम-गद्गद् गुरु-मुनिवर सहज सनेह सँवारे।
गिरे दण्ड की नाईं भू पर प्रणतिशील अवनीश्वर।
उठा बाहु में भर कर भेंटा मुनि ने आगे बढ़कर।
दोनों ही के तनु पुलकित थे, दोनों के दृग जलमय।
अन्तर भी था, एक शान्तिमय और एक हलचलमय।
"पुण्य तुम्हारा ही कर्षितकर मुनिवर को भी लाया।"
यह कह गुरु चरणों में फिर फिर नृप ने शीश नवाया।

गुरु ने अवध तपस्या का फल मुनि का मिलन बताया।
विविध प्रकार उन्हें समझाकर धीरजवान बनाया।
तदनन्तर मुनीन्द्र को, नृप को बैठाया आसन पर।
बैठे आप सभासद बैठे गुरु संकेत ग्रहणकर। १८०
संग पिता के बैठ कुमारी ने यों शोभा पायी।
शरद संग ज्यों विलस रही हो चन्द्रकला छबि छायी।
यथा उचित आरती आदि कर श्रद्धा-भक्ति दिखायी।
वन-सुमनों की माल मनोहर प्रीति-सहित पहनायी।
फिर भी तृप्ति न पाकर मंजुल वचनावलि की माला।
गूँथी यों गद्गद नरपति ने मुनि के हेतु रसाला।

"देव तुम्हारे स्वागत का यह ढंग विचित्र विचारा।
श्रीचरणों में अपनी विपदा का वर्णन निरधारा।
पास हमारे आज धरा क्या, पहना संकट माला।
पावक में हम जलते जाते लो हम सब की ज्वाला।
लोक लोक में भ्रमणशील मुनि हाल यहां का देखो।
फैलाया विधि ने यह जैसा जाल यहां का देखो।
परम अजेय किया तारक को हम बिन मारे मरते।
अवध मरा, कंकाल मात्र ले स्वागत हम अब करते।

बातें सब विपरीत उन्होंने प्रचलित कर दीं।
अमित विकृतियाँ प्रकृत प्रकृति-आकृति में भर दीं।
होता कभी निदाघ मधुर मधुमास सरीखा।
मधु में लू का कोप कभी मधुपों को दीखा।
चैत्र मास में वृष्टि कभी हो जाती ऐसी।
सावन - भादों में न दिखायी देती जैसी।
कभी वृष्टि ही नहीं वृष्टि भी कभी भयंकर।
होती रहती अमित प्रजा के हित प्रलयंकर।
रहता नित्य अकाल भयानक मुँह फैलाये।
जो टलता ही नहीं बिना लाखों बलि पाये।
रोग - प्रकोप अपार त्रस्त कर देता जन को।
चिन्ता शंका निगल रही नित मानव-मन को।

गूढ़ गुहाओं मध्य छिपे रहते ऋषि मुनिगण।
वे छिपकर ही हाय कर सके श्री हरिचिन्तन।
दम्भ और पाखंड वेष अगणित धर धर के।
बने वंचना - निरत कपट - रचना कर कर के।

संकट अमित अपार प्रजा ने सहन किये सब।
मंद भाग्य के भार धैर्य से वहन किये सब।
किन्तु प्रभो इस वर्ष अवर्षण ऐसा आया।
जिसने सब का हृदय वेदना-सदन बनाया।

भूखों ही मर रहीं फूल सी नव बालाएं।
हा! जिनके गलमध्य मृतक शिशु-भुजमालाएं।
सूख रहे मृदु फूल बारि बूँदें बिन पाये।
पत्रहीन तरु वृन्द खड़े जलहित मुँह बाये।

दुर्लभ ही हो गयी स्वप्न में भी हरियाली।
उड़ा रही नित धूलि कुंज की धूलि निराली।
अंकुर निकल नवीन नहीं आगे बढ़ पाये।
नभ - रुख - रूखा देख मही - उर में दब आये।

करुणा का घर आज कृषकगण का मंजुल घर।
आहों का ही वास वहां पर आठ पहर भर।
कृषक बालिका अश्रु रोक खेतों पर जाती।
पौधे पायें प्राण उन्हीं पर जल बरसाती।

गांवों में सब ओर उदासी रहती छायी।
पशुओं की मौनता विहंगों तक ने पायी।
चातकिनो की प्यास निराशा - निधि में डूबी।
तरु की सूखी डाल देखकर कायल ऊबी। २३०

नगरों का व्यापार रिक्त होता जाता नित।
भूख - प्यास से क्लान्त मनों सोता जाता नित।
व्यवसायिक उत्साह हो गया सब सपना सा।
चौपड़ औ शतरंज पड़े ले मुँह अपना सा।

आह अवध के महल व्योम - आलिंगनकारी।
बहु बातायन - बलित लता - मंडित छविन्यारी।
शिशुगण खगगण मुखर कामिनी कल कल्लोलित।
उजड़ गये सब आज जहां थी केलि अतोलित।

सूर्यवंश की नसी मर्यादा आज सारी।
मेरे अघ से सकल लोक ही हाय दुखारी।
रघु दिलीप इक्ष्वाकु वंश को समल बनाया।
घालक-पद-आरूढ़ नाम पालक का पाया।"

कहते थे यों नृपति दृगों से जल था बहता जाता।
राजकर्मियों, सभासदों को भी था जो नहलाता।
गुरु वशिष्ठ औ नारद मुनि के विचलित सिक्त विलोचन।
सजल जलज-लावण्य-लाभ से बने मनोरम, शोभन।

करके श्रवण पपीहा की रट ज्यों स्वाती घन घहरा।
जीवन-प्यास-निवारण के हित लाया रस का लहरा।
सिंहासनासीन भूपति का जान ज्वलित अति हीतल।
वाणी चली दयामय मुनि की तापनाशिनी शीतल।

"मानवेन्द्र, जनता की पीड़ा देख विकल हूं मैं भी।
नित समाधि रस लेने वाला परम चपल हूं मैं भी।
यही वेदना निवारने को आज यहां आया हूं।
कमलावल्लभ द्वारा प्रेषित आश्वासन लाया हूं।

महाबली विकराल काल ही सब कुछ करने वाला।
वही प्राण का देने वाला देकर हरने वाला।
विश्व-विधायिनि महाशक्ति को करता रसमय मोहन।
वही बनाकर क्रूर कराता उससे जीवन - दोहन।

शिव को वही समाधि दानकर अगति-निमग्न बनाता।
अवसर पाकर प्रचंडता भी वही रुद्र में लाता।
वही दैत्य-संहारण करता वही दलित-उद्धारण।
उसका ही अविराम केलि यह रचना, धारण, मारण।

कभी वसन्त दिखाकर मानस में रसधार बहाता।
कभी निदाघ सामने लाकर तन-मन सकल जलाता।
कभी शरद शशि की शोभा से जग-वैचित्र्य बढ़ाता।
कभी तुषार गिरा सरसिज पर उसका हृदय गलाता।

उसकी अगति-निधान कला में बिगड़ा बना दिखाया।
उसकी इस अविराम प्रगति में बना बिगड़ने आया।
मरना-जीना रोना-गाना उसकी नश्वर छाया।
उसे त्यागता चलता वह ज्यों ब्रह्म त्यागता माया।२७०

काल स्वर्ण हो तो भी उसकी अनल परीक्षा होती।
काल लौह हो तो भी उसकी तपमय दीक्षा होती।
काल कलाधर होवे तो भी कटना पड़ता उसको।
काल मेघ सा होवे तो भी छँटना पड़ता उसको।

अंधकार आलोक उभय को उसने दिया बसेरा।
भुजगराज की भाँति केचली अम्बर लिया घनेरा।
एक रूप से फूल न जाता, नहीं अन्य से डरता
ज्ञानवान दोनों ही को सम भाव समर्पण करता।
संयम का निर्वाह मोद में, तम विषाद अवसर में।
कालदेव की माँग यही नित नीरव आठ पहर में। २८०
संयम से जो प्रीति न करते पाते वे खर पीड़ा।
पीड़ा में भी जो तप-वंचित मिलती उनको व्रीड़ा।
सावधानता का पल्ला जो पकड़े रहे निरन्तर।
बना भयंकर काल उन्हीं के हित शंकर अभयंकर।
मिला न जिनको पोत अगम निधि कैसे पार करेंगे।
अस्तव्यस्त भँवर में पढ़कर वे असहाय मरेंगे।

भुला दिया संयम मघवा ने भीषण संकट पाया।
कुशल यही जो संकट में अब उन्हें प्रखर तप भाया।
राजराज वे आज बने मुनि नंदन वन में तपते।
जीवन-मंत्र गँवा बैठे जो उसको बैठे जपते।

तारक विजय अनंतर तुमने संयम भाव भुलाया।
थोड़ा सा प्रमाद तुममें भी गर्वजनित ही आया।
यहीं तुम्हारा अखिल विपद का मूल राजराजेश्वर!
बदला लिया काल ने तुमसे विकृत धारणा देकर।
विजय-पराजय कर्म काल का उनका वही विधायक।
उससे ही बल विक्रम पाकर मानव बनता नायक।
अहंकार करने का तो वह कहीं नहीं अधिकारी।
वह तो केवल कालदेव की आज्ञा का अनुसारी।
इस मानसिक पतन की संगिनि वह उदारता आयी।
कर्मचारियों में विलासिता मोहमयी जो लायी।

लोभ और हिंसा की जागी वह दानवी कराला।
जला रही है अखिल लोक को जिनकी दारुण ज्वाला।
निज सेवा का सभी जनों ने मूल्य अधिकतम माँगा।
लोकाराधन, सत्य-प्रेम आदर्श नाम ही त्यागा।
बढ़े द्वन्द अधिकार-प्राप्ति के नीच भावना-प्रेरित।
लेने लगे घूस अधिकारी अनुचित ही में दे चित।
एक मात्र आराध्य हो गया चोरी का निंदित धन।
अघ-संचय से घर भर अपना दिखे कृतार्थ सभी जन।
अन्न-वस्त्र-हित कोलाहल था अखिल लोक में होता।
चोरी में प्रवीण स्वार्थी दल खा पीकर था सोता। ३१०
इसी पाप की अधिक वृद्धि से घोर अवर्षण आया।
भुजग दंश ने ज्यों शरीर में विषम भाव फैलाया।

बढ़ा विकार तुम्हीं से सारा तुम्हीं करो वह साधन।
जिससे सीदित सकल लोक का संभव हो अनुराधन।
अघ, अन्याय, दैन्य की बढ़ती जब जब जग में होती।
सत्य धर्म रत त्यागी की बलि सकल मलिनता खोती।
तपोमयी रजनी में तम का अति प्रसार होने पर।
कर पाया संचरित ज्योति नव हृदय किसी का चिर कर।
कोशल में जो हो पवित्रतम उसका ही तप भारी।
हर लेगा मानव-समाज की अमित यातना सारी। ३२०
अन्वेषण करना न पड़ेगा, शान्ता राजदुलारी—
सरस्वती सी कल्मषहीना अखिल लोक-अघहारी।
दक्षिण के शृंगेरि विपिन में शृंगीऋषि ढिग जाये।
उनमें ही निज जन्म-जन्म के प्रियतम पति को पाये।
प्रीति पुनीत बढ़ाकर उनसे उन्हें यहां ले आये।
जलवर्षा का पंथ सहज ही कंटकहीन बनाये।"

असमंजस में नृपति पड़ गये कह न सके हां या ना।
चित्त-विकृति अंकित हो आयी आनन पर विधि नाना।
लगी मौनता उनकी कहने कोई करुण कहानी।
होकर खड़े समुत्तेजित से मुनि बोले स्वर बानी।३३०

"मौन हो गये क्यों, हे राजन् बात नहीं क्या भायी ?
पहले से भी अधिक उदासी क्यों चेहरे पर छायी ?
क्लेशनाश का एकमात्र पथ मैंने तुम्हें दिखाया।
उससे सकल कटेंगे संकट ज्यों कुहरे की काया।"

बैठ गये मुनिनाथ कथन कर उठे महीपति सत्वर।
बोले, "सिर माथे यह आज्ञा परम पूज्य हे मुनिवर !
अरुणोदय इव आप ज्योतिप्रद तिमिर-ग्रस्त मैं राही।
आशीर्वाद-समान नाथ ने वचनावली प्रवाही।

केवल एक महान ग्लानि ने आकर मुझको घेरा।
३४० क्षात्र भाव को मिला पराभव, लिया दैन्य ने डेरा।
महारानियों संग आप मैं संकट से खुल खेलूं।
अवसर हो तो अनल-बुझाये शेल हृदय पर झेलूं।
हम सब बैठे रहें महल में कन्या बन को जाये।
वीर भावना का सिर नीचा क्यों न नाथ हो जाये।
फिर भी शेष उपाय यही यदि शान्ता बन जायेगी।
जनता की विपदा-निशि का अवसान निकट लायेगी।"

"साधु, साधु," नारद मुनि बोले, गुरु पुलकित होआये।
"धन्य, धन्य,"-कह सभासदों ने राजनिकेत गुँजाये।
प्रसन्नता शान्ता-आनन पर बड़ी निराली छायी।
३५० किसी वंदिनी शुकबाला ने ज्यों विमुक्ति हो पायी।

मुनि संतोषधाम फिर बोले, "धर्मवान हे राजन् !
प्राप्त करो आशीश हमारा नीतिमान हे राजन् !
नय-निधान, शासन-विधान में कुशल कुशलतर होओ।
प्रजाजनों के अनुरंजन में सफल सफलतर होओ।

दिनकर का यह धर्म, तप्त हो प्रिय प्रकाश फैलाना।
दीपक का यह धर्म स्वयं जल सब को राह दिखाना।
तरुवर का यह धर्म ताप सह फल औ छाया देना।
राजा का यह धर्म प्रजा की विपदा सिर पर लेना।

जो नरेश केवल कर लेकर दीन प्रजा को ठगते।
३६० वे अपने विनाश की खाईं के खनने में लगते।
उनकी शान्ति हरण करने को महाक्रान्तियां आतीं।
ठोकर मार कराल काल का उनको कवल बनातीं।

हे सम्राट ! अवध की आशा कीर्ति-समान तुम्हारी।
शान्ता जाय हृदय में ऋषि की छवि धर मानसहारी।
मानस-यान सजाओ नृपवर ! बिना विलम्ब पठाओ।
लोक-यातना के वारण में काल न अधिक गँवाओ।"

आसन से उठ बोले नृपवर, "क्षमा करें जो मुनिवर।
करूं आप से एक निवेदन विनय भाव उर में धर।
आप विरागी हम गृह-सेवी महामोह में साने।
अनासक्ति के भाव आपके मूढ़ कहां हम जानें। ३७०
साधारण भावना-लहर में दिवस हमारे जाते।
बैर, प्रीति, ममता के नाते आठों पहर निभाते।
लोक-लाभ-हित भी कन्या के इस प्रकार जाने से।
हम मणिहीन भुजंगम जैसे होंगे दीवाने से।
एकाकी जायगी विपिन में विपदा जहां कराला।
जीवन अंत जहां करती हिंसक जीवों की माला।
क्या जाने आहार उन्हीं का होगी या कि बचेगी।
जग की विपद लचेगी अथवा धरती और तचेगी।
मेरे पास गयी थी सीधी चली संग ही आयी।
अभी न इसकी माताओं ने खबर यहां की पायी। ३८०
कैसे कह दूं चली जाय यह उनको बिना बताए।
अनाचार होगा यह मुनिवर ! इतना उन्हें सताए।
अन्तिम बार न देख सकेंगी तो निशि-दिन रोयेंगी।
रो रो कर आँखों की अपनी ज्योति सकल खोयेंगी।
ठण्डी सासों में बीतेगें उनके दिन औ रातें।
तड़पा तड़पा कर मारेंगी उन्हें विरह की घातें।
अन्तिम बार भेंट कर लेंगी प्रीतिमयी सब दासी।
जो शान्ता के सरल प्यार की रहतीं प्रतिपल प्यासी।
उसके अधरों का हिलना जो सदा देखती रहतीं।
उसकी सेवा में जो जीवन - स्वाद लेखती रहतीं। ३९०
शान्ता के दुलार की भूखी प्यारी एक कुरंगी।
इसे देख दिखलाती नव नव निज अंगों की भंगी।
राह देखती रह जायेगी काली आँख उठाये।
खायेगी न बिना शान्ता के कर की थपकी खाये।

इसके सरल प्रेम की पात्री छोटी सी मार्जारी।
भूरी-श्याम धारियां तनु में जिसके अति छविधारी।
अंतिम बार पीठ सहलाकर दूध पिलाकर उसको।
जाय अनाथ बनाकर पलभर खेल खिलाकर उसको।

तोता एक हठीला पाला जैसी स्वयं हठीली।
उसका रोष-शमन करने की ज्ञात इसे ही कीली।
उसको यह समझा दे जाकर अब यों मान न करना।
बूढ़ी माओं और दासियों को हैरान न करना।

वह वाटिका जह यह देवी सी थी विचरा करती।
बिना ग्रीष्म ही जल जायेगी प्रतिपल आहें भरती।
वहां कुंज-पुंजों में जाकर तनिक घूम यह आये।
कुछ दिन हरी बनी रहने हित आश्वासन दे जाये।

आज लताएं पा लें अंतिम धारा शीतल जल की।
फिर तो उन्हें जला ही देगी ज्वाला विरह-अनल की।
वे गुलाब के पौधे जिनको अब मिट्टी में मिलना।
अन्तिम बार सीख लें इससे मन्द मन्द हँस खिलना।

कितने ही कपोत के बच्चे इससे हिले हुए हैं।
इसके ही दुलार से उनके चेहरे खिले हुए हैं।
एक बार जाने के पहले उन्हें प्यार कर आये।
जीवन के उस पार जा रही, उनसे कह कर जाये।

काली गाय एक शान्ता की नाम मनोहर श्यामा।
स्वर्ण जटित सींगों से दिखती जो अतिशय अभिरामा।
दूध पिलायेगी न वत्स को बिना इसे अवलोके।
बछड़े का भूखा रह जाना, जाय आज तो रोके।

अभी हाल में हथिनी ब्यायी उसकी बच्ची प्यारी।
श्याम घटा- शिशु सी अवनी पर आयी मानसहारी।
पायेगी न इसे तो दोनों काली सूँड़ उठाए।
तप सा करने लग जायेंगी बिना पिये औ खाये।

वह पालतू सिंहिनी जिसके उर की है यह रानी।
इससे ही ले सकी प्रथम ही से जो भोजन पानी।
जाय उसे यह समझा आवे, आज अवध से जाती।
झुँझला कर के चीर न देना कहीं किसी की छाती।

जिन गुड़ियों को शान्ता उर से प्यार मिला मनमाना।

कूड़े में नाली में उनको पड़ न जाय हा !जाना ।
उनकी दुर्गति देख देख कर क्यों प्रासाद कराहे ?
बेटी उन्हें संग ले जाकर सरयू - मध्य प्रवाहे । ४३०

सुन्दर आवरणों से भूषित काव्य पुस्तकें रूरी ।
जिनकी सरस पंक्तियां शान्ता गाती थी रस-पूरी ।
कर-पंकज में लेकर उनको नमस्कार तो कर ले ।
अन्तिम बार पोंछ कर उनकी धूल, प्यार तो कर ले ।

चर औ अचर अचेतन चेतन सब इसके अनुरागी ।
जाय सभी को समझा कर यह—होती हूं गृह-त्यागी ।
सब को एक अवधि के बन्धन से कस कर यह जाये ।
जिससे शव का ढेर मात्र ही नगरी में न दिखाये ।

बसन एक से एक मनोहर मूल्यवान आभूषण ।
जो कुरूप तनु को भी कर दें पल में निपट अदूषण । ४४०
बिखरे होंगे उन्हें कहीं रख, समाधिस्थ कर जाये ।
क्यों किरकिरी किसी दुखिया की आँखों में गड़ पाये ।

जिस शैया पर सोती थी यह सूनी पड़ी रहेगी ।
अब फूलों की ठौर अँगारों से ही जड़ी रहेगी ।
एक बार उस पर फिर अपनी देह-लता लहरा ले ।
जाने के पहले उसको फिर अपने गले लगा ले ।"

यह कह नृपति रुके, मुनि बोले, "यही करुण रस जग का ।
अमरों का अभिलषित अमृत नव काँटा यह पग पग का ।
इसी मंजु रस के प्रेमिक हो हम जगती में आये ।
भाव हृदय में, आह गले में, लोचन में जल लाये । ४५०

माताओं से विदा माँग ले स्वजनों से मिल आये ।
सत्र का समाधान कर सब विधि शान्ता ऋषि ढिग जावे ।
लौटेगी जग-हित-साधन कर तनिक न इसमें शंका ।
चतुर्दिशा में नृपति तुम्हारा बज जायेगा डंका ।

शान्ता निज आसन पर बैठी मन एकाग्र बनाये ।
मुनि के वचन श्रवण करती थी परम सरस मन भाये ।
चित्राकित प्रिय प्रणय-बाण-हत अस्थिर थी वह ऐसी ।
सिन्धु-मिलन के हेतु उल्लसित होती सरिता जैसी ।

अल्प वयस की बाल सलोनी बाल कलाधर-रूपा ।
दृग मन प्राण सकल मलहारिणि स्रोत पियूष अनूपा ।
शृंगी ऋषि को जान शंभु सम, माथे पर चढ़ने को ।
चंचल होने लगी विलक्षण वन-पथ पर बढ़ने को ।
किन्तु तोड़ कैसे वह पाती पिता-प्रेम की बाधा ।
पंकज-कोष-बद्ध भ्रमरी सी चिन्तित बनी अगाधा ।
प्रियतम के अनुराग सिन्धु में डूब रही थी बाला ।
आया याद डूबना उसका जग दुख हरने वाला ।

खड़ी हो गयी सुन्दरता की मूरति सी अलबेली ।
किन्तु नहीं, इससे भी समधिक थी वह कान्त नवेली ।
स्वर्ण-सुरभि का मेल हुआ था शान्ता ही में आकर ।
सुन्दरता थी बनी पुनीता परम दिव्यता पाकर ।
स्वयं स्नेह ने जिसके उर में मंजु बसेरा पाया ।
पहरा देकर जिसका सारा कलुष-विकार भगाया ।
शान्ति-हंसिनी जिसके मानस में बसने को आयी ।
सुन्दरता से अधिक सुन्दरी क्यों न पड़े दिखलायी ?
नवल सरोज-सलोनी छवि के निन्दक मादक कर से ।
आनन-अनुरागिणि अलकों को नत कर शिर-अम्बर से ।
कहे वचन, जो, विनय भरे थे औ करुणा से साने ।
गुप्त प्रीति औ प्रगट लोकहित-वाहक परम सयाने ।

"पिता आप मुझ क्षुद्र के लिए क्यों आसक्ति दिखाते ?
मैं जाऊँगी गहन विपिन में, भय न मुझे कुछ जाते ।
बाघ, सिंह कुछ कर न सकेंगे, मुझको प्यार करेंगे ।
मेरे चरणों पर आ आ कर अपना शीश धरेंगे ।
बड़ा प्रेम का पथ कँकरीला ऊबड़-खाबड़ होता ।
शक्ति अनन्त लगाकर खोदें तब मिलता रस सोता ।
प्रेम नहीं सोता सेजों पर जिनमें फूल सजाये ।
उसने तो शरशैया पर ही जाकर रस बरसाये ।
ऋषि के ढिग मेरे जाने में सब की भरी भलाई ।
जग-संकट कटने का कोई पथ देता न दिखायी ।
तो यों कातर हो जाने का उचित नहीं यह अवसर ।

धीरज धर कर आज्ञा दे दो, गमन करूं मैं सत्वर। ४९०
पैरों में काँटे गड़ जायें आह न कर सकती हूं।
साँपों की फुफकार देखकर नेक न डर सकती हूं।
ऊँचे से ऊँचे पहाड़ भी मग मुझको दे देंगे।
गूढ़ कन्दराओं से मेरे पथ-बोधक निकलेंगे।
ऊषा की प्रकाश रेखा सी जाऊँगी मैं बन में।
कौन प्रवेश-निषेध करेगा मेरा उस कानन में।
ज्योत्स्ना फैलाऊँगी मैं जो कमल कुमुद-हितकर हो।
तारे ले जाऊँगी जिनमें निशि-दिन ज्योति प्रखर हो।
ओस बूँद सी आभूषणप्रद विपिन-फूल की हूँगी।
उस सीपी में मोती सी पड़ सफल उसे कर दूँगी। ५००
पुरुषाओं की कलित कीर्ति की कर में लिये पताका।
शान्ति भवन निर्माण करूँगी लहरित प्रीति-लता का।
मेरे लिए अयोध्या जैसी विपिन बनेगा वैसा।
स्नेह-विकल फिर हो जाना यह पिता, तुम्हारा कैसा ?
पहले तो मैं मर न सकूँगी, किन्तु अगर मर जाऊं।
क्षत्रिय की सन्तान, क्यों न मैं वीरांगना कहाऊं।
संकट तनिक देख कर आगे जो बाला डर जाती।
औरों के हित रक्त देह का जो न सहर्ष बहाती।
पग पग में प्राणों का भय ही जिसको छाया रहता।
बात बात में जिसके माथे पर बल आया रहता। ५१०
प्राण-दान से जीवन मिलता-जिसने यही न जाना।
कृपण-संपदा इब प्राणों को जिसने रखना ठाना।
व्यर्थ जन्म जगती में लेकर क्षत्राणी कहलायी।
प्रसव-वेदना उसकी जननी ने नाहक ही पायी।
पिता, तुम्हारे लिए स्वयं को बलि मैं कर डालूँगी।
माताओं के हेतु तुम्हें तज प्रेम-व्रत पालूँगी।
आश्रित जन के हेतु तुम्हें औ माँ को भी त्यागूँगी।
सब जाऊँगी भूल लोक-हित में जब अनुरागूँगी।
जिस उर में भाले की नोकें गड़ीं न कुछ कर पायीं।
शेल-शूल राशियां फूल की कलियां बन कर आयीं। ५२०
पिता ! उसे सनेह में मेरे यों न चलित होने दो।

ममता की पीड़ा से उसको यों न दलित होने दो"
अनल चन्द्रमा से भी शीतल प्रेमानल के आगे।
छू न सके प्रेमी के तनु को अन्धड़ कभी अभागे।
प्रेमयोगिनी होकर मैंने सब से प्यार बढ़ाया।
प्यार बढ़ाकर उसका सारा प्रिय रहस्य भी पाया।
प्रेम-पंथ पर चलकर प्रणों की बाजी न लगायी।
तो मानों रण में जाकर भी हमने पीठ दिखायी।
प्रेमदेव की बलि वेदी पर शीश काटकर धर दूं।
काम पड़े तो यह नश्वर तनु खंड-खंड भी कर दूं।
मेरे आश्रित जितने प्राणी क्लेश न पाने पायें।
मेरे विरहानल में जल के हाय न वे मर जायें।
मैंने तो निज धर्म निभाया मोह नहीं फैलाया।
नहीं जानती थी मैं इतनी बढ़ जायेगी माया।
उनसे यह कहते रहियेगा शान्ता फिर आयेगी।
तुम्हें, तुम्हारे सरस प्रेम को कभी न बिसरायेगी।
इसी मधुर आशा में अटके वे सब पड़े रहेंगे।
निश्चय फिर मुझको पायेंगे यदि यों अड़े रहेंगे।
पिता! प्रेम-आग्रह निज रोको, माताओं ढिग जाना—
होगा ममता के प्रवाह को अधिक सवेग बनाना।
कहिएगा माताओं से यों—"लोक व्यथा हरने को।
चली गयी शान्ता निर्मम हो जग का हित करने को।"
यह कह गिरी पिता-चरणों पर भक्ति भाव में मग्ना।
किन्हीं कृपण नयनों कृत मौक्तिक माल हृदय-संलग्ना।
संयम हेतु यत्न-रत दशरथ इस प्रकार तब राजे।
इन्द्रधनुष सँग श्वेत जलद ज्यों छवि के तनु को साजे।

शान्ता के उत्तर-हित दशरथ-अधर तनिक सा डोले।
एक शब्द भी किन्तु नहीं वे भाव-रुद्ध से बोले।
खड़े हो गये सहज सजग से दिव्य मनोबल पाकर।
बोले बचन महामुनि से यों परम विनय-नय-आकर—
"शान्ता को गृह में ले जाकर विदा कराकर आऊं।
तब तक के हित क्षमा क्षमा के धाम आप से पाऊं।
अधिक विलम्ब न होगा मुझको राजसभा के लोगो।

तब तक तुम भी मुनिनायक सँग ज्ञान-विवेचन भोगो।"
यह कह आगे चले भूपवर पीछे पीछे कन्या।
भागीरथी-समान अवनि को चली बनाती धन्या।
राजसभा गूँजी निनाद से-"जय शान्ता की जय हो।
मानवेन्द्र दशरथ की जय हो रघुकुल कीर्ति-विजय हो।"
इसी घोष के संग उठे नृप शान्ता ही के अनुगत।
शेष हो गये राजधर्म पर मुनि व्याख्यान-श्रवण-रत। ५६०

सभासदों ने प्रश्न विविध विधि किये उन्हीं के उत्तर—
मुनि ने दिये सरल शब्दों में सकल भ्रांति-वारणकर।
"अहंकार में, विलासिता में लीन न नृप हो जाये।
अपनी महिमा के प्रचार में व्यर्थ न वह खो जाये।
राज कोष-व्यय सकल निबाहे नृप का, नृप-अनुचर का।
किन्तु कभी न उसे दे जीवन शोषक का, तस्कर का।
जनता के कर का यदि राजा अतिशय भोगी होगा—
तो निश्चय, समाज का जीवन अतुलित रोगी होगा।
त्यागमूर्त्ति, सेवक समाज का, जनहित का आराधक-
राजकीय कर्त्तव्य मात्र से होगा वैभव-साधक ५७०
उस वैभव को लात मारते उसे न देर लगेगी।
संग्रहैषणा-काल सर्पिणी उसको डस न सकेगी।
कंकड़-पत्थर को सँवार कर महल न उसे बनाना।
औरों को भूखा रख करके उसको नहीं सजाना।
राजकर्मचारी बन बैठे तारक धर्म-प्रचारी।
आर्य वचन से, दानव मन से हरण मात्र व्रतधारी।
शोषण और हरण के हित ही होते वे नृप-अनुचर।
बन्धु-मांस खा, बन्धु-रुधिर पी जीते वे हिंसक खर।
ये मार्मिक विचार मुनिवर ने विविध भाँति समझाये।
कोशल के समाज में वर्गों के सब भेद बताये। ५८०
त्रयतापों का मूल विषमता, उसी मूल को हरलो।
संकट सकल मिटेंगे पल में समता उर में धर लो।"
राजकीय अनुचर ने आकर इसी समय बतलाया—

महारानियों ने न अभी तक प्रभु का दर्शन पाया।
कथन-समाप्ति-अनंतर ही यह नव निर्देशन आया।
विकसित हृदय प्रफुल्ल अधर पर बन विहास लहराया।

दिन-भोजन उपरान्त रानियां सब जाती थीं।
एक सदन में हृदय जहां वे बहलाती थीं।
शोभा का था भवन भवन वह मानसहारी।
अनायास सब काल प्राण - मन मोदितकारी।
छतें निराली नीलवर्ण उसकी छविछायी।
जिनमें अंकित पीत चित्रमाला मनभायी।
थीं मर्मर पाषाणमयी दीवालें शोभन।
जिनमें भी थे चित्र एक से एक विमोहन।
कहीं कुंज थी ललित लता - सुमनावलि मंडित।
कहीं मधुप की पंक्ति पूत मधुनिरत अखंडित।
फूले सुन्दर कास कहीं हिम अचल घटाएं।
कहीं श्याम घन वृन्द लिये चंचला कलाएं।
उड़े चले जो दृश्य काल से डैने पाकर।
उन्हें मिला विश्राम अमर लेखा में आकर।
नर किन्नर गन्धर्व देवमय विविध कथानक।
चित्रित हो अभिराम दिखाते थे वर बानक।
बातायन सब ओर पवन देते थे शीतल।
पाकर जिनका परस सरस होता था ही तल।
इनमें भी जब रमण नहीं ले पाता था चित।
तब के हित थे खेल बड़े ही मोहक अगणित।
मनोरंजनागार कभी चंचलतामय था।
किन्तु आज तो एक वही रक्षण-आश्रय था।
महारानियां दीन अकिंचन मन लाती थीं।
विस्मृति के दो चार विरल कण पा जाती थीं।
भोजन करके स्वल्प स्वगृह को नृपति पधारे।
खा न सकीं भर पेट रानियां भी मनमारे।
उर पर भारी भार लिये वे यहां सिधारीं।
सकीं न हृदय सँभाल यत्न कर कर के हारीं।

तब चौपड़ का खेल खेलने लगीं निराला।
दाव- पेच में डाल किया जिसने मतवाला।
हार जीत का रंग चढ़ा ज्यों ही मन ऊपर।
चित्त बना अविकार लोह ज्यों पारस छूकर।

औचकही कौशल्या चौंकी आँख दाहिनी फड़की।
किसी अहित की आशंका से छाती उनकी धड़की। ५७०
चौपड़ भूला शिथिल हो गयीं, गड़ा शूल सा जैसे —
अनजानी वेदना हृदय में धँसी न जाने कैसे।

कहा सेविका से कौशल्या-ने, "सत्वर ही जाओ।
खोज अभी रानी-बेटी को मेरे ढिग ले आओ।"
माथे पर चिन्ता की रेखा आकुलता लोचन की।
कहती थी पीड़ा कैकेयी और सुमित्रा- मन की।

मग्न सोचने में दासी थी कहां खोजने जाऊं?
बेटी को किस ठौर एक पल के भीतर ही पाऊं?
उसकी चिन्ता की लतिका ने फूल तुरत ही पाया।
राजकुमारी- प्रिय दर्शन का मधुमय झोंका आया। ५८०

"किन्तु अरे! यह क्यों विचित्र ही वेष बनाया तुमने?
धनुष और तूणीर साज क्यों आज दिखाया तुमने?
पिता-संग फिर कहीं गमन की क्या कर ली तैयारी?
भवन- निवास व्यर्थ ही तजकर फिरती मारी-मारी!"

लिया गोद में कौशल्या ने यों कह आगे बढ़कर।
तरल रूप धर उर ही आया दृग में मानों कढ़ कर।
बड़े वेग से चलीं सुमित्रा दौड़· पड़ी कैकेयी।
लोचन- जल से सिंचित करने लता प्यार से सेयी।

इस दुलार को अंगीकृत कर सरल भाव से बाला।
बोली, "अम्मा, मिला सहज ही मुझे कीर्त्ति- रस प्याला। ५६०
आज्ञा दो करुणा कर मुझ पर अब उसको पीने की।
हो दुर्भिक्ष- दलित जनता को फिर आशा जीने की।

जाऊँगी दक्षिणी विपिन में शृंगीऋषि को लाने।
उनके आते ही जल देंगे इन्द्रदेव मनमाने।

लोक-व्यथा-तारक-मौक्तिक को हंस यही युग सकता।
रवि-कुल का गौरव-रवि भी इस पथ से ही उग सकता।

मुझे सहर्ष विदा दो माता भय न करो कुछ मन में।
जाऊँगी सिंहिनी सरिस मैं उस दुर्गम कानन में।
रघु, दिलीप के कुल की कन्या जहां कहीं जायेगी।
हिंसक जीवों से भी आदर माता का पायेगी।"

मार गया लकवा सा तीनों को न बोल पायीं वे।
प्राण-शून्य पाषाण-मूर्त्ति सी दीना दिखलायीं वे।
किसी बली ने सकल सम्पदा जैसे किसी कृपण की।
भय दिखला कर, विवश बनाकर क्षण के बीच हरण की।

भंग किया तब नीरवता का कैकेयी रानी ने।
सब से छोटी, नृपति-प्रेम की पात्री छबिमानी ने।
"बच्ची, तुम्हें विपिन में किसने आज्ञा दी जाने की।
किसने सोचो बात गँवाकर तुमको यश पाने की।

भूप पराक्रम अन्त हो गया कन्या करे पराक्रम!
इसी धुरी पर रघुकुल-गौरव-शकट सकेगा क्या थम?
विपिन नहीं मैं नरक-लोक में आज चली जाऊँगी।
लोक-लाभ-हित जिसको चाहूँ खींच यहां लाऊँगी।

यदि सम्राट राज्य-संचालन से इतना घबराते।
तो हम तीन रानियां बैठीं, हमको क्यों न बताते?
पुरुष अशक्त बने तो नारी उसका श्रम हर लेगी।
किन्तु अबोध बालिका को तो यों न कभी बलि देगी।

कानन में जाने दें मुझको ऋषिवर को लाने को।
इसी एक पथ से यदि पीड़ा जगती की जाने को।
किन्तु तुम्हें मैं भेज न सकती, कभी नहीं मानूँगी।
लोक-व्यथा बढ़ती ही जाये तो भी हठ ठानूँगी।"

इसी समय जब आये नृपवर उलझ पड़ी कैकेयी—
"राज-काज की नौका प्रभु ने बड़े ढंग से खेई!
राजा ही का दोष सदा यदि भूखों मरें प्रजाजन।
प्रायश्चित्त करे राजा ही पीड़ित कर निज तन मन।

हम सब चलें जङ्गलों में रह विविध भाँति तप झेलें।

आत्म-शुद्धि में रत रह जनता की विपदा सब ठेलें।
कंधे टूट जायं तो टूटें भार हमें ही सहना।
उचित न होगा नाथ डूबती बेला तिनका गहना!

फूलों की शैया पर शान्ता कभी कभी जग जाती।
गड़ गड़ कर पंखड़ी कड़ी जब अपना प्यार जताती। ६३०
भेजोगे उसको कानन में कंकड़ काँटे जिसमें।
यश के प्रेमी नाथ, न पाओगे क्या अपयश इसमें?

इसे पान सा सेतीं हम सब जीवनमूल समझतीं।
घेर घेर कर सदा खिलाती और पिलाती रहतीं।
भेजोगे प्रभु इसे विपिन में वहां रहेगी भूखी।
धूप और अन्धड़ में पड़कर होगी सूखी-सूखी।

लू लगने से वहीं अचानक जब बीमार पड़ेगी।
वहां कौन सी मां के दृग में तब किरकिरी गड़ेगी।
कहीं शैल पर शीत पवन जब चल कर ठंडक देगी।
वहां कौन इसके पैरों को सेंक गोद में लेगी। ६४०

प्राणदंड दे दो बेटी को इसको सहन करेंगी।
दम में काम तमाम करा दो हम सब संग मरेंगी।
किन्तु कभी यह हो न सकेगा उसको बन जाने दें।
बाघ सिंह हिंसक जीवों का भोजन बन जाने दें।

जायेगी वह तो हम सब भी उसके संग चलेंगी।
दास दासियों का मण्डल ले दक्षिण को निकलेंगी।
महलों का आराम उसे हम पथ में भी दे लेंगी।
विपदा जो आयेगी उसको पहले हम झेलेंगी।

मौन रहीं बैठी कौशल्या और सुमित्रा रानी।
बोल गयी कैकेयी बातें जो सब की मन-मानी। ६५०
जितना कहा सजल लोचन ने उससे अधिक बताया।
भूपति के उर को विदारता जो भाला सा आया।
मुनिनायक की रोष-भीति से नृप का उर था शंकित।
हाहाकार प्रजाजन का था मानस-पट पर अंकित।
अपनी से भी अधिक रानियों की वत्सल दुर्बलता—
कैसी करें कहां को जायें, पता न था कुछ चलता।

बैठ गये माथे पर धर कर हाथ अवनि के स्वामी।
अन्तस्तल से कढ़ा—'देख लो, दुख हे अन्तर्यामी!'
आसन भीग गया आँसू से, बात नहीं कुछ सुलझी!
जो दलदल में धँसा धँसा वह उसकी उलझी उलझी!

महारानियों को समझाने फिर से लगी कुमारी।
"मां, न सोहती तुम्हें विकलता तुम रघुकुल की नारी।
अपना गौरव त्याग करो मत, गौरव-पथ पर जाऊं।
अपने कुल को नवल कीर्त्ति का मंजु मुकुट पहनाऊं।
पूज्य पिता की प्रखर वेदना को मत और बढ़ाओ।
गहरा घाव हृदय में उनके उन्हें न और दुखाओ।
समझाओ, वे जी पीढ़ा कर मुझको बन जाने दें।
संकट सर में से सरोजिनी सिद्धिमयी लाने दें।"
कन्या के ये वचन नृपति के उर को ऐसे भाये।
जैसे किसी सदय कर ने हों शीतल लेप लगाये।
किन्तु स्वयं उनका ही धीरज अब छूटा जाता था।
शोक-प्रवाह-सामने बंधन सब टूट जाता था।
गयी आश्रितों पास पिता के ढिग से राजकुमारी।
सजल सरोज देख अनुमानी सब ने विपदा भारी।
शान्ता के मिलने पर भी सब आज अमित अकुलाये।
विषम विरह की आशङ्का से आतङ्कित हो आये।
खड़े हो गये भूप-मुकुट मणि दीन भाव में डूबे।
देख दीनता उनकी मुनियों के मानस भी ऊबे।
'राजभवन में आयें मुनिवर'—द्रुत संदेश पठाया।
नौका पार लगायें वे ही आग्रह मौन बढ़ाया।

परामर्श करके मंत्री से मत लेकर गुरुजन का—
लगे पत्रिका ऋषि को लिखने, उमड़ा भाव हृदय का।
चली नहीं लेखनी, चले तब राजसभा-जन सत्वर।
उनमें भी जो श्रेष्ठ अधिक था उसे लिया नृप ने वर।

"महामान्य हे शृंगी ऋषिवर, जो समुद्र जलराशि गभीर—
उसके पास न क्यों जायेगी नदी लिये अपना नव नीर।
त्यों ही मेरी बड़ी दुलारी शान्ता सकल गुणों की खान।
क्यों न धन्य होगी श्री चरणों में पाकर के अपना स्थान।
पिता और माताओं की जो एक मात्र जीवन -आधार।
आज जा रही है सेवा में इसे कृपाकर देना प्यार। ६९०
बड़ी हठीली सरल बालिका कभी कभी यदि ले हठ ठान।
ज्ञानवान हैं, आप न उसका विलग कभी लें मन में मान।
बेटी की जीवन-जिज्ञासा-पूर्ति मिले प्रियतम से कान्त।
सदा आप के हित विनोद की बने साधिका वह विश्रान्त।
यही निवेदन है श्रीहरि से मिले आप का हमें प्रसाद।
दम्पति-प्रणय-सिंधु में डूबे सकल हमारा विरह-विषाद।"

इसी समय आ गये मुनीश्वर गुरु अरुन्धती संग।
व्याकुलता से मुक्तिलाभ की बढ़ सी चली उमंग।
आसन उचित मिले तीनों को सब के दंड प्रणाम।
आशीर्वाद लाभ कर सब ने पाया मन - विश्राम।" ७००

लेखक से निज कर में ले नृप लगे बाँचने पाती।
दृगजल वारित पाँति अक्षरों की थी नहीं दिखाती।
नयन-नीर में निमज्जिता हो जाय न मिट, इस भय से।
नृप ने दिया उसे मुनिवर को प्रेरित धृति-संचय से।
जान गये सब एक निमिष में गुरु वशिष्ठ विज्ञानी।
महारानियों की व्याकुलता अति बाधक अनुमानी।
इससे उन विषाद-मग्नाओं को ही सम्बोधित कर—
लगे वेणु सा वादन करने भुजंगिनी मोहितकर।

"धीरज कैसे तुम्हें बँधाऊं रानियों!
कठिन कुअवसर कन्या विषम वियोग का।७१०
और अचानक चोट करे जब ओट से
ओप क्यों न पा जाय कोप इस रोग का।
गृहियों का गुरु बना, गृहस्थी में रहा।
संसृति का आघात कड़ा जी कर सहा।

उस मोती का मूल्य मानता हूं महा—
जिसमें होकर तरल अनल उर का बहा।
जो सरला निजकक्ष महल में भूलती।
पायेगी किस भाँति विपिन में राह वह।
काँटा सा दे गड़ा कलेजे में न क्यों?
आँखों की किरकिरी न हो क्यों आह यह?

बड़ी हो गयी तदपि खिलातीं तुम उसे।
खाने की भी याद दिलातीं तुम उसे।
कुम्हलाये कुछ देख ओठ प्यारे बड़े।
स्वयं दौड़ कर बारि पिलातीं तुम उसे।

वही बालिका आज विपिन में जायगी।
छाती पर क्यों साँप लोट जाये नहीं?
प्राणों की जो प्राण आँख की ओट हो
मां का जी क्यों दलित चोट खाये नहीं?

किन्तु दवियो! समझो अपने आपको।
समझो प्राप्त प्रसंग परम गम्भीरता।
अधिक कहूं क्या, तुम्हें नहीं यह सोहती।
इस अवसर पर इतनी अधिक अधीरता।

रोने का अधिकार तुम्हारा तो सदा।
किन्तु आज हँसकर भी आशीर्वाद दो।
साधारणता तुम्हें नहीं फबती कभी।
असाधारणे! आज सिंहिनी-नाद दो।

सीधे पथ से गये सधे सीधे सभी।
जग में आये और किसी दिन मर गये।
बाँके पथ पर चले बड़े बाँके सदा।
शूल शेल दुख झेल नाम कुछ कर गये।

तारागण से अधिक सरल होगा कहां।
आये संध्या समय सवेरे चल दिये।
उषादेवि सी कोमलांगना ने तभी।
आकर उनके कान अचानक मल दिये।

सीधा सा वह पंथ रुचा शशि को नहीं।
कटा-छँटा पर नेक न घबराया कभी।
चन्द्रमौलि के अमल मौलि में तिलक का।
महिमामय पद भी उसने पाया तभी।

सीधेपन की मूर्ति सरों को देख लो।
मैल और मल छोड़ उन्हें क्या मिल सका?
घिरे रहे वे स्वर्ण सीढ़ियों से सदा।
फिर भी उनका वदन कभी क्या खिल सका?

टेढ़ी-मेढ़ी राह चलीं, श्रम से थकीं।
चट्टानों से लड़ीं, उमङ्गमयी बनीं।
रत्नाकर के अंक-मध्य विश्राम पा।
सरिताएं ही तरल तरङ्गमयी बनीं।

सरल पन्थ पर लोकवृन्द चलते सदा।
रोकर ही वे काल-गाल में भी गये।
गिरि चोटी पर चढ़े बंक पथ के पथिक।
मरने पर भी अमर लोक वे ही गये।

रघुकुल की वीरता-मत्त क्षत्राणियां।
सरल पंथ-पंथिनी कहां कब हो सकीं?
कीर्ति-दीप-सम्मुख पतङ्ग सी कब नहीं—
तृण-समान ही मान प्राण तक खो सकीं?

सरल पंथ-अनुगमन आज क्यों हो रहा?
कुल-परिपाटी छोड़ अधीरा क्यों बनीं?
भानु-प्रभा क्यों आज हो गयी शीतला?
कातरता में मग्न सुवीरा क्यों बनीं?

थाती जो कर-रूप प्रजा ने दी तुम्हें।
फेरोगी सो उचित समय पर क्या नहीं?
इससे भी विकराल घड़ी क्या आयगी?
प्रेरक होगा अधिक कुअवसर क्या कहीं?

जिनके धन से अमित विभव भोगा सदा।
वासव में भी साध साधना की भरी।

निरधन उनको देख बनो मत निरदयी।
दे दो मंजु विभूति उन्हें तुम भी खरी।
यह सारा ऐश्वर्य तुम्हारा रानियो!
जो सुरतरु की भाँति फलाफूला रहा।
प्रजा-जनों का स्वेद-सलिल ही मूल में।
पाकर अपना भान सदा भूला रहा।
यह मंजुल प्रासाद विश्व-आश्चर्य सा।
भानुकरालिंगिता मंजु मणियों-खचित।
रवि-कुल-कीर्ति-कलाप - कथन - कल्लोलिता।
सरयू का आह्लाद कनक-चाँदी-रचित।
मुनि--मनहारी कक्ष एक से एक प्रिय।
जिनमें मोहित ज्ञान भुला दे आप को।
नीरव भी रह कथन किया करते सदा।
भानुवंश - आतंक - प्रभाव - प्रताप को।
रघुकुल-ऊँची ध्वजा गगन को भेदती।
मघवा-उर का घाव हरा नित कर सकी।
अमरलोक को छोड़ आगमन हित यहां।
अमरों में भी चाव अपरिमित भर सकी।
यह सब गौरव तुम्हें कहां से मिल सका?
मनुजों में सिरताज किया किसने तुम्हें?
चतुरानन, हरि, शम्भु त्रयी का मिलित पद।
दिया सम्मिलित, ग्रंथित प्रजाजन ने तुम्हें।
प्रजाजनों की प्रीति संगठित रूप में।
तव गरिमा में प्रगट दीख पड़ती सभी।
ज्यों जलनिधि-जल तप्त जलद-तनु धारता।
नव जीवन आह्वान इष्ट होता जभी।
दुर्गों की भी नींव उन्हीं से दृढ़ बनी।
प्राचीरों के तले प्राण उनके पड़े।
रत्नाकर हो दिये उन्हीं ने प्रेम से।
हीरे पन्ने और जवाहर के घड़े।

ब्राह्मणी हो सदा वृद्धि उनकी करो।
कमला होकर बनो प्रेम से पोषिका।
दोषी हों तो उन्हें दण्ड दो रोष से।
काली होकर बनो उन्हीं की शोषिका। ८१०

यदि स्वधर्म की ओर ध्यान दोगी नहीं।
संकट के सब शेल झेल लोगी नहीं।
महाशक्ति-अपमान करोगी देवियो!
जीवन के इस सिन्धु पार होगी नहीं।

करो नहीं आह्वान क्रान्ति की देवि का।
महा अनल में जला न डालो आप को।
क्या हित होगा भिटें प्रजा राजा सभी!
पाओगी क्या बढ़ा प्रखर उत्ताप को!

पावस में जब मेघ सलिल बरसें नहीं।
खेतों में जब शस्य हरित सरसें नहीं। ८२०
राजा ही का दोष सरासर मैं कहूं।
सर सरिता जब सरस बनी दरसें नहीं।

दानव का बल बढ़े, देवगण दीन हों।
ऋषि-मुनि ब्राह्मण-धेनु धर्म्म से हीन हों।
राजा ही की कमहीनता का कुफल।
जो जन के मन बिना सलिल के मीन हों।

भूमण्डल पर आज अधर्मी राज्य की।
गर्म आह में अश्रु-धार में घोषणा।
कीर्ति तुम्हारी विमल हर रही, कर रही—
सकल तुम्हारी क्षात्र शक्ति की शोषणा। ८३०

क्षात्र तेज से शून्य बनेगा भूप जो।
कर में जीवन-फूल न उसके आयगा।
बस विलास का कीट अधम उस मूढ़ को।
कर के अपना दास चाव से खायगा।

प्रायश्चित्त—विधान महामुनि ने कहा।
यज्ञ करो हे महारानियो! हर्ष से।

मिट्टी में मिल जाय अभी अपकर्ष सब।
तुम प्रफुल्ल हो चलो नवल उत्कर्ष से।

भूखी प्यासी थकी बालिका को निरख।
मोती देंगी ऋष्यशृंग की सीपियां।
वे मोती ही हरित करेंगे खेत सब।
भरित करेंगे हृदय-सिन्धु में वीचियाँ।

इसके तप को देख हृदय हिल जायगा।
स्वयं सिद्धि सी समझ इसे अपनायँगे।
कठिन तपस्या-रूप-उषा-अनुचर बने।
सिर के बल वे तेजराशि रवि आयँगे।

शान्ता से जो काम सहज हो जायगा।
सिर दे मारो तुम न सकोगी कर कभी।
निर्विकार सब भाँति सरल शान्ता-हृदय।
जग-जीवन के दोष भरे तुममें सभी।

काम सँवारेगी न अकेली वीरता।
रहें संग ही संग वीरता, धीरता।
लोक-वेदना-हेतु नितान्त अधीरता।
और साथ ही रहे लक्ष्य-गम्भीरता।

ये सब तुममें भला कहां से आयँगे।
तुम सन्तति-अनुराग मात्र अधिकारिणी।
ऋषि के दर्शन भी न तुम्हें हो पायँगे।
यात्रा होगी तुम्हें व्यर्थ श्रमकारिणी।

महाराज को अधिक व्यस्त कर दो नहीं।
पथ-स्खलन का व्यर्थ कुअवसर दो नहीं।
राज-धर्म को भुला न दो हे देवियो!
अपने सिर पर भार अयश का लो नहीं।

जिस प्रकार से भानु-वंश-दायित्व का।
हो पाये परितोष करो वह कार्य ही।
यदि कलंक का राहु उसे, ग्रसने चले।

तो तुमको बहुभाँति यज्ञ-व्रत धार्य हो।
शान्ता वन को जाय यज्ञ यह तुम करो।
महाराज भी यज्ञ करें धीरज धरे।
यह धीरज विश्वास सहित भगवान में—
सगर वंश कल्याण और मंगल करे। ८७०

यह भी सोचो यज्ञ कहां कब हो सका
जिसमें थोड़ी आँच नहीं सहनी पड़ी।
स्वयं दिवाकर को विलोक लो लोक में।
तप की कितनी व्यथा वहन करनी पड़ी।

रत्नाकर हो सका रत्न आगार क्यों?
बड़वानल का ताप भोग उसने किया।
तप में सारे अंग काट डाले स्वयं।
इससे ही पीयूष कलाधर ने पिया।

वर्षा-आतप और शीत-पीड़ा सही।
लक्ष लक्ष दिन रात किया तप हो खड़े। ८८०
पर्वतपति के गेह महामाया स्वयं—
गिरिजा हो अवतरी तभी भागों बड़े।

जल ने जब तप किया जलद पदवी मिली।
फिर सतरंगी चाप चढ़ाने को मिला।
स्वाती का सम्बन्ध सीप का अंक पा।
जीवन से फिर मुक्त कहाने को मिला।

काम जगत के सभी यज्ञ से हो सके।
यज्ञ स्वयं यह जगत एक करतार का।
पीड़ा ही से प्राण मिला इस विश्व को।
पीड़ा ही में धाम सृष्टि के सार का। ८९०

रचना पोषण और सतत संहार में।
यज्ञ निरन्तर विश्वनाथ का हो रहा।
रुक जाये यदि एक निमिष भी यज्ञ यह।
हो प्रसूत आनन्द कहां से तो यहां।

पत्थर सा तुम आज कलेजे को करो।
जलने दो, जल जाय विरह की ज्वाल में।
किन्तु लोक का शोक घटाओ रानियो!
श्याम घटा बन इस अकाल-विकराल में।
वर्षा होगी, कृषक मुदित हो जायँगे।
व्यापारीगण-भाग्य उदित हो जायँगे।
शान्ता-कीर्ति-कलाप -कथन कर लोग सब।
माताओं का त्याग - गान भी गायँगे।
कृषकों का उल्लास चतुर्दिक छिटिक कर।
उदासीनता - ह्रास करेगा निमिष में।
जो गायें निज वत्स-समेत मलीन-मन—
उनका हृदय-विकास करेगा निमिष में।
वैश्यों का व्यवसाय बढ़ेगा विश्व में।
लक्ष्मी करुणाधाम पधारेंगी यहां।
निज प्रकाश से शूद्र-हृदय भी कर सजग।
व्यक्ति व्यक्ति का भाग्य सँवारेंगी यहां।
राम -नाम की भक्ति बढ़ेगी लोक में।
धर्म -कर्म-अनुरक्ति बढ़ेगी लोक में।
ओक-ओक में सन्त समादर पायँगे।
सेवा की भी शक्ति बढ़ेगी लोक में।
चाहो तो अपकीर्ति और अवसान लो।
चाहो तो जगदम्ब अमर पदवी लहो।
चाहो तो लो पोत, विपद-अम्बुधि तरो।
चाहो तो बस प्राण गँवाने को बहो।

असमंजस में पड़ो नहीं आशीश दो।
होकर परम प्रफुल्ल-हृदय शान्ता चले।
उसका प्रति पद-पात तुम्हारी हो कला।
जग भी हो गत-ताप अमित फूले-फले।
महामोह जो अभी तुम्हें यों भा रहा।
विकट दैत्य से कम न मानना तुम उसे।
करने को संहार तुम्हारा आ रहा।

सर्वग्रासी काल जानना तुम उसे।
छाया भी छू जाय न इस अज्ञान की।
अशुचि, घृणित, अपराध-मूर्ति समझो इसे।
इस अतिशय नारकी अधम ने मुग्ध कर।
वैतरणी में मग्न न कर डाला किसे?

तुमको तो है प्रीति कन्यका-देह से।
घुँघराले वे बाल देखना चाहतीं।
शरद चंद्र सा वदन कलंकित अलकमय
भाता तुमको, उसे सदैव सराहतीं।
उसके चंचल कमल-नयन की कोर में।
सुशीलता अंजित रंजित करती तुम्हें।
उसे देखकर मृगी बालिका नतदृगी
रुचिकर लगती चौकड़ियां भरती तुम्हें।
कभी व्रीड़िता मौन शुकी की शिक्षिका—
बाला की सुकुमार भृकुटियां तन गयीं।
वही दृश्य कर याद देवियो! तुम सभी।
जगत-जाल की ओर मोहिता बन गयीं।
वसन-नीलिमा अरुण अधर के संग मिल।
तरल तरंगित हास संग सउमंग खिल।
बहु बहुरंगी इन्द्रचाप छविधारिणी।
आज हो रहा पाश तुम्हारे हित जटिल।
देख कंज का म्लान अश्रु-प्लावित वदन।
सदय बाल के सजल सरल लोचन बने।
कर उस जल में स्नान तप्त तो मत बनो।
रहने दो वह जगत-ताप-मोचन बने।

उसकी मंजुल मूर्ति देख सानन्द हो।
धन्यवाद दो बार बार करतार को।
थाती तुमको मिली मोद रस लूट लो।
किंतु बढ़ाओ तो न स्वार्थ के भार को।
अपना आपा भूल नहीं उसमें सनो।
कर अतिशय अनुराग न मधुमक्खी बनो।

प्राण तुम्हारे चले उसी में जायँगे।
गिर कर मरने हेतु कूप मत तुम खनो।

शान्ता का कमनीय बदन देखा किया।
आँखों में ही उसे बिठा रक्खा सदा।
कानों द्वारा सुनीं तोतली बोलियां।
बार बार बलि गयीं अमृत चक्खा सदा।
इसे प्रेम तो नहीं भोग ही मैं कहूँ।
भोग-भाव में मत्त न तुम ऐसी बनो।
सूखा जब तालाब कीच में गड़ रहीं।
महामोहिता तुम न मीन जैसी बनो।
सत्य प्रेम का तत्व जान लो रानियो!
इन्द्रिय का आस्वाद नहीं वह माँगता।
प्रेमपात्र-गति रोक विश्व-कल्याण हित।
परम नीच आह्लाद नहीं वह माँगता।
धारा का चांचल्य देख लो दूर से।
पी लो उसका सलिल स्वास्थ्यकारी महा।
किन्तु मोह में डूब उसे बाँधो नहीं!
इससे होगी हानि तुम्हारी ही महा।
सुरसरिता अविराम प्रवाह-रता बनो।
जग जीवन की क्लान्ति सकल हरती रहे।
कर लो उसमें स्नान किन्तु रोको नहीं।
वह तो कलकल-नादमयी बहती रहे।
सत्य प्रेम तो प्रकृत धर्म दीक्षक सदा।
धर्म-साधना में न कभी बाधक बना।
आराधक वह धर्म रूप भगवान का।
धर्म नीति का तो सदैव साधक बना।
महामोह को तजो, प्रेम ही को भजो।
महारानियो! सकल भ्रान्ति जाती रहे।
हृदय-भवन का द्वार खोल दो प्रेम से।
उसमें सरल प्रवेश शान्ति पाती रहे।

निज जीवन का धर्म प्रेम से जान लो।
प्राणों से भी अधिक उसे प्रिय मान लो।
प्राण भले ही जायं धर्म जाये नहीं।
धर्म गया तो गये यही अनुमान लो।

ठगी न जाओ अरे मोह की नाव पर।
ठगते कितने लोग प्रेम उसको बता।
स्वयं तुम्हारा हृदय ठगों का मुकुट-मणि।
सत्य बात का तुम्हें नहीं देता पता।

मृग-तृष्णा की भाँति मोह भ्रामक महा।
भटका कर सब ओर तुम्हें देगा व्यथा।
मोहक लगता रूप सरस उसका बड़ा।
शोषण रत वह किन्तु निठुर ही सर्वथा।

गौरी से तुम सत्य प्रेम को सीख लो।
कामदेव का वरण नहीं उसने किया।
जटिल, भुजंगी, नग्न रूप शिव का विरस।
किन्तु उन्हीं को हृदय विदग्धा ने दिया।

कालिन्दी से सत्य प्रेम को जान लो।
गौरवर्ण अति ग्रीष्म, जान शोषक तजा।
पावस काला किन्तु रसीला, अति सदय।
इससे उसने उसे हृदय देकर भजा।

मोह तुम्हें पाताल पठायेगा अभी।
प्रेम तुम्हें आकाश ओर ले जायगा।
विकट गर्त्त में मोह गाड़ देगा तुम्हें।
बना चन्द्र सा चारु प्रेम चमकायगा।

मोह तुम्हारी बुद्धि करेगा कुण्ठिता।
दुर्लंध्या दीवाल डाल कर, बन्द कर।
प्रेम तुम्हें उन्मुक्त बनाकर सर्वथा।
अखिल जगत में प्रगति दान देगा प्रखर।

मोह तुम्हें संकुचित रखेगा सर्वदा।
दो कौड़ी से अधिक मोल देगा नहीं।
आरे चलते देख तुम्हारे शीश पर।

आश्वासन के शब्द बोल देगा नहीं।
देकर तुमको दान मुक्ति का प्रेम तो।
हीरे से अनमोल बनायेगा तुम्हें।
आँच तुम्हारी देह में न लग पायगी।
धूप - छाँह सब एक, बतायेगा तुम्हें।
मोह स्वार्थ में सान हरेगा मान भी।
शान धूलि में सभी कभी मिल जायगी।
हृदय-कली को मसल डालना प्रिय उसे।
उसके रहते वह न कभी खिल पायगी।
प्राणिमात्र में, एक-एक कण में प्रणय—
वितरित करके विश्व-व्याप्ति देगा तुम्हें।
मान और अपमान समान दिखायँगे।
सुरभि मान कर सुमन-सुमन लेगा तुम्हें।
घूँट हलाहल पान करो पड़ मोह में।
या पी लो पीयूष प्रेम के हाथ का।
चाहो तो तुम तड़प तड़प कर तनु तजो।
चाहो दर्शन करो राम रघुनाथ का।
मोह दैत्य के यहां धर्म का काम क्या?
वह अधर्म का सखा रातदिन का सदा।
अलंकार सा मान उसे निज मुकुट का।
करता उससे प्रीति भयानक सर्वदा।
प्रेम देव ही धर्म तुम्हें सिखलायँगे।
अमरलोक अभिराम पंथ दिखलायँगे।
काल-रुद्र-यम-कोप न व्यापेगा तुम्हें।
जीवन-मरण - रहस्य सकल समझायँगे।

जग के कण कण सजग बँधे जगदीश से।
वह बंधन ही प्रेम - धर्म माना गया।
उस बंधन में व्यक्ति मात्र की एकता।
और मुक्ति का सरस तत्व जाना गया।

व्यक्ति-व्यक्ति जब बँधे अलग हो ईश से।
मनमानी ही राह पकड़ कर के चले।
राजधर्म ने जन्म लिया तब जगत में।
शासन करने हेतु प्राणियों का भले।
प्रेमधर्म से व्यक्ति भजेगा राम को।
राजधर्म से वही भजेगा लोक को।
उभय धर्म का तत्व जान जिसने लिया।
शोक-ओक में वही तजेगा शोक को।
प्रेमधर्म औ राजधर्म के वर्म को।
धारण करके महारानियो ! तुम चलो।
इनके बल आसक्ति-जनित बाधा सभी—
अनायास ही परम प्रबल होकर दलो।
प्रेमधर्म बलिदान तुम्हारा माँगता।
उसे शीश दो, दान दया का ईश दे।
राजधर्म आह्वान त्याग का कर रहा।
उसकी कर दो तृप्ति लोक आशीश दे।

यह मिट्टी का ढेर जिसे शान्ता कहा।
आँखों से हट जाय, हटे क्या घट गया।
जब आँखों में बसी, बसी मन में सदा।
मूर्ति मनोहारिणी लिये रस नित नया।
स्वयं शारदा रही तुम्हारे गेह में।
क्षुद्र बालिका उसे मान बैठी रहीं।
भोलेपन में भूल रत्न को फेंक कर।
तुम नाहक ही सिन्धु-मध्य पैठी रहीं।
अब जाने का समय आज जो आ गया।
तो भी उसका लाभ न लेना चाहतीं।
भूल करो मत, भूल वेदना-शूलप्रद—
यदि जीवन को गँवा न देना चाहतीं।
जाकर भी वह आँख तुम्हारी खोलती।
भीतर की वह आँख आज भी खोल लो।

जीवन का आनन्द उसी में तो भरा।
मिट्टी को दो फेंक, स्वर्ण अनमोल लो।
शांता रह कर तुम्हें न कुछ सिखला सकी।
जाकर भी सिखला न सके कुछ, हो न यह।
धोखा खाकर बार बार सीखा न जो।
महारानियो ! बात बुद्धि की तो न यह।

रोना धोना छोड़ कलेजा थामकर।
ऊपर जो पड़ जाय सभी को झेल लो।
खेल खेल में कभी न रोओ, सृष्टि यह—
कुछ घड़ियों का खेल, खूब खुल खेल लो।
और कौन सी बुद्धि भला इसमें भरी।
रोको औ रुक सके नहीं वह ज्ञानिनी।
भरम गँवा दो यों न, बात खो दो नहीं।
माता हो, निज मान रखो तुम मानिनी।
आशा ज्यों अति आर्त हृदय में जा बसी।
कमला ज्यों अति कृपण-चरण-अनुगामिनी।
बिजली ज्यों घनश्याम-अंक विलसित बनी।
चन्द्र-किरण-रस-राग-सनी ज्यों यामिनी।
त्यों शृंगीऋषि-प्रीति, लोककल्याण - रति—
बँधी उभय में चली यहां से जायगी।
पितृप्रेम या मातृप्रेम की भावना।
धर्मपंथ से रोक न उसको पायगी।

भूखी को आहार न क्यों दोगी भला ?
प्यासी तुमसे नीर नहीं क्यों पायगी ?
तुम खाओगी और पियोगी, क्या वही।
भूखी प्यासी व्यथित पड़ी रह जायगी।
शान्ता की तो भूख-प्यास जगती-प्रणय।
उससे विरहित वह न जियेगी एक छन।
माताओ ! मत प्राण कन्यका के हरो।

उसे रोक कर यहां, न देकर एक कन।
कब उसने आहार-हेतु तुमसे कहा।
उसने खाया पिया सदा कुछ और ही।
बड़ी हो गयी भूख अधिक उसकी बढ़ी।
छीनो उसका अरे न मुँह का कौर ही।
आश्रित जन थे अल्प उन्हें आहार दे।
खेला करती थी सदैव वह चाव से।
आश्रित उसका आज सकल संसार ही।
क्यों न कलेजा मथे व्यथा के भाव से।
बाँधे बनिया हाट भला कब लग सकी?
बाँधोगी तो उसे न पाओगी कभी।
शांता को भी रोक न पाओगी अहो।
पाओगी कब? उसे पठाओगी जभी।
हँसने के दिन तुम्हें मिलेंगे देवियो!
रोने का यह समय काट दो धीर बन।
पीर कटेगी और मिलेंगे फिर सुदिन।
सोचो-समझो बात तनिक गम्भीर बन।
बादल रोया करे, हँसेगी दामिनी।
राह दिखानी उसे अँधेरे में कहीं।
बाँधो उसको, बड़े-बड़े बंधन रचो।
रख पाओगी उसे न घेरे में कहीं।
रँग बाला पर चढ़ न सकेगा जान लो।
बदल सकोगी नहीं उसे तुम, मान लो।
बादल सी वह, देह धो सकी अन्य के।
पर उसकी कालिमा अमर अनुमान लो।
उसे न तुमसे मोह, मोह उससे तुम्हें।
पिंजर-पालित शुकी उसे तुम मानियो।
द्वार अचानक खुला देखकर वह अभी।
उड़ जायेगी, रहो देखती रानियो।

तो रोको यह रुदन, न यों कातर बनो।
संसृति के व्यापार सभी होते कड़े।
पत्थर कर लो आज हृदय जो मोम सा।
हो जायें आघात सरल तीखे बड़े।
कड़ी बनोगी यही जगत लच जायगा।
लच जाओगी यही कड़ा हो जायगा।
कोप-दृष्टि जो करो, जला दोगी उसे।
जो हो जाओ भीरु, तुम्हें वह खायगा।
रहो रबड़ की भाँति जगत में लघु बनी।
भोगो सारे भोग, हँसो रोओ सदा।
पर जब तनना पड़े न यों बेकस बनो।
बिना प्रयास विराट रूप होओ सदा।

यह मानव का रूप मिला है जो हमें।
उसे सिन्धु की एक लहर बस मान लो।
देख पड़े तो उसे देख लो आँख भर।
नहीं दिखे तो सिन्धु रूप पहिचान लो।
स्वेच्छा से हम लोग चले आये यहां।
तज के रूप असीम बड़े छोटे बने।
धीरे धीरे भूल गये गौरव सभी,
घेरों में हा बन्द खरे खोटे बने।

जी बहलाना काम हमारा सृष्टि में।
घेरों से हैरान न होना चाहिए।
जी बहलाया खेल खिलौनों से लिया।
खेल खेल में हमें न रोना चाहिए।

हम करने को सैर चले बाजार में।
देखी जो ही चीज उलझ उसमें गये।
घर चलने के समय सुलझना चाहिए।
क्यों अबोध की भाँति अधिक उलझे गये।

पलक मारते नष्ट हो रहा विश्व यह।
पल पल में नव वेष पकड़ता जा रहा।
एक रूप तुम पकड़ बैठना चाहतीं।

यह बेढंगा काम तुम्हें क्यों भा रहा ?
जो मरता जा रहा उसी में फँस मरो ।
यक्ष्मा से जो व्यथित गले उसके लगो ।
दी कुबुद्धि ने तुम्हें नशे की घँट क्या ?
भगो, भगो, हां अभी समय रहते भगो ।
फेंक न दो निज मूल ब्याज के लोभ में ।
नादिहन्द यह बड़ा जगत कहते जिसे । ११७०
इसको देकर दान सभी मारे गये ।
यह न जानता शील दया कहते किसे ।

अजगर सा संसार मुग्ध करता प्रथम ।
आकर्षित कर हमें निगलता अन्त में ।
प्रगट प्रेम बहु बढ़ा सगापन थाप कर ।
देता हमको हाय विकलता अन्त में ।
या तो इसको मार जगतपति को भजो ।
या इसका आहार बनो जीवन तजो ।
महारानियो ! मार्ग, न कोई तीसरा ।
पड़ो पेट में या कि विजय-भूषा सजो । ११८०

शान्ता ही में तुम्हें महामाया मिलें ।
जो तुम खोलो आँख, देखना भी चहा ।
उसका क्षुद्र स्वरूप हटा दो आँख से ।
रूप विराट विलोक मोद मन में लहो ।
बादल उसके केश भाल अचल-प्रवर ।
भौंह बंक कमनीय इन्द्र का चाप ही ।
सूर्य चन्द्रमा नेत्र अनन्त प्रकाशमय ।
जिनसे जीवन-स्रोत तरंगित आप ही ।
स्वर्णाचल नासिका, उषा-संध्या अधर ।
दाँतों की प्रिय पंक्ति तारकावलि ललित । ११९०
अन्धकार दिन और चन्द्रिका वर वसन ।
गंगा यमुना बाहु, मेखला निधि कलित ।

युग लोचन में शिशिर तथा पावस छटा।
क्रोध-तीक्ष्णता, कभी दया की आर्द्रता।
भाल विराजित ग्रीष्म-विलोचन तीसरा।
जो देता जग-दोष-पुञ्ज को दग्धता।
शीत और मधुमास कर्णकुण्डल रुचिर।
शरद नासिका-मुक्त मनोरम देख लो।
गगन-भेदिनी गिरा चंचला दामिनी।
धरा-कम्प-नूपुरा चरण-गति लेख लो।

जो यह रूप सँभाल सको नहीं।
हृदय-धाम में बिठा न जो पाओ इसे।
तो मैं परिमित रूप बताता हूं तुम्हें।
अपना जीवन-मूल बना डालो जिसे।
भौरों की जो पाँति केश उसको गुनो।
मुखड़ा देख गुलाब खिला पहचान लो।
मृदु माखन की पर्त देखकर भाल की।
निर्मलता औ मनोज्ञता अनुमान लो।
भौहों की बंकता तोरणों में लखो।
काली काली आँख मृगी देगी दिखा।
बाला की अरुणाभ नुकीली नासिका।
कहां, तुम्हें यह मुखर कीर देगा सिखा।
लेकर पल्लव लाल मनोज्ञ रसाल के।
उसके पतले होंठ सप्रेम विलोकना।
दाँतों की जब छटा देखनी हो तुम्हें।
दाड़िम के दाने अनूप अवलोकना।
कोमल पत्ते परम पुनीत प्रभात में।
पा जाते जो सरस ओस बूँदें बड़ी।
बतलायेंगे वही नासिका मुक्त की—
जहां मिलेगी एक संग मंजुल लड़ी।
कुण्डल की छवि तुम्हें देखनी हो जभी।
बाल दिवाकर ओर दृष्टि अपनी करो।

कोमल डाली गले लगा जब जी चहे।
बाला की मृदु बाहु भेंट उर में भरो।
हरित लता में वसन लहरता देख लो।
हंस-पंक्ति में मंजु मेखलाभास लो।
गति गयंद की देख प्रगति-सुकुमारता—
आ जायेगी याद तुरत, विश्वास लो।
झींगुर की झनकार नूपुरों की कथा—
श्रवण कराकर तुम्हें तृप्ति देगी सदा। १२३०
सब सामग्री पास तुम्हारे ही धरी।
जिससे जी की कला खिलेगी सर्वदा।

उर के भीतर मूर्ति-माधुरी जो धँसी।
बाहर भी माधुरी वही मिल जायगी।
शान्ता वन-पथ-रता विकास नया नया।
तुम लोगों को नित्य सप्रेम पठायगी।
क्रम-क्रम से मधुकर, गुलाब नवनीत मृदु—
तोरण, हरिणी, कीर, आदि प्रति दासता—
झींगुर की झनकार, ओस, रवि, बेलि प्रति—
अधीनता का भी न कहीं होगा पता। १२४०
जिन तत्वों से गये बनाये ये सभी।
वे क्रमशः सामने तुम्हारे आयँगे।
उदय-अस्त के और जन्म-अवसान के।
कालदेव जब गीत निराले गायँगे।
जो फूलों की धूलि चाटते ही फिरे।
उन्हें धूलि में मिला देख लोगी कभी।
पंखड़ियां बिखरी गुलाब की देखकर—
आँखों से भी ओस गिरा दोगी कभी।
कौन नहीं मिल गया धूलि में अन्त में।
बड़े-बड़े अवतार धरा पर हो गये। १२५०
जब तक जागे, रहे जगाते जगत को।
कर के अपना काम सदा को सो गये।

पाँच तत्व जब मिले देह यह बन गयी।
विलग हो गये शेष धूलि ही हो रही।
पैरों से रौंदते गये उसको सभी।
नाली में पड़ सड़ी, पड़े कीड़े सही।
पृथ्वी, पानी, आग, हवा, आकाश की—
रचना चारों ओर देख लो आँख भर।
मिट जायेगी, बनी मिटाने के लिए।
१२६० उसे मिटा दो खूब सङ्ग में खेलकर।
जो शान्ता की याद दिलायेंगे तुम्हें।
वे जायेंगे और नये फिर आयँगे।
परिवर्तन ही रूप प्रगतिमय जगत का।
तुमको बारम्बार बताते जायँगे।
ज्यों आटे को गूँध रोटियां ली बना।
त्यों पानी में सान शेष सब तत्व को—
नित नूतन यह देह रची जग-जीव ने।
घोषित कर अनुभूति-प्रसार-महत्व को।
यह विज्ञान प्रकाश तुम्हें देगा नया।
१२७० बन्द तुम्हारी आँख तभी खुल जायगी।
पंच तत्व के एक-एक परमाणु में।
शान्ता की ही मूर्त्ति दृष्टि में आयगी।

आँख बन्द कर देख सकोगी तुम उसे।
देख सकोगी सतत आँख भर कर उसे।
भीतर बाहर सभी ठौर होगी वही।
भेंट सकोगी जहां चहो जी भर उसे।
जीवन का सारा विषाद कट जायगा।
उसका न्यारा स्वाद तुम्हें मिल जायगा।
ज्ञान दिवाकर-किरण तनिक ज्यों छू गयी।
१२८० हृदय तुम्हारा कमल-सदृश खिल जायगा।
बड़े भाग्य से तुम्हें आज अवसर मिला।
कहीं हाथ से निकल न जाये रानियो!

पीड़ा जो मिल जाय उसे उर में धरो।
मणिमाला से अधिक मोल की जानियो।

फूलों ही की सेज सदा जिनको मिली।
भाग्यवान मैं उन्हें कदापि न मानता।
जिनको पथ में बिछे खड़े काँटे मिले।
मैं तो उनका भाग्य सदैव बखानता।
क्षण भर ही आमोद फूल देंगे तुम्हें।
इसी लोक का लाभ तनिक दे पायँगे। १२९०
जीवन-प्रकृत-स्वरूप बता काँटे तुम्हें।
जीवन-दाता के समीप ले जायँगे।

जो आशा हो सिद्धि—सफलता की तुम्हें।
कातरता-परिणाम अभी अवलोक लो।
काम आरसी कान, हाथ कंगन जभी।
शान्ता को जो रोक सको तो रोक लो।
पक जाता फल जभी डाल को छोड़ता।
रोके भी वह ठहर न पायेगा वहां।
सड़ जायेगा रुका रहा जो वृन्त पर।
जग में जाकर नाम कमायेगा वहां। १३००
प्रगतिशील बालिका-प्रगति चिन्तन करो।
उसका हो कल्याण, यही उर में धरो।
उसके जीवन-कार्य सफलता पा सकें—
इसके हित निस्स्वार्थ भाव मन में भरो।

तरु-डाली की कीर्ति तुम्हारी जगत में।
शान्ता जैसा फूल मृदुल जिसमें खिला।
पूजा पर वह चढ़े विश्वपति—चरण में।
उसे धूलि में हाय न दो नाहक मिला।
नहीं धूलि में कभी मिलेगी कन्यका।
उसे गगन में पवन उड़ा ले जायगी। १३१०

वही उड़ा कर धूलि तुम्हारी, धूलि में—
तुमको सारी कीर्ति समेत मिलायगी।
नहीं जगत के कार्य रुकेंगे एक भी।
सृष्टिकार की सृष्टि चली ही जायगी।
कथा तुम्हारे स्वार्थ तथा अज्ञान की।
कर कलंक की वृष्टि, अयश ही लायगी।
अपने गुरु का शीश न तुम नीचा करो।
ऊँचा जिसको रखा सदा रघुवंश ने।
मोती ही तो चुगा सका हूं मैं उसे।
१३२० फाँकी कभी न धूलि विवेकी हंस ने।
देख तुम्हारा पतन द्रवित हो जायँगे।
मेरे प्रति अति करुण भाव मुनि लायँगे।
पड़ा पंक में मोल गँवाता हूं यहां।
मोती उनके सजल नयन बरसायँगे।
मिट्टी में मिल दया-भार ढोया करो।
मेरा बूता तो न ढो सकूं एक कन।
मैं चकोर हूं सदा आग खाया किया।
तुम्हें पंक से प्रेम रहो उसमें मगन।
मैं पानी में आग लगाना जानता।
१३३० पत्थर में भी प्राण जगाना जानता।
धूलि उड़े तो उसे उड़ा दूं व्योम में।
मैं आँधी की भाँति उड़ाना जानता।

रोगी को जो रुचे वही क्यों वैद्य दे।
तुम्हें रुचे जो ईश वही क्यों दें तुम्हें?
तुम उनकी सन्तान ध्यान उनको सदा।
फिर ज्वर में पकवान कभी क्यों दें तुम्हें?
परम कृपा उस जगन्नाथ की जान लो।
भेजी यह आपदा परम कल्याण हित।
घबराओ मत आज कसौटी पर चढ़ो।
१३४० आया विषम विषाद तुम्हारे त्राण हित।

वे जगदीश्वर जभी पगे आमोद में।
गले लगाना कभी किसी को चाहते।
विपद-सर्प-फूत्कार कराल दिखा उसे।
उसके मानस के सनेह को थाहते।

डरो नहीं भगवान स्वयं ही आ रहे।
मानव-तन का परम स्वाद देंगे तुम्हें।
एक पाणि में वज्र, अमृत-घट अन्य में।
डरो नहीं, वे अमृत पिलायेंगे तुम्हें।

जिस पथ से आ रहे धूलि उसकी बनो।
पहले चरण प्रहार सहो, फिर सिर चढ़ो। १३५०
वे गंगा की भाँति शीश लेंगे तुम्हें।
नहलाने को विमल नयन-जल ले बढ़ो।

ज्ञान दीप की ज्योति दिखाता हूं तुम्हें।
उचित पंथ जो वही बताता हूं तुम्हें।
कड़वी औषधि, किन्तु परम कल्याणकर।
उर में धर गुरु-धर्म, पिलाता हूं तुम्हें।

मैंने थोड़ा कहा, अधिक मन में गुनो।
बच्चों सा यों मचल न हठ ठानो, अरे।
जिसे खिलौना मान रही हो भूलकर।
उसे शूल से अधिक क्रूर जानो, अरे।" १३६०

अपना कथन समाप्त किया गुरुदेव ने।
स्थिर-लोचन हो रहे एक पल देखते।
खड़े रहे वे सावधान प्रहरी-सदृश।
निज निर्मल उपदेश सरल बल लेखते।

नीरवता आगता, गता फिर हो गयी।
रव-प्रताड़िता कहीं शून्य में सो गयी।
सावन में ज्यों चन्द्रकला छन को दिखी।
बदली में फिर डूब ऊब ही बो गयी।

कौशल्या ने एक आह ठंडी भरी।
आँचल से दृग-नीर पोंछ गम्भीर हो। १३७०

कहा—"देव आदेश दिया जो आपने।
मानेंगी क्यों नहीं उसे हम धीर हो?
टेढ़े पथ पर क्यों न चलेंगी वीर हम।
राजधर्म की नाक नहीं कट पायगी।
लट जाये तो राज वंश ही यह लटे।
प्रजा हमारी दीन नहीं लट पायगी।
प्रेमधर्म - निर्वाह करेंगी हम सदा।
सत्य, त्याग के सब महत्व को मान कर।
दृढ़ होंगी हम जिस प्रकार प्रभु ने कहा।
इस विपदा को देन राम की जानकर।
शान्ता निर्मल ज्योति हमारे गेह की।
विदा करेंगी आज उसे हम हर्ष से।
रहे दिवाकर वंश-अँधेरे में रहे।
धरा-धाम तो हो प्रफुल्ल उत्कर्ष से।"
अधिक नहीं कह सकीं, नयन से जल चला।
आँचल पट से उसे पोंछते ही बना।
झीना वसन न वेग थाम उसका सका।
गुरु समक्ष ही गिरा अवनि पर वह छना।

निमिष मात्र में जान सभी ने यह लिया।
'मानस' नामक व्योमयान-आरूढ़ हो।
जनता के दुख-सिन्धु हेतु, शान्ता सदय—
सेतु रचेगी आत्म-त्याग अविमूढ़ हो।
नारी नर ही नहीं, अल्पवय बाल जन।
राज भवन की ओर विकल धाये सभी।
गिरते पड़ते और लाठियां टेकते।
बूढ़े और अशक्त चले आये सभी।
तब तक आँगन में विमान वह आ गया।
भादों के घन सजल मेघ सा छा गया।
चिल्लाये सब लोग समागत आर्त हो।
आया-आया क्रूर काल वह आ गया।

"हमें नहीं कामना खेत में अन्न की।
ओठ हमारे वारि बिना सूखे रहें।
बेटी कानन को न कभी जा पायगी।
हम हों प्यासे या कि पड़े भूखे रहें।
जिन कर्मों से हाय मिला दुर्भाग्य यह।
उनमें ही फिर वृद्धि करें हम क्यों भला?
केवल परिजन की न, सभी की वह सगी।
उसे मार बेमौत मरें हम क्यों भला?
जो जीने के योग्य उसे मारो नहीं।
जो मरने के योग्य उसे तारो नहीं। १४१०
हृदयवान हे लोक! पंक के ढेर पर।
अति अनमोल सुवर्ण-राशि वारो नहीं।
पेट भरेगा नहीं चन्द्र के चूर्ण से।
प्राणदायिनी कभी न हीरे की कनी।
बेटी बन को चली, चलेंगे प्राण भी।
कैसे जीवन रखे गँवा मणि को फनी।
बेटे कितने और बेटियां भी कई।
ले लीजे बलिदान जहां ही चाहिए।
पर काले कोयलों के लिए हे प्रभो!
मुहरों की यह लूट कभी न मचाइए।" १४२०

नारद और वशिष्ठ जहां पर थे खड़े।
बूढ़ी आकर एक वहीं रोने लगी—
"बेटी को बन को न पठाओ नाथ हे"—
कह कह उनके चरण कमल धोने लगी।
"लोक-लाभ के हेतु पठाते हो उसे।
बाघ बाघिनें मात्र लाभ ले जायँगी।
सारी के हित लोभ हमें कोई नहीं।
अपनी आधी प्रेम-सहित हम खायँगी।
मरने ही के हेतु यहां आये सभी।
कभी न आये मर्त्य-लोक में हो अमर। १४३०

बिना बात की बात उठी क्यों हाय यह ?
हरे घाव में ठेस लगी क्यों यह प्रखर।
यह विमान किस ओर कहां ले जायगा ?
बेटी ने वह राह कभी जानी नहीं।
क्या खायेगी कहां सो सकेगी भला ?
प्यास लगी तो हाय कहीं पानी नहीं।

खाना-पीना हमें लगेगा क्यों भला ?
बच्ची की क्यों याद भुलायेगी हमें ?
आँखों के सामने रहेगी नाचती।
१४४० भोली सूरत हाय रुलायेगी हमें।
यों ही क्या हम प्रभो ! नहीं मर जायँगी।
हमें जिलाने का न ढंग यह तो भला।
कैसे कोकिल गीत गायगी सोच लो।
जब निर्दय हो हाय दबा दोगे गला।"

फिर शान्ता के चरण पकड़ रोने लगी।
"बेटी बन को तुम्हें न जाना चाहिए।
प्रतिपल तुमने प्राण दिये जिनको सदा।
उन्हें नहीं निष्प्राण बनाना चाहिए।
करना था जो यही, जिलाया क्यों मुझे ?
१४५० मर जाती उस घड़ी गढ़े में जब गिरी।
जो वियोग-विष यही पिलाना था तुम्हें।
तो निर्मम ही सदा बनी रहतीं निर्री।

उसके दृग से अश्रु पोंछ पट-छोर से।
शान्ता ने बहु भाँति उसे धीरज दिया।
"मैं आऊँगी लौट विपिन से शीघ्र ही।
ज्योंही अपना काम वहां मैंने किया।"

स्वास्थ्य-लाभ कर सके कुमारी - हाथ से।
ऐसे कितने व्यथित वहां पर आ गये।
भीड़ बढ़ी अवलोक प्रबन्ध-प्रवीण अति—
१४६० सचिव सहज ही मुक्ति क्लेश से पा गये।

देख सचिव को व्यस्त भूप भी जग गये।
भूरि विवशता -भरे भाव सब भग गये।
विमानस्थ हो जाय कन्यका जिस तरह—
ऐसे ही सत्वर विधान में लग गये।

द्वार बन्द कर अधिक प्रवेश-निषेध कर।
भूपति शान्ता के समीप आये चले—
"बेटी लो आशीश महा मुनिवर्य से।
गुरु, को बारम्बार प्रणाम करो भले।
तुमको दो गुरु प्राप्त, एक सब को मिले।
ज्ञान-तेज-बलमयी विजन वन में फिरो। १४७०
जग का हलका भार बनाने के लिए।
दीक्षा लेकर तपो-सिन्धु को तुम तिरो।"

मुनिवर के पद-पद्म शीघ्र ही चन्द्र की—
आभा से अवदात हो गये चकितकर।
विमल शारदा रूप याद आया उन्हें।
पुलकपूर्ण आह्लाद से गया हृदय भर।
होकर फिर संयमित उन्होंने यों कहा—
"बेटी तुम सानंद यान पर जाइयो।
उर में लाना खेद तथा चिन्ता नहीं।
शृंगी ऋषि को खींच शीघ्र ही लाइयो। १४८०
'मानस' नाम विमान तुम्हें साधन मिला।
बड़े ढंग से इसे काम में लाइयो।
इच्छा होगी जहां वहीं ले जायगा।
मन को चारों ओर नहीं दौड़ाइयो।

शृंगीऋषि ही लक्ष्य तुम्हारे हों सदा।
चित्त-वृत्तियां रहें लक्ष्य पर ही लगी।
सोते-जगते ध्यान तुम्हारा हो वहीं।
भेद-भावना सभी हृदय से हो भगी।

कुतुबनुमा-सूचिका जहां चाहें रखें।
वह उत्तर दिशि घूम सदा ही जायगी।
सूर्यमुखी भी वदन देखती सूर्य का।
उससे अपनी प्रगति-प्रेरणा पायगी।

ऐसी ही तुम ध्यान-मग्न शान्ते! बनो।
शेष जगत का भान रहे मन में नहीं।
हां, जग-पीड़ा-शमन हेतु आह्वान की—
भी न पैठ इस समय हृदय में हो कहीं।

अनुष्ठान कर आज बद्ध तुम हो गयीं।
ऋषि-मिलाप ही मंजु मुक्ति देगा तुम्हें।
इष्ट-सिद्धि के पूर्व नहीं डिगना कहीं।
विघ्न नहीं तो घोर घेर लेगा तुम्हें।

प्रकृति-रूप की ओर दृष्टि देना नहीं।
मायाविनि मोहनी, ठगेगी वह तुम्हें।
बाधाओं का पाश लिये मग में खड़ी।
सावधान प्रेतिनी लगेगी वह तुम्हें।

खिले कमल की ओर गया भौंरा सदा।
चम्पक उसका चित्त खींच पाया नहीं।
ऐसी ही ऋषि ओर प्रयाण-रता बनो।
विस्मृत तुमको करे प्रकृति-माया नहीं।

छन भर ही को चमक छिपी घन अंक में।
ज्यों ज्योतिर्मय परम चंचला कामिनी।
त्यों ही तुम बस एक दमक उपरान्त ही।
ऋषि चरणों प्रति बनो निशापति-यामिनी।

चारु चन्द्र प्रति जो चकोरिका को मिली।
अवचनीय अनुरक्ति, अचल तल्लीनता—
जाओ, बेटी, उसे हृदय में धारकर।
इस अधीनता में न कहीं भी दीनता।

ज्यों ज्यों ऋषि की ओर करोगी प्रगति तुम।
सहज भाव से हरण करोगी जग-व्यथा।
इसी प्रगति में सकल जगत का हित भरा।

जैसे होती ईख सरस ही सर्वथा।
मैं तुमको आसक्ति नहीं वह दे रहा।
जिसने सब को गिरा गर्त्त ही में दिया।
देता हूं आसक्ति तुम्हें बेटी वही।
जिसने जग का ताप शमन सब दिन किया।
मैं कालिन्दी-प्रणय तुम्हें देता नहीं।
निर्दय हो तट-विटप दिये जिसने ढहा।
तुम कल्याणी दयामयी जगदम्ब हो।
स्वार्थ-नाश ही लक्ष्य तुम्हारा तो रहा।
गिरिजा की वह शून्य लोक आराधना।
जिसमें अपना ओक लोक पाता नहीं।
देता हूं एकान्त साधना वह नहीं।
जग से जिसका लेशमात्र नाता नहीं।
शृंगीऋषि की चरण-प्रीति में सिमिट कर।
बैठा स्वागत हेतु तुम्हारे लोकहित।
और 'कहीं जो लोक - संग्रहण में लगीं।
हो जायेगा अहित तुम्हारा तो अमित।
लेकर वह संकल्प गमन तुम अब करो—
जिससे रवि की किरण तिमिर-उर भेदती।
प्रेरित वाण-समान गमन तुम कीजियो।
चली जाइयो प्रकृति-हृदय को छेदती।

स्वयं प्रकृति में दोष कहीं कोई नहीं।
जाते प्रकृति - विलास देखने के लिए।
प्रकृति रसास्वादन निमित्त आये यहां।
उसकी ही लीला विलोक करके जिये।
आँख खुली जब रहे देख कर स्वाद लें।
आँख मुदी जब रहे ध्यान से जान लें।
समाधिस्थ जब रहें परम प्रिय-मिलन में।
प्रकृति-मिलन भी मिलित सदा अनुमान लें।
जब तक तुम थीं यहां खुली आँखें रहीं।

आँखें कर अब बंद अमंद गमन करो।
कब समाधि मिल जाय चरण में कान्त के।
इसे छोड़ उर में न भाव कोई धरो।

जाओ प्रथित-प्रताप प्रभाकरवंशिनी।
पंथ परम आलोकवान पाओ सदा।
विघ्न-विनाशक-दृष्टि सदा तुम पर रहे।
पद पद पर कल्याण, ज्ञान पाओ सदा।

जीवन का आस्वाद मुक्ति - लावण्यमय।
रसना का अवसाद तुम्हारा हर सके।
इसी तुम्हारी परम तृप्ति से ज्ञानिनी!
विश्वम्भर की सृष्टि उदर भी भर सके।

मेरा आशीर्वाद तुम्हारे संग ही
श्याम मेघ की भाँति किये छाया चले।
चरणों में, उर में न गड़ें काँटे कहीं
सेवा - निरता रहे प्रकृत माया भले।

लो, ऋषि-हित यह पत्र, उन्हें दे दीजियो।
यह लो उनका चित्र ध्यान उन पर रहे।
उनके ही आदेश मान्य तुम कीजियो।
हृदय-व्योम में उदित ज्ञान-दिनकर रहे।

अंचल में लो बाँध जड़ी यह प्राणदा
भूख-प्यास की परम प्रबलता जब मिले—
मुँह में थोड़ा डाल इसे तुम लीजियो।
जब पीड़ा से विकल तुम्हारा मन हिले।"

देकर तीनों वस्तु ज्ञान - आगार मुनि—
मौन हुए मुसकान मधुर धर अधर पर।
शान्ता ने आदर-समेत ले नत किया—
फिर निज शिर गुरुदेव-पंकरुह-चरण पर।

"जाओ बेटी, आज दिवाकर-वंश का—
भाग्य दिवाकर नये भाव से उदित हो।
देख तम्हारी कीर्ति-लता का लहरना।

मेरा मानस मत्त मधुप सा मुदित हो ।
मुनिवर का आशीश सहायक हो तुम्हें ।
ऋषि को लेकर संग पधारो शीघ्र ही ।
जननी-जनक समेत प्रजाजन-खेद को ।
करुणा का दे वारि निवारो शीघ्र ही ।

प्रलोभनों में नेक नहीं फँस जाइयो ।
सीधी अपनी राह चली तुम जाइयो ।
यात्रा की अनुभूति-अमृत - धारा नयी ।
हमें जिलाने हेतु यहाँ ले आइयो ।

देह रहेगी यहां रहेगा मन वहां—
गहन विपिन में, जहां करोगी प्रगति तुम ।
चित्त हमारा अटक रहेगा भटकता ।
आकर देना शान्ति भावमय नियति तुम ।

रक्षक हों कुलदेव, ग्राम के देवता ।
रक्षक हों गणराज, त्रिशूली, चक्रधर ।
अमित रूप धारिणी कालिका अम्बिका ।
रक्षा का कर धरें तुम्हारे शीश पर ।

रक्षक हों सब पुण्य तुम्हारे पूर्व के ।
रक्षक हों जो पुण्य पूर्वजों ने किये ।
दान, यज्ञ, तप, हवन हमारे भी सभी—
पंथ सुमनमय करें तुम्हारे ही लिए ।"

गणपति-पूजन हेतु सकल सामग्रियां ।
लेकर आया एक कर्मचारी वहीं ।
शान्ता को बैठाल स्वयं भी बैठ कर ।
गुरु ने की वह क्रिया शीघ्र सारी वहीं ।

कर कंजों से स्वयं प्रभामय भाल के ।
आलोकन हित अमित,तिलक-अंकन किया ।
मानो देकर एक अरुण संकेत ही ।
भावी विघ्नों को अतीव शंकित किया ।

फिर बोले गुरुदेव, पूर्ण कर कार्य यह ।
"जाओ, बेटी, बीज वपन कर।कर्म का—

अपनी जीवन-सिद्धि संग ही लाभ लो—
जगती-जीवन लाभ-समन्वित धर्म का ।"

दे बहु बहु आशीश महामुनि को लिये—
गुरुवर भूपति-संग भवन में से कढ़े ।
सहज भाव से तोड़ कगारे महानद—
जैसे अपने परम लक्ष्य दिशि में बढ़े ।

अमित भाँति से भूप-प्रबोधन फिर किया—
मुनियों के सिरताज और गुरुराज ने ।
धीरज ही के धाम बने रह कर दिया—
१६२० उन्हें परम परितोष धीर नरराज ने ।

जिन्हें कलेजा मिला कड़ाई से भरा ।
वे ही जन दस पाँच नृपति के संग थे
आकर्षण अन्यत्र अन्य जन हेतु था ।
जल-वर्षण के जहां निराले ढंग थे ।

———

षष्ठ सर्ग

बनदेवी, प्रिय परम पूत शान्ता-कथा —
श्रवण करो दे ध्यान ज्ञान की खान यह।
पाओगी रस दिव्य नित्य नूतन सदा
रत्नाकर की भाँति अथाह, अमान यह।

करुणा की उस मंजु मनोरम मूर्ति को।
त्याग-यज्ञ के परम प्रखर आकार को—
श्रद्धा से वंदना करो सुकुमारि ! तुम
सृष्टि-विकलता - हरण प्रेम - आधार को।

रूप प्रेम का प्रकृत दिखाने के लिए।
मर्त्य-लोक में कर्म सिखाने के लिए।
शान्ता ने अवतार धरा पर था लिया।
जलकर पूत प्रकाश बढ़ाने के लिए।

करुणा ही के हेतु बनी अकरुणा महा।
गूढ़ प्रेमिका बनी प्रगट निरमोहिनी।
जिसने मौक्तिक-दान किया सब को सदा।
आज बनी जन-नयन-धेनु की दोहिनी।

थी वह अतिशय व्यस्त प्रीति के भार से।
हत होती थी दीन नयन-आघात से।
धीरज कैसे उन्हें बँधाती हाय वह।
धीरज जिनका छूट गया था हाथ से।

विरह अगम अम्बुधि समान था गरजता।
शासन करने का न हृदय था रह गया।
मर्यादा का भाव बाँध सा था बँधा।
वह आँखों की राह द्रवित हो बह गया।

रंक-राव सब एक धरातल पर मिले।
आहों का उत्ताप निराला हो गया।
कर दृग-जल में स्नान सरसता लाभकर।
भेद-भाव न्यारे सनेह से सो गया।

खड़ी हो गयी, चली भेंटने अम्ब को।
लोग चरण-रज हेतु टूट तब तक पड़े।
बाला के बहु भावपूर्ण मुख ओर ही।
अम्बाओं के वारि भरे लोचन गड़े।

पैरों ही से लिपट दासियां रो पड़ीं—
"बेटी, जी से हमें नहीं बिसराइयो।
टूट गयी यह कमर हमारी, शीघ्र ही।
सीधी करने हेतु इसे आ जाइयो।"

औरों का दुख-देख देख कर जननियां।
अपनी खोयां हुई धीरता पा गयीं।
मानों उनकी पीर सभी ने बाँट ली।
नीरधि में थीं मग्न तीर सा पा गयीं।

नृप ने आकर कहा, "बंद रोना करो।
जाने दो अब उसे, जहाँ वह जायगी।
मानागी जो नहीं, क्लेश दोगी उसे।
धीरे धीरे साँझ यहीं हो जायगी।"

किसको यह आदेश दिया था भूप ने
कोई भी यह समझ नहीं पाया वहां।
उसे मानता कौन? उन्हीं की आँख में।
जब आँसू का स्रोत उमड़ आया वहां।

शासन ने संघर्ष तदपि छोड़ा नहीं।
बोले आकर सचिव, "बिलम्ब न कीजिए।"
जैसे फूटी ढोल स्वरों में भंग था।

था जिसमें यह ध्वनित रुदन कर लीजिए।

शान्ता के भी नेत्र दया से आर्द्र थे।
माथे पर बल पड़ा सोच सब की व्यथा।
सेवा कर सम्बन्ध सभी से क्यों किया।
बाधाकर वह आज हो गया सर्वथा।
फिर आयी मुसकान अधर पर दिव्य अति।
सबसे ही कर जोड़ कहा उसने वहां—
"प्रसन्नता के साथ मुझे आशीश दो।
आऊँगी तत्काल कार्य करके यहां।" ६०
यह कह कर वह अम्ब गले से लग गयी।
वाणी की सब शक्ति विवश हो भग गयी।
परम दाह से भरी आह में अम्ब की।
सुकुमारी बालिका कली सी जल गयी।
माता का सुकुमार हृदय वात्सल्यमय।
बाला का परिताप नहीं यह सह सका।
आग बुझाने हेतु दृगों से वारि की—
धार बहाये बिना नहीं वह रह सका।
इतना ही कर के न शान्त वे रह सकीं।
बेटी-कोमल-चित्त व्यथा पाये नहीं। ७०
कौशल्या ने वचन सरल, शीतल कहे।
सोच यही यह चोट संग जाये नहीं।

"बेटी, मन में हमें कार्य बाधक मत मानो।
जो कुछ तुम्हें अभीष्ट उसी का साधक जानो।
जाओ तुम उद्देश्य सिद्ध करने जीवन का।
भोगेंगी हम ताप विरह-तप-तापित मन का।
जगती का उपकार इष्ट तुमको तो जाओ।
वसुन्धरा परितप्त, हृदय उसका सरसाओ।
रो धो किसी प्रकार धैर्य हम सब धर लेंगी।
पाओगी तुम मोद बोध उर में भर लेंगी। ८०

तुम लो नवल विकास म्लानता हम पा जायें।
तुम नव रस का पान करो हम अश्रु बहायें।
उड़ो विहंग समान व्योम में चिन्ता तज के।
रख लेंगी हम प्राण रात-दिन तुमको भज के।

हृदय रक्त से सींच लता जो बड़ी बनायी।
फैलेगी सब ओर बात यह बनी बनायी।
विधि का प्रबल विधान रोक कैसे पाऊँगी?
जाती हो तुम आज टोक कैसे पाऊँगी।

रोना तज कर और पा सकीं क्या अम्बाएं।
मिलीं धूलि में हाय! मोतियोंकी मालाएं।
ताराओं की जोत खो चली, ऐसा रोयी—
रोते-रोते रात स्वयं ही जग से खोयी।

मां का ही वह हृदय गगन में जो दिखलाता
कट-कट कर जो कला-विरह में मिटता जाता।
कोई उसे पियूष का घड़ा क्यों बतलाता?
उसका अन्तर्दाह उसे तो खाता जाता।

मां का ही वह हृदय निखिल नीला नभ-मंडल।
ज्योत्स्ना की अवलोक विश्वगति रोया छल-छल।
ज्योत्सना-विरहित अम्ब-हृदय ही वह नभमंडल।
जो छालों से विकल वेदनानल में जल जल।

माता का यह भाग्य रहा सब काल रहेगा।
उसके दृग से वारि बहा सब काल बहेगा।
किया अंबुनिधि-पान महामुनिवर कुंभज ने।
सब के खट्टे दाँत किये मां के दृग-जल ने।

बदली सी मां छँटी दीप्ति संतति-शशि दमके।
कुहरे सी मां कटी प्रभा उस रवि की चमके।
पौ फटने की भाँति फटी माता की छाती।
फूल सँवारें फूल प्रात-किरणें मुसकाती।

हटी अमा आकाश पूत हो बाल शशी से
लटी फूल कर साँझ रात खिल उठे हँसी से।

लटी फूलकर साँझ सहस्रों लोचन लेकर ।
फिरे खोजती रात कहां वे ललित कलाधर ।
सृष्टिकार की नीति यही दिखती जग में नित ।
झड़ें फूल, फल पके गिरें नव कलियों के हित ।
किरणों को दे आप तपन में जल सो जाना ।
देखा मैंने नित्य ओस का भी खो जाना ।
तो मैं ही क्यों आज निराली हो जाऊँगी ।
जननी होकर क्यों न घनी पीड़ा पाऊँगी ?
रोना लूँगी आप तुम्हें दूँगी मैं गाना ।
यही चला जा रहा जगत में देना-पाना । १२०
मैंने तुमको दान दिया कब था वह मेरा ?
प्रकृतिदेवि-आह्वान मात्र जग का यह फेरा ।
मुझको भी था प्राप्त किसी माता से गाना ।
तुमको पाकर आज मिला आँसू का बाना ।
रोक सकेगा कौन दान-प्रतिदान प्रकृति का ?
रोक सकेगा कौन प्रबल आह्वान प्रकृति का ?
रोक सकेगा कौन निरन्तर गान प्रकृति का ?
रोक सकेगा कौन अश्रु में स्नान प्रकृति का ?
कली न हो क्यों फूल?फूल फल क्यों न बनेगा ?
धरती को दे बीज धूलि में क्यों न सनेगा ? १३०
कली फूल के बीच बसा जग-जीवन सारा ।
रोक सकेगा कौन प्रकृति की वह खर धारा ।

तो कह दूं किस भाँति कलीही बनी रहो तुम ।
मेरी रानी, महत फूल का पद न लहो तुम ।
कह कर भी क्यों हाय! भरम मैं आज गँवाऊं ।
मुँह में पानी भरूं और पानी खो जाऊं ।
तुम चाहो भी तो न यहां अब रुक सकती हो ।
झुकना भी जो चहो नहीं अब झुक सकती हो ।
प्रगति गगन की ओर पा गयीं अब तुम बेटी ।
डाली सी चल पड़ीं तने से तन तुम बेटी । १४०

हम रोएंगी यहां हाथ के तोते खोकर।
तुम खोओगी क्लान्ति मुक्त बन्धन से होकर।
अपना-अपना धर्म पालना होगा बेटी।
चढ़ा कर्म-ऋण चुका डालना होगा बेटी।

जीवन-सिन्धु अनन्त कहीं से हम तुम आयीं।
तल तक डूबीं और मोद के मोती लायीं।
आया ज्वार प्रचंड बहीं तुम कहीं कहीं मैं।
पा सकती हूं आज गँवाकर तुम्हें नहीं मैं।
तुम न रुकोगी और रोक मैं भी न सकूँगी।
१५० फिर क्यों तुमको शिथिल बनाकर स्वयं थकूँगी?
तुम उड़ चलो सहास निरखती रह जाऊं मैं।
उड़कर बनो अलक्ष्य बिलखती रह जाऊं मैं।

उड़ना कहूं सहास कि कह दूं रोने जाना।
बेटी तुमने भार लिया कितना मनमाना!
जीवन में तुम तो न तनिक-सा भी हँस पायीं।
रोने ही के हेतु हाय मानो तुम आयीं।
हा! बचपन में भी न हँसीं खेलीं जी भर के।
औरों का दुख देख रो पड़ीं सी-सी करके।
रोते शिशु को दूध का दिया अपना प्याला।
१६० अमल अश्रु से सकल कलुष उसका धो डाला।
कंगालों का रुदन तुम्हीं पहले सुनती थीं।
उनसे पहले शीश तुम्हीं अपना धुनती थीं।
जहां हवा औ किरण सूर्य की पहुँच न पाती।
कल्याणी, कल्याण-मूर्ति बन तुम थीं जाती।
राजमहल का भोग कहां कब तुमको भाया?
उसको रोग-समान सदा तुमने ठुकराया।
हम करती थीं खोज तुम्हें भोजन देने को।
तुम दुखियों की खोज-खबर फिरतीं लेने को।
भूख-प्यास थी एक मिले जो भूखा-प्यासा।

द्वारे से फिर जाय न मुँह लेकर अपना-सा।
भूख-प्यास से दीन रहा यह महल अभागा।
झोपड़ियों में चित्त तुम्हारा था अनुरागा।
परम दिव्य उद्यान तुम्हारे हेतु बनाया।
आया जहां वसन्त आप मधु हित ललचाया।
कमलों पर की ओस तुम्हारे ही हित तरसी।
तुम जाती थीं द्रवित जहां थीं आँखें बरसी।
रही भूख से विकल कुंज की कोयल काली।
किसे पिलाती हाय मधुर मधु वह मतवाली?
रही फुदकती व्यर्थ डालियों पर बेचारी।
तुम जाती थीं विकल जहां थीं आहें जारी।
गरमी को हेमन्त बना दें जो तहखाने।
रहे वही बेचैन, विरह-पीड़ित दीवाने।
जहां तड़पता ताप-अनल में दुखिया होता।
तुम जातीं उस ठौर बनी धीरज का सोता।
शैलों पर आवास हमारे सुन्दर, रुचिकर।
सकीं उन्हें तुम दे न विमल करुणा-रस-निर्झर।
दे उनको चंचला श्याम घन घूँघट वाली।
चलीं चंचला आप निरत पीड़ित-रखवाली।
जो निर्धन असमर्थ अपाहिज जन दिखलाये।
किये नृपति ने दान उन्हें कम्बल मनभाये।
तुमने खाकर शीत शाल सँग और दिया कुछ।
जननि भाव मयि व्यथित हमें इस तौर किया कुछ।
रोया जो तो नित्य वाद्य-संगीत हमारा।
तुमने उससे हाय सदा ही किया किनारा।
पड़ी श्रवण में तनिक किसी आश्रित की पीड़ा।
तो तुम चलीं तुरन्त राह में विचलित व्रीड़ा।
बचपन में जो खेल किये मैंने मनमाने।
जीवन के आमोद अमित भोगे रससाने।
उनकी आती याद और तब फटती छाती।
ताती रहीं सदैव रहोगी यों ही ताती।
यों ही ताती नहीं और भी ताती होना।

यों ही रोना नहीं और भी होगा रोना।
धोया जितना अभी, लखगुना उससे धोना।
नगरी का था अभी, कलुष अब जग का खोना!

आँखों ही में नित्य बिठाला हम करती थीं।
होतीं थीं बेहाल सँभाला हम करती थीं।
भूख-प्यास तुम सकल भुलाये सी रहती थीं।
हम सब तुमको याद दिलाये ही रहती थीं।
अपने सुख का ध्यान तुम्हें कोई न कभी था।
इसको तज अरमान हमें कोई न कभी था।
तुम्हें व्यस्त अवलोक त्रस्त हम हो जातीं थीं।
पाती थीं तुम राहु ग्रस्त हम हो जाती थीं।
वहां तुम्हारी कौन करेगी अब रखवाली!
सूख जायगी वेलि प्राण-जीवन से पाली।
तुम्हें कलेवा कौन खिलाकर ही मानेगी!
खा लो माखन—कौन इसी का हठ ठानेगी!

मैं तो जननी किन्तु मुझे बच्ची सा जाना।
मेरे दुख का भार वहन करना भी ठाना।
चिंतित मुझको देख हँसाकर तुमने छोड़ा।
लीलाएं कर अमित घड़ा पोड़ा का फोड़ा।
इस माता के चरण कभी सहला देती थीं।
उस माता का हृदय कभी बहला देती थीं।
काँटा हमको गड़े व्यथा तुम ले लेती थीं।
डगमग करती नाव हमारी खे देती थीं।
पिता-वदन पर खेद, उदासी जब दिखलायी।
उसकी औषधि उचित तुम्हारे हाथों आयी।
हृदय-घाव पर सदा लगाया मरहम तुमने।
बे-दम उनको देख दिया हरदम दम तुमने।

पछताती हूं आज कलेजा कूट रही हूं।

क्यों अपने को भूल भूल सरि बीच बही हूं।
सुमनों से सुकुमार सुमन में दुख का कीड़ा।
क्यों कर सका प्रवेश, इसी की मुझको पीड़ा।
निज गोदी में तुम्हें सुलाये क्यों न रही मैं।
खेल-कूद में हाय भुलाये क्यों न रही मैं।
दुनिया का दुख-दर्द देखने दिया तुम्हें क्यों?
आह-अश्रु का दाम लेखने दिया तुम्हें क्यों?
सुख के दिन भी सकल बनाये दुख से भारी।
कह दूं ले मुख कौन—न जाओ बेटी प्यारी।
जो लिलार में लिखित आज वह आगे आया। २४०
खो दूं तुमको आह! आँख ने यह भी पाया।

हो न शीत से हानि—बचाती कौन रहेगी?
लू न तुम्हें लग जाय, छिपाती कौन रहेगी?
गल जायेगी कौन ताप जब तुम पाओगी?
तापित होगी कौन शीत जब तुम खाओगी?
गरजेंगे घन घोर घने कानन में जब जब।
देगी बिजली ताल प्रलय गायन के जब जब।
उस बेला में खेल जभी तुमको सूझेगा।
किस माता का हृदय रोकने को जूझेगा?
भूख प्यास का ध्यान तुम्हें काहे आयेगा। २५०
औरों का हित-लोभ हृदय में बस जायेगा।
"भोजन का यह समय कहीं मत जाना बेटी"—
कौन कहेगा हाय! "अभी थम जाना बेटी।"
जैसे-तैसे अन्न पेट में डाला करतीं।
तुम दीनों को और तुम्हें हम पाला करतीं।
वन में कैसे हाय प्राण तन में धारोगी?
सब को देकर प्राण स्वयं ही को मारोगी।

तुम उदारता-खानि स्वार्थ से नहीं प्रयोजन।
भूखा होगा सिंह बनोगी उसका भोजन।

२६० दया तुम्हारा धर्म धर्म उसका भी खाना।
कर देगा संहार प्रेम का प्यारा बाना।
प्रेम-भरा संसार तुम्हारे ही उर भीतर।
बाहर तो बस स्वार्थ स्वार्थ ही इस अवनी पर।
भरना ही बस पेट काम इस पापी जग को।
प्रगति दे रहा पेट मात्र जग के पग पग को।
जैसे जाता नित्य नित्य आखेट के लिए।
बाघ तुम्हारी ओर झुकेगा पेट के लिए।
उसे कौन पहचान सगर-कुल की तुम सरबस!
उसे कहां यह ध्यान अयोध्या होगी परबस!
२७० उसको तो बस शान्त उदर की ज्वाला करना।
जैसे भी हो रक्त मांस से उसको भरना।
मिला किसी दिन साँड़ कभी मानव तनु धारी।
उसको कौन विवेक? क्रूर वह पर-आहारी!
बेटी जो तुम तनिक स्वार्थ उर में न धरोगी।
तो वह कानन अगम पार किस भाँति करोगी?
तुम विमान आसीन चली जाना न उतरना।
जहां तुम्हारा लक्ष्य वहीं की चिन्ता करना।

जाना मूँदे कान, आँख भी मूँदे जाना।
तुमको केवल काम हमारी लाज बचाना।
२८० मुनि का भी आदेश—ठहरना कहीं न मग में।
कहीं एक के हेतु व्यथा न बढ़ाना जग में।
कातर स्वर पड़ जाय कान में हृदय-विदारी।
होने देना चित्त कदापि न विचलित भारी।
आँखों को विकराल क्रूरता पड़े दिखायी।
लेना उससे परम विवशता साथ विदाई।
देकर हमको दैन्य तपस्या हित हो जाती।
जला करेंगी तेल विरहिता हम ज्यों बाती।
नित्य प्रतीक्षा-निरत रहेगी जगती सारी।
फिर न तुम्हारा उचित बिलमना बेटी प्यारी।

जिस विलम्ब से प्राण संकटों में पड़ जायें। २९०
कढ़ें कलेजे से न, कठिन काँटे गड़ जायें।
उस दलदल के बीच नहीं धँस जाना बेटी।
हमें भुलाकर हाय! नहीं फँस जाना बेटी।

किसकी होगी भूख करुण मेरे रोदन से?
किसकी होगी प्यास विकल मेरे लोचन से?
किसका हाहाकार अधिक होगा उरदावी?
पाँव बिवाई भरित अधिक किसके दृग स्रावी?

तुम जाती हो नहीं प्राण जा रहे हमारे।
तुम चलती हो नहीं, चले जीवन-रस सारे।
हम अंधों की भाँति विलखती पड़ी रहेंगी। ३००
आशा-बंधन एक, उसी से अड़ी रहेंगी।

यात्रा का सामान तुम्हारा कर देती हूं।
मिसरी-मेवे विविध यान में धर देती हूं।
उतरोगी जो नहीं चली सीधी जाओगी।
तो उससे परितोष राह भर तुम पाओगी।

चिन्ता वहां विशेष पहुँचने ही की करना।
किन्तु तनिक सा ध्यान देह का भी तो धरना।
भूख जभी लग जाय तभी कुछ खाती रहना।
थक जाने पर शक्ति नयी कुछ पाती रहना।

व्योमयान ऋषि के समीप ही ले जायेगा। ३१०
प्रेरण के अनुरूप आप ही पहुँचायेगा।
कहीं चित्त में और कल्पना मत कर लेना।
भटकोगी फिर अमित, भुला इसको मत देना।

नवल चिन्तना-विवश कहीं यदि तुम उतरोगी।
नीच मंडली बीच कीच में सन विचरोगी।
नीचों का उद्धार तुम्हारे किये न होगा।
जग का भी उपकार तुम्हारे किये न होगा।

परम अभागे जीव रहेंगे वे ऐसे ही।
बहना उनका काम बहेंगे वे ऐसे ही।

उनसे कर अनुराग जगत-दुख भुला न देना।
माताओं की याद हृदय में सुला न देना।
तुम दौड़ोगी व्यथित प्रेम से मन देने को।
दौड़ेंगे वे हाय तुम्हारा धन लेने को।
तुम दौड़ोगी प्राण उन्हें नूतन देने को।
वे दौड़ेगें अधम तुम्हारा तन लेने को।
नीचों का आभार कभी मत लेना बेटी।
उनका हो न कुसंग, यही व्रत लेना बेटी।
ऊँचे पर तुम स्वच्छ हवा में उड़ती जाना।
किसी रूप में भी न उतर नीचे को आना।

बाधा होगी एक उसे तज देना बेटी।
थोड़ा विमल विराग—भाव भज लेना बेटी।
नद निर्झरिणी,शैल,लता,वन, कुसुम मनोहर—
दीखेंगे अभिराम प्रकृति उर-धरे धरोहर।
ललचायेंगे अमित, प्रीति करना चाहेंगे।
मानस में आसक्ति प्रखर भरना चाहेंगे।
ऊँचाई से परम मनोरम जान पड़ेंगे।
विरमाने के हेतु बड़ा हठ ठान पड़ेंगे।
उनके हित जो उतर यान से तुम जाओगी।
बाल कपोती भाँति बड़ा धोखा खाओगी।
उनका पाश कठोर न फिर तुम उबर सकोगी।
जगती का कल्याण कभी तुम कर न सकोगी।
लें यदि तुमको मोह याद हम सब की करना।
नयनों के ये नीर हमारे उर में धरना।
मेरी आहें भूल न जाओगी जो बेटी।
सपने में भी शूल न पाओगी तो बेटी।

जितना भारी भार तुम्हारे सिर पर आया।
किसी कुमारी ने न कभी जगती में पाया।
तुम फूलों से मृदुल, सँभालोगी सब कैसे ?

पायेगी शशि- किरण अरुण-दर्शन सह कैसे ?
प्रिय चरणों का ध्यान लोकहित लगन निराली। ३५०
निभा कहां सबन्ध उभय का गौरवशाली ?
कहां लोक-उपकार, कहां सेवन प्रियतम का !
किसे मिला लय और ताल इस परम विषम का ?

बालपने में हाय तपस्या तुमने पायी।
आये ही थे चंद्र, घटा औचक ही छायी।
यह अकाल विकराल काल-कवलित हो जाये।
जो कलिका को पीस ग्रीष्म को लेप लगाये।

ठंडा पानी फेर दिया मेरी आशा पर।
हा ! पड़ गया तुषार कमलिनी-अभिलाषा पर।
इतना कोमल गात और यह यात्रा ऐसी ! ३६०
इस अकाल ने हाय गिरायी बिजली कैसी !

मुनियों को भी अगम कर्म-पहचान जहां हो।
विरागियों को भी न धर्म का ज्ञान जहां हो।
ज्ञानी का भी व्यथित प्रखर विज्ञान जहां हो।
मति-गति-बाधक विविध विकल आह्वान जहां हो।

वहां कार्य का क्षेत्र मिला तुमको कंटकमय।
खड्गधार पर नृत्य करो प्रतिपल नव रस मय।
कैसा यह प्रारब्ध मिला तुमको उर-दारक !
बैठ अनल में गान करो जग का मनहारक।

सेवा का जो कार्य यहां तुम नित करती थीं। ३७०
हम सब उसको देख मोद उर में भरती थीं।
किन्तु मिला यह कठिन प्रणय-सेवा-व्रत भारी।
हरे न क्यों फिर हाय ! हमारी मति-धृति सारी।

आर्त जीव का रुदन कान में पड़ने पर भी।
कटे ही की भाँति हृदय में गड़ने पर भी।
मैं कहती हूं ध्यान प्रणय ही का तुम धरना।
सीधी बाण-समान कान्त-पथ ही अनुसरना।

प्रियतम-पद-अनुराग हमें भी प्रिय बल देगा।
आओगी अविलम्ब हमें अवलम्ब मिलेगा।
अति वर्षा से व्यथित दीन ये नयन हमारे।
पायेंगे मधुमास इसी के एक सहारे।

फिर भी मानूं क्यों न बोझ यह बेहद भारी।
नहीं सकेगा सँभल, दुलारी तुम सुकुमारी।
दया-प्रणय के धर्म निबाहोगी तुम कैसे?
आगे आगत कार्य प्रवाहोगी तुम कैसे?

किसी गाय का, सिंह कलेवा करने धाये।
दाढ़ें निज विकराल उदर के बीच धँसाये।
करके आर्त्त निनाद धरा का हृदय कँपाये।
रघुकुल-कन्या-नयन वहां कैसे झँप पाये?

बहेलिया जब बाल विहग पर बाण चलाये।
वह करके चीत्कार धराशायी हो जाये।
गोली ही की भाँति लगेगी क्यों न तुम्हारे?
क्यों न हृदय से हाय कढ़ेगो हाय तुम्हारे?

बकरी का शिशु छीन बाघ आहार करेगा।
मां का दृग अति दीन देखकर अश्रु भरेगा।
कर दोगी किस भाँति अहह! देखा अनदेखा।
हो जाओगी व्यस्त धर्म का करके लेखा।

गिरि पर कुटिया एक फूस की छोपी-छायी।
औचक अन्धड़ क्रूर करों द्वारा बिखरायी—
आँखों से अवलोक बढ़ोगी कैसे आगे?
कठिन चढ़ाई हाय चढ़ोगी कैसे आगे?

कहने को कह गयी मना कर गयी न रुकना।
जाना ऊँचे अचल कभी नीचे मत झुकना।
अपने दुख को और जगत-दुख को दुख लेखा।
देखी किन्तु न हाय तुम्हारी चिन्ता-रेखा।

जो हो, जाना सतत जहां तक तुमको जाना।
नीचे आना तुरत जहाँ रुकना ही ठाना।

पल भर का सन्देह नाशकारी होवेगा।
पलक मारते शक्ति तुम्हारी सब खोवेगा।
नहीं सकोगी रोक, प्रगति भी दे न सकोगी—
तो विमान को अगति-दान दे अमित थकोगी।
दुर्बल होकर यान गिरा दोगी तुम भूपर।
कहीं गया यदि टूट, नहीं सम्भव गति ऊपर।
लेकर टूटा यान अगम चिन्ता में डूबी।
हिंसा-रत, खल, नीच कृतघ्नों से अति ऊबी—
तुम तब होगी कहीं खड़ी दुख से मन मारे।
चित्र करुण ला रहा हृदय में भीति हमारे।

पल भर को भी हाय न बेटी जी बहलाये।
बिजली ही की भाँति जाय तो ही वह जाये।
अम्ब-कलेजा दलित नहीं फिर क्यों बल खाये ?
रह-रह करके अहह ! नहीं क्यों जल-जल जाये।
अनाचार यह घोर अवध की राजकुमारी—
पराधीन हो जाय गँवा निज सत्ता सारी।
रघु-दिलीप-कुल-बाल बने यों विधिवश वंचित।
भोगें विधि से भोग काग-कीड़े विधि-संचित !

किसको दे दूँ दोष किसे कह दूँ अपराधी ?
जब कहती हूं आप ठहरना पला न आधी।
मेरा ही तो कथन 'मार्ग में कहीं न रुकना'।
मेरा ही तो कथन 'निमिष भर को मत झुकना'।
अपने हित के हेतु तुम्हें देती हूं सूली।
कैसी निर्दय, आप नहीं लेती हूं सूली।
ऐसी मां हूं हाय ! परम पापिनि हत भागी।
बेटी ही का क्लेश बढ़ाने में अनुरागी।
जगती हित की आड़ लिये अपना हित जपना।
माता का यह नवल निराला दीखा तपना।
तपस्विनी जाह्नवी बह चली हो विपरीता।

सहन-शक्ति का कोष आज जननी-कृत रीता।
मोती का अब दान नहीं ऊषा को देगी।
रजनी उससे माँग आज बदले में लेगी।
नया धर्म ही आज चलाने मैं जाती हूं।
बेटी को मां आज बनाने मैं जाती हूं।

नहीं, नया यह धर्म नहीं चलने पायेगा।
माता का चिर कर्म नहीं टलने पायेगा।
सूली लूँगी आप फूलघर तुमको दूँगी।
तुमको देकर छाँह ताप में आप तपूँगी।
बेटी बारम्बार तुम्हें मैं बतलाती हूं।
वन जाने की बात न मैं मुंह पर लाती हूं।
जाती हो तुम आप लचाता हूं अपने को।
अपयश से सब भाँति बचाती हूं अपने को।

मेरा जो चल जाय तुम्हें क्यों वहां पठाऊं।
बैठे-ठाले हाय हृदय का घाव बढ़ाऊं।
राजकुंवर के संग रचाती ब्याह तुम्हारा।
सारा मारा गया हाय उत्साह हमारा।
जिसके पास न वसन अशन बस कन्द-मूल-फल।
मिला, लगी जब प्यास, जिसे बस सरित कूल जल।
जामाता-पद दान उसे क्योंकर करती हूं।
देखो उर को चीर हाय कर कर मरती हूं।
मैंने सारा जगत तुम्हीं में केन्द्रित पाया।
मानों वह लघुरूप धरे मेरे घर आया।
एक बूँद के मध्य घड़ा, गागर में सागर।
माता का पद लाभ यही लाया रस-आकर।
वही चलीं तुम आज कौन यों राजकुमारी।
जायेगी पति-गेह हाय अवनी में सारी।
तुमको हो परितोष उसी से धन्य बनूँगी।
माता का पद छोड़ नहीं मैं अन्य बनूँगी।

लोक-लाभ-अधिवास उसी में करने आये।
मेरी तनिक न हानि, धन्यता वह भी पाये।
लो, न कहूँगी भूल शीघ्रता से तुम आना।
मौन रहूँगी, यह न कहूँगी उड़ती जाना।

तुमको जैसा रुचे चली जाना मनमाना। ४७०
जी चाहे तो कहीं कहीं रुकती भी जाना।
संशय करना नहीं, उतरना जब मन माँगे।
कानन में भी कहीं विचरना जब मन माँगे।

तुम लेना आनन्द धन्यता सब को देना।
जगती-हित की नाव मौज ही में तुम खेना।
उठ जाना जी चहे गगन में ऊँचे अतिशय।
मानस हो जिस ठौर लोक बाधा से निर्भय।

जहां न व्यापे तुम्हें जगत-जीवन की पीड़ा।
मोद-मग्न जो लोक, जहां क्रीड़ा ही क्रीड़ा।
भूलें माता पिता दास-दासी सब भूलें। ४८०
भूल जाय यह अवध अवधवासी सब भूलें।

आश्रित जन के करुण चित्र उर में मत भूलें।
उनके रोते नयन कलेजे में मत हूलें।
इतने ऊँचे उठो लोक-कोलाहल कलकल।
कानों में पड़ सके नहीं करने को चंचल।

इतने ऊँचे उठो, दृश्य करुणा-संचारक।
आँखों के सामने न आये हृदय-विदारक।
सब अतीत मिट जाय गर्त विस्मृति में गिर कर।
काल स्वयं पिस जाय काल-दशनों में घिर कर।

जग का सब अस्तित्व गँवाये अपना जीवन। ४६०
उसका मानस बीज न पाये अपना जीवन।
जी चाहे तो गमन करो बन को ऐसे ही।
जी चाहे तो जीत चलो मन को ऐसे ही।

तुम्हें मिले आराम हमें आराम इसी में।
पाओ प्रिय का धाम हमें विश्राम इसी में।
आना तुमको रुचे कान्त को लेकर आना।

करुणा-वारि पुनीत जगत के हित बरसाना।
और रुचे जो नहीं वहीं प्रिय सँग रह जाना।
प्रिय के आनन्दाश्रु-सरित ही में रस पाना।
उनके वे पद कंज चाप निज क्लान्ति मिटाना।
उनकी मृदु मुसकान सुधा से प्यास बुझाना।
पा उनका आशीश भूख गत सारी करना।
उनको ही दिन रात ध्यान में अपने धरना।
आना यदि भा जाय न भाये तो मत आना।
विनती केवल एक न मां की याद भुलाना।
नहीं, नहीं, जब रुचे तभी तो स्मृति कर लेना।
जो न रुचे तो हमें मिटा उर से भी देना।
जो तुमको रुच जाय पहाड़ों पर रुक जाना।
होना पुलकित वहां देख शोभाएं नाना।
बचपन ही से तुम्हें प्रकृति का दर्शन ही प्रिय।
उसका मंजु स्वरूप मंजु मधु-वर्षण ही प्रिय।
उग्ररूपिणी प्रकृति कहीं रस बरसा देती।
मधुर रूपिणी कहीं हृदय को सरसा देती।
मुखर रूप हो कहीं क्लान्ति का भंजन करती।
मूक रूप हो कहीं तुम्हारा रंजन करती।
जहां कहीं आमोद अधिक पाओ तुम बेटी।
वहीं रमाओ चित्त भुलाओ सब कुछ बेटी।
नहीं किसी से द्वेष नहीं अनुरक्ति किसी से।
जिससे मिले विनोद परम आसक्ति उसी से।
दीख पड़े जो सिंह गड़ाता दाढ़ धेनु पर।
हरिणी उर में व्याध बेधता प्रखर क्रूर शर।
होना विचलित नहीं मनोरंजन ही करना।
सपना केवल एक जीव का जीना मरना।
कराहता हो कहीं चोट खाकर यदि भैंसा।
लेना उसको मान कूकता कोकिल जैसा।
स्थितियाँ केवल भिन्न, एक ही तत्व सनातन।
कहीं विलास-विकास, कहीं करुणामय क्रंदन।

चारु चन्द्र का क्रूर राहु द्वारा ग्रस जाना।
सांध्य वाण का दिवस-कलेजे में धँस जाना।
नव यौवन का ह्रास रोग के द्वारा होना। ५३०
नव लावण्य - विनाश भोग के द्वारा होना—
देख जगत में दृश्य विविध चिन्ता मत करना।
तुम प्रफुल्लता साथ पर्वतों बीच विचरना।
लोग कहें निष्करुण तनिक भी ध्यान न देना।
जगन्नियंता-रमण-वृत्ति ही में रस लेना।
कहूं बात फिर एक गाँठ इसको कर लेना।
पड़ नीचों के बीच अहिंसा-व्रत मत लेना।
जैसा पाना पात्र अस्त्र लेना तुम वैसा।
जहां ध्येय कल्याण वहां यह बन्धन कैसा?
बच्चे को कर प्यार कभी मां गले लगाती। ५४०
कभी दिखाती आँख कभी डंडे बरसाती।
कहीं न प्रेम-दुराव पृथकता स्थितियों ही की।
कर्त्ता में क्या भेद? विलगता कृतियों ही की।
झोंका हलका लगे फूल कितने झड़ पड़ते।
उस झोंके से किन्तु पेड़ तो नहीं उखड़ते।
जिनका क्रूर स्वभाव प्यार का रस क्या जानें।
वे तो दानव अधम मार ही से बस मानें।
हिंसक जीवों मध्य हिंसिका तुम हो जाना।
दुर्बल के कल्याण-हेतु रण-रंग मचाना।
रघुकुल की बालिके! न्याय ही उर में धरना। ५५०
बाण नोक से न्याय-घोषणा लिख कर मरना।

मानें तुमको लोग जगत-पालिका सयानी।
मेरे हित तुम किन्तु वही बालिका अयानी।
पीपल पात समान कँपेगा हृदय हमारा।
अकुलाओगी जभी न पाकर कहीं सहारा।
सब को ही प्रतिकूल विपिन में जब पाओगी।
मां के उर के हेतु मोह में पड़ जाओगी।

होंगे जब आक्रमण तुम्हारे मृदु तन ऊपर।
आयेगी तब याद तुम्हें जननी ही भू पर।
करे बालिका स्मरण अम्ब का जी मथ जाये।
फिर भी मिलना हाय न दोनों का हो पाये।
इससे अधिक कठोर बात क्या होगी जग में?
काँटा इससे कठिन कहां जीवन के मग में?

तुम रोओगी वहां, यहां मैं शीश धुनूँगी।
कलपोगी, स्मृति - जाल यहां मैं बैठ बुनूँगी।
इससे वेधक बाण कहां इस भव में होगा?
इससे भी विकराल कहाँ विष भव में होगा?

मां - बेटी-सम्बन्ध किया क्यों इतना तीखा?
किससे विधि ने काम जगत-रचना का सीखा?
सीखा भी तो व्यर्थ बनाया क्यों निज धंधा?
बेटी वाला आप जान पड़ता वह अंधा।

मिट कर भी मैं तुम्हें कहीं पा ही जाऊँगी।
धूलि-कणों में उड़ी तुम्हारे ढिग आऊँगी।
धूलि-कणों से वारि-कणों में परिणत हूँगी।
होकर दृग का नीर तुम्हारा फिर नत हूँगी।

जल-कण से फिर अग्नि-कणों में आ जाऊँगी।
गेह तुम्हारे भृकुटि - भंग में पा जाऊँगी।
पावक से फिर पवन-भवन में वास करूँगी।
देह तुम्हारी मंजु उसी में श्वास भरूँगी।
आँधी में तुम मुझे छिपी पाओगी रानी।
चरण धूलि पोंछती रहूँगी मैं दीवानी।
लगे बरसने जभी प्रलय का अकरुण पानी।
लेना तनिक तलाश कहीं निज अम्ब-निशानी।

पहचानो या नहीं, न मानो या सम्मानो।
अम्बाएं हम संग रहेंगी सब विधि जानो।
श्याम घटा की भाँति करेंगी हम रखवाली।
तुम बिजली की भाँति रहो नित पोसी-पाली।

विविध भाँति विधि यत्न व्यर्थ भी हम-कर सकतीं।
बिरह-सिन्धु को अमित ढंग से हम तर सकतीं।
आँसू इतने बहें हमारे और तुम्हारे। ५९०
हम दोनों मिल जायं उन्हीं के मिलन सहारे।

वे उपकारक अमित खिन्नता-हारक आँसू।
क्षालन-कारक भूमि पाप-उर-दारक आँसू।
स्वार्थ-निवारक प्रेम-प्रभाव-प्रसारक आँसू।
पतित जीव हित नरक-ताप से तारक आँसू।

वे आँसू तो बसे तुम्हारे लोचन में नित।
बसे रहें सब काल यही आशीश जननि-कृत।
शोचनीय संकोच हमारे ही लोचन में।
आँसू वैसे कहां सफल हों दुख-मोचन में?

आँसू की कुछ कला तुम्हीं से मैंने सीखी। ६००
उसकी मूर्ति पुनीत तुम्हारे द्वारा दीखी।
सीखूँगी सब तुम्हीं मुझे सिखलाती जाओ।
जीवन का वैचित्र्य मुझे दिखलाती जाओ।

मैं हूँ दुर्बल अधिक हाथ से पकड़े चलियो।
गिरती पड़ती चलूं साथ में जकड़े चलियो।
आँसू मेरे स्वच्छ तुम्हीं कर सकतीं बेटी!
उनमें भी कुछ शक्ति तुम्हीं भर सकतीं बेटी!

तुमको जो-जो रुचा किया सब दिन ही मैंने।
तुमने माँगा वही दिया सब दिन ही मैंने।
माँगोगी तो स्वार्थ-रहित आँसू भी दूँगी। ६१०
रत्नाकर में डूब रत्न ला भेंट करूँगी।

हां तो बेटी! कहीं तुम्हारे मेरे आँसू।
मिल जायेंगे हमें मिलायेंगे ये आँसू।
इसकी धारा प्रखर कहीं रोके न रुकेगी।
जीवन-गिरि से जनित काल से भी न चुकेगी।

तो सुन लो उर थाम कथन तुमसे करती हूं।
प्रसव-वेदना एक नयी पाकर मरती हूं।

भुजगनाथ-भामिनी बदलती केचुल जैसे।
चोला अपना आज बदलती हूं मैं वैसे।

लोक-हितैषी रूप तुम्हारा आराधूँगी।
आँसू की साधना निराली ही साधूँगी।
जग-हित में तुम निरत जहां दृग-मोती दोगी।
अम्ब वहीं की याद किये यह रोती होगी।

जग-विषाद से व्यथित जहां पथ में जाओगी।
मां के आँसू वहां प्रथम ही तुम पाओगी।
आँसू ही के बीच अम्ब-प्रतिबिम्ब रहेगा।
आँसू जी की बात हमारी सकल कहेगा।

धूलि तुम्हारे क्लान्ति चरण कमलों की लेंगे।
प्राणदायिनी धूलि सरस सुमनों की देंगे।
नित नूतन आह्वान चेतना नूतन देंगे।
मेरे आँसू तुम्हें निराला जीवन देंगे।

कभी हमारे मोह में न तुम बेटी पड़ना।
मोह-संग तो नित्य लड़ाई ही तुम लड़ना।
जहां मोह में पड़ीं हमें तुम पा न सकोगी।
हम खोजेँगी तुम्हें हमें तुम खोज थकोगी।

घबराकर जो रुदन किया तुमने मनमाना।
त्यों ही मैंने यहां स्वार्थमय रोदन ठाना।
देगा हमको डुबा वही चुल्लू भर पानी।
हमें डूबना नहीं स्नान करना हे रानी।

हम तप करके देव-सरित की सृष्टि करेँगी।
देगी हमको मुक्ति, मुक्ति से हम मिल लेँगी।
वैतरणी की ओर दृष्टि मत देना बेटी।
कुल के यश को गँवा अयश मत लेना बेटी।

हरिणी का शिशु लिये चला जाता हो व्याधा।
दीना हो देखती खड़ी असहाय अबाधा।
वहीं बाण सन्धान पोंछना मां का आँसू।
मृगी मुझे ही मान पोंछना मां का आँसू।

कराहती सिंहिनी कहीं जो पड़े दिखायी।

जाकर उसके पास बनो औषधि मनभायी।
भाला उर से काढ़ बोध देना तुम उसको।
माता ही सा मान मोद देना तुम उसको।

बिजली जिन पर टूट पड़ी अनजाने आकर।
ठूँठ मात्र रह गये खड़े जो बस मुँह बाकर।
ढारस देना तनिक उन्हें दृग जल ले जाकर।
पायेगी हम तुम्हें पास उनके ढिग आकर।
कहीं धेनु मिल जाय वत्स बिन चर न रही हो।
आँखों में भर नीर जुगाली कर न रही हो।
बच्चे से भी अधिक तुम्हीं मिल जाना उसको।
मैं विकसूँगी यहां वहां विकसाना उसको।

जिस सोते का सख गया हो पानी सारा।
पंक मात्र हो शेष जहां थी निर्मल धारा।
आँसू ही में स्नान वहां कर लेना बेटी।
मुझको सरसा यहां ध्यान कर लेना बेटी।

मिलन हमारा और तुम्हारा यों न रुकेगा।
विधि का कौशल शेष, यत्न कर सकल, चुकेगा।
यों ही खेद अनन्त अंत अपना पायेगा।
विरह-मिलन में भेद जहां सब मिट जायेगा।

जाओ बेटी पंथ तुम्हारा मंगलमय हो।
पग-पग में शत यज्ञ-पुण्य का प्रिय संचय हो।
उसी पुण्य से भानु-वंश-यश-भानु-उदय हो।
सहज विभव कर प्राप्त जगत-पंकज निर्भय हो।

बादल ठंडक करें हवा भी ठंडक लाये।
प्रीतिमयी वनवेलि राह में फूल बिछाये।
पड़ें दिखायी पेड़ तुम्हारा आदर करते।
सरस फलों की भेंट चरण-कमलों में धरते।

काँटे भी बन फूल चूम लें पैर तुम्हारे।
गायें स्वागत-गान विहँगों के दल प्यारे।
लगे जहां ही प्यास दौड़ते दीखें झरने।

कर नित नव शृंगार प्रकृति आये मन हरने।

६८० बिना अर्थ बक गयी हाय मैं कितनी बातें।
घेर धरोगी कहां हृदय में इतनी बातें।
जो हो, रखना याद रहें जो याद सहज ही।
चखना आठों याम प्रेम-मधु-स्वाद सहज ही।
भुला भले ही चलो अयोध्या नगरी सारी।
लीलाएं कीं यहां भुला दो वे मनहारी।
जाओ सब को भूल कर्म रति पाकर न्यारी।
भूल न जाना किन्तु निबल अम्बाएं सारी।"

यह कह कर अति बिकल हुई कौशल्या रानी।
जी को बहुत सँभाल थकीं कौशल्या रानी।
६९० घर में सुलगी आग बुझीं कौशल्या रानी।
आँखों के देखते लुटीं कौशल्या रानी।

पीर घनी थी हाय मना था सी भी करना।
मिली न माँगी मौत, मिला तिल-तिल कर मरना।
होठों पर धर हँसी उन्हें जीती जलना था।
जलकर मरना नहीं कलेजा ही तलना था।

बेटी को निज गोद में लिये आगे जाऊं।
अपने हाथों उसे यान के बीच बिठाऊं।
कौशल्या की चाह रही मन की मन में ही।
मूर्च्छित हो वे गिरीं अवनि पर उस छन में ही।

७०० शिव से प्रेम किया मनसिज ने उसका कटुफल पाया।
निर्विकार ने निरमोही हो उसका गात गलाया।
यह कठोरता बड़ी भली थी क्यों फिर उसे जिलाया?
नीलकण्ठ ने हाय हलाहल क्यों प्रज्वलित पिलाया।

रवि से प्रेम किया रजनी ने उसका विष रस पाया।
अनल-धाम ने उसे जलाकर यम के गेह पठाया।
यह निर्ममता बड़ी भली थी क्यों फिर उसे बुलाया।

ललचाया मिलने के पहले वदन-सरोज छिपाया।

कौशल्या संज्ञाविहीन थीं बड़ी भली थीं वैसी।
उनकी विकट व्यथा औषधि थी वह संजीवन जैसी।
हाय! व्यर्थ उपचारिणि शान्ता ने क्यों उन्हें जगाया। ७१०
जब जगने पर प्रखर ताप ही मां के उर ने पाया।

भावों से अति मथित हृदय था किन्तु न कोई गति थी।
बेबस चरणों को गति देकर मति की क्लान्त प्रगति थी।
चलीं लिवाकर माताएं सब जैसे उजड़ी बारी।
सहज भाव से आगे आगे शान्ता चली दुलारी।

आँगन में जब शान्ता आयी यान जहां शोभित था।
वीर वेश उसका विलोक कर कौन नहीं मोहित था।
अमित बारजों, कोठों पर जो नर-नारी थे नाना।
बरस पड़े कहते से मानों उचित न तुमको जाना।
झरनों की श्री लोप हो गयी झरने कितने आये। ७२०
नीरस शिला-गठित थे वे ये थे सरसिज सरसाये।
वे ठुकराते जिस मोती को वह उनका छवि-सम्बल।
दैन्य देखकर ही निज क्या थे झरने इतने चंचल?

पाषाणों में हृदय न होता लोग सभी बतलाते।
तिसपर जिनमें हो रंगीनी कपटी सदा दिखाते।
मूल्यवान मणि-अधिकारी तो सदा कराल भुजंगम।
फिर क्यों आँगन की गच रोयी कर पंकज से संगम?

पाहन में जब यह ममता तो ओरों का क्या कहना!
अनुमानें किस भाँति लताओं के मृदु उर का दहना!
कलियां श्वेत गिरा कर मानों रोती थीं सुकुमारी। ७३०
कहतीं सी—जाने का कोई काम नहीं अब प्यारी।

मणि-मंडित जो ललित सरोवर आँगन में घूमा था।
लहरों व्याज सदा शान्ता को पाकर जो झूमा था।
आज सीढ़ियों पर सिर अपना पटक पटक देता था।
मुझे भुला कर कहीं न जाओ, ज्यों त्यों कह लेता था।

छोटे छोटे आम्र पेड़ जो चारों ओर खड़े थे।
जाती देख आज शान्ता को महि में मनों गड़े थे।
उन पर बैठी कलित कोयलें कूजन में न निरत थीं।
प्रतिस्पर्धिनी वे शान्ता की कैसे आज विरत थीं?
मैना तो इस नीरवता से देख हानि ही होती।
कहती सी थी—शान्ते, जाकर ताप कहां हो खोती?
एक अवर्षण की ज्वाला को हरने तुम जाती हो।
शत शत गुणित भयंकर पावक उर में धधकाती हो।
सत खंडी छत पर राजित थीं गोरी बहु बालाएं।
अलंकृता शोभन वसनों में नवरस की शालाएं।
उनकी आँखों से बहती थी अविरल जल की धारा।
कहती सी थी वह शान्ता से—जाना व्यर्थ तुम्हारा।
सब लोगों के करुण वदन पर अंकित था यह मानो।
यों ही गया अवर्षण शान्ते! जाने की मत ठानो।
समझ रही थी शान्ता यह सब रह रह मुसकाती थी।
जुगुनू का प्रकाश सा भादों की निशि में लाती थी।
अंजलि-बद्धा होकर सत्वर हाथ उठाया उसने।
मानों फिर से प्रबल प्रेम का पाश बिछाया उसने।
जीवन की वह मूल चली तो जीवन कहां बचेगा?
कहां कलेजा शीतल होगा? वह तो और तचेगा।
हहर उठे सारे जन उसको देख हाथ से जाते।
ज्यों ज्यों पग धरती वह त्यों त्यों, उर थे कटते जाते।

आकस्मिकता अतिकराल ले तब वह समय सिधारा।
शान्ता सहित उठा जब मानस सबसे किये किनारा।
कूल भंग कर आगे बढ़ती ज्यों नद की खर धारा।
त्यों निर्मम होकर शान्ता ने जाना ही निरधारा।
जैसे भादों में शशिकर के छिप जाने के भय से।
रहें चकोर निरखते इकटक अम्बर ओर प्रणय से।
यानोपरि ही अब भी प्यासे लोचन दीन लगाये।
बड़ी देर लौं खड़े रहे सब त्यों ही विरह सताये।

थाम कलेजा लोग कढ़े नृप के आँगन से।
ज्यों वंचित हो परम रंक निज अंतिम धन से।
अमित शोक में मग्न देह-सुधि भूले निकले।
धरते अटपट पाँव गेह-सुधि भूले निकले।
खोयी सी मणि दिव्य उसी के गुन गुनती थीं। ७७०
नागिन सी, हो विकल, रानियां सिर धुनती थीं।
धीरज धरती और कभी धीरज खोती थीं।
मोती ही के बीज कभी महि में बोती थीं।
आकर भागी साँझ, रात अँधियारी आयी।
गये जलाये दीप, तनिक उजियारी आयी।
फिर भी क्या थी बात अँधेरा ही था छाया?
आँखें रहते देख नहीं दुखियों ने पाया।

सूना-सूना महल भयावन अति लगता था।
खड़ा दैत्य सा देख भाव दृढ़ भी भगता था।
अन्धकार-आच्छन्न लताएं सुमनों वाली। ७८०
डसने को सन्नद्ध जान पड़ती थीं व्याली।

महल वही या और? नहीं कुछ जान सकी थीं।
कारागार विशाल एक बस मान सकी थीं।
प्रिय चिन्हों पर हाथ डाल अनुमान सकी थीं।
जो अपना ही कक्ष, उसे पहचान सकी थीं।
आँखें मूँदीं, भग्न हृदय के भीतर तम था।
धीरज धर कम किया, नहीं फिर भी वह कम था।
सावन घन की भाँति उमड़ आता था रह रह।
संयम का वर बाँध बिगड़ जाता था ढह ढह।

माँगी सब ने मौत मौत आ रही नहीं थी। ७९०
तिल तिल मरने हेतु छोड़ वह गयी कहीं थी।
एक एक पल विपल बना भीषण मन्वंतर।
होती ही विकराल चली वेदना निरंतर।
एक लगी थी आस कभी बेटी आयेगी।
सब का भाग्य विकास संग अपने लायेगी।

चिन्तन-रत मुनि का भी धीरज-बाँध गया था टूट।
जग-विषाद-बंधन से वे भी नहीं सके थे छूट।
आगे की भी सोच बने अति पीड़ित करुणाधाम।
रोक रोक कर हारे चंचल मन को सके न थाम।

नमस्कार कर कालदेव के बल को बारम्बार।
गुरु, अरुंधती सँग आश्रम को गमने मुनि अविकार।
अस्ताचल को करते थे जब नलिनीपति प्रस्थान।
जगत-संग-दूषण-मार्जन-हित बैठे ज्ञाननिधान।

दीख पड़े तब वे अति शोभन ज्यों शशि नभ के बीच—
विमल करों से अमृत लता का मूल रहा हो सींच।
अन्तर भी था—एक निशाकर पर था मृग आसीन।
और यहां मृगचर्म-विराजित मुनि थे अमल, अदीन।

नव कदली-पत्रावलि पर धर फलाहार-सम्भार—
अरुँधन्ती ने किया उपस्थित श्रद्धामय सत्कार।
स्वल्प मात्र उसमें से लेकर सरयू-जल कर पान।
गुरु-दम्पति के स्नेह-जलधि में डूब गये मतिमान।

मुनि बोले, "गुरुदेव! मुझे अब जाना दक्षिण ओर।
जहां मिलेंगे दैत्य-विकृति के भीषण दृश्य अथोर।
अमरों की विलासिता देखी, मानव कुल की क्लान्ति।
जाऊँगा अवलोकन करने अब दानव की भ्रान्ति।"

गुरु ने कहा, "जगत में विचरें जहां कहीं मुनिनाथ।
भूलें नहीं अवध-नृप दशरथ, रानी सकल अनाथ।
दुख से बौरायी जनता की उतर नहीं सुधि जाय।
विपद-ग्रस्त कोशल पहले से हो न अधिक असहाय।

प्रभो गमन करने के पहले एक बतायें बात—
सहन करूं कब तक जीवन में नित नूतन आघात।
वर्ण-धर्म का लोप हो गया आश्रम का भी अन्त।
अवनति देख समाज मात्र की होती व्यथा अनन्त।

बारम्बार हृदय में आता खोज कहीं एकान्त।
अरुँधती के संग बनाऊं अपना जीवन शान्त।
जाऊं ऐसी ठौर न व्यापे जहां जगत का क्लेश।

मुझको मार्ग दिखाओ हे मुनि ! हूं तममग्न विशेष ।"
आयी मुनिवर के अधरों पर हलकी सी मुसकान ।
संग-संग आँखों में झलका मार्मिक भाव-विधान ।
कहा उन्होंने बात उचित यह, तुम ले लो विश्राम । ८३०
मैं भी अमर लोक को लौटूं क्यों भटकूं अविराम ?

कह दें हम आदित्य देव से, त्यागें अपनी भ्रान्ति ।
तोड़ें नाता अखिल जगत से खोजें केवल शान्ति ।
क्यों रजनी-वल्लभ नभवासी दे कुमोद को मोद ?
क्यों रजनी मोती से भर दे नव सुमनों की गोद ?

रुद्रदेव संहार करें क्यों अप्रसिद्धि का मूल ?
रचनाकार करें रचना क्यों जिसमें दाहक शूल ?
कलिका को विकास देने का श्रीवर लें क्यों भार ?
निर्मम शान्ति वरण करने का सब को ही अधिकार ।

वर्णाश्रम की विडंबना से तुम्हें हो रहा क्लेश । ८४०
इसे समझ सकता हूं, मैं भी उससे व्यथित विशेष ।
किन्तु अधिक चिन्तित होने का फिर भी कहीं न हेतु ।
परम ब्रह्म-चिन्तन में पाओ निज विषाद का सेतु ।

ऐसा मैं कुछ कह न सकूँगा जो न तुम्हें हो ज्ञात ।
मेरा आदर करने ही को छेड़ी तुमने बात ।
तुम भी हो श्रद्धेय हमारे निर्मल ज्ञान-निधान ।
इससे प्रेम-सहित करता हूं निज मत का व्याख्यान ।

पावस ऋतु में बहती सरिता निज कूलों को तोड़ ।
वही शरद ऋतु में संयम से लेती संगति जोड़ ।
केवल पावस नहीं रहेगा नहीं शरद सब काल । ८५०
दोनों ने मिल काल देव को जीवन दिया रसाल ।

कभी तमारि अस्त हो जाता कभी उदित छविमान ।
अस्तोदय दोनों से पाया मानव ने रस दान ।
कभी विकृत हिंसा से होता वर्णाश्रम का लोप ।
प्रकृत अहिंसा के द्वारा फिर चढ़ता उस पर ओप ।

बाढ़ विकृत हिंसा की आयी, कहां शूद्र भी आज ?

मग्न हो गया अतल गर्भ में सकल समाज-जहाज।
महाराज दशरथ-प्रमाद ने भारी किया अकाज।
ब्राह्मण गिरा, गिरा क्षत्रिय भी, गिरी सभी पर गाज।

८६० शत्रु, अग्नि, ऋण का न लेश भी उचित छोड़ना शेष।
तारक को परास्त करके भी किया नहीं निश्शेष।
जब तक नहीं समाहित होगा तारक-समरोन्माद।
वर्णाश्रम का मिल न सकेगा तब तक हमें प्रसाद।

तारक ने संगठन बढ़ाया यहां बढ़ा अभिमान।
कूटनीति दानव की पनपी यहां कुबुद्धि महान।
अस्त्र सँभाल लिए तारक ने रुद्र-शक्ति से प्राप्त।
यहां सकल जीवन हो आया विलासिता से व्याप्त।

मानदण्ड जीवन का बदला बदल गये सब मोल।
पैसे के बदले में बेचा हमने सत्य अमोल।
८७० जब लौं दानव-निधन न होगा यही चलेगा ढंग।
दैत्य विकृतहिंसा-रत होगा जग-सिरताज अभंग।

कार्तिकेय-साधक शृङ्गी ऋषि दानवता का जाल—
काट सकेंगे फैल रहा जो जगती में विकराल।
हे गुरुदेव बनेगा निर्मल फिर से विश्वाकाश।
देख सकेंगे वर्णाश्रम का तब हम पूत प्रकाश।"

मुनि-वाणी को देख अग्रसर वर विराम की ओर।
बोले गुरुवर गद्गद होकर परमानन्द-विभोर।
"देव कृतज्ञ तुम्हारा हूं मैं सावधानता दान—
देकर मुझे जगाया तुमने मिला कर्म का ज्ञान।

८८० मन्द भाव अम्बुधि-जीवन में आया था इस काल—
तुमने उसे कलाधर बनकर लहरित किया रसाल।
ग्रीष्मातप-विकलित उपवन में सरसाया सुवसन्त।
बरसाया चातक चोंचों में तुमने रस, रसवन्त!"

आगे बोल न पाये गुरुवर बढ़ा कण्ठ-अवरोध।
दृग में नीर शरीर में पुलक हृदय अधीर, अबोध।
अन्तरयामी मुनिनायक ने समझा गुरु का भाव।

विरति-प्रकाशित उनके दृग ने किया अमृत का स्राव।
गुरु दम्पति के प्रेमाग्रह की बाधा को कर पार—
अवधेश्वर विषाद-वारण की निर्मल विधि निरधार—
अमित विनय मय प्रणति ग्रहणकर दे अगणित आशीश। ८९०
आश्रम को मन से अपनाकर आगे चले मुनीश।

चन्द्र-मनोज्ञ वदन विकसित था मुनि की प्रगति विलोक।
चरण-नखों-प्रति प्रगतिशील कर को न सका वह रोक।
पावस में परन्तु वह शशिकर रुचा न मुनि को नेक।
आशिश उसे नहीं दे पाया उनका विमल विवेक।
"हँसते हो सब काल निशाकर हँसना उचित न आज।
हँसी हँसी में उजड़ गया यह सारा भरत-समाज"—
मुनि के उर की अनलमयी यह वाणी उर में धार—
तप्त वा दु क्या जला रही थी शशि का उर सुकुमार?

सप्तम सर्ग

शान्ता मानस-आसीना हो प्रियतम-पद-आसक्ति—
पंखों पर उड़ती जाती थी पाती नव नव शक्ति।
रविजा-गिरिजा-प्रणय-कहानी आयी औचक याद।
ललच उठी पाने को उनका भाषण-जनित प्रसाद।

उद्दीपित हो गयी हृदय में पावक सी अभिलाषा।
मानस ने अवरोध-सफलता की छोड़ी सब आशा।
होकर विवश दक्षिणी पथ से उत्तर को वह आया।
कालिन्दी थी जहां वहां को नव उमङ्ग से धाया।

नव रस पान कराता वन के उस प्रदेश में लाया।
रेखा सी दिख पड़ी जहां से कालिन्दी की काया।
मानस से आकाश-मार्ग वह था यों बना मनोहर।
राजहंस की गति से ज्यों हो शोभित मानसरोवर।

कभी ऊर्ध्वगति कभी अधोगति, चंचल अमित दिखाता।
कभी मचलता कभी उछलता मृदु फिर अति द्रुत जाता।
धीरे-धीरे लगा उतरने ज्यों-ज्यों नीचे आया।
कालिन्दी का रूप अनूपम प्रतिपल नवल दिखाया।

कढ़ी यान के बाहर शान्ता तब ऐसी छवि छायी।
मेघ-अङ्क से कढ़कर जैसे बिजली ही हो आयी।
तरल तरंगों ने अपना सा कोई उसको जाना।
तब तो नाच-नाच कर रसमय प्रेम दिया मनमाना।

सान्ध्य गगन-बिम्बित आभा-मिस यमुना अति अरुणायी।
क्षोभ भरी बोली, "क्यों तुमको कुमति यहां ले आयी?
आयी हो क्यों? अभिप्राय क्या? किसने तुम्हें पठाया?
मेरे प्रखर क्रोध-पावक का पता नहीं क्या पाया?
पावस से मिलने की ठानी पता न उनका जाना।
अगम काननों में जाती हूँ पन्थ बना मनमाना।
मुझे नहीं अवकाश एक पल बात किसी से कर लूं।
यहां हृदय की टेक विघ्नकर के प्राणों का हर लूं।
आयी हो तुम यहां विचरने या हो कोई दूती।
सीधी बात बता दो मुझको छल से निपट अछूती। ३०
आयी हो विहार के हित जो तो हो गया सिधारो।
मेरी तड़पन में विनोद का मत सामान सँवारो।
प्राण किसी के रोयें निशि दिन कोई उसमें रस ले।
कोई अपने उर को गारे कोई उसको हँस ले।
विधि-अन्याय नहीं सहती मैं करके ध्वंस ढहाती।
कुसुमों के मिस हँसते तरु को जड़ से काट गिराती।"

धीरे-धीरे गयी अरुणिमा सहज प्रकृति सरसायी।
शीतलता रवि-कुमारिका के उर, वचनों में आयी।
अमृतवर्षिणी बनी अचानक रवि की चपल कुमारी—
फूल रुचिर आँचर में भरती प्रिय की परम पुजारी— ४०
"आगन्तुके! तुम्हें भेजा हो जो प्रियतम ने मेरे।
आओ, प्राण हमारे होंगे देवि! तुम्हारे चेरे।
क्लान्त हो गयी होगी आओ चरण तुम्हारे धो दूं।
शीतल मंद बयार चलाकर रस में तुम्हें डुबो दूं।
भूख लगी होगी तो तुमको अति मीठे फल दूँगी।
कितने ही तरु मेरे आश्रित, मुँह माँगा ले लूँगी।
पलकों पर तुमको धर लूँगी सिर माथे पर आओ।
दर्द हमारा प्रिय ने जाना अथवा नहीं बताओ।
पवन ले गयी थी प्रियतम ढिग मेरा प्रणय सँदेसा।
देकर बात न आये अब तक भारी मुझे अँदेसा। ५०

यदि मेरा विषाद-बंधन तुम ढीला करने आयीं।
यदि मुझ जीवन-हीना-उर में जीवन भरने आयीं।
तुमसे सगी न मेरी कोई और नहीं हितकारी।
रोम-रोम आभारी मेरा इस करुणा पर भारी।
सिर के बल चल सिर पर लूँगी मैं पद-धूलि तुम्हारी।
मेरे प्रिय का हाल कहो कुछ जो मानस—मलहारी।
और कहो सब पीछे, पहले एक बात बतलाओ।
शंका मेरे उर में व्यापी उसको प्रथम मिटाओ।
गोरी कामिनियों में मेरे प्रिय निशि दिन अनुरागे।
६० उनमें से ही तो न कहीं तुम एक हमारे आगे।
मेरे प्रिय की रसिके! यदि तुम मुझे लजाने आयीं।
मेरे काले मुँह पर हँसने और खिजाने आयीं।
तो यह लो तुम जान प्रेम का रूप न खिल-खिल क्रीड़ा।
वही प्रेमिका जिसके उर में पैठी तीखी पीड़ा।
प्रिय के रँग में कहां रँगीं तुम बनी रहीं यदि गोरी।
गोरेपन पर गर्व करो मत भोरी नवलकिशोरी।
मैंने तो अपने प्रियतम का कालापन ही चाहा।
कालेपन से हृदय लगाया पावन प्रणय निबाहा।"

कालिंदी रुक गयी यही कह उत्तर—हेतु सशंकित।
७० कढ़ी राजकन्या—वाणी से रस-धारा अकलंकित।
"यमुने! शंकाएं, आशाएं मिथ्या सकल तुम्हारी।
मेघ-लोक से मैं न आगता, पावस की न दुलारी।
हँसती हूँ इसलिए नहीं, तुम देख हँसी जल जाओ।
सहज स्वभाव देवि! यह मेरा, इससे क्लेश न पाओ।
उर की आग दबा हँसता जो गगन-विहारी मोहन।
उससे ही यह मैंने सीखा पीड़ाओं का गोपन।
अन्धकार में घिर कर रहना नहीं मुझे तो भाता।
उसका काला रूप देखकर मुझको हँसना आता।
ज्वालाएं उर-मध्य छिपाकर किरण अधर पर धरती।
८० तुम्हीं नहीं मरती हो मैं भी देवि किसी पर मरती।

नहीं वेदना देख तुम्हारी हँसने को आयी हूं।
रोनेवाला हृदय तुम्हारे चरणों में लायी हूं।
नहीं किसी की दूती हूं मैं सत्य इसे भी मानो।
सभी भाँति से स्वाधीना हूं प्रेमाधीना जानो।
बिजली का वह गोरापन तो कभी न मुझको भाया।
बादल के कालेपन ही ने मुझे सदा ललचाया।
रस की यदि पहचान करेंगे पावस तुम्हें वरेंगे।
पारिजात को पाकर नकली फूलों पर न मरेंगे।
रघुकुल की कुमारिका हूं मैं शान्ता नाम हमारा।
शृङ्गीऋषि के पूत पदों प्रति प्रणय हृदय में धारा। ९०
रिक्त-पाणि गुरुजन ढिग जाना मैंने उचित न माना।
यह थोड़ा व्यवधान इसी से स्वीकृत करना ठाना।
गिरिजा की औ कीर्ति तुम्हारी की थी श्रवण निराली।
आयी प्रिय का पंथ त्याग मैं अहो प्रणय, मतवाली।
देने को श्रद्धा लायी हूं लेने को कुछ आयी।
प्रिय जीवन अनुभूति तुम्हारी मैंने बरबस पायी।
जग से विलग समझती हो तुम अपने हृदयेश्वर को।
अहंभाव से अपनाती हो उन्हें भुला जग भर को।
पाओगी तुम शान्ति कहां से उनके कितने गाहक।
ईर्ष्या-द्वेष-आग में जलना होगा तुमको नाहक।" १००

कालिन्दी ने कहा, "प्रवीणा तुम हो परम कुमारी।
नागरिका हो, ज्ञानमयी हो, पैनी बुद्धि तुम्हारी।
तुमसे कैसे वाद करेगी विपिनचारिणी बाला।
धारण करती जो निज उर में काम-क्रोध की माला।
सीधी गयीं न तुम प्रियतम-प्रति लगीं प्रकृति-दर्शन में।
प्रणयावेग—अभाव छिपातीं इस कृत्रिम कर्षण में।
जिसने स्वाद न पाया प्रिय का वह भी बने विरागिन।
पश्चात्ताप अनल में जलतीं ऐसी ही तो निशि-दिन।
क्षति पाओगी रघुकुल-बाले! लौट अभी ही जाओ।
प्रिय का पन्थ प्राप्त कर सत्वर उस पर पाँव बढ़ाओ।११०

जब लौं प्रिय मिल जायं न तुमको नहीं किसी को ध्याओ।
उनको अपना कर ही उनमें शेष जगत अपनाओ।

जाओ, एक बात कहती हूं उसको नहीं भुलाना।
प्रिय का दर्शन पा जाने पर वहीं नहीं रह जाना।
जो हो सके उन्हें भी लेकर कभी इधर आ जाना।
सतत कर्मशीला सहकर्मिणि के जी को बहलाना।

और पार्वती ढिग जाना भी जो तुमने निरधारा।
तो जाओ, कब कहां सकी रुक वेगवती खर धारा?
आशीर्वाद विविध देती हूं मग हो सरल तुम्हारा।
१२०वनदेवता तथा वनदेवी संकट काटें सारा।

वहां शैल पर सतत निवासिनि अमित विषादिनि अम्बा—
दिखे कहीं तो होना उसके हित जीवन-अवलम्बा।
श्वेत-वर्ण हिमदेवीनामा, कहीं पूछ जो लोगी।
निश्चय ही मुझ अभागिनी पर करुणा अमित करोगी।

समय रहे तो उससे मिलकर दो बातें कर लेना।
वचन-विदग्धे, मेरी मां को थोड़ा धीरज देना।
कर्म-भोग से मिल न सकूँगी कहना मुझे भुलाये।
रोकर, आहें भरकर यों ही मर न हाय वह जाये।

पिता प्रतापी से भी मेरा एक सँदेशा कहना।
१३०हिम-प्रदेश में कभी न होगा सम्भव मेरा बहना।
क्यों मानूँगी, पहना कर जो सोने की जंजीरें।
बना ग्रीष्म की पत्नी मेरा प्रगतिशील उर चीरें।"

कालिन्दी जब मौन हो गयी शान्ता ने आश्वासन—
देकर किया यान का प्रेरण, सपदि ऊर्ध्व-संचालन।
मानस को सँभाल कर शान्ता शृंगी ऋषि-पद-कामिनि।
उत्कंठित चल पड़ी जहां थीं सती अंगना-स्वामिनि।

स्वप्नों के वैभव से मंडित सुमन लताएं रूरी—
दीखीं हिममय रजत शिलाएं शान्ता को रसपूरी।
सोते पड़े दिखायी कितने बरफीले छविछाये।
१४० नये-नये सौन्दर्य-स्वाद से शान्ता-नयन अघाये।

साँझ, गयी, अंधियारी आयी दृग-हित बाधा लेकर।
निकली ताराओं की अवली प्रीति अगाधा लेकर।
शांता के सुकुमार नयन की प्यास न जब मिट पायी।
चन्द्रकला अपना प्रकाश ले नभमण्डल में आयी।

शान्ता की रस-पान-कामना से बल पाकर सत्वर।
कियत काल द्रुत चलकर मानस ऊँचे उड़ा अधिकतर।
चढ़ता गया अन्त में आया शान्त शृंग मानसहर।
दीख पड़ीं गिरिजा तप-वर्द्धित-वदन-तेज, तनु जर्जर।

जहां श्वास का भी न शब्द था, निद्रित था जग-जीवन।
दिखीं महदेवी समाधि में अटल अविचलित तन मन। १५०
उनकी प्रणय-तपस्या लखकर चकित हो गयी बाला।
पैठ गया संदेह हृदय में रह रह मथने वाला।

जान नहीं पड़तीं ये गिरिजा शंकर-हित तप करती।
कैसी भी हो गिरि की बेटी जड़ता नहीं बिसरती।
अति वैचित्र्य-धाम शंकर को चिढ़ा नहीं अपनानें।
पहाड़िनी बालाओं का तप यही अधिक हम मानें।

तो क्या कानन में घन-पीड़ित चन्द्र स्वर्ग से आकर।
ताराओं को त्याग, अचल पर बैठा ध्यान लगाकर?
शिव-माथे पर लसित सहज ही, फिर क्या अब-अभिलाषा? १६०
भोला के सिर पर चढ़ने की उमँग पड़ी क्या आशा?

एकाएक खोल दीं आँखें शैलराज-जाता ने।
या दो सुमन खिलाये करुणामयी जगन्माता ने।
लाल लाल दो पल्लव डोले, पिकी कहीं से बोली।
शान्ता के कानों में मिसरी कलित कंठ ने घोली।

"अरे यहां तुम कैसे आयीं? यहां न मानव आते।
चपल लालसा-दग्ध-लोक में वे तो मोद मनाते।
सोयी जिसकी सकल कामना, चिन्ता ने लय पाया।
वही यहां शिव-आराधन-हित इस प्रदेश में आया।
मैं तो जन्म-जन्म की दासी मन्मथारि-अनुचारिणि। १७०

मेरी प्रकृति उन्हीं में लीना काम-कला-मदहारिणि।
किन्तु हाय सरले! तुम कैसे भटक यहां को आयीं?
कान्त-मिलन की चंचल घड़ियां कैसे भला भुलायीं?
सुनने के हित अति अधीर हूं, हाल कहो सब अपना।
डाल भुलावे में ले आया कौन सुनहला सपना?
प्राकृत जन-मन हरने वाली यहां नहीं रस-धारा।
किसने तुम्हें दिया यह धोखा? मौत बिना ही मारा।"

"मैं हूं रघुकुल की कुमारिका दयामयी जगदम्बे!
सिद्ध ज्ञानियों तपस्वियों की गति-उन्नति-अवलम्बे!
कीर्ति तुम्हारे पूत प्रणय की बाल्यकाल से जानी।
प्रिय का पन्थ त्याग कर चरणों के दर्शन की ठानी।
नहीं यहां निवास-हित आयी, थी केवल जिज्ञासा।
तृप्ति पा गयी आज अम्बिके! मेरी प्रबल पिपासा।
नहीं कामना मुझे सुलानी, उसे जगाने जाती।
नयी-नयी लहरें मानस में मैं उमँगाने जाती।
भानु-कन्यका का भी दर्शन मैंने मग में पाया।
जलदोपम पावस-अलकों ने जिनका मन उलझाया।
देखी थी कामना-प्रखरता उनकी परम भयंकर।
देख रही हूं विरति तुम्हारी यहां त्रिलोक-लयंकर।
प्रेम-पंथ की नव-पथिका हूं, था सब ज्ञान अधूरा।
नये प्रेम के दर्शन से अब अनुभव पाया रूरा।
अम्बे, भाता किन्तु मुझे तो अपना ही पथ प्यारा।
दोनों ही का मिश्रण प्रिय रति जग-रति-विरति-सँवारा।
विलग नहीं कर सकती हूं मैं जगत और प्रियतम को।
दोनों का लावण्य बढ़ाता नित्य उभय-विभ्रम को।
देवि! मुझे आशीश दान दो प्रिय-चरणाम्बुज पाऊं।
कान्त-प्रणय अनुभूतिमयी हो जग-सेविका कहाऊं।"

देव-देव अनुराग-साधिका बोलीं तब मुसकाकर—
"आज धन्य हूं नृप कुमारिके! मैं भी तुमको पाकर।

करती हूं मैं परम कठिन तप जागें जिससे शंकर।
किन्तु अभी करुणा न करेंगे वे जन-मन-अभयंकर। २१०
रति-मन्मथ की विरह-वेदना शृंगीऋषि का रोना।
मेरा तप सौभाग्य तुम्हारा जग का पीड़ित होना।
करुणाजनक परिस्थिति होगी शम्भु तभी जागेंगे।
तभी समाधि-स्वाद तज जन-मन-रति में अनुरागेंगे।
राजकुमारि! तुम्हारा भी हित मेरा भी इसमें हित।
तारक निधन-बिना न सकोगी प्रियतम को कर अधिकृत।
आशीर्वाद हमारा प्रतिपल रक्षा करे तुम्हारा।
पुण्य हमारे रहें दुराते पथ-बाधाएं सारी।

मौन हो गयीं गिरिजा, शान्ता ने कर प्रणति विनय से।
अमित क्षमा-याचना-समन्वित सरल सुशील हृदय से। २२०
प्रिय-प्रति गमन-प्रेरणा देकर यान चलाया सत्वर।
व्याध-भीत पंछी सा धाया वह गति पाकर द्रुततर।

जगत-विपद-परिहास में निरत चञ्चल रमण-विलास—
ज्योत्सना ने जब अरुणोदय से पाया श्री का हास।
दीख पड़ा शृंगेरि मनोरम आवृत घन वन-प्रान्त।
कनक प्रभामय पीत वसन सा पहने परम प्रशान्त।
"देख रहा हूं लोक व्यथित अति, दो सब को जलधार।
हे जलधर! जग के प्राणों को दो जीवन का सार।
मेघों के अतिशय समीप जा कहता सा यह बात—
लगा रुचिर शृंगेरि मनोहर विपदा-निशा-प्रभात। २३०
सिंह, बाघ, चीता, कुंजर, अहि, कपि, मृग धेनु-निवास।
सब के ही विकास की चिन्ता, सब का इष्ट विलास।
हिंसक और अहिंसक सब की हितैषणा में लीन।
दीख पड़ा शृंगेरि निराला प्रेम-निवास, अदीन।
"चञ्चल तुंगा सरि मिस भेजा गिरि ने अपना प्यार।
देखो जाकर जलधि उमंगित पाकर प्रिय उपहार"—
मानों सहसा मेघाच्छादित देख अखिल नभदेश।

नाच उठे यों ही कहते से मोर भरे आवेश।
"गति ने पायी प्रगति अगति से पाहन हो रसवान—
शान्ति-निमित्त पधारा जड़ के ढिग विज्ञान-निधान"—
नवल अनिन्द्य मधुरिमाशालिनि कलियों का उन्माद।
मंद पवन करती थी वितरित गाती यह साह्लाद।
"प्रगट सरस अम्बुधि में छिपकर बैठी बाड़व-ज्वाल।
मैं कठोर हूं फिर भी मेरे उर में निर्झर - माल।
सहृदयता के प्रखर पारखी, आओ मेरे पास"—
लता - प्रकम्पन के मिस गिरि था यों कहता सविलास।
"गरजे मेघ, दामिनी तड़पी, चला प्रभंजन घोर।
शीत, घाम, वर्षा - प्रहार ने दिया हृदय झकझोर।
फिर भी अचल रहा निशि-वासर यह शृंगेरि महान"—
मानों विहग नीड़ से कढ़कर गाते थे यह गान।
जटा-जूट-समलंकृत सा शिर विविध द्रुमावलि-व्याज।
शून्य राग मय उन्नत मस्तक सज्जित नव छवि साज।
उच्च प्रणय मन तदपि निम्न प्रति करुणामय गम्भीर।
सतत उच्छलित उत्स व्याज ही वाहित लोचन-नीर।
शीश उठाकर जगत व्यथा से परिचयमय तत्काल।
विश्वम्भर से आवेदन सा करता परम कृपाल।
सुमन-व्याज सद्भाव समाश्रित सफल सदैव ललाम।
प्रियतम शृंगी ऋषि सा दीखा ऋष्य शृंग अभिराम।
ज्यों रजनी संकुचिता होती अरुणोदय अवलोक।
त्यों ही वीर भावना - शोषक आया प्रेम अशोक।
अनायास ही खसा कन्ध से धनुष और तूणीर।
जान न पायी ज्ञानमयी वह कान्त - वियोग - अधीर।
जहां तरल तुंगा तट - तरु के चरण चूमती नित्य।
कोमल डालों को उर में धर समद झूमती नित्य।
वहीं लता-गृह में बाघम्बर पर थे प्रिय आसीन।
कलित कोकिला-कूजन से भी विरत प्रणय-तप-लीन।

कंठालम्बित कान्त चित्र छवि देखी, वही अनूप।

वही ललित लावण्य देह का, मादक वही स्वरूप।
लम्बे केश गिरे कन्धों पर उन्नत भाल ललाम।
नयन सम्पुटित कमल सरीखे ध्यान-निरत रसधाम। २७०

सौ - सौ चन्द्र - विनिंदक आनन पंकज-मोहनशील।
कर्षित अलक प्रकम्पन-मिस था निज यश-घोषणशील।
प्यासे अतनु स्वयं अलि-तनु ले अथवा अलकों व्याज।
कल कपोल-रस पीकर छकने का रचते थे साज।

"स्वाद लवण का सदा बढ़ाता पल पल में नव प्यास।
नाहक ही होते रसकामी उसके कीने दास"---
घोषित सा करते थे मानों अंग लवणता - धाम।
प्यासे दृग पाते थे जिनसे ज्वाला ही उद्दाम।

शान्ता के दर्शन - रस हित ही तड़प-तड़प अविराम।
किसी कल्पना में पाते थे शृंगी - दृग विश्राम। २८०
उन्हें कहां था भान अचानक जीवन-रस की मूर्ति।
अनायास ही मिल जायेगी लिये लालसा - पूर्ति।

झलक मिली उत्साहित शान्ता उतरी चाव समेत।
चली प्राणप्रिय से मिलने को पैदल भाव-निकेत।
प्रति पदपात बढ़ा देता था उर - संकोच महान।
प्रफुल्लता को कर देता था नव लावण्य प्रदान।

आँखों में बस एक रूप था प्राणनाथ का रूप।
मिटे सभी जब उनमें उसका डेरा पड़ा अनूप।
हृदय प्राण उर भीतर था जो रोम-रोम में व्याप्त।
उसकी ही साकार मूर्त्ति को किया दृगों ने प्राप्त। २९०

लोचन में अविराम भरा जल, पुलकमयी थी देह।
उतावली, फिर परम शिथिलता में निमग्न था नेह।
आगे चल पीछे आते थे चरण-कमल सुकुमार।
सह पाते थे नहीं कामना, लज्जा का गुरुभार।

मिला सहज ही उसे मनोहर मधु तरु तले विराम।
लगी वहीं से पीने प्रिय की छवि का रस अविराम।
प्रियतम को अवलोक अपरिमित भाव-सिन्धु में मग्न।
बना सहज ही बाला का उर चंचल क्रीड़ा-लग्न।

पत्र पिता का रख धीरे से आसन उपरि ललाम।
छिपी ओट ले लतिकाओं की तरु पीछे छविधाम।

"यहीं स्वयं आयेगी शान्ता, हिलना कहीं न नेक।"
मुनि शब्दों से भी पथ में थे रोड़े पड़े अनेक।
भरे वेदना उर में तीखी बैठे रहना आह!
कोई यत्न न करना! कैसी यह सनेह की राह!

हाय जतन करने जाओ तो पायें उर में भ्रान्ति।
लौट गयी अभिरामा आकर—लाये व्यर्थ अशान्ति।
इसी भयंकर असमंजस से शृंगी ऋषि थे दीन।
चित्रांकित छवि-रस पीने ही में पुलकित, तल्लीन।

तारात्रों को गिनकर काटीं कितनी रातें हाय!
पत्तों, फूलों से भी करलीं कितनी बातें हाय!
प्रिया मिलेगी कब बतलाया नहीं किसी ने हाय!
जर्जर काँटा सा हो आया गात इसी में हाय!

मिट-मिट कर लहरा जाती थी उर में प्रबल उमंग।
रह-रह कर घहरा जाती थी—"कितना सबल अनंग!"
आती थी ऊषा आशा ले, संध्या ले अवसान।
रात बाँध रखती थी दोनों को कर जीवन दान।

आँखों का व्यवसाय यही था कभी बंद हो जायं।
प्राणप्रिया, छवि-चिन्तन में रत अचल मंद हो जायं।
कभी चलित हो, खोजें बन में ललित लताओं बीच।
अपने ही पानी से उनको सरस बनायें सींच।

अचलित और चलित होने में कटते थे दिन-रात।
यों ही चक्र चला जाता था दे आघात-विघात।
अकस्मात ही एक बार तब आया उसमें भंग।
आँखों ने विचलित हो पायी न्यारी एक उमंग।

हल्दी के पीले छींटों से कर्षक बना अपार।
मिला विचित्र पत्र आसन पर सरस कुतूहल-सार।
परम प्रीति से पढ़कर उसको जाना जब सब हाल।
लोचन ललच उठे दर्शन-हित प्रिया-स्वरूप रसाल।

विस्मित चकित वदन पर छायी उत्कंठा विभ्रान्त।
एक-एक विपला की देरी लगी बनाने क्लान्त।
अकस्मात ही हास-ध्वनि कर श्रवण गये वे जाग।
दौड़ पड़े लोचन तुरंग इव प्रेरित खर अनुराग।

तरुवर आश्रित खड़ी दिखायी सिन्धु लहर सी लोल।
मानस-जीवन की प्रतिमा सी रति-निन्दिका अमोल।
सपने की रंगीनी में थी मग्न सलोनी बाल।
इन्द्रधनुष लेकर निकली हो ज्यों पावस-घनमाल।
"मंद भाग्य ने भी झख मारा, दिवस सिधारा आज —
देख लिया प्राणों से प्यारा रूप सँवारा आज।"
कहते यही उठे शृंङ्गी ऋषि, बढ़े प्रिया की ओर।
शान्ता गिरी चरण-कमलों पर होकर आत्मविभोर।

"प्रिये, प्रिये तुम अरुणोदय सी कहां छिपी थीं अब तक।
अन्धकार था घना कहां तुम जहां दिपी थीं अब तक?
मुझे प्राण देने को आयीं, कैसे करुणा आयी?
मरने के पहले चातक ने स्वाति-बूँद क्यों पायी?"
"प्राणनाथ संगिनी तुम्हारी मैं ज्यों दिन की छाया।
भेंट प्रणय की लाने ही के हित मैंने विलमाया।
कुछ मिठास अपने में भरनी कुछ तुममें भरनी थी।
रस-आस्वादन-पूर्व रसिकता भी पैनी करनी थी।"
"प्रिये, प्रिये तुम लायीं कैसी शीतल जल की धारा।
जलता था जो अनल हृदय में शान्त हो गया सारा।
जादू कौन सीख कर आयीं कुम्हली कली खिला दी।
छूमन्तर सा करके छन में बिगड़ी सभी बना दी।"
"प्राणनाथ मेरा सब जादू वही विरह की ज्वाला।
जिसने मेरे मानस का रस सारा ही पी डाला।
एक बार सारा देकर फिर रस वह न्यारा पाया।
जिसने मुझको और तुम्हें भी देकर स्वाद छकाया।
"प्रिये, प्रिये अब हम न आज से विलग कभी भी होवें।
हो अभेद तन-प्राण निरंतर खेद जगत का खोवें।"

"प्राणनाथ ! ये बातें सारी क्यों नाहक कहते हो ?
शंकानल में पैठ व्यर्थ क्यों हृदय-प्राण दहते हो ?"

"प्रिये, ललित लावण्य तुम्हारा मानसहारी ।
अवलोकन कर आज हो गया मैं बलिहारी ।
तुममें पूर्ण विराम पा गयीं मेरी साधें ।
लोचन मन औ प्राण क्यों न तुमको आराधें ।
अलकों ही में बाँध मुक्ति का प्रिय रस ढालो ।
चला निराले बाण प्राण प्राणों में डालो ।
भृकुटि-भंगिमा मंजु मेघ-गर्जन इव लाओ ।
कभी मन्द मुसकान-दामिनी-दृश्य दिखाओ ।
कल कपोल-आवर्त्त केलिहित मानस-सर हो ।
मानस उसमें भ्रमण-निरत नित आठ पहर हो ।
मिले वहां यदि मुक्ति, नासिका मोड़-लहर में —
कीलित वह हो जाय कनक की कील सुघर में ।
वहां मिले यदि त्राण अधर पतले अरुणारे ।
पहने वरदी अरुण मदन नृप के रखवारे—
दे दें कहीं समाधि उसे ठोड़ी के भीतर ।
जहां करे विश्राम परम चंचल वह जी भर ।
तुम मेरे सामने रहो निशि-वासर यों ही ।
ज्योत्सना को पा सका सदैव निशाकर ज्योंही ।
अपलक भी अवलोक रूप-से मैं न अघाऊं ।
करता जाऊं पान, प्यास ही पाता जाऊं ।
मुझे न जग से काम तुम्हें जब मैंने पाया ।
तुम में ही संसार—सार सारा दरसाया ।
पा जाऊं मैं विलय इसी छवि—रतनाकर में ।
बनूं लहर इव लोल सदा रस के आकर में ।"

"मिली तुम्हें मैं देव ! भुलाया सबको तुमने ।
आयी मैं लघु बूँद डुबाया सबको तुमने ।
अंजलि भर जल बीच कहां कब डूबा हाथी ?

ममता-सानी बात समझ में एक न आती।
जिनसे पाया स्वाद प्रखर उद्दीपन द्वारा—
जिनकी ओर निहार, धैर्य धर जीवन धारा। ३९०
मैं आयी तो हाय ! उन्हें तत्काल बिसारा।
यह तो दिखती नहीं प्रीति की रीति उदारा।
रूप और लावण्य लुभाया जिसने तुमको।
अपने दलदल बीच फँसाया जिसने तुमको।
मिला कहां से हाय न तुमने तनिक विचारा।
बिसराना अविलम्ब प्रेमियों को निरधारा।
उन्हें बिसारा आज मुझे कल बिसराओगे।
होकर सबसे विरत कहां फिर रस पाओगे ?
उनसे पालो प्रीति मुझे भी गले लगाओ।
नहरें तो काटो न पूर्ण रस-स्रोत बहाओ।" ४००

"प्रिये कहां से ललित लहर केशों की पायी—
करती द्विगुणित कलित कपोलों की सुघराई ?"
"चन्द्र-किरण-रस-मत्त पवन-प्रेरित चंचल घन—
से ही मिला प्रसाद प्राणवल्लभ मनमोहन !"
"किससे सीखा प्राण ! नयन का बाण चलाना।
अनजाने भी प्राण किसी के हर ले जाना।
मीठी बोल अमोल कहां मिसरी सी पायी ?
पायी कहां अतोल अधर वर की अरुणाई।"
"दो मृगियों के संग एक कोयल मतवाली।
अरुणोदय कर-लसित आम्र डाली रसवाली। ४१०
कामदेव ने देव ! कहीं सामोद बसायीं।
प्रमदाओं ने सीख वहीं उनसे कुछ पायीं।"
"प्रिये, अलस उन्माद कहां से इतना लायीं ?
एक स्वप्न सी सरस उतर नयनों में छायीं।
सुकुमारता अपार कहां से तुमने पायी ?
लहरीली गति मन्द कहां से तुममें आयी ?"
"एकाकी वन बक जहां रति सजने जाती।

अनुरंजित पट मुकुट पहन तन-मन सरसाती ।
उस गयन्द-आरूढ़ काम-महिषी से छिपकर ।
बालाएं अनजान पा सकीं रस मोहितकर ।"

"प्रिये ! विश्व-सौन्दर्य एक तनु में पा लेना ।
क्या यह अपना भार नहीं हलका कर देना ।
नहीं विश्व का त्याग, साधना की यह शैली ।
करता हूं एकत्र, राशि जो फैली-फैली ।
बहु के प्रति कर लक्ष्य किसी को पा न सकूँगा ।
जाकर चारों ओर व्यर्थ ही भटक थकूंगा ।
तो गणेश की भाँति राम का नाम ग्रहण कर ।
विश्व-भ्रमण से क्यों न बचूं तुममें रत बन कर ।"

"कहां भार यह प्राणनाथ ! हलका कर लेना ?
यह तो उसका वृद्धि-द्वार चौड़ा कर देना ।
तज कर विश्व-समाज व्यक्ति में सीमित होंगे ।
त्याग चलित सुरसरित कुसर में कीलित होंगे ।
सब को मुझमें देख करो न विराग सभी से ।
सब में मुझको लेख करो अनुराग सभी से ।
यही प्रणय-संदेश तुम्हारे हित लायी हूं ।
विश्व-प्रणयमय हृदय दान करने आयी हूं ।
फिर भी जी की सत्य बात, हे प्रिय बतलाऊं ।
बड़ा प्रलोभन प्रबल उसे क्यों व्यर्थ छिपाऊं ।
सोच रही हूं क्यों न तुम्हें इस वन में पाऊं ।
शेष विश्व से विलग यहीं तुममें रम जाऊं ।
कानन-कण-कण-एक लुभाता जाता मुझको ।
द्वैत भाव से मुक्त बनाता जाता मुझको ।
ज्ञान-योग-संगीत वेधता ही जाता चित ।
हरिणी ही की भाँति हो गयी मैं वन में धृत ।
यह विचित्र उन्माद किन्तु क्या झेल सकूँगी ।
मैं अबला, यह अधिक भार ले अमित थकूँगी ।

समतोलित ही देव ! चाहती हूं मैं रहना ।
लायी हूं कुछ बात उसे भी तुमसे कहना ।
कठिन परीक्षा तो न अधिक मेरी अब ठानो ।
मैं धारा में विकल मुझे अब तट पर आनो ।
किसका संग्रह और त्याग किसका रसदायक ।
बतलाकर सब भ्रान्ति हरण कर लो जगनायक ।"

"प्रिये ! चलूँगा शीघ्र जहां वे सकल महाजन ।
जिनसे तुमको प्राप्त रूप-वर्द्धन के साधन ।
उनके प्रति आभार चलूँगा जतलाने को ।
निज कृतज्ञता, प्यार हृदय का बतलाने को ।
बीता कितना काल इसी कानन में रहते ।
पाकर तुमको अमित अचंचल रस में बहते ।
किन्तु तुम्हें यदि इष्ट चलूँगा विश्व-भ्रमण में ।
भोगूँगा रस दिव्य परम अज्ञात रमण में ।
इष्ट मुझे भी प्रगति, प्रगति ही तुम भी लायीं ।
मानस शेष अभाव, पूर्ति ही करने आयीं ।
ली न परीक्षा देवि ! तुम्हें पहचाना केवल ।
तुम्हीं शारदा दिव्य, यही अनुमाना केवल ।"

शान्ता-ऋषि थे जहां बाँध दल तोते आये ।
अरुण-वर्ण नासिका हरे पंखे हरखाये ।
नव रसाल की डाल बनी उनसे यों शोभित ।
मानों हों मुनिवृन्द पर्णशाला में मोहित ।
ऋषि बोले सस्नेह, "प्रीति से पाले शुकगण ।
प्रिये ! तुम्हारी राह देखने वाले शुकगण ।
आये करने श्रवण तुम्हारी कीर्ति-कहानी ।
आयी हो तुम आप इन्होंने बात न जानी ।
यह देखो आ गयी कपोती प्रिय को लेकर ।
हरिणी भी यह खड़ी उठाए कान मनोहर ।
गौरैया गौरवा संग मैना के आये ।

आये नकुल भुजंग वैर का भाव भुलाये।
कूक उठी कोइलिया आम की डारों में से।
बहा चली पीयूष मधुर स्वर धारों में से।
बोल उठा पी कहां पपीहा उस तरुवर पर।
४८० देखो जिससे लगी लता हिलती रह रह कर।
तुंगा लहर पुनीत कूल से आ टकरायी।
पाकर परस उमंग विटप-मूलों ने पायी।
जल विहगों का वृन्द कूजता आता देखो।
मधु का लोभी भृङ्ग गूँजता जाता देखो।
ये सब मेरे परम प्रीति के भाजन प्यारे।
इनमें ही दिन बीत गये जीवन के सारे।
भोजन-जल की भूख-प्यास इनको न सताती।
प्रकृति इन्हें नित आप खिलाती और पिलाती।
ये अनुराग-विदग्ध, आह के भूखे निशिदिन।
४९० जीते पीकर नित्य आँख के आँसू छिन-छिन।
प्रतिदिन का यह नियम उसी में बँध सब आये।
यद्यपि भिन्न शरीर एक हो पीर-तपाये।
यह न कामना इन्हें मिलन चिर प्रिय से होवे।
यदपि कामना इन्हें मिलन का स्वप्न न खोवे।
प्रखर विरह का बाण कलेजे में धँस जाये।
रूचता इनको—नेक मर्मथल में फँस जाये।"

आये जो, उस ठांव सभी की दृष्टि लगी थी।
शान्ता-आनन-ओर सहज सी प्रीति जगी थी।
मानस में थी व्याप्त एक शंका अति प्यारी—
५०० कहीं तुम्हीं तो नहीं, अवध की राजकुमारी ?
मिटा सकल सन्देह, एक तोता तब उतरा।
शान्ता-चरणों पास हरित वैभव सा बिखरा।
ले दुलार की चाह चढ़ा तब कर-पंकज पर।
शान्ता उसको प्यार लगी करने उर में भर।
तोते अन्य अनेक प्रेम के प्यासे आये।

पड़ पैरों के पास गोद में समुद समाये।
आये कलित कपोल गौरवा औ गौरइया।
आये नकुल, भुजंग, प्रेम-रस स्वाद चखइया।
आये मंजुल मोर हरिण बाला भी आयी।
तज कर चरना घास धेनुमाला भी धायी। ५१०
आयी कोयल विकल पपीहा भी उड़ आया।
पाकर शान्ता-प्यार सभी का हृदय अघाया।
पाकर अमित दुलार विलग गोदी से होते।
करके त्याग अपार क्लान्ति औरों की खोते।
फिर-फिर होती प्यास प्यार की प्रखर निरन्तर।
अटके नव अनुराग रूप रस पीते दृग भर।
देख दृश्य अभिराम चकित शान्ता थी अतिशय।
मर्त्यलोक या स्वर्ग? भ्रान्ति-क्लान्ता थी अतिशय।
स्वप्न या कि सब सत्य? मग्न संशय में होती।
ऋषि का देख प्रभाव भक्ति-मोती थी बोती। ५२०

———

अष्टम सर्ग

बरसाता रस कौन नहीं जो पावस होता।
तप्त अवनि के ताप कौन साहस कर खोता ?
दावानल से हाय ! सुमन को कौन बचाती—
जो रसवाली बूँद नहीं नभ से आ जाती ?

पाकर निर्मल स्वर्ण सहज ही लोग यशस्वी।
मिट्टी को जो स्वर्ण करें वे ही तेजस्वी।
ले बूँदों की डोर हृदय कसने को आये।
घन धरती-आकास एक करने को आये।

न्याय सभी के साथ करे वह नृपति कहाता।
पालक वह जो नित्य सत्य का ज्ञान कराता।
पावस ने निशि-सरिस तिमिरमय दिवस बनाया।
तम में होती सृष्टि मनोहर तत्व बताया।

जीवन हरता, ग्रीष्म बितरता पावस जीवन।
गौरवर्ण अति ग्रीष्म श्याम ही पावस का तन।
विषमय हो तो स्वर्णकलश को ले क्या करना !
जो हो भरा पियूख लोहघट भी सिर धरना।

पावस रसमय किन्तु रोष की बिजली उसमें।
अनाचार-प्रति आग भयंकर निकली उसमें।
उससे ही तो, देख बरसती आग अवनि पर—
बरस पड़े अनमोल आँख से आँसू झर-झर।

पर्वत का अभिषेक किया पावस ने फिर-फिर।
उच्च बनो, उपदेश दिया पावस ने फिर फिर।
नव रस निर्झर चन्द्रहार उसका सरसाया।
नीचों ही से उच्च सदा शोभित—समझाया।
गये दिवाकर चन्द, नहीं पावस को चिन्ता।
तारे गये अमंद, नहीं पावस को चिन्ता।
अपना जीवन सरल बनाना उसने सीखा।
जुगुनू ही से काम चलाना उसने सीखा।
अंधकार में ग्रस्त आप हो आया पावस।
किन्तु नया संसार रसीला लाया पावस। ३०
करने को उपकार विश्व में छाया पावस।
कर अपना संहार सभी को भाया पावस।
आत्म-त्याग विलोक क्रूर उर भी ललचाया।
घन का गर्जन देख नृत्य मोरों को भाया।
दोनो ही ने गान सरस मानो यह गाया।
"जीवन का बलिदान नित्य नव जीवन लाया।"
"बिजली ही सी दृष्टि फेंकने वाले रह-रह—
कहां क्लेश में सृष्टि ? देखने वाले रह-रह—
पावस तुम हो मान्य"—ओठ दादुर ने खोले।
कर झींनो झनकार मंद झींगुर भी बोले। ४०
"काली जामुन और आम मीठे रस वाले—
दे तरुओं के व्याज, अमित सेवक बैठाले।
थके पथिक को आज बाँटते भोजन-पानी"—
कूकी कोकिल, "धन्य धन्य हे पावस दानी।"
कामिनि औ बकपंक्ति प्रणयमय द्र तगति शालिनि।
चली कान्त घनश्याम ओर अनुरति-व्रत-पालिनि।
गति के पग पग मध्य ध्वनित हो आया गाना—
"पावस ने रस दान किया हमको मनमाना।"
सप्तच्छद, केतकी सुमन-सौरभ-आमोदित।
कुंजर-शावक श्याम घूमते दीखे शोभित। ५०
पीकर निर्मल वारि ताल में धूम मचाकर।

करते से थे घोष—"धन्य पावस रस-आकर।"
फूले कलित कदम्ब भ्रमर गण उन पर भूले।
झूली हिलती डाल उसी झूले में भूले।
कभी कमलवन ओर समद मँड़राते आये।
पावस-कीर्ति-कलाप प्रीति से गाते आये।
बीर बहूटी व्याज प्रणय दरसाते आये।
रस-धारा से हृदय-हृदय सरसाते आये।
दोलित दल के संग पवन ने गाना गाया।
खग-सावक ने राग इसी स्वर-लय में पाया।
"मेंहदी को सुकुमारि! दान करती हो आदर।
एड़ी-लाली-मध्य लालिमा उसकी लाकर।
छोड़ो भाव उदार कान्त उर भग्न करो मत।
उनको प्रिय आरुण्य मलिनता-मग्न करो मत।
रोष करेगी प्रकृति, दोष की कोष बनो मत।
कृत्रिमता मय विकृति-राग-रस-मध्य सनो मत।"
"कहां पी कहां" व्याज पपीहा यों ही बोला।
विरह-दग्ध वह विरह-निवारण हित ही डोला।
"काला मेघ-स्वरूप आज यह लाली लाया।
काला हो मत कर्म, भले हो काली काया"—
इन्द्रधनुष-छवि देख मत्त विहगावलि कलरव—
मिस मानों घोषणा-निरत थे पावस रसधर।
सरिता होकर दीन विनय-साधन करती थी।
तट-तरुओं के चरण-समाराधन करती थी।
विद्रोहिनी अदम्य, प्रबल हो उसने गाया—
"पावस! मैंने आज सहारा तुमसे पाया।"
नाला जो था क्षुद्र, सिन्धु सा नवल निराला—
होकर अगम अपार बना नव गौरव वाला।
किया सहित अभिमान आज उसने भी गर्जन—
"दिया नीच को मान तुम्हीं ने पावस सज्जन!"

था पावस-कर्त्तव्य यथोचित सतत प्रवाहित।

स्वल्पाधिक सर्वत्र वारि-वितरण निरवाहित।
शृंगी ऋषि का विपिन किन्तु था पात्र प्रणय का।
पावस कृत रसदान संग रसनिधि-संचय का।

अपना प्रकृत स्वरूप वहीं था उसने पाया।
उसका वर लावण्य वहीं था प्रखर दिखाया।
या कह दें इस भाँति वहां वह रमण-निरत था।
वहां छोड़कर अन्य देश-प्रति भ्रमण-विरत था।

"काले काले मेघ गगन में सहसा छाये।
मेरे आश्रम-हेतु अमित रस लेकर आये। ९०
देवि ! विपिन-सौन्दर्य चलो तुमको दिखलाऊं।
रस-सरिता में स्नान कराकर क्लान्ति मिटाऊं—"

प्रियतम के ये वचन श्रवण कर हर्षित शान्ता।
खड़ी हो गयी विनत सहज ही कर्षित, श्रान्ता।
बढ़ा दृगों में राग चढ़ी मुसकान अधर पर।
कान्त-अनुगमनशील हो चली सरला सत्वर।

"हिंसा यहां न लेश प्रणय सब काल प्रवाहित।
एक परम अद्वैत, उसी प्रति रत-उदवाहित।
देवि ! भेद से रहित स्वार्थ-परमार्थ-प्रचारित।
देखो विपिन विशाल कीर्ति जिसकी जग-सारित। १००

पर्वत, निर्झर, विहग, उरग, पशु, नर, वनचारी।
जाति जाति के जीव कुसुम द्रुम मानसहारी।
सब के ही अनुराग—भाव का पोषक कानन।
देखो विस्तृत, विमल, खेद का शोषक कानन।

देखो तुङ्ग तरङ्ग—रङ्ग लहरित पावस का।
अंग अंग संउमंग छटा—छहरित पावस का।
पावस—प्रकृत विकास जगत में खोज थकोगी।
उसका यह उल्लास यहीं अवलोक सकोगी।

पीकर जल उन्मत्त भाव से विचरण करते।
कुञ्जर-शावक मंजु कुंजरों-संग विहरते। ११०
दिखे यहां अविराम, गगन में पावस लाये।
'देखो दोनों ओर'—कह रहे से मनभाये।

कर अम्बुधि-जल पान दिवाकर केकर द्वारा।
उगल रहा है व्योम उसे मीठा कर सारा।
दुर्जन-अप्रिय वचन श्रवण कर भी मुसकाया।
शुभ आशिष ही कब न सुजन अधरों पर आया?
भीग न जाओ देवि, यहां तरु-नीचे आओ।
भूखी होगी सरस और मीठे फल खाओ।
सफल द्रुमों की पंक्ति यहां सब ओर विलोको।
देंगे फल तत्काल हर्ष इनका मत रोको।
ये ही प्यारे विटप मुझे आहार पठाते।
निर्झर निर्मल वारि प्यार के साथ पिलाते।
ये ही मेरे मित्र, मित्रता इनसे कर लो।
जीवन-रस का सार सहज ही कर में धर लो।"

"शैशव ही से मित्र रहा है कानन मेरा।
चला सहज उस ओर रसिक चंचल मन मेरा।
पूज्य पिता के संग सहित आग्रह जाती थी।
कानन में कर भ्रमण हृदय बहला आती थी।
था कल्पित वन एक बनाया राज-भवन में।
मैंने कभी न चित्त लगाया राजभवन में।
नित्य नवल द्रुम वेलि सदा आरोपित करती।
देकर उनको प्राण प्राण अपने में भरती।
वही कल्पना आज सिद्धि मेरी बन आयी।
प्रकृति-वनश्री कान्त चरण की आश्रिति लायी।
पाया अपना गेह मित्र सब अपने पाये।
पाकर तुमको देव! सिद्ध सब सपने पाये।"

"अरे! ताड़ के पेड़ तले तुम वहां खड़ी हो।
बूँदों की बौछार—सहन के हेतु अड़ी हो।
चली पश्चिमी पवन शब्द खड़ खड़ खड़ होता।
रही दामिनी कौंध धैर्य अपना मैं खोता।
यह विशाल वट वृक्ष घनी अति इसकी छाया।

पर-सेवा-रस-रसिक हृदय भी इसने पाया।
तुम डरती ही नहीं तुम्हारे हित डरता मैं।
आओ इस तरु पास वनय फिर फिर करता मैं।"
"देव ! मेघ संग्राम किसी से करने आये।
फर-फर उड़ती मंजु ध्वजा बिजली की लाये।
उनका बैरी कौन उसी को खोज रही हूं।
दिन भी रात समान, करूं क्या, सोच रही हूं।"

"यहां कहीं संग्राम नहीं हे राजकुमारी।
जल-धारा-उपवीत जलद-श्यामाजिनधारी। १५०
दामिनि-ध्वनि के व्याज वेद-मन्त्रोच्चारण कर।
गिरि-गुरु करते यत्न क्रूर कुग्रह-वारणकर।"
देखो देवि, रसाल माधवी वेलि समावृत—
पल्लव-पाणि रसाल भेंट प्रेषित सेवा हित।
उसका ही यशगीत कोकिला गाती स्वर भर।
कर दो उसे कृतार्थ छाँह में उसकी आकर।
जामुन, महुआ, बेल, कदम, पीपल, पाकर वर।
खड़े लिये सोत्कण्ठ प्रेम-उपहार मनोहर।
फल, छाया, प्रिय सुरभि, शान्ति के देने वाले।
तुमसे स्वीकृति-मात्र एक ये लेने वाले। १६०
कैथा, इमली, सेब, बेर, अमरूद सुरुचिकर।
लीची, नीबू, पारिजात, फालसा हृदयहर।
केला, सरस अनार, मंजु कटहल नारंगी।
तुम्हें दिखाने हेतु विकल अपनी छवि-भंगी।
प्रिय आँवला अशोक नासपाती मनहारी।
उत्कण्ठा में मग्न जोहते राह तुम्हारी।
करो सफल को सफल विफल को जीवन-फल दो।
जिनके पास न छाँह उन्हें आश्वासन-बल दो।
त्यागा ताड़, बबूल कुतरु की ओर चलीं तुम।
वृत्ति परम प्रतिकूल, व्यर्थ उस ओर ढलीं तुम। १७०
काँटे उसके पास, वही वह तुमको देगा।

दे चरणों में घाव हृदय मेरा छेदेगा।"

आग्रह प्रिय का देख सरल शान्ता मुसकायी।
स्नेह-सने ये वचन अरुण अधरों पर लायी।
"मेरे प्रति अनुराग न हो यों देव तुम्हारा।
काँटों का सौन्दर्य लोप हो दृग से सारा।
लेकर यह आसक्ति प्रेम का बल न घटाओ।
मैं हूं प्यासी अमित विश्व-छवि पान कराओ।
वर्षा-जल में भींज देह ने नव बल पाया।
हृदय हो गया तृप्त प्रवाहित नव रस आया।
प्रकृत प्रेम का ज्ञान नहीं क्या मुझको दोगे?
साम्य-मंत्र के रसिक! विषमता-निरत करोगे?
क्यों काँटों को छोड़ फूल के ढिग मैं जाऊं।
क्यों जीवन-आस्वाद न काँटों में भी पाऊं।"

तज बबूल की छाँह तनिक अनुकूल न आयी।
हँसती ही अविराम शैल-मूलों दिशि धायी।
होती थी जलवृष्टि हवा चलती थी तीखी।
गिरि-आरोहण-निरत बालिका चंचल दीखी।
शृंगीऋषि यह देख रोक लेने को धाये।
विहसित बाला-चरण बढ़े ही किन्तु दिखाये।
करना यह खिलवाड़ नहीं ऋषिवर को भाया।
भय से कम्पित हृदय अधिक शंकित हो आया।
मेरा अधिक प्रयास विपद-दिशि ले जायेगा।
बाला का चापल्य न वारित कर पायेगा—
यही सोच ऋषि विरत विराजे एक शिला पर।
नेत्र गड़ाये विकल, अचल, अपलक शान्ता पर।
रुका वृष्टि का वेग पवन ने थिरता पायी।
शान्ता बैठी एक शिला पर नव छवि छायी।
आरोहण-पथ-मध्य विकट विश्राम-शिला वह।
दीख पड़ी विकराल पंथ से अधिक भयावह।

शिला पार्श्व में एक गर्त था गहरा ऐसा।
महाकाल या रुद्र देव का जबड़ा जैसा।
शान्ता-सरल प्रमाद आपदाकारक ही था।
बोकर विषम विषाद हृदय-संहारक ही था।
मूँदे ऋषि ने नयन, भाव शान्ता ने पाया।
नीचे ही की ओर प्रगति हित पाँव बढ़ाया।
आकर ऋषि के पास हाथ से मूँदे लोचन।
ऋषि-मानस उल्लास पा गया भीति-विमोचन।
ऋषि-उर में अनुराग उमड़ आया अनिवारित। २१०
चमक पड़े ज्यों भानु मेघ को कर अपसारित।
प्रिया परम सुकुमार पाणि-पल्लव कर में धर।
होकर पुलकित-गात वचन बोले यों ऋषिवर—
"ज्ञान-मूर्ति साकार ज्योति से तिमिर बढ़ातीं।
और तिमिर से ज्योति निराली नवल जगातीं।
ऐसा अमृत-प्रवाह न था जीवन ने जाना।
मिला कहां से देवि तुम्हें, यह रस मनमाना।"

"सच कहती हूं देव! गर्त का भीषण अंकम।
करता था अनिवार्य हृदय-आकर्षण निर्मम।
अजगर सा विकराल, तदपि सम्मोहक अतिशय।
माँग रहा था प्राण आप में करने को लय। २२०
उस बबूल तरु हेतु हृदय की ममता मेरी—
कह पाऊं किस भाँति प्रणय भावों से प्रेरी।
क्रूर, उपेक्षित, घृणित, परस के योग्य नहीं जो।
मेरा नित आराध्य जगत-हित भोग्य नहीं जो।
जल तो रस-आधार सहज ही रस कहलाया।
दाहक अनल अपार, विरस उसकी ही काया।
पावक प्रथमाराध्य सरसता उसमें आये।
सलिल-पाँति में बैठ रुचिर समरसता पाये।
समरसता की खोज सतत करती फिरती हूं।
सुमनों का तज संग कंटकों में घिरती हूं। २३०

जहां विफलता वहीं नित्य मैं फल पाती हूं।
जहां सफलता संग वहीं से भग जाती हूं।
मुझे न लेनी छाँह, छाँह औरों को देनी।
मेरी नौका पार अन्य नौकाएं खेनी।
आंधी अंधड़ अंध चलें करने को अंधा।
उनमें भी तल्लीन उड़ूं मेरा यह धन्धा।"

"समझ रहा हूं देवि, तुम्हारा पंथ निराला।
विष का करके पान पियोगी रस का प्याला।
उग्र भयंकर क्रूर विकट के पीछे सुन्दर—
पाओगी अविराम प्रगति में अनुरत रह कर।
वह जीवन-सौन्दर्य-स्वाद-मग मान्य तुम्हारा।
नहीं वहां मत-भेद तुम्हारा और हमारा।
फिर भी अन्तर एक, जान लो, इसको सुन्दर!
उसमें मेरा खेद, मान लो, इसको सुन्दरि!
एक हलाहल बूँद अधर तक जाय तुम्हारे।
देख दृश्य किस भाँति रहेंगे प्राण हमारे।
मंजुल चरण-सरोज कंटकों से क्षय पायें।
नयन हमारे विवश अविचलित क्यों रह जायें?
चतुरानन-यश-रूप खिलीं तुम जग-उपवन में।
करतीं वितरित प्राण अखिल प्राणी-जीवन में।
मेरी प्राणधार! श्वास की श्वास मनोरम!
कैसे होगा उचित व्यथित वंचित हों सब हम?
पंचतत्व ने आज रूप जो निरुपम पाया।
जिसमें बिम्बित सकल विश्व का विभव दिखाया।
जिसको शान्ता नाम मिला जग-पुलकितकारी।
तुम्हीं नहीं हो एक मात्र उसकी अधिकारी।
दिया प्रकृति ने प्राण जगत-सेवा के हित ही—
करो विश्व को पुलक-मोद-मंगलमय नित ही।
उसे करो मत विफल हेतु लेकर मनमाना।
निष्फलता का साज न होगा उचित सजाना।
मुझको, जग को विकल बनाने वाला साधन।

ग्रहण करो मत देवि, व्यर्थ वह रस-आवाहन।
मुझे मिले आमोद, जगत-हित-अनुमोदन हो।
खोजो ऐसी राह, सरसता-परिशोधन हो।"

गयी शिला पर बैठ सामने ही ऋषिवर के।
शान्ता चिन्तनशील खोजती पथ उत्तर के।
दीखी वह उस काल विपिन-देवी सी शोभन—
निज प्रियतम वनदेव संग साकार विमोहन।
शान्ता ननु था सरस, सरसतर था हो आया।
वर्षा से लावण्य नवल उसने था पाया। २७०
अधिक विकलता-मग्न नहीं करने आयी थी।
केवल मुक्ता-माल मेघबाला लायी थी।
बिखरे केशों-मध्य वारि बूँदें हँसती थीं।
उन्नत भाल, कपोल-कान्ति विकसित करती थीं।
उन सब में सम्बन्ध पवन-प्रेरित अलकावलि—
थाप रही थी मंजु प्रेम से जा-जा कर बलि।
अलकावलि सस्नेह रूप रस बरसाती थी।
जहां ढलकती बूँद वहीं नव ले जाती थी।
चन्द्रामृत कर पान भुजग-कामिनि रसवाली—
मानों थी शशि हेतु अमृत-दानिनि मतवाली। २८०
भींज गया था वसन स्वल्प भींजी थी सारी।
तनु की कंचन-दीप्ति अमल झलकाती प्यारी।
मानों जलदावरण भेद रवि-आभा कढ़ती।
पावस-विजय-परास्ति-घोष-रत आगे बढ़ती।

प्रिय-चिन्ता के शमन हेतु अति व्यग्र दिखाती।
बोली शान्ता सरल सरसता नव अपनाती।
"देव, आप का खेद कभी उद्देश्य न मेरा।
उससे होगा प्राप्त मुझे उर-दाह घनेरा।
जगत—खेद भी लक्ष्य कभी मेरा न बनेगा।
जो नितान्त ही रक्ष्य भक्ष्य मेरा न बनेगा। २९०

दोनों ही के स्नेह हेतु इस वन में आयी।
श्रद्धा, सेवा-भाव उभय-हित मन में लायी।
लहराता चांचल्य अभी जो मुझमें दीखा।
वह तो परमानन्द-वरण से मैंने सीखा।
रंक रतन पा जाय न क्यों आह्लादित हो वह?
विक्षिप्तों की भाँति न क्यों उन्मादित हो वह?
मेरा सहज स्वभाव आप वह झलक पड़ा था।
प्रीति—प्रकाशन मात्र हेतु ही ललक पड़ा था।
धारण करो न भ्रान्ति हृदय में उसके कारण।
मानो उसको कान्त! बात अतिशय साधारण।
मैंने किया कठोर, उग्रतम का आराधन।
सुन्दरतम के पास मुझे लाया वह साधन।
दे अभीष्ट की सिद्धि हो गया मेरा प्रियतम।
उसको मिली समृद्धि यहीं हृदयेश! अनूपम।
यहीं मिला अद्वैत द्वैत-बाधा-संहारी।
कण-कण में अभिराम कान्त का रूप प्रसारी।
यहीं मिला वह दिव्य जिसे दृग देख अघाये।
मिटी हृदय की प्यास विरस सब स्वाद जनाये।
शान्ति-विधायक सरस, देव! तुमको क्यों बाधक?
शीतल जल को आज समझ बैठे क्यों दाहक?
जो हो, मैं अनजान, ज्ञान का पथ दिखलाओ।
जो हों अगम रहस्य कृपा करके समझाओ।"

"देवि! असुन्दर और परम सुन्दर में अन्तर—
देखे जो अविराम उसी का भाग्य भयंकर।
कहां उसे विश्राम? पड़ा भारी भ्रम में वह।
भ्रमण करे चिरकाल धैर्यहारी तम में वह
जो प्रत्यक्ष प्रपंच एक ही उसका कारण
करता वही समग्र सृष्टि, सारण, संहारण
युग-युग करके खोज व्यर्थ हम लोग थकेंगे
इस तरु के दो मूल कभी हम पा न सकेंगे।

एक मूल से निकल चलीं दो नव शाखाएं।
लिये लालसा अमित अमित रस-अभिलाषाएं।
उनमें कहां विभेद? सफलता जब पायेंगी—
ले परिणति का स्वाद मूल में मिल जायेंगी।

भीषण उग्र कठोर परम रमणीय मनोहर—
शाखाएं अभिराम; मूल अव्यक्त, अगोचर।
चलीं मूल से जनित परस्पर पूर्त्ति निभाकर।
होंगी मूल-विलीन अमृत जीवन का पाकर।

डालें दोनों रम्य, सरस, अनुदार-भयंकर—
संतत रस-आधार, विरसतागार लयंकर। ३३०
पल्लव, दल, फल सकल एक ही सा वे पातीं।
पवनालिंगन विकल एक ही सी लहरातीं।

वे होकर स्वच्छन्द गगन-दिशि वृद्धि न पायें।
कहीं मूल का बन्ध—भूल इसको मत जायें।
मूल न ठाने रार—न शाखा-प्रगति निवारे।
जीवन कर स्वीकार उसे सब भाँति सँवारे।

नहीं मूल-गत भेद कहीं भी शाखाओं में।
फिर भी अन्तर नेक प्रगति-मूलक भावों में।
दृष्टिकोण से विवश पृथक दिशिगामी दिखतीं।
एक सत्य आख्यान भिन्न भाषा में लिखतीं। ३४०

उग्र, भयंकर, क्रूर, दूर से प्रिय छविधारी।
होकर अधिक समीप वही मारक संहारी।
अनुरंजित अभिराम निकट से मोहितकारी।
वह भी भोग-विकार-विवश बनता उर-दारी।

अति भीषण के निकट भूल कर भी मत जायें।
अपने उर में शूल व्यर्थ ही मत उपजायें।
अनायास रमणीय जिसे हम कर पायेंगे।
उसे भयंकर जान व्यर्थ ही क्षति लायेंगे।

अभ्यन्तर में परम रम्य के भी मत बैठें।
क्यों नाहक विकराल काल-जबड़ों में पैठें। ३५०

रमणीयता अनन्त रत्न की राशि गँवायें।
सीमा-बन्धन तोड़ व्यर्थ क्यों आगे जायें?
गये उग्र-अति-निकट, रम्य-अतिशय-अन्तर में।
मिला उन्हें ध्रुव मरण धँसे जो यम के घर में।
नहीं मरण के हेतु, यहां जीवन-हित आये।
जीवन में हो प्रगति—संग बन्धन यह लाये।

गुप्त प्रगट विकराल तटों के भीतर जीवन—
बहा सरित की भाँति ब्रह्म के प्रति रत प्रणयन।
कूलों को दे परस मात्र, द्रुत गति से चलना।
३६० धारा को अविराम जलधि के प्रति ही ढलना।
भय की कहीं न बात बात केवल नियमन की।
निश्चित कर निज राह पथिक के नियत गमन की।
जीवन की सब सिद्धि सहज ही तुम पाओगी।
दो काँटों के बीच फूल जब बन जाओगी।
बात विलक्षण एक और तुमको बतलाऊं।
सृष्टि-निगूढ़ रहस्य सहज उर-गम्य बनाऊं।
जीवन-धारा मध्य बहे—वे ही तर पाते।
भाया जिनको कूल, उलझ वे ही मर जाते।
महाशक्ति की प्रगति-वृत्ति में साथ न देते।
३७० जो प्रमाद में मग्न कूल में ही रम लेते।
देती उनको मरण रोष से निर्मम होकर।
बूंद-बूँद रस हेतु तरस मरते वे रोकर।

महाशक्ति ने सृष्टि रची सौन्दर्य-निकेतन।
मोहें जिसको देख भयंकर लोहित-लोचन।
कुरूपता का लेश नहीं वह सहन करेगी।
घृणित, उपेक्षा-योग्य नहीं वह वहन करेगी।
व्यक्ति व्यष्टि-सौन्दर्य-साधना से न विरत हो।
संयत जीवन-पंथ-शोध में नित्य निरत हो।
यों समष्टि सौन्दर्य सृष्टि का हो सम्पादित।

महाशक्ति-संकल्प-पूर्ति हो सहज अबाधित। ३८०
विष पीकर भी अमृत-लाभ की राह दिखायी—
शम्भुदेव ने और वही तुमको भी भायी।
किन्तु जगत का लाभ कौन सा तुम कर पातीं—
अकस्मात ही पतित, गर्त से जब मिल जातीं!
महाशक्ति-आदेश भुलाकर यों मिट जाना।
जीवन मिला अमोल उसे यों विफल बनाना।
ब्रह्म-विलय—प्रति प्रगति नहीं अंगीकृत करना—
असन्देह ही आत्महनन होगा यों मरना।
आकर्षण अविराम करें अनुभव हम जग में।
किन्तु प्रगति का ध्यान रखें जीवन के मग में। ३९०
हमें प्रगति से प्रीति प्रगति से ही सब नाता।
प्रगति गयी तो काल हमारा भाग्य-विधाता।
प्रगति-प्रेरणा-रहित स्वयं को हम न बनायें।
महाशक्ति की प्रीति-प्रगति-पथ पर चल पायें।
आप बनें बलवान स्वस्थ, सुन्दर छविशाली।
दें जगती को कान्ति कान्त मन हरने वाली।"

प्रियतम के ये वचन श्रवण कर शान्ता बोली—
"मेरी मानस-ग्रन्थि देव! तुमने तो खोली।
स्वीय लालसा-विवश जगतका लाभ भुलाया।
कैसा कठिन प्रमाद चित्त पर मेरे छाया! ४००
लेकर शिव का नाम शाक्त होने मैं आयी।
मूल मंत्र जो प्रगति उसी की याद गँवायी।
प्रभो मुझे अविलम्ब प्रगति की दीक्षा दो अब।
हो न परीक्षा अधिक विवेक-समीक्षा दो अब।"

बोले ऋषि, हे देवि, "गर्त की ओर निहारो।
वह कितना रमणीय, दृष्टि उस पर अब धारो।
चिलबिल पेड़ प्रकाण्ड डाल पर गिद्ध भयानक।
बैठा निपट निरीह प्राप्त निरुपम छवि बानक।

काँव-काँव के ब्याज प्रेम अपना प्रगटाकर—
वह कौओं का वृन्द ताड़ पर बैठा आकर।
स्वीय परिस्थति ही सँभालता उनमें कोई।
सहज भाव से पंख झाड़ता उनमें कोई।

वह बबूल का पेड़, वहां से कितना रुचिकर!
बैठ रहीं टोलियां हरे तोतों की जिस पर।
कहीं दूर से चले आ रहे क्लान्त हुए से।
काँटों का न विचार कर सके, भ्रान्त हुए से।

काला काला विटप हरी टोपी सा पहने।
धारण किये अनूप मंजु फूलों के गहने।
दूरी ही से हरित-दोष-कंटककृत सारा।
लगता कितना रुचिर, मनोहर, प्यारा-प्यारा।

रहा अभागा ही बबूल कंटकमय होकर।
तोते जाते उड़े रुचिर फलमय तरुओं पर।
कोई चला अनार ओर आकर्षित धाया।
कोई मंजु रसाल विटप-शाखा पर आया।

बगलों का दल एक चला आता वह देखो।
बादल का संदेश सरस लाता वह देखो।
ऊँचा इमिली पेड़ उन्हें अब देगा आश्रय।
पा जायेगा श्वेत शिरोवेष्टन यों छविमय।

देखो तुङ्गा-तीर कूजते जल—कुक्कुटगन।
मोर नाचते मत्त देख काले काले घन।
ध्यान न दे रसराशि ओर वह अधिक अधीरा—
चली जा रही सिन्धु-मिलन-हित चंचल-नीरा।

चंदन, तिलक, तमाल, शाल, अतिमुक्तक, पद्मक।
बेत, बकुल, वानीर, तिमिद, हिन्ताल, कदम्बक।
वृक्ष सरल, ककुमादि हंस, सारस खगमाला—
सेवित तुङ्गा तुंग तरंगित नव छवि शाला।

आराधित अविराम कान्त कुसुमावलि-द्वारा।
अनासक्ति में तदपि मग्न कृत-भावन सारा।
चली जा रही प्रगति-भावना-सतत उपासिनि।

मर्यादित उल्लास-लालसा सरस विकासिनि । ४४०
होकर गिरि-आरूढ़ चलो वन-वैभव देखें ।
जीवन का साफल्य इसी दर्शन में लेखें"—
यों कह ऋषिवर उठे चले संयत मगचारी ।
प्रीति-पुलक में मग्न चली शान्ता सुकुमारी ।

ऋषि चरणों को देख चरण धरती चलती थी ।
नवल कमल-मकरन्द पान करती चलती थी ।
परम तृप्ति में मग्न चढ़ी जाती थी ऊपर ।
प्रसन्नता से पाँव न पड़ते मानो भूपर ।
"आओ तनिक सँभाल पाँव अटपट मत डालो ।
ये पाषाण कठोर सजगता का व्रत पालो । ४५०
मंजुल चरण सरोज न आहत हों कंटक से ।
पदत्राण भी हाय ! नहीं लायीं तुम घर से ।"
लेकर तनिक विराम देख पीछे ऋषि बोले ।
कल्पित शान्ता क्लेश-चलित वे दृढ़-मति डोले ।
उनका व्यथित विलोक कहा शान्ता ने सत्वर—
"निज व्यग्रता न देव, बढ़ाओ यों करुणा कर !
चरणाम्बुज-रज दिव्य सकल कल्मष-उरदारिणि ।
जन्म-जन्म की क्लान्ति एक क्षण मध्य निवारिणि ।
आज सौगुनी शक्ति दे रही मेरे मन को ।
विचरण की अनुरक्ति सौ गुनी और चरण को ।" ४६०
आश्वासित अत्यन्त चले शृङ्गी ऋषि आगे ।
प्रिया शारदा-मूर्ति—भाव मानस में जागे ।
सजल हो गये नेत्र बढ़ी तनु में पुलकावलि ।
अपना वैभव देख गये वे तन मन से बलि ।

"गयी अवध को भूल हो गयी मति प्रतिकूला ।
आत्महनन के हेतु हो चली अति अनुकूला ।
कैसा यह षडयन्त्र ! कहां से यह भ्रम आया ?
किसने निर्मम बाण कपट का हाय चलाया ?

जो अद्वैत-विलास पिता का हृदय विदारे ।
राह देखतीं जननि—उन्हें तड़पा कर मारे ।
दीन विकल निरुपाय अवध को अन्धा कर दे ।
उसको, जो अति मूढ़, वही स्वोकृति-अवसर दे ।

लेकर भारी भार चलो अपने कन्धों पर ।
हाय सकी न सँभाल गिरी मैं खाकर ठोकर ।
यह अद्वैत-विनोद अपरिमित बाधाकारक ।
क्यों हो विश्वसनीय जगत-हित का संहारक ?"

यों चिन्तन में निरत चली चलती थी शान्ता ।
कान्त-चरण-आदर्श लिये ढलती थी शान्ता ।
उनके श्रम से श्रान्त आप अतिशय विश्रान्ता ।
दृश्य देख अभिराम अवध की स्मृति से क्लान्ता ।

आया तब वह ठाँव इष्ट शृंगी ऋषिवर का ।
मुकुट-विमंडित-भाल सरीखा जगती भर का ।
सृष्टिकार-सौन्दर्य-विभव-सीमित प्रसार सा ।
रुद्र-विमोहक शक्ति-शस्त्र-भण्डार-सार सा ।

सुन्दर सघन अशोक विटप ऋषि को अति भाया ।
जिसकी कलियों ओर मधुप दीखा ललचाया ।
मन्द सुगन्धित वायु छाँह शीतल मनहारी ।
विविध शिलाएं प्रकृति-रचित अतिशय रुचिकारी ।

स्फटिक-धवल जलराशि सरोवर ने लहराकर ।
तट-तरु-पुलकित मंजु डाल ने सुमन गिराकर ।
कारण्डव, प्लव, चक्रवाक ने मधुमय गाकर ।
सरल मृगी ने सरस एकटक नयन लगाकर ।

वारिधरों ने गरज, छेड़ मोरों ने नर्त्तन ।
कमल-विपिन से विरत मधुपगण ने कर गुंजन—
मानो कहा सप्रेम रूप-छवि के अधिकारी ।
आओ हे लावण्य-मूर्ति ! हे रसिक विहारी !

"देखो दृश्य ललाम यहां शान्ते ! मनभाया ।
किसने कर निर्माण इसे इतना सरसाया ?

कारीगर वह कौन कला जिसकी रसवर्षिणि ?
कण-कण में लावण्य-राशि भरती उर-कर्षिणि ?"

यों कह बैठे एक शिला पर ज्ञान-दिवाकर । ५००
शान्ता सम्मुख बैठ गयी ज्यों पूर्ण कलाधर
पावस का वह तिमिर कटा पूनों सी छायी ।
जग मग जगमग ज्योति वहां हँसती सी आयी ।

दृश्य देखने हेतु नवल अति ललचायी सी ।
नभ से चपला दिखी, छिपी फिर सकुचायी सी ।
तज शीतल घन अङ्क प्रगट होती थी फिर-फिर ।
अति प्रचंड उर-दाह-बीज बोती थी फिर फिर ।

कलित कुन्द, करवीर, केतकी, कोविदार वर ।
वासन्ती, मुचकुन्द, लोध अङ्कोल मनोहर । ५१०
मातुलिंग, हिंताल, पाटली, गुल्म विभामय ।
सिंदुवार, अर्जुन, कुरंट, चूणक छवि-आलय ।

केतक, उद्दालक, सिरीष, धव, किंशुक न्यारे ।
तिलक, शाल्मली, नक्तमाल, चंदन अति प्यारे ।
नागवृक्ष, शिंशिपा, तिनिस-स्यन्दन रस-पोषक ।
जाति जाति के सुमन वहां थे काम-विमोहक ।

कुछ की लेकर सुरभि और कुछ की पंखड़ियां ।
ले सुकुमार अशोक-शाकहारक मंजरियां ।
होकर अमित दयार्द्र, आर्द्रतर वर्षा-रस से ।
प्रेमिक-द्वय के चरण-कमल मारुत ने परसे । ५२०

"देखो तो छवि, देवि ! मंजु जामुन तरुवर की ।
जिसके फल अति श्याम भ्रान्ति देते मधुकर की।
तनिक बढ़ाकर हाथ जिसे इच्छा हो पा ले ।
रस से भरे अमोल भूख जितनी हो खा ले ।

उससे भी रसवान मधुर फल-भार-विनत सा ।
देखो रुचिर रसाल मोद-वितरण में रत सा ।
कहीं पल्लवों बीच उसी के कोयल बैठी ।
अलापती सी तान प्रेम के निधि में पैठी ।

देखो वह रस-मग्न बहा जाता है निर्झर ।
किसकी इसको खोज ? कहां जाता है निर्झर ?
किस पीड़ा से हाय व्यथित होता है निर्झर ?
क्यों आतुर इस भाँति धैर्य खोता है निर्झर ?

एक ठौर पर मन न मधुप का रम पाता है ।
एक सुमन को छोड़ अन्य पर वह जाता है ।
चली सुगंधित वायु जिधर उसका अनुसारी ।
चला उधर उन्माद-भरा गुन-गुन रवकारी ।

वह कनेर का वृक्ष, निहारो उसकी शोभा ।
जिसका मुकुट सुवर्ण देख मेरा मन लोभा ।
रह रह करके फूल गिराता है धरती पर ।
कुरूपता का लेश रहे जिससे न कहीं पर ।

यह सहृदयता भाव सभी के मन को भाया ।
ज्यों घन ने जल, सुमन द्रुमों ने त्यों बरसाया ।
अति कठोर गिरि अवनि प्राप्त कर मंजु कुसुमचय ।
निर्भयता तज आज बनी अति कोमल रसमय ।

अति नीचे वे बाँस कोठियां देखो प्यारी ।
करती जिनके संग केलि तुंगा मतवारी ।
आयी बाढ़ दुरन्त बहे बेबस हो विषधर ।
लायी प्रगति विचित्र बाँस - कोठी - कल्मषहर ।

हिंसा का न प्रवाह कहीं तुङ्गा में दीखा ।
देना सबको प्रगति मात्र ही उसने सीखा ।
लहरित क्रीड़ा—स्वाद चखाया भुजंगवरों को ।
स्वल्प गरल से रहित बनाया गरलधरों को ।

ऊँचा नभ की ओर गमन के हित उत्कंठित ।
देखो अचल महान मेघ - विजली से मंडित ।
नीचे अम्बुधि अतल और ऊपर वर अम्बर ।
दोनों में मध्यस्थ प्रगति-पथ-दर्शक गिरिवर ।"

ऋषिवाणी विश्राम पा गयी इतना कहकर ।
प्रगट हो गया शेष सजल नयनों से बहकर ।

शान्ता का भी गात प्रणय-पुलकित हो आया।
एक अनिर्वचनीय कम्प कानन ने पाया।
शान्ता की आनन्द-मूर्ति में बाधाकारक।
प्रस्तुत शंका-मूर्ति हो गयी तर्क-प्रसारक।
उसको देकर प्रणति तुष्ट करना निरधारा।
परम विनय के साथ कान्त प्रति वचन उचारा।

"देव निवेदन एक धृष्टता कर करती हूं।
मुझे एक सन्देह, उसे सम्मुख धरती हूं।
अन्धकार सब मेट ज्योतिमय मार्ग बनाओ।
विमल जाह्नवी—नीर पिलाकर प्यास बुझाओ।
व्यक्ति व्यष्टि सौन्दर्य—चयन करता ही जाये।
अपने में माधुर्य नवल भरता ही जाये।
यों समष्टि सौन्दर्य आप ही साधित होगा।
महाशक्ति-उद्देश्य सहज आराधित होगा।
प्रभु की यह सब बात समझ में आयी मेरे।
संशय केवल एक हृदय में लायी मेरे।
जो अद्वैत-विलीन प्रगति कैसे पायेगा?
मिला जिसे विश्राम क्यों न वह सो जायेगा?"

ऋषि आनन्द-निमग्न प्रश्न—प्रेरित हो जागे।
शंका-वारण-हेतु वचन बोले अनुरागे—
"देवि, प्रगति-माहात्म्य अभी तुम जान न पायीं।
इससे ही यह मोह सामने मेरे लायीं।

महाशक्ति ने सृष्टि रची अति शोभाशालिनि।
रुद्र—हृदय-वन-मोद-कुंज की हो वह मालिनि।
वे पायें आह्लाद, उमंगित अति हो जायें।
उसको कर स्वीकार, प्रेम-रस-पान करायें।
यह विराट ब्रह्मांड सामने जो दिखलाता।
जिसको मानव-नेत्र देख कर देख न पाता।

मिली न जिसकी थाह, थाह लेने वालों को।
जिसमें दिखी न राह नाव खेने वालों को।

वह तो केवल एक रुद्र-रंजन का साधन।
एक खिलौना मात्र मोह ले जो उनका मन।
सकल दोष से हीन सुघरता-आलय हो जब।
रुद्र-विनोदित हृदय प्रेम-करुणालय हो तब।

कामदेव, अज और जगत-पालक कमलावर।
महाशक्ति की महत कामना ही के चाकर।
होकर भी अद्वैत भावना के अधिकारी।
किंकर होते अखिल जगत के प्रगति—प्रसारी।

महाशक्ति का रुद्र देव में जब लय होगा।
जब उसकी अविराम वेदना का क्षय होगा।
पायेंगे सब विलय देव, दानव औ मानव।
पायेगा अनिवार्य जगत का खेद पराभव।

वह मूहूर्त्त आ जाय, करें उद्योग सभी हम।
बढ़े जगत-सौन्दर्य, करें सहयोग सभी हम।
कान्त नवल लावण्य विश्व भर में भर डालें।
महाशक्ति का स्वप्न सिद्ध मिलकर कर डालें।

त्यागो दुविधा-भाव जगत को अपनाओ तुम।
प्रगति-रहित अद्वैत-साधना बिसराओ तुम।
त्याग प्रगति का साथ आत्महत्या मत ठानो।
जग-जीवन का मंत्र प्रगति ही निश्चित जानो।"

बातें प्रिय की सरल ज्ञान-विज्ञान-अलंकृत।
शान्ता करके श्रवण हो गयी मुदित, प्रफुल्लित।
"समाधान हो गया, गयी शंका सब मेरी।"
बोली वह, "हे देव! कटी तम-राशि घनेरी।"

कहने को था शेष, बात भी मुँह तक आयी।
किन्तु दबी संकोच-भार से बोल न पायी।
भीतर का परिताप झलक आया आनन पर।
दे पाये न विशेष ध्यान इस पर तापसवर।

अकस्मात ही बात ध्यान में ऋषि के आयी।
शान्ता होगी भूख-प्यास से अति अकुलायी।
राजभवन - ऐश्वर्य छोड़ वन से अनुरागी।
क्यों न लहेगी क्लेश मिला पति मुझसा त्यागी।
सहसा आसन छोड़ पास से ले कदली-दल।
लाये जामुन, आम विविध मीठे मीठे फल।
खाने का अनुरोध किया ऋषि ने मुसकाकर।
शान्ता बोली देव, "करो न लज्जित कृपा कर।
चूक गयी मैं आप नहीं जाकर फल लायी।
सेवा मेरा काम सेविका बन कर आयी।
खाऊं मैं ही प्रथम करो मत आग्रह अविचल।
यही नहीं आदेश करूँगी स्वीकृत अविकल।
पहले खा लो आप शेष मैं भी खा लूँगी।
प्रभु का दिव्य प्रसाद प्राप्त कर धन्य बनूँगी।
देव, करो प्रारम्भ शीघ्र ही मैं आती हूं।
पीने के हित नीर सुनिर्झर से लाती हूं।

रुकी न उत्तर हेतु सहज ही गमनी सत्वर।
रहे चकित से देख प्रिया-चांचल्य ऋषीश्वर।
थे विचार में लीन-फलों को चख न सके वे।
कैसे खायें प्रथम - जीभ पर रख न सके वे।
शान्ता आयी और नीर दोने में लायी।
धरे हाथ पर हाथ देख ऋषि को सकुचायी।
"मानो देव, प्रसाद तुम्हारा ही मैं पाऊं।
आधा खाओ आप और आधा मैं खाऊं।
मैं खाने के हेतु नहीं चरणों में आयी।
चरण-नखों की ज्योति मात्र मुझको रसदायी।
मानो मेरी बात उचित पथ के निर्धारक।
मिले तृप्ति के स्वाद मुझे हे तृप्ति-प्रसारक!"
"मैंने मानी हार, तुम्हीं जीतीं सुकुमारी।
चली जभी से सृष्टि रही अपराजित नारी—"

आम उठाया एक, उसे थोड़ा सा चख कर।
दिया मधुरता-संग प्रिया को यों ही कह कर।

पाया सरल कटाक्ष शान्त शान्ता-लोचन ने।
वहीं कहीं पर बाण लिये संधान मदन ने।
एक अनिर्वचनीय स्वाद का अनुभव आया।
रस का दिव्य प्रवाह मधुर, लहराता लाया।

फल थे मीठे और अधिक मीठे हो आये।
प्रेम-सिन्धु में डूब उभय ने रुचि से खाये।
उमड़ पड़ा उल्लास हृदय भीतर न समाया।
लेकर तरल स्वरूप कमल-नयनों में छाया।

"तुम पत्नी-पति धन्य प्रेमिका औ प्रेमिकवर!
तुमसे ही यह सृष्टि बनेगी सुघर, सुघरतर।
हमको भी दी प्रगति आज जीवन की तुमने।
हर ली सारी क्लान्ति प्राण की, मनकी तुमने--"

कूज कूज कर मोर ध्वनित यों ही करता था।
विह्वलता के साथ क्रौंच हामी भरता था।
चक्रवाक औ हंस सरस सारस रस-साधक।
सहज बने थे मौन प्रकृति-भावों के वाहक।

पीकर निर्झर-वारि, प्रिया को शेष पिला कर।
बोले ऋषि प्रिय वचन हृदय, अरविंद-प्रभाकर।
"देवि चलो अब आज चलें अपने आश्रम को।
अभी विचरना नित्य कई दिन होगा हमको।

दृश्य परम रमणीय एक से एक मिलेंगे।
देखेंगे दृग और हमारे हृदय खिलेंगे।
लाओ नूतन प्रगति तुम्हीं मेरे जीवन में।
भर दो सरस प्रसार तुम्हीं प्राणों में, मन में।

आवाहन मैं नित्य तुम्हारा ही करता था।
आओगी कब प्राण!--विरह-पीड़ित मरता था।
मेरे तप की सिद्धि आज मेरे ढिग आयीं।

मेरे हेतु अनन्त विभव-आशाएं लायीं—"
उठे गमन के हेतु प्रशंसा यों ही करते।
शान्ता उर संकोच और—व्रीड़ा से भरते।
कर न सकी जब सहन प्रणय का मादक झोंका।
ऋषि मुख पर रख हाथ तुरत ही उसने रोका। ६८०
"देव! प्रेम-आवेग अधिक इतना न बढ़ाओ।
मैं अबला अति दीन मुझे नभ लों न चढ़ाओ।
यों कह ऋषि-पद-पद्म देख कर ही पद धरती।
गमनी आश्रम और प्रीति कण-कण में भरती।
प्रति दिन करते भ्रमण संग ऋषिवर औ शान्ता।
पाकर कोई हेतु नित्य होती वह क्लान्ता।
फिर भी हृदय सँभाल प्रफुल्लित ही दिखलाती।
ऋषि-आमोद-विकास-यत्न में ही लग जाती।

ऋषि ने देखा एक दिवस शान्ता दृग बरसे।
मानों पंकज प्रात-ओस-कण-रस से सरसे। ६९०
परम प्रेम का दृश्य वहां तब ऐसा सोहा।
रहा सहा भी स्वर्ग मर्त्य होने को मोहा।
बोले वे उस काल, "धन्य हो शान्ता रानी!
करे जगत को पूत तुम्हारा यह दृग-पानी।
लेकर जननी-हृदय सृष्टि-मल हरने आयीं।
मेरे वन में मोद नित्य नव भरने आयीं।"

"देव न यह दृग-नीर मोद से चंचल केवल।
ले विषाद से पीर बहा यह अविरत छल-छल।
आयी उनकी याद जिन्हें मैंने यों छोड़ा।
राही ने सम्बन्ध पंथ-तरु से ज्यों तोड़ा। ७००
बड़ा रंगीला मंजु एक मेरा भी तोता।
जो प्रति प्रातःकाल बहाता नव रस सोता।
राज भवन में एक कुरंगी मेरी प्यारी।
प्रतिपल मेरी राह देख कर होगी हारी।

आश्रित कितने जीव हाय तज कर आयी हूं।
दुरबल उर पर एक शिला धर कर आयी हूं।
पल भर को भी नहीं कभी जिनसे मुँह मोड़ा।
आया वह संयोग उन्हें दिन-दिन को छोड़ा।

जिन्हें गोद में लिया भुला उनको आयी हूं।
जिन्हें हँसाया सदा रुला उनको आयी हूं।
जिनको रूठा देख मनाती थी मैं प्रतिपल।
उनपर मिट्टी डाल यहां आयी हूं अविचल।

जीते होंगे अभी, आस देकर आयी हूं।
आऊँगी मैं शीघ्र बात देकर आयी हूं।
होगी रट सी लगी देखने ही को मुझको।
होंगी आँखें टँगी देखने ही को मुझको।

होंगे सब हैरान, खिलायें कैसे इनको?
पानी पीते नहीं, पिलायें कैसे इनको?
जीवन धारे रहें, हिलायें कैसे इनको?
शान्ता के ये प्राण, जिलायें कैसे इनको?

माताएं अति व्यस्त, त्रस्त सब दासी होंगी।
उन्हीं आश्रितों-संग समस्त उपासी होंगीं।
होंगे पीड़ित पिता न कुछ कह पाते होंगे।
आँखों ही में नीर हाय भर लाते होंगे।

तारक का हो नाश, अवनि पर ताप बढ़ाया।
दे अकाल का अनल सभी का हृदय जलाया।
घावों को दे ठेस यहाँ बन मैं आयी हूं।
मरहम कोई मिले संदेसा यह लायी हूं।

पल भर की भी देर सहन के योग्य कहां है?
बाधा अनुचित-उचित वहन के योग्य कहां है?
आये जिनके प्राण कण्ठगत वे तो केवल।
प्रभु के पंकज-चरण देखने ही को बेकल।

देव, चलो तुम इन्द्र अवध में जल बरसायें।
रविनारायण सरस अन्न की राशि बढ़ायें।

शंकर की हो प्रीति षड़ानन दया दृढ़ायें ।
प्रति मानस में मदन देव नव रस सरसायें ।
कहूं कौन विधि, तदपि, चलो तुम-सत्वर स्वामी ।
बन जाओ अविलम्ब अवध-आरतिहर नामी ।
पायेंगे सब क्लेश विपिन से जब जाओगे ।
वन की करके याद व्यथा तुम भी पाओगे ।
लगी अवध में आग माँगने आयी पानी ।
आग यहां लग जाय करूं क्यों यह नादानी ।
वे पानी बिन मरे मरें ये दृग के जल में ।
जाऊँगी मैं चली नयन-जल भर अंचल में ।"

"नहीं, नहीं हे प्रिये ! ताप में मग्न न होओ ।
बन अधीर दृग-नीर-स्राव-संलग्न न होओ ।
बाधाएं सब मेट चलूँगा संग तुम्हारे ।
हरि की करुणा-दृष्टि हरेगी संकट सारे ।
यहां विरह की व्यथा व्यापने का न कहीं भय ।
विरह-भोग माँगते नित्य अधिकाधिक रसमय ।
मैं जाऊँगा चला विपिन को पीड़ा होगी ।
लेकिन पीड़ा वही मनोरम क्रीड़ा होगी ।
प्रखर तुम्हारा विरह अभी आधार यहां था ।
इससे बढ़ कर भोग-योग्य रस-सार कहां था ?
अब दोनों का विरह मिलेगा भावुक मन को ।
जिसकी ही नित खोज, लाभ वह होगा वन को ।
चिन्तनीय बस एक बात हे राजकुमारी !
करता हूं मैं अमित जतन कर बन-रखवारी ।
सरस विरह का भोग इसी से वह नित पाता ।
जीवन का संयोग इसी से सफल दिखाता ।
नहीं व्यापती यहां किसी पापी की लीला ।
मैंने योजन एक धर्म से अपने कीला ।
कानन में अविराम शान्ति का वास बनाया ।
भ्रान्ति, भीति औ ग्लानि सभी का नाम नसाया ।

मेरे तप से मेघ यहां जल देते रहते।
दिनकर देकर अन्न हृदय-धन लेते रहते।
हिम की यहां न भीति नहीं आँधी की शंका।
प्रति दम्पति में प्रीति सृष्टि संतति अकलंका।
नहीं द्वेष का भाव किसी के मन में जगता।
लगता जब तो प्रेम-वाण ही उर में लगता।
करते सब निज कर्म बँधी सब की मरजादा।
सब को ही संतोष, सभी का जीवन सादा।

जब न रहूँगा यहां नहीं होगी रखवारी।
व्यापेगी तत्काल समलता जग की सारी।
विषम नीति का राज्य यहां तब हो जायेगा।
प्रकृत प्रीति का भाव आप ही खो जायेगा।
तब पायेंगे क्लेश विपिन के सकल निवासी।
पीड़ित होंगे अमित विरह-भावना-विलासी।
असहनीय वेदना-विकल होंगे सब प्राणी।
विचलित हूं बस सोच यही मैं हे कल्याणी!
सोचो जल से हीन बने तुङ्गा पावन सरि।
वनके चारों ओर न देने पावे भाँवरि।
क्यों न रसिक की आँख देखकर यह करेगी।
जब पाकर के ताप पंक-छाती दरकेगी।
सोचो प्रिय की राह देखती एक भुजंगी।
बैठी कोटर-मध्य, अमित चिंतित भ्रूभंगी।
क्या होगा यह उचित कान्त उसका खो जाये?
अन्य नागिनी पास प्रणय-पीड़ित हो जाये?
सोचो एक सरोज दिवाकर-विरह-विषादित।
अन्तर-गुंजित मधुप कामना-बाधा-बाधित।
क्या यह होगा भव्य पड़े उस पर जो पाला।
मिटे कमल के संग सरल अलि चाहों वाला?
एक कपोती कहीं कान्त की स्मृति में मग्ना।
सोचो, बैठी विकल विटप-शाखा-दल-मग्ना

आँधी आये प्रबल डाल को तोड़ गिराये।
कैसा होगा हाय कपोती भी मिट जाये!
चला गया जो वत्स सदा को अति छविशाली।
उसकी करती याद विटप-तल निरत-जुगाली।
सोचो धेनु निरीह सिंह-आकान्ता होकर—
चीरी फाड़ी जाय हाथ प्राणों से धोकर! ८००

चित्र निराशा-जनक किया मैंने यह अंकित।
किन्तु न क्षण के हेतु प्रिये होओ तुम शंकित।
जहां कालिमा कठिन लालिमा वहीं दिखायी।
घोर तिमिर को भेद अरुण-किरणावलि आयी।
इन्द्रादिक जो देव उन्हें आराधित करलें।
कानन-रक्षा-हेतु किसी विधि साधित करलें।
फिर होकर निश्चिन्त अवध की ओर चलें हम।
दीन जनों के क्लेश जहां घनघोर, दलें हम।
मैं जाता हूं समिध आदि सामग्री लाने।
तुम जाओ सुकुमार सुमन उपवन से पाने। ८१०
यज्ञ करें हम शीघ्र देवगण रीझें हम पर।
दें मुझको अवकाश बनूं मैं जग का अनुचर।
सावधानता हेतु बता दूं यह भी तुमसे।
वन-सीमा से पार न जाना किसी तरह से।
लाल लाल जो फूल उधर के यदि ललचाएं।
उन्हें न देना दीठ, पीठ वे तुमसे पाएं।
वह विलास की गढ़ी जहां वे फूल मनोहर।
बंधन के आगार प्राण के होते तस्कर।
तुम जाना मत उधर भूलकर भी सुकुमारी।
जाओगी तो विपद अवध पर होगी भारी। ८२०
उतना दैत्य - प्रदेश मुक्ति-कामी दानव का।
इतना मेरा देश मुक्तिगामी मानव का।
मानव-दानव-वास—एक रेखा का अंतर।
रेखा को कर पार न करना भूल भयंकर।"

प्रिय मंजुल उपदेश शान्ति के सहित श्रवण कर।
आँका उसको शीलमयी ने हृदय पटल पर।
उसको प्रीति समेत धँसाया मानसतल में।
मोती ही की भाँति बसाया मानसतल में।

कब आया वह मिलन विरह में जो न समाया?
कब आया दिन हाय रात में जो न बिलाया?
बिजली की प्रति चमक बादलों में धँस जाती।
दाँतों की प्रति दमक ओठ में दब फँस जाती।

खिला कौन सा सुमन धरा पर नहीं झड़ा जो?
मधु-मोहित अलि कौन बंध में नहीं पड़ा जो?
फूलों को जो हार रात हँस-हँस पहनाती।
हाय उसे रवि-किरण सवेरे हर ले जाती।

आमकली को कामदेव का बाण समझकर।
मिलती जो कामिनी प्राणप्रिय से थी द्रुततर।
भरती वह भी आह बनी असमय असहाया।
उसका भी प्रिय कान्त गया परदेस न आया।

लवण-सिन्धु में धँसा बना लहरों का संगी।
घुल मिल कर हो गया एक-तन-प्राण अभंगी।
पड़ी हाय शनि-दृष्टि घड़े भर-भर कर कोई!
बिलगाने लग गया आग पर धर खर कोई।

दिन भर भरकर आह रात में तारे गिन कर—
सींची जो कल्पना, मिले प्रिय-अंक मनोहर।
प्रिय-मंजुल-भुजपाश बाँध ले चंचल तन को।
देखा जो प्रिय-स्वप्न, मुक्ति मिल जाये मन को।

उसका भी रस-भोग विकल प्राणों ने पाया।
उसका भी अब योग अन्त होने को आया।
भरने में ही जिसे तापमय जीवन बीता।
व्रीड़ित निमिषों-मध्य स्वर्ण मधुघट वह रीता।

अहि कपोत पिक मोर हरिण शुक केहरि आगे।
औ पीछे पद पद्म बालिका के अनुरागे।

सुमन-चयन के हेतु चली आनन्दित होकर—
गिरा दिये रस-बूँद मेघ ने भी अवनी पर।
आया उपवन मंजु सुमन जिसमें मनभाये।
हिलते थे सुकुमार डालियों में छविछाये।
पावस रस की बूँद अमल थी उन पर सोही। ८६०
यह शोभा अनमोल देखकर शान्ता मोही।
थी बिलम्ब की भीति न कर पायी मनमानी।
हिलते हाथों फूल तोड़ चलने की ठानी।
चले दिखाते राह परम प्रेमिक सब सहचर।
शान्ता करती खेल चली नव-नव प्रति पग पर।
सहलाती थी कभी कपोती की प्रिय गरदन।
कभी कीर-नासिका बताती थी मनमोहन।
कभी साँप को, कभी मोर को दुलारती थी।
कभी कंध के बाल सिंह के सँवारती थी।
जलद यहां की भाँति अवध में कब छायेंगे? ८७०
नाचेंगे कब मोर वहां कब पिक आयेंगे?
कुंजों में कब मत्त फिरेगी मधुकर-माला?
होगा कब वह दिवस कटेगा अवध-कसाला।
भीतर चिन्ता-प्रबल-अनल में जलती जाती।
प्रकट रूप में परम विनोदित ही दिखलाती।
आयी कुटिया पास फूल आँचल में धारे।
बैठी प्रिय की राह जोहती आँख पसारे।
आये ऋषि तप-धाम सकल सामग्री लेकर।
इन्द्राराधन चला व्यवस्थित होकर सत्वर।
कार्तिकेय, कमलेश, मदन का करुणा-साधन। ८८०
चंडी की अर्चना अनन्तर हर-आराधन।
छठें दिवस था शेष दिवाकर का परितोषण।
सम्भव जिसके बिना नहीं जीवन का पोषण।
ऋषिवर लाने गये यजन-सामग्री सारी।
अरुण सुमन तोड़ने गयी प्रमुदित सुकुमारी।

दैव हुआ प्रतिकूल अवध के दुर्दिन आये।
बाला उर-नभ-बीच मेघ भ्रम के बहु छाये।
विपिन-प्रान्त था एक मुक्त सरिता से पथमय।
उपवन था दीखता जहां से अरुण कुसुममय।

८९० भूला ऋषि आदेश बढ़ी मन में अभिलाषा।
अनदेखे सौन्दर्य-स्वाद की उमँगी आशा।
दे देकर संकेत अंगभंगी औ स्वर से।
हारे शुक, पिक, हरिण आदि पीड़क अवसर से।

चली पार कर विपिन सभी ने त्राहि मचायी।
तड़प-तड़प सब रहे नहीं वह पीछे आयी।
मूर्च्छित सब को छोड़ गयी इच्छित उपवन में।
आया प्रबल विमोह लीन थी छवि-चिन्तन में।

———

नवम सर्ग

दक्षिण ध्रुव के पास अम्बुनिधि बीच विराजित।
दैत्यों का था एक द्वीप अति शोभा-भ्राजित।
बिछा बिछौना नील शयन सा करता था वह।
देश नयन-अभिराम रसिक मन हरता था वह।

दूर्वादल के अंक ओस की बूँद सरीखा।
कितनों ही को परम हृदयहारक वह दीखा।
कितनों ही को जान पड़ा वह नील नयन सा।
जिसमें हो वर वारि झलकता मोती कन सा।

तुंग तरंगों हाथ विविध विधि पोसी-पाली—
छवि विलोक कल्पना उमँगती थी मतवाली—
कोमल शिशु को धार मनोरम कर-कंजों पर।
जल-बालाएँ खेल रहीं निज आपा खोकर।

नील गगन अनुमान अवतरित धरती तल पर।
शोणित द्वीप महान मान शशि इव शीतलकर।
उड़ते भ्रान्त चकोर वहां नभ से आते थे।
पाकर नीरस धरणि ठगे से रह जाते थे।

थी प्रसिद्ध यह बात, वरुण ने देखा सपना।
सपने ने आकार सहज ही पाया अपना।
वही द्वीप का रूप ग्रहण कर चमक रहा है।
सपने ही की भाँति अभी लों दमक रहा है।

कहते थे कुछ लोग, यहीं रतनाकर-मंथन—
से निकली चंचला वारुणी मानस-रंजन।
पीकर खर वारुणी इसी से चंचल वामा—
थीं रत केलि कलाप वहां -नित नव छविधामा।
यहीं राहु ने अमृत हरण करना चाहा था।
हरि ने प्रमदा रूप धार छल निरवाहा था।
मिला नहीं पीयूष मिली मदिरा मनहारी।
दानव थे न निराश मुदित ही थे नर - नारी।

थीं विचित्रता - धाम नगरियां शोभा-मंडित।
घनी बसी सब ओर विविध छवि रूप अलंकृत।
शोणित नगरी वहां चंद्रमा सी उड़गन में।
थी सब की सिरताज वहीं क्या, महिमंडल में।
स्वप्नों की भी स्वप्न सरीखी वह नगरी थी।
जीवन-मद साकार विहरने की डगरी थी।
वहीं सरस संसार सिमिट कर बैठा सा था।
आत्म-विस्मरणशील मोद-निधि-पैठा सा था।
वहीं कामना-वेलि सदा उलही रहती थी।
भोग-लालसा-सरित अवारित हो बहती थी।
रस-सागर था वहां दृगों आगे लहराता।
पीकर भी अविराम न कोई क्लान्त दिखाता।
वहां एक था धर्म-किसी विधि प्यास बुझायें।
वहां एक था कर्म-अधिक सबसे रस पायें।
नहीं एक संसार, अमित संसार वहां थे।
हृदय हृदय में चपल, रंजिताकार महा थे।
इन्द्रलोक का मान धूलि में सब मिल जाये।
शोणित-नगरी श्रेष्ठ जगत भर में कहलाये।
कनकाचल का गर्व खर्व कर दानव पति ने—
बनवाया था दुर्ग इसी हित नव नव मति ने।

अरुणा नामक सरित इसी गिरिवर की कन्या।

अरुण वारुणी वर्ण सलिल लहरित छवि धन्या ।
गिरितल के ढिग भ्रमण अन्त निज करने वाली—
सिन्धु-मिलन-कामिनी ललित गति थी मतवाली ।
एक ओर गिरि-चरण-सेविनी अरुणा सुन्दर ।
शोभित तीनों ओर शेष बहु लहरित सागर ।
रक्षित यों सब भाँति परम निर्भयता-लालित—
थी वह नगरी मंजु प्रकृति-कर-कमलों-पालित ।

लक्ष लक्ष सन्नद्ध सैन्य थे दुर्ग-निवासी ।
प्राणहरण औ प्राणदान कृत केलि-विलासी ।
जब लौं अंतिम श्वास असंयत कर्म-विकासी ।
मंत्र एक उच्चार्य—बनें हम अरिदल-नाशी ।
थी धरती काँपती जभी ये सैनिक चलते ।
धर्म-हृदय रौंदते दया की छाती दलते ।
हत्या औ संहार संग अपने ले जाते ।
जाते थे जिस ओर, आह-आँसू दे आते ।
होते थे न उदार तनिक भी उदर-उपासक ।
सींग पूँछ से रहित कुपशु, अबला-शिशु-त्रासक ।
स्वर्ग, मर्त्य, पाताल लोक तीनों डरते थे ।
उनकी करके याद बिना मारे मरते थे ।

दक्षिण में गढ़ पूर्व भवन था स्फटिक शिलामय ।
अंगारक सा अरुण तेज - आभा का आलय ।
अंगारक इव बैठ अरुण वर सिंहासन पर ।
करता था दरबार विविध उसमें दनुजेश्वर ।
बहु कामिनि-कल हास सुगुंजित, अविरत मुखरित ।
सुमन लतावलि मंजु मधुप झंकृति-समलंकृत ।
धरती-तल का अमित महत आश्चर्य-सरीखा ।
शची-हृदय-सुकुमार-विदारक शर सा तीखा—
एक महल था शीलमयी रानी मानिनि का ।
तारकाक्ष सा तनय प्राप्त कर अभिमानिनि का ।

भृत्या-भृत्य विशाल वृंद द्वारा अति सेवित।
दानव-पति था वास वहां करता भोजन-हित।

८० एक महल था जहां देवियां देश-देश की।
आनीता बल सहित मूर्ति सी व्यथा, क्लेश की।
तारक-खर वासना - अनल - आहुति होती थीं।
दुर्बलता के साथ धर्म खोकर रोती थीं।

एक महल था जहां पंक्ति गज घन-माला सी—
दन्त दामिनी लिये दमकती छविशाला सी—
घोर तिमिर के बीच जगाती उजियाला सी—
झूम रही थी मत्त पिये मादक हाला सी।

एक महल था जहां खड़े थे चंचल घोड़े।
उड़ें हवा में, जायं कहीं जो सरपट छोड़े।
९० थिर जिनका तन था न किसी विधि बंधन पाकर।
रह जाते थे विवश लगामें लगी चबाकर।

एक महल था अमित पालतू कुत्तों के हित।
परदेसी को देख भूँकने को तत्पर नित।
जिन्हें देखने नित्य आप दानव-पति जाता।
बिठला गोदी बीच विविध विधि प्यार दिखाता।

यों सज्जित थे महल बिम्ब अरुणा लेती थी।
नव विकासमय सुमन उन्हें निशि-दिन देती थी।
अरुणा के कल्लोल-गान से गौरव पाकर।
मूर्त्तिमान अभिमान खड़े थे शीस उठाकर।

१०० झाँकी भवन समीप पूर्व दिशि में था शोभित।
जिसका स्वर्णिम विभव देख मघवा थे क्षोभित।
सिंहासन मणि-खचित वहां था दीप्ति-प्रसारक।
दर्शन जिस पर बैठ दिया करता था तारक।

विद्यालय था ईश कोण में मानस - शोधक।
ललित कला विज्ञान आदि सब का पथ-बोधक।
केवल ब्रह्म-विमर्श वहां था कभी न होता।

बहता था अविराम वासनाओं का सोता।
वहीं पास सुविशाल एक मंदिर था हर का—
जिसमें प्रस्तर-रूप खड़ा था प्रलयंकर का।
नृत्य-निरत हर-मूर्ति हृदय का रस हरती थी—
काली परम कराल भाव जाग्रत करती थी।

उत्तर में ग्रह-ज्ञान-हेतु ज्योतिष-शाला थी।
जिसमें पाठ - निमग्न प्रखर पंडित-माला थी।
तंत्र मंत्र थे वहां नीति-संगति से विरहित।
तारक-अमित विलास-भाव-परिपोषण-हित नित।
ज्योतिष-गृह की भाँति हरित मंत्रणा-निकेतन—
राजित था, अवलोक जिसे जड़ भी हो चेतन।
चेतनता उस ठौर दैत्यकुल-अनुसारिणि थी।
विश्व निगलने-हेतु वदन विस्तृतकारिणि थी।
उत्तर-पश्चिम-कोण-मध्य उद्यान बृहत था।
सुन्दरता का द्वन्द जहां प्रतिमास नियत था।
कुमारियों की पंक्ति साज सज सज आती थी।
दानवपति-सम्मान प्राप्त कर इठलाती थी।
एक अन्य उद्यान बीच था आरोग्यालय।
क्षय रोगी भी स्वास्थ्य जहां पा जायें अक्षय।
धन्वन्तरि समकक्ष जहां थे औषधि-दाता।
काल संग भी एक बार रण प्रखर विधाता।
पोतागार विशाल प्रबल रणपोत - प्रबंधित।
लहरित सिन्धु अपार गीत यशराशि अखंडित।
व्योमयान-गृह-मध्य लोहमय विहग अमित थे।
जिनकी प्रगति विलोक विहगपति भी विचलित थे।

जल-थल गमनागमन भाप-संचालित साधन।
जिनसे था सब भाँति सरल धन का आराधन।
पश्चिम दिशि में सकल लोहमय यंत्रालय थे।
मूर्तिमन्त जो धूमनादमय खगहित भय थे।

विविध पंक्तियां रुचिर अलंकृत भवनों की थी।
सुमनावलि ने जिन्हें सुरुचिमय छवियां दी थीं।
सड़कें थीं अभिराम ललित जल द्वारा सिंचित।
क्रम-क्रम से छः मास ज्योति-बिजली-दिन-शोभित।
चौराहे सब काल निरीक्षित प्रहरी-रक्षित।
वाहन-हलचल-चलित अमित जनपद-आन्दोलित।
हाट लगी थी व्यस्त जहां हीरों-पन्नों की।
कहूं कथा किस-भाँति शाक मेवों अन्नों की।
नगर मध्य था रुचिर विशद आराम अवस्थित।
विस्तृत योजन अर्द्ध कुसुम द्रुम कुंज समन्वित।
ग्रन्थालय, व्यायाम-भवन थे विविध निराले।
वहीं संतरण-ज्ञान-हेतु सर शोभावाले।
ग्रीष्म शीतलागार सरस फौवारों-विलसित—
थे नव सुमनों-व्याज नित्य अनुरंजित-विहसित।
दानव युवती-युवक भ्रमण के हित आते थे।
वहां प्रणय में लीन रमण-रत हो जाते थे।

कीर्तिस्तम्भ महान केन्द्र में प्रबल खड़ा था।
गड़ने को आकाश-हृदय में अचल अड़ा था।
उसपर चढ़ दनुजेश देश-दर्शन था करता।
अहंकार सविशेष अधिक उर भीतर भरता।
फाटक थे सब ओर, एक वह मार्ग दिखाता—
जो अरुणा की स्फटिक सीढ़ियों तक ले जाता।
अखिल राजपथ हेतु सुलभ उद्यान मनोहर।
था नन्दनवन-रूप-सुघरता-भ्रम अहिमितिहर।
आ जाती जब साँझ, जभी होता अरुणोदय।
बह जाता अभिराम उत्स-उत्सव कलरवमय।
कर अरुणा में स्नान तरुण-तरुणी उल्लासित—
दिखते बालक वृद्ध, सकल ज्यों सुमन विकासित।
नगर-निवासी-वृन्द खेलते खेल विविध विधि।

करते मिल मधुपान नृत्य में रत क्रीड़ा-निधि।
अनिवारित यह मोद जगत-जीवन-शोषण था।
लोक-निपीड़न-हेतु अमित मानस-पोषण था।

नगर मध्य विकराल यंत्र थे प्रबल प्रचालित।
अर्थपिशाच- अनंत अवारित लिप्सा-पालित।
यंत्र-मूल्य से श्रमिक मूल्य घट कर पाता था। १७०
मरने ही के हेतु विवश उनमें जाता था।

उत्पादन की वृद्धि एक उद्देश्य वहां था।
अर्थलाभ की सिद्धि एक उद्देश्य वहां था।
वहां आत्मसम्मान ठोकरें खाता दीखा।
जिसने बेचा मान मोहरें पाता दीखा।

यंत्राधीश्वर श्रमिक वर्ग का श्रम लेता था।
उसके बदले गिने गिने पैसे देता था।
पिस कर भी दिन-रात श्रमिक बिकते ही रहते।
यंत्राधिप की मार और फटकारें सहते।

शोणित नगर समृद्धि-केन्द्र था ख्यात जगत में। १८०
किन्तु श्रमिक दीनता न वह थी ज्ञात जगत में।
पूँजीपतियों संग वहीं कंगाल दिखाये।
बोझिल तोंदों संग वहीं कंकाल दिखाये।

श्रमिकों के सरदार नित्य संघर्ष-निरत थे।
अधिकारों के हेतु यत्न करते अविरत थे।
कहते थे ललकार श्रमिक-शोणित कर शोषण।
शोणित नगर महान पा रहा अघमय पोषण।

इन श्रमिकों से शोचनीय थे वे हतभागे।
जिनके शत-शत मंद कर्म के फल थे जागे।
आहें भरना और दृगों से वारि बहाना— १९०
जिन्हें मिला था काम—मृतक जीते कहलाना।

रोग जरा ने जिन्हें काम के योग्य न छोड़ा।

आँखें जिनकी फोड़ जवानी का बल तोड़ा।
यंत्रवाद ने जिन्हें पीस फेंका था बाहर।
जीते थे असहाय हाय जो बस गम खाकर।
सड़कों पर या कहीं पेड़ के नीचे सोना।
जहां कहीं टिक जायं वहीं घर उनका होना।
एक जून भी पेट नहीं निशिदिन में भरना।
मरना भी न यथेच्छ, हाय तिल-तिल कर मरना।
दानव कहना उन्हें हँसी दानवता की थी।
पशु कहना भी उन्हें हँसी पाशवता की थी।
कह दें कीड़े उन्हें नीच नाली के कैसे ?
जब वे भी दयनीय न देखे जाते वैसे।

पर्वतीय बहु दृश्य प्रपातों द्वारा मुखरित।
अमित विदेशी सुजन देखने जाते थे नित।
इन कँगलों के नयन जहां निर्झर इव झड़ते।
वहां भूल कर भी न किसी के पद थे पड़ते।
लहरित अरुणा - मध्य नाव में सुख से बैठे।
लेते थे रस लोग मोद-सागर में पैठे!
इन दीनों के क्लेश - तरंगित नद में भ्रमने।
कोई आता था न निराला रसिया रमने।
अनिवारित सम्पर्क कामिनी जन का पाते।
सुन्दरता के साज देख कर बिक से जाते।
सुघर सीढ़ियों तले कहीं कुछ होगी काई।
नहीं स्वप्न में बात किसी के हृदय समायी।
प्रबल नशे में मग्न लौटते थे घर अपने—
लिये संग उन्माद - अलंकृत जीवन - सपने।
कोई ऐसा था न देख दुखियों को लेता।
उनकी करके याद गिरा दो आँसू देता।

"अमर लोक से दिव्य ललित यह शोणित नगरी।
सृष्टिकार की कलित कलाकृति सी बर बगरी—"

कहते थे सब मधुप सुमन-मधु से मतवाले।
काँटे जहां कठोर, न दृग ले जाने वाले।
दरिद्रता श्रमवारि-सिन्धु में जहां डुबोवे।
अनायास आवास जहां रोगों का होवे।
जहां नरक की घोर यातना मिले श्रमिक को।
धन्य वहां सौन्दर्य-राशि ही दिखे पथिक को!

शोणित नगर-निवास मदन-रति को भी भाता।
दानव कवि था अमित गर्व के स्वर में गाता।
कोई कहता था न विवश वे बंदी होकर—
रहते मानव - अमर - विरह-पीड़ित रो रो कर।

भृकुटि चाप पर बाण विलोचन का संधाने।
करती थीं आखेट युवतियां जो मनमाने।
दानव कवि का काव्य उन्हीं को यश देता था।
श्रमिक-वधू रो मरी न सुधि उसकी लेता था।

चित्रकार ने प्रखर - यौवना सुन्दर नारी।
शीश महल के मध्य सँवारी अति सुकुमारी।
यौवन - गलिता बनीं आह भर भर बेचारी।
बालाएं श्रमलीन रहीं वंचित ही सारी।

कितनी ही अज्ञात - यौवना थीं मृगनैनी।
धनिकों की कन्यका सलोनी कोकिल-बैनी।
चित्रकार ने चित्र उन्हीं के खींचे रुचिकर।
नहीं चित्रिता बनी श्रमिक-कन्यका सुघरतर।

जहां कलाकार ही मोह से अन्धे होवें।
डूबें आप समाजमात्र को संग डुबोवें।
जनसाधारण वहां पंक में क्यों न पड़ेंगे?
उनके मानस-मूल कलंकित क्यों न सड़ेंगे?

पारंगत विद्वान अध्ययन-रत निशिवासर।
मोहग्रस्त साम्राज्यवाद ही के थे चाकर।
बिछा तर्क का जाल ठगा जग को करते थे।

पैसे ही के लिए हाय वे भी मरते थे।
युक्ति न कोई एक बता वे जग को पाये।
जिससे विषम समाज-विषमता कम हो जाये।
पूँजीपति हो गये आप पूँजीपति-रक्षक।
तक्षक ही से बने दीन श्रमिकों के भक्षक।

पैसे ही का तोल वहां माना जाता था।
पैसे ही का मोल वहां माना जाता था।
पैसा जिसके पास अगुण भी गुण वाला था।
हो पैसे से हीन गुणी भी मतवाला था।
चिन्तक ही जब मूढ़ कौन होगा विज्ञानी?
बाल-वृद्ध थे सकल भोग में रत अभिमानी।
श्रमिकों में भी प्रखर भोग-लालसा भरी थी।
मद्यपान-वासना रंकता-संग खरी थी।

कंचन औ कामिनी पात्र आराधन के थे।
उन्मुख उनकी ओर यंत्र सब साधन के थे।
शासन की थी चाट सभी शासक-शासित थे।
भिन्न-भिन्न जन-वर्ग द्वन्द हिंसा आश्रित थे।
कहां टिकेंगे पाँव किसी को था न भरोसा।
मिट जाता था स्वप्न प्रीति से पाला पोसा।
आता था आघात किसी दिशि से अनजाना।
बालू की दीवाल गिराता था मनमाना।
रहते थे सरदार डरे हरदम तारक से।
दिखते थे सरदार अधीनों को मारक से।
मारा जाता कहीं, कहीं होता संहारक।
व्यक्ति-व्यक्ति हित नियम यही था जीवनधारक।
घृणा-द्वेष की आग जलाती उर को दीखी।
ग्लानि-बेबसी-बरफ गलाती उर को दीखी।
जन-जन-चंचल हृदय सदन आन्दोलन का था।
जीवन प्रतिदिन समय विपद-सन्तोलन का था।

तारक सैनिक नीति नियंत्रण-निरत निरन्तर। २८०
बोती थी विद्रोह-बीज सबके उर अन्तर।
एक मात्र भय-सूत्र सजग सबको करता था।
मन में पाकर जन्म वहीं विप्लव मरता था।
आपस के ये कलह द्वेष घर भीतर के थे।
वे सब काल समान शेष जगती भर के थे।
कितना ही हो दीन भुजग मेढक खायेगा।
मरता भी हो सिंह मांस में रस पायेगा।

पुरुषों से भी अधिक काम-रत कामिनियां थीं।
परम चंचला नगर-मेघ की दामिनियां थीं।
अट्टहास में मग्न परम स्वच्छन्द विहारिणि। २९०
पर-पीड़न-संलग्न न करुणा उर में धारिणि।
सरस रूप के रसिक मिलें नव नेही नागर।
उन्हें वासना नित्य यही रहती निशि-वासर।
करती थीं शृंगार देह का आठ प्रहर वे।
दिखती थीं प्रतिवार सलोनी और सुघर वे।
चिन्तित थीं अविराम रूप दाहक पा जायें।
जलने वाले रसिक खिंचे नाहक आ जायें।
प्रकृति-दत्त लालिमा अधर की गाढ़ी करतीं।
लाली भरे कपोल मध्य नव लाली भरतीं।
रह-रह करके व्यर्थ उन्हें होती थी शंका। ३००
करती थीं कल्पना अभावों की अकलंका।
लोचन का अनुराग बढ़ाती थीं मधु पीकर।
यद्यपि था मधु अधिक उन्हीं के तन मन भीतर।
अविश्वासिनी, यदपि रूप के भार थकीं वे।
सुमन-विशिख भी मार सुमन-सुकुमार थकीं वे।
प्रेमिक गण का मरण आँख से देख सकीं वे।
अपना जीवन सफल वहीं तो लेख सकीं वे।
नये निराले वसन हृदय उनका हरते थे।
नित्य नवल आभरण उन्हें मोहित करते थे।

चिन्ता थी जाकटें कौन कट की बनवायें।
रिंग बने अनमोल कौन-सा नग जड़वायें।
भाँति-भाँति के चरण - त्राण थे उनको भाते।
मोजे परम विचित्र चित्त उनका ललचाते।
लिया प्रेम से आज, नहीं लेंगी कल उसको।
गड़ा आँख में आज, फेंक देंगी कल उसको।
लम्बा एक प्रमोद - पंथ था उनका जीवन।
मिलता कोई रसिक उसी से बहलातीं मन।
हो जाती जब विरति सहज ही तज देती थीं।
आता कोई अन्य संग उसको लेती थीं।
कर लेती थीं ब्याह एक खिलवाड़ सरीखा।
अति स्वतंत्र आचार-मार्ग में विघ्न न दीखा।
पति रहता था एक, मित्र होते कितने ही।
था सौभाग्य-प्रमाण अमित हों वे जितने ही।
जो प्रिय होता अधिक उसी में रम जाती थीं।
पति का करके त्याग मोद से भ्रम जाती थीं।
त्याग और नव ग्रहण यही क्रम उनका चलता।
संख्या के अनुकूल मान्य थी अधिक सफलता।
पायें चिर सौन्दर्य नवल चिरजीवी यौवन।
अविरल मादक भाव रहे सरसाता तन मन।
शोणितपुर की चपल नारियां अति मतवाली।
कामुक थीं, हो रिक्त न जीवन-रस की प्याली।
रोग मात्र से नहीं, जरा से भी लड़ती थीं।
दिखे स्वल्प ही वयस सदा इस पर अड़ती थीं।
नित - नूतन उपचार कराती ही रहती थीं।
विधि को शत शत बार हराती ही रहती थीं।
होता था सौन्दर्य-द्वन्द प्रति मास नगर में।
होती हलचल प्रबल विजय के हित घर घर में।
उत्कंठित औ व्यग्र दीखती थीं प्रौढ़ाएं—
कहीं न लें लें कीर्ति सकल नवला मुग्धाएं।
ठगती थीं इस भाँति नारियां सजग नरों को।

लगता था अति सरस पंथ यह पुरुष वरों को।
यह अप्राकृत सत्य वहां का सत्य परम था।
शोणित - नगर महान समुन्नति-केन्द्र चरम था।

रंक धनिक के हेतु न्याय-पथ एक नहीं था।
पक्षपात के संग बसा अविवेक वहीं था।
अनाचार कर घोर धनिक फिरता था फूला।
थोड़ी सी कर चूक श्रमिक फाँसी पर झूला।
अन्यायों की खोज तभी कुछ हो पाती थी।
जभी सुन्दरी एक लिपट उसमें जाती थी।
करती स्याह-सफेद नित्य ही थीं प्रमदाएं। ३५०
ले लेती थीं प्राण सहज उनकी क्रीड़ाएं।

"मर्त्यलोक में शम्भु-उमा तप में रत रहते।
रुद्र - शक्ति अविराम कर्म के नद में बहते।
शक्ति-रुद्र-रत बनो शिवा-शिव-प्रीति न पालो।"
था तारक आदेश—'मेट शंकर को डालो।
देव-मनुज-आराध्य शम्भु तो शत्रु हमारे।
दानव के आराध्य रुद्र ही हमको प्यारे।"
शोणित नगर महान यही घोषित करता था।
तारक का हुंकार इसे पोषित करता था।
"अमरलोक की विजय नहीं हमने कर पायी। ३६०
इन्द्राणी छविधाम नहीं हमने हर पायी।
दशरथ का सहयोग इन्द्र-रक्षक बन आया।
ऊँचा दानव-भाल आज नीचा दिखलाया।
किया शम्भु ने कपट अस्त्र दशरथ को देकर।
मानवेन्द्र अभिमान बढ़ा इसको ही लेकर।
धर्म हमारा शीश लचाएं हम दोनों का।
मर्त्यलोक से नाम मिटाएं हम दोनों का।"
गाता था यह गान अहंकारी खल तारक।
मानव - आहत नीति, धर्म सब का संहारक।

३७० गाते थे यह गान महा अभिमानी दानव—
जिनका था आहार मात्र ही पीड़ित मानव।
मानव-अमर-विषाद इसी गायन का स्वर था।
अबलागण - अवसाद इसी का ताल प्रखर था।
भीषण संकट रूप धरा ऊपर फिरते थे।
दानव बाज समान दीन-खग पर गिरते थे।
तारक-शासन-वर्ग गुप्तचर छिटकाता था।
अम्बुधि के भी तले छिपी खबरें पाता था।
शान्ता-विपिन-प्रयाण - वृत्त भी उसने पाया।
यों ही अवध-विपन्न राशि पर शनि सा आया।

३८० दैत्य राज के पबल तीन थे तनय निराले।
उनमें दो खलराज विश्व-त्रासक मतवाले।
कुटिल भाव में लीन सुमाली विद्युन्माली—
जिनकी मति सब काल अनय-साँचे में ढाली।
चरचा करने लगे हरण शान्ता का होवे।
मानव अमर समाज सहज ही धीरज खोवे।
दानवेन्द्र - आदेश-पत्र ही मिल जाना था।
फिर तो विना विलम्ब वंदिनी को आना था।
गये दिवस दो चार, सभा होने वाली थी।
जगती-जन के हेतु विपद बोने वाली थी।
३९० तीखी प्रबल उमंग दानवों में दिखलायी।
कौतुकप्रियता चपल दानवीगण में छायी।
तारक-अघ से व्याप्त अखिल शोणित नगरी थी।
सर्वनाश को प्राप्त चिन्तना सकल खरी थी।
उत्पीड़न ही सत्य—भावना भयंकरी थी।
भोगमात्र आराध्य—धारणा लयंकरी थी।
शीलमयी मानवी महारानी से प्रजनित—
जेठा राजकुमार मात्र दीखा संयत-चित।
भय उसने ही नेक नहीं मानस में पाया।
ठाना प्रबल विरोध कभी जब अवसर आया।

तारकाक्ष वह तरुण विलक्षण मतिगतिशाली । ४००
उसकी प्रतिभा विमल सत्य-अनुरति मतवाली ।
शासन अंगीकार न यों कर लेने वाला ।
तर्क-तुला पर तौल मान्यता देने वाला ।

दानव, मानव, देव किसी को विलग न जाना ।
सब का हो कल्याण, उचित उसने यह माना ।
पायें भोजन-वस्त्र नीच औ ऊँचे जन भी ।
पायें औषधि दान महाजन भी, निर्धन भी ।

दार्शनिकों के ग्रन्थ विविध अध्ययन किये थे ।
जीवन के आदर्श अमित विधि मनन किये थे ।
मानव का चीत्कार व्यथित उसको करता था । ४१०
दानव पतन अपार धैर्य उसका हरता था ।

कच्ची कहीं डकार, कहीं जठरानल ज्वाला ।
जीवन मिला समान, भेद दानव ने डाला ।
दानव कृत ये भेद क्यों न दानव ही काटें ?
किया हमीं ने गर्त, हमीं मिट्टी से पाटें ।

दानव ही का राज्य जगत में क्यों हम चाहें ?
हों सब देश स्वतन्त्र क्यों न यह नीति निबाहें ।
व्यक्ति-व्यक्ति आनन्द-भोग मनचाहा पाये ।
क्यों कोई दिनरात दृगों से वारि बहाये ?

गुण का हो सम्मान अमानित अवगुण होवे । ४२०
अवगुण स्वीकारोक्ति हृदय के मल को धोवे ।
जैसी हो जो बात उसे हम क्यों न बतायें ?
क्यों असत्य का चलन जगत में व्यर्थ बढ़ायें ?

करे एक श्रम, अन्य बैठ कर स्वारथ साधे ।
कटे यंत्र से एक, अन्य मनसिज आराधे ।
क्यों ऐसा अन्याय ? करें सब श्रम आवश्यक ।
जीवन-तल क्यों पृथक ? महिप हों या महिकर्षक ।

तारकाक्ष ये प्रश्न किया करता था सबसे ।
पा न सका परितोष विरोधी जन-उत्तर से ।
विप्लव की भावना जगाता ही रहता था । ४३०

जाग्रत भय का भाव भगाता ही रहता था।

सब को अवसर मिले फूल की भाँति हँसें सब।
दैन्य-पंक में तो न धूल की भाँति धँसें अब।
साम्यवाद का पंथ सकल जन को दिखलाया।
अन्यायी का हनन करो उसने बतलाया।
श्रमिकों का सब रक्त चूस कर आज पला जो।
कषक मुँह के कौर मूस कर आज पला जो।
हो पल भर न विलम्ब, उसे बस गोली मारो।
वह बध ही के हेतु बना उसको संहारो।
रुद्र-शक्ति को रक्त उसी का दान करेंगे।
पाकर दिव्य प्रसाद स्वयं हम पान करेंगे।
साम्य-भावना त्याग चलेगा जो हत भागा।
बस उसका यमराज आज निद्रा तज जागा।
मेरे आहत जनक सतत साम्राज्य-प्रचारक,
निज विलास के हेतु जगत-ललना-धन-हारक।
हां, यदि वे प्रतिकूल, उन्हें भी मरना होगा।
प्रायश्चित्त महान भूल हित करना होगा।
तारकाक्ष-उद्गार पहुँचते ये उर-उर में—
हलचल भरे अपार शान्त से शोणितपुर में।
नवयुवकों का एक वर्ग होकर अनुचारी।
क्रान्ति-प्रचारक भाव-वृन्द का बना प्रसारी।

तारकाक्ष की वधू मोहिनी अति सुकुमारी।
वीर भावना-मग्न क्रान्ति-पथचारिणि नारी।
पति के भाव उदार अग्रसर ही करती थी।
उर में नव उत्साह निरन्तर ही भरती थी।
साम्य-प्रचारण हेतु सतत आन्दोलनकारिणि।
श्रमिक-प्रभाव-विकास-रता अपहरण-प्रहारिणि।
थी वह करुणा-मूर्ति दलित-पीड़ित-उत्कर्षिणि।
बिजली सी चांचल्यमयी चंचलता-वर्षिणि।

शीलमयी मानवी राजमहिषी तारक की। ४६०
महामूल्य मणि सदृश भयंकर विषधारक की।
सूर्य सङ्ग शशि-सदृश अमा के अन्धकार में।
धेनु धूलि सी सांध्य कालिमा के प्रसार में।

पाशवत्व के सङ्ग लसित मृदु मानवता सी।
दानवराज समस्त सुकृत की कल्पलता सी।
सिंह सङ्ग सुकुमारि समद हरिणी सी सुन्दर।
हरिणदृगी वह नारि शील की खानि मनोहर।

शक्ति-रुद्र साथ ही उमा-शिव-उपासिका थी।
विपदामूलक मान न यद्यपि प्रकाशिका थी।
अमल अहिंसा भाव हृदय में विकासिका थी। ४७०
हिंसा-प्रति मति-प्रीति-निरन्तर विनाशिका थी।

पति-हिंसा से विरति, खेद में सतत निमग्ना।
हिंसा-निरत न बने, सुअन-बोधन-संलग्ना।
पाहन लोहे बीच रुई सी वह जलती थी।
कोमल मोम समान आँच पाकर गलती थी।

वातायन ढिग बैठ ललित अरुणा लहरों पर।
सम्राज्ञी थी अचल किये निज लोचन-निर्झर।
व्याकुलतामय व्यथा-लोक में बसी हुई थी।
भावुकता के किसी अतल में धँसी हुई थी।

तारकाक्ष था उदित वहां नव अंगारक सा। ४८०
दीन हृदय-आकाश निराशा-तम हारक सा।
मां का भाव विलोक रहा कुछ काल खड़ा वह।
जननी ही की भाँति जहां था वहीं गड़ा वह।

अकस्मात ही उठीं महारानी अकुलाकर।
प्रफुल्लिता हो गयीं पूत प्रिय आगे पाकर।
"बेटा, कब आ गये, न क्यों मुझको बतलाया?"
यों कह कर रूमाल लगा दृग-वारि मिटाया।

"मां, मैं आया यहां, व्यथित तुमको अवलोका।
साहस मेरा क्षीण हो गया, तुम्हें न टोका।"
"ना बेटा, यों हीन करो मत साहस अपना—" ४९०

बोलीं, मस्तक चूम, "मुझे तो है ही तपना।
काटूं उँगली छठी नहीं क्यों पीड़ा होगी?
रहूं बनाये उसे नहीं क्यों व्रीड़ा होगी?
दोनों राहें मुझे वहां ता ले जायेंगी—
आँखें बादल बनीं जहां जल बरसायेंगी।
मेरे प्यारे लाल करो मत यों जी छोटा।
तुमको ही तो देख काटती हूं दिन खोटा।
साहस दोगे छोड़ मरेगी जगती सारी।
नहीं जगत को मार जियेगी अम्ब तुम्हारी।
नारी होकर क्यों न भाग्य को अपने रोऊं?
माता होकर क्यों न कर्म का मल सब धोऊं।
मेरे आँसू तुम्हें न धोखा दे दें प्यारे।
एक भयंकर आग हृदय में हूं मैं धारे।"
"अम्ब! मुझे विश्वास, तुम्हीं अवलम्ब हमारा।
इष्ट हमें सब काल परम आशीश तुम्हारा।
आया हूं इस काल बना आशीश-भिखारी।
मेरे सिर पर हाथ रखो हे अम्बा प्यारी।
समारोह का समय लोक-परिषद-कृत आया।
आन्दोलन आरम्भ करूं मानस लहराया।
एक सरल प्रस्ताव वहां मैं भी लाऊँगा।
जीवन - समता - भाव - मान्यता समझाऊँगा।
दानव का जो धर्म हरण ही माना जाता।
कह दूँगा मैं—तोड़ सभी लें उससे नाता।
मां दे दो निज प्यार, पिता जी तो अति क्रोधी।
पाकर यह आधार बनूं उनका अवरोधी।"
"बेटा तुम साकार स्वप्न मेरे जीवन के।
केंद्रित सब उल्लास तुम्हीं में मेरे मन के।
मनुज दनुज औ देव सभी में समता लाओ।
शीलमयी की कोख लोक में धन्य बनाओ।
परनारी-परद्रव्य-हरण दानवगण करते।
लेकर अनुचित अंश बिना मारे ही मरते।

यह जातीय विनाश रोक कर कीर्ति कमाओ।
शीलमयी की कोख लोक में धन्य बनाओ।
क्रोध करें सम्राट दण्ड उनसे मैं लूँगी।
तुम पर मेरे लाल आँच क्यों आने दूँगी?
करुणा करो प्रसार जगत-जीवन-अवलम्बा।
जहां लहोगे क्लान्ति, मिलेगी तुमको अम्बा।
और निवेदन एक अम्ब का भी तुम सुन लो।
उसका भी उपयोग, अगर सम्भव हो, गुन लो।
कभी पिता को बात कड़ी मत कहना, बेटा! ५३०
अपने सिर को विनत किये ही रहना बेटा।
सबसे प्रथम कुमार तुम्हीं हो क्षमताधारी।
अवसर आये उचित राजपद के अधिकारी।
दानवेन्द्र का प्यार अधिक तुमने ही पाया।
अधिकाधिक आभार इसी से तुम पर आया।
जन-कल्याण-विरोध नहीं मैं कर सकती हूं।
काम पड़े तो लोक - लाभ - हित मर सकती हूं।
किन्तु संग उपकार प्रेम-व्यवहार चलाओ।
शील तथा सौजन्य पिता-प्रति भी दिखलाओ।
युग युग से जो धर्म दानवों का चल आया। ५४०
अति अविचल अनुसरण उसी का उनको भाया।
बदल गया युग आज किन्तु वे बदल न पाये।
मिला न नव आलोक इसी से सँभल न पाये।
तुमने पाया सत्य धर्म नूतन जीवन का।
जिसमें नवल विकास भरा है जगती-मन का।
समझाओ संदेश समझ जब वे जायेंगे।
परम सनेह समेत इसी पथ पर आयेंगे।
शोणितपुर में आग न विप्लव की सुलगाओ।
सोने का यह नगर न इसको राख बनाओ।
जहां लगी हो आग घड़ा पानी का छूटे। ५५०
लाठी टूट न जाय साँप की गरदन टूटे।
"अम्ब तुम्हारी सीख नहीं मैं भूल सकूँगा।

विप्लव होगा तभी जभी सब भाँति थकूँगा।
मेरा सकल प्रयास नहीं जब सुफल फलेगा।
विप्लव प्रबल प्रवाह अचल को भेद चलेगा।
मां, विप्लव को घृणा-योग्य क्यों जान रही हो ?
मरण-शान्ति को परम भोग्य क्यों मान रही हो ?
कभी शान्ति ही मरण, कभी विप्लव ही जीवन।
उसी पंक से बना कभी जग - सरसीरुह तन।
पतझड़ के उपरान्त नये दल तरु में आते।
विप्लव के उपरान्त सत्य-दर्शन हम पाते।
नव समाज को जन्म मिल सका विप्लव द्वारा।
जगत सुमन की भाँति खिल सका विप्लव द्वारा।
शल्य - चिकित्सा-सदृश परम उपकारी विप्लव।
युग-मालिन्य अपार सहज अघहारी विप्लव।
अनल, दिवाकर सदृश अखिल मलहारी विप्लव।
अरुणा में ज्यों स्नान रक्त-संचारी विप्लव।"
तारकाक्ष का चमक उठा दीपित आनन-रवि।
मां के नयन-सरोज को मिली नव विकसित छवि।
अल्प वयस में मर्म कहां ये इसने पाये !
अधरों पर ये भाव हास पतला सा लाये।
"आया था बल हेतु मिला मुझको बल भारी।
जाता हूं अब अम्ब मुझे करनी तैयारी।
जो कुछ भी मैं करूं तुम्हारी स्वीकृति लूँगा।
विप्लव में भी तुम्हें मार्ग - दर्शक पद दूँगा।"
चूमे मां के धवल हाथ यों ही समझा कर।
झूमे मां के अधर सुअन मस्तक पर जाकर।
नीरव ही आशीश प्राप्त कर जाने को था।
स्वर्ग लोक का स्वप्न धरा पर लाने को था।
इसी समय सम्राट - कर्मचारी दल आया।
राजकीय आदेश लिखित दल - नेता लाया—
सम्राज्ञी का महल बनेगा अब बंदी घर।
तारकाक्ष के साथ बनें वे बंदी सत्वर।

तारकाक्ष ने देख पिता का ही हस्ताक्षर—
मान लिया आदेश शीश से उसे लगाकर—
"दिया मुझे आराम पिता जी ने अनजाने।
विप्लव लाते आप कार्य उनके मनमाने।
जहां अग्नि का मूल डालते वहां न पानी।
हाथों से संग्राम ठानते, क्या नादानी!
मुझको क्या मैं अम्ब साथ ही यहां रहूँगा। ५९०
देंगे जो-जो क्लेश उसे सानंद सहूँगा।
किन्तु उषा-आगमन अनंतर तरणि-उदय को—
वे न सकेंगे रोक लोकमत-उचित विजय को।"
तारकाक्ष के वचन श्रवण कर बोला दलपति—
"राजाज्ञा हो मान्य, प्रार्थना नम्र यही अति।"
यों कह महिषी-भवन द्वार तालों से जकड़े।
खड़े किये सर्वत्र सजग प्रहरीगण अकड़े।
बाहर के सब बंद कराये वातायन जब—
हो सब विधि आश्वस्त वहां से गमन किया तब।

शृंगीऋषि-वन-निकट दुर्ग जो था तारक का। ६००
था वह संग्रह-केन्द्र अमित उस संहारक का।
शान्ता-कानन-गमन-वृत्त से प्रेरित होकर—
उसके हरण-निमित्त गया आदेश वहीं पर।
संभव था न प्रवेश किसी विधि शृङ्गीवन में।
शान्ता-प्राप्ति-निमित्त दैत्य थे चिंतित मन में।
स्वल्प समय में साथ लिये ऋषिवर को शान्ता—
जायेगी निज गेह सोच मति थी अति भ्रान्ता।
यहां रहे यदि विफल अवध से ला न सकेंगे।
करके अमित प्रयत्न वहां हम लोग थकेंगे।
तर्क-वितर्क-निमग्न पड़े थे वे कुविचारी। ६१०
सहसा सूझा ढंग मिटी-सी बाधा सारी।
अरुण-सुमन की कुंज मनोहर अधिक बनायी।
ऐसा किया प्रबंध दूर से दे दिखलायी।

राजकन्यका - हृदय सहज ही होगा कर्षित।
इस विचार से दैत्य हो गये अतिशय हर्षित
कहीं ओट में लगे छिपे रहने दो निशिचर।
राजकन्यका - हरण - हेतु चिंतित रह रह कर।
कभी निराशा घोर कभी फिर आशा आती।
धीरज का कर अंत कभी चिन्ता छा जाती।

आँचल में भर फूल चली आश्रम को शान्ता।
पाकर मृग-अवरोध अचानक ही थी क्लान्ता।
पापमूर्ति से युगल दनुज थे उसके आगे।
अधम घृणा के धाम नयन उनके अनुरागे।
थे पर्वत की भाँति अचल अनिवार खड़े वे।
कटु नैराश्य समान प्रगति-पथ-मध्य अड़े वे।
आया ऋषि - आदेश याद, बाला घबरायी।
आया याद प्रमाद अँधेरी दृग में छायी।
प्यारे तोते हरे-हरे पंखों वाले वे—
पिक चातक मृग मोर सरलता में ढाले वे—
जिनके आग्रह प्रेम-भरे वह समझ न पायी।
वे सब आये स्मरण अमित पीड़ा अधिकायी।
"जाओगी क्यों प्रिये! यहाँ आयीं तो आओ।
जोह रहे हम राह हमारी क्लान्ति नसाओ।
कानों में थी कीर्ति पड़ी जैसी उससे भी।
तुम तो हो कमनीय सुमुखि रम्भा रति से भी।"
दानव-द्वय के शब्द कहे जाने के पहले।
अतिशय तीखा दंश शूल पाने के पहले।
अवध-आपदा-व्यथित, मान निज को हत भागिनि।
शान्ता मूर्च्छित गिरी स्वयं से बनी विरागिनि।
अति दुरन्त वे दनुज लिटाकर व्योमयान में।
उड़े सवेग तुरन्त मत्त विजयाभिमान में।
शोणितपुर - आकाश - मध्य द्रुत गति से आये।

भाग चले ज्यों चोर पराया धन अपनाये।
दानवगण अनुमान यान अपना वह आया।
संकेतों से जान काम इच्छित कर पाया।
अमित तालियां पीट लगे उत्साह दिखाने।
अंग नचाने और मोदमय गाने गाने।
सुमनावलि थी अरुण जहां प्रान्तर प्रान्तर में।
रति मन्मथ से लसित उसी गृह-कक्षान्तर में।
उतरा वह नभयान, एक शैया पर सुन्दर। ६५०
गयी लिटायी राजकन्यका खर मूर्च्छिततर।

मानवेन्द्र की परम सुन्दरी कन्या आयी।
पड़े पेच में आज उन्होंने मुँह की खायी।
अनायास हो गया हमारा मस्तक उन्नत—
गाते थे यह गान मत्त हो दानव अविरत।
दानवेन्द्र उन्मत्त आप फूले न समाते।
शान्ता रूप निहार भावना विकृत जगाते।
देख व्यवस्था उचित अमित उपचार-परायण।
चले गये दल-सहित मोद से चलित मलायन।
दिये अनेक निदेश उन्होंने कार्यकरों को। ६६०
बतलाये रण-भेद विविध विधि वीर वरों को—
"हमें समर के हेतु नहीं करनी तैयारी।
शोणित द्वीप महान विश्व का पीड़नकारी।
हमको रखनी याद एक ही बात निरन्तर।
रहें लगाते भेद शत्रुगण का निशिवासर।
गुप्तचरों की बाढ़ करो कोशल में भारी।
हो मंत्रणा निमग्न शत्रु की उसमें सारी।
रत्ती भर भी बात वहां की मत छिपने दो।
रत्ती भर भी बात यहां की मत दिपने दो।
अरि की लेना थाह थाह अपनी मत देना। ६७०
राजनीति की नाव अशंकित यों ही खेना।"

समझाकर इस भाँति गये विश्राम-भवन को।
दिवा स्वप्न में मग्न किये उल्लासित मन को।
एक एक के स्वप्न अवध - विपदाकारक थे।
मानवेन्द्र - सौभाग्य - सम्पदा - संहारक थे।

यत्न लगीं करने दानवियां शान्ता संज्ञा पाये।
स्नान और जलपान आदि कर मन को स्वस्थ बनाये।
व्यजन और सद्वारि-कणों का आश्रय लिया उन्होंने।
सस्वर गीत आर्य भाषा में लहरित किया उन्होंने।

—गीत—

६८० जागो जागो राजकुमारी।
अब सोने का काम नहीं है,
रोने का विश्राम यहीं है,
तारक की तुम बनीं दुलारी। जागो०
अखिल जगत के विजयी तारक,
प्रबल वीर के भी संहारक,
उन पर भी है विजय तुम्हारी। जागो०
फणि के पास नहीं मणि फबती,
राजमुकुट ही में वह लसती,
व्यर्थ रहीं तापस की प्यारी। जागो०
६९० रहतीं एक .एक से बढ़ कर,
शोणितपुर में युवती सुन्दर,
देख तुम्हें वे लज्जित सारी। जागो०
देखो तो क्या तुमने पाया,
अनायास क्या, हाथों आया,
शोणितपुर तुम पर बलिहारी। जागो०

शीतल जल छींटों ने सत्वर दो सरोज विकसाये।
अनायास ही तप्त सलिल के कण जिनमें दिखलाये।

'मैं हूं कहां ?' कहा शान्ता ने 'एक दा
"तुम हो वहां जहां पाओगी शोभा, सुन्दरि ! भोली।
रत्नराजि पाती छवि नृप के भुज-भूषण में बस कर।
अनुरंजित हो जाती सरिता तरणि करों में लस कर।
पंकज-वदने ! मृग - विलोचने ! जागा भाग्य तुम्हारा।
बनीं प्रेयसी दानवपति की चमका प्रबल सितारा।
श्रवण मूँदकर दोनों कर से बोली अवध दुलारी।
"कुशल चाहती हो यदि अपनी रोको बातें सारी।"
मौन हो गयीं जब दानवियां ? फिर बोली यों शान्ता—
"यहां तुम्हारा काम नहीं कुछ, करो न मुझको क्लान्ता।"
"स्वामी ने सेवा करने को हमको यहां बिठाया।
लज्जा से नत शीश हमारा, खेद आपने पाया।
स्वामिन्, विनती यहां हमारी बैठी यहीं रहेंगी।
जीभ दाँत से दाब रखेंगी, बात न एक कहेंगी !
हां पकवान-भरी यह थाली धरी आप के आगे।
सरस अचार मिठाई मेवे मांस विविध रस - पागे।
जागें ज्यों, त्यों ही देने की हमने आज्ञा पायी।
भूखी होंगी खा लें थोड़ा व्यंजन यह बलदायी।"
"मुझे अकेली छोड़ो तब मैं भोजन ग्रहण करूँगी।
नहीं किसी के सम्मुख खाती भूखी भले रहूँगी
भोजन करके फिर सोऊँगी, व्यर्थ नहीं आ जाना।
तुम्हें दण्ड का पात्र करेगा आकर मुझे जगाना।"
भयभीता होकर दानवियां दोनों चली गयीं जब।
शान्ता ने फेंके वे व्यंजन खिड़की के बाहर सब।
अरुणा की लहरें बोलीं सी—"भूखी राजकुमारी।
भोजन बिना जियोगी कैसे, पाया बन्धन भारी।"
परसथाल व्यंजनमय जब-जब दानवियां लाती थीं।
अरुणा की लहरें वह भोजन सब का सब पाती थीं
यह क्रम चलता चला किसी ने भेद नहीं कुछ पाया।
शान्ता हृदय थाह लूं चलकर तारक मन-लहराया।

शान्ता के कारागृह में थे चित्र विविध अनुरंजित।
दीवालों पर विलसित कोई कोई कागज - अंकित।
एक बार सब चित्र देखती ऐसे थल वह आयी।
चित्रांकन - रुचिकर - सामग्री जहां मिली मनभायी।

फूल समान खिली वह पाकर कालक्षेप - सहारा।
निराधार उन्मना पड़ी थी, बनी सपदि साधारा।
साधन-उपयोगिता - परीक्षण उसने किया सकल विधि।
आयी दमक वदन पर, मानों कंगले ने पायी निधि।

भूख प्यास सब भुला भुलाकर शान्ता चित्र बनाती।
कहीं अवध कंकाल दिखाती कहीं विपिन विकसाती।
पीड़ा कभी, कभी क्रीड़ा भी उसमें ही पा जाती।
यों ही दानव कुल में रह कर थी वह काल बिताती।

एक बार जब बढ़ी शिथिलता तन औ मन की भारी।
अंचल - बँधी भेंट मुनिवर की याद आ गयी प्यारी।
मिली थाह सी अगम सिन्धु में, गाँठ खोलकर सत्वर।
खायी उसने जड़ी तनिक सी शेष रक्षिता रखकर।

गयी भूख सब प्यास सिरानी बल शरीर में आया।
तेज प्रखर तपकृत आनन ने अनायास ही पाया।
चित्र लगी फिर अंकित करने पीड़ित माताओं के।
अमित प्रतीक्षा - रत प्रियतम के लोचन-जल-स्रावों के।

अधिक काल के श्रम से ऊबी कढ़ी कक्ष के बाहर।
अविरत जहां विराज रही थीं दानवियां पहरे पर।
"परिचय मुझे करा दोगी क्या इस गृह के भागों से।
जिससे चित्त कभी बहलाऊं वंचित अनुरागों से।"

"सेवा ही के हित आया मैं संग चलो तुम मेरे।
तड़प रहे कब से तुम-हित ये प्राण तुम्हारे चेरे।
व्यर्थ विलम्ब न करता इतना, पहले ही आता मैं।
अनुकूलता तुम्हारी होगी—वृत्त अगर पाता मैं।"
"हो तुम कौन? ढिठाई की ये बातें क्यों बकते हो?"
बोली शान्ता, "क्यों लज्जा से तनिक नहीं थकते हो।

नहीं शिष्टता तुमने जानी क्यों असभ्य हो इतने ।
मैंने कभी न देखा इतना दुर्विनीत तुम जितने ।"
"रुद्र-शक्ति का परम उपासक त्रासक अखिल जगत का । ७६०
तारक मैं अविराम प्रचारक मदनाराधन-व्रत का ।
जो सौन्दर्य-स्रोत जगती में चंचल चला तरंगित ।
उसमें स्नान किया करता हूं बाधा-रहित अशंकित ।
देश-देश की सुन्दरियों ने यहां प्रमोद बढ़ाया ।
मानव-देव-नियम, पतिव्रत का, मिथ्या सकल बनाया ।
मदन देव आराधन द्वारा रस देकर रस पाया ।
'मिला भोग हित जीवन हमको' गान प्रीति से गाया ।
प्रमदाओं की रानी हो तुम करो प्रमाद न भारी ।
प्रकृति-विभूति मिली जो मादक व्यर्थ करो मत सारी ।
उस तापस की याद भुलाओ, जिसने तुम्हें भुलाया । ७७०
रस बरसाने, रस पाने को मैंने तुम्हें बुलाया ।"

शान्ता ने निज प्रबल क्रोध को दृढ़ता-सहित सँभाला ।
वेधा तदपि दैत्यपति उर में रौद्र विलोचन-भाला ।
निकल पड़ी उसकी उर ज्वाला दृग-जल होकर झर झर ।
एक अनिर्वचनीय भीति से काँपा तारक थर थर ।

लेश मात्र भी मुझे नहीं भय, हे दानव पति ! तेरा ।
सूर्यवंश की कन्या हूं मैं अमित पराक्रम मेरा ।
निपट अकेली होकर भी हूं रखती शक्ति अजेया ।
बादल बीच बसी बिजली सी अनलमयी अनुमेया ।
अवध-आपदा कम करने को निकली थी मैं घर से । ७८०
जगत-आपदा कम करने के अवसर पथ में दरसे ।
मौत समान तुम्हारी ही अब यहां पधारी हूं मैं ।
जगत-यातना-विटप-मूल ही छेदनकारी हूं मैं ।

अरुण वदन पर दीप्ति प्रखर थी स्वर में स्फूर्ति प्रबल थी ।
फड़क रहे ओठों पर दोलित मानस की हलचल थी ।

तारक के उत्साह-कुसुम पर पड़ी ग्रीष्म-ज्वाला सी ।
क्षण भर उसको मूर्ति काल की दीखी विकराला सी ।
फिर सत्वर सँभाल अपने को बोल पड़ा दनुजेश्वर ।
"शान्ते ! समय अभी देता हूं, कहना सोच समझकर ।
मुझे मारने को निकली हो अपनी कुशल मनाओ ।
जगत तारने को निकली हो, पहले तुम तर जाओ ।"

दानवराज गये यह कहकर, दानवियां ढिग आयीं ।
शान्ता के हित उपदेशों की नवल मालिका लायीं ।
कहा कड़े स्वर में शान्ता ने बंद करो ये घातें ।
आगे चलो जहां चलती हो, बको न मिथ्या बातें ।
भयभीता संकुचिता, सहमी चलीं दनुज ललनाएं ।
शान्ता चली सहज अवलोकन करती रुचिर छटाएं ।
ज्यों रजनी-अनुसरण - रंजिता करती ऊषा शोभन ।
त्यों ही गमन किया शान्ता ने निर्भय, लोक-विमोहन ।
थीं कुंजें जिनमें मानव के रात और दिन दीखे ।
मानव-लोक-कला खग-मृग ने जहां मनोहर सीखे ।
जहां चन्द्रमा ने भी मानव-कुल-कृत केलि दिखायी ।
सन्ध्या और उषा की छवि ने जहां सरसता पायी ।
आयी याद अवध कुंजों की विकल हो गयी शान्ता ।
आये याद वहां के खग-मृग बनी व्यथा से क्लान्ता ।
'आगे जा न सकूँगी अब मैं' दानवियों से बोली ।
थक कर गयी अधिक थक लौटी राजकुमारी भोली ।

ठेस वेदना की जब हलकी होने आयी क्रमशः ।
चारु चित्र रचना मधुवर्षिणि मन को भायी क्रमशः ।
अपने प्रिय तोते का अंकित चित्र लगी वह करने ।
हरा रंग भर कर फिर पीला परम प्रीति से भरने ।
अरुणवर्ण नासिका बनाकर पिंजड़े में बैठाया ।
माना उसने, रानी रानी कह कर शोर मचाया ।
थोड़ी देर सुला के स्मृतियां यों ही रही भुलानी ।

निद्रा से जागी तब आँखों ने बरसाया पानी।
आकुल जब हो जाता था मन कुंजों में जाती थी।
कुंजों से फिर चोटें लेकर नयी नयी आती थी।
विश्व-विराट-व्यथा साकारा सी दिखती प्रतिपल वह।
बूँद समान तवे पर जलती रहती अमित विकल वह।

क्रमशः अरुण सुमनमय उपवन चित्रित कर मनहारी ।८२०
भौंरा एक उड़ाया उसने उसमें गुनगुनकारी।
अपनी ही रचना पर मोहित यों हो गयी सयानी।
बातें करने लगी विविध विधि भौंरे से मनमानी।

—गीत—

मधुप कहां से आये हो तुम!
सुन्दर रूप देख मत भूलो,
मत उमंग-झूले में झूलो,
अरुण फूल ये ठगने वाले,
मत इनके ऊपर तुम फूलो,
अति भोले भरमाये हो तुम। मधुप०
यों ही मैं भी खो अपना मन, ८३०
बहकी पागल मनमानी बन,
काँटा गड़ा हृदय में ऐसा,
रक्त-अश्रु में डूबे लोचन,
अपना पंथ भुलाये हो तुम। मधुप०
जाओ जाओ बाहर जाओ,
इस उपवन में भूल न आओ,
यहां बनी छलिनी सुन्दरता,
इसके छल से प्राण बचाओ,
भारी धोखा खाये हो तुम। मधुप०

× × × ×

तुमसे हित की बात कहूँगी। ८४०
जनक-जननि की परम लाडिली—

मैं कोशल की राजकुमारी,
नहीं असत्य कभी बोली मैं,
मधुप मान लो कही हमारी;
तुमको ठग क्या हाय लहूँगी ? तुमसे०
अवध नगर को यदि जाओगे,
मेरा वह उपवन पाओगे,
अरुण सुमन जिसके मनहारी—
देख अधिकतर ललचाओगे;
तुम्हें स्रोत मैं रस का दूँगी। तुमसे०
उन सुमनों में दोष नहीं है,
उनके विषमय कोष नहीं हैं,
विष से सींचे गये नहीं वे,
वे निर्मल निर्दोष सही हैं;
जाओ तो पथ समझा दूँगी। तुमसे०

× × × ×

अवध नगर का पंथ विषम है,
शोणित द्वीप विगत जब होगा,
सिंधु पार जाना तब होगा,
योजन अमित चले जाओगे,
कहीं न कुंज, विपिन पाओगे;
यात्रा में संकट है श्रम है। अवध०
सुमन - स्वरूप भुलाना होगा,
मधु का स्मरण सुलाना होगा,
थक कर गिर जाओगे जल में,
तो पाओगे नाश अतल में;
थकने का कारण बस भ्रम है। अवध०
उत्तर जाना, पूरब जाना,
धीरज मन का नहीं गँवाना,
भारतवर्ष मिलेगा पावन,
लक्ष्य तुम्हारा जो मनभावन;
दानवता का जहां न क्रम है। अवध०
भारत-चरणों पर निशि-वासर,

वहां तरंगित होता सागर,
लालच से धीरज मत खोना,
मत निहाल थोड़े में होना;
व्यर्थ न जाता सच्चा श्रम है। अवध०
कावेरी पुनीत गोदावरि,
चपल नर्मदा कलरवमय सरि,
विन्ध्याचल द्रुम सुमन सुमंडित,
आगे यमुना हरित मनोहरि;
पथ में छवि की राशि न कम है। अवध०
रघु दिलीप की पावन नगरी,
कीर्ति जहां दशरथ की बगरी,
जहां देव मानव जीवन को—
सहज दिखी मनभावन डगरी;
सरयू जिसपर मुग्ध परम है। अवध०

× × ×

सहज पूत थी पूत अधिक अब।
भूख-प्यास से पीड़ित होकर,
दिन औ रात अनवरत रोकर,
निर्मल अधिक अयोध्या मेरी,
मानस-मल दृगजल से धोकर,
दीनबन्धु से दीन विलग कब! सहज०
दावानल से दग्ध कली सी,
भोर तारिका नियति-छली सी—
व्यथित अयोध्या मेरी होगी—
नयन-सरस श्री अवनि-ढली-सी;
लोचन-जलकण भी खोकर सब। सहज०
तुम हो दानव द्वीप-विहारी,
सुमन-सुमन-मधु के अपहारी,
अनायास ही अमल बनोगे,
हे मधुकर! अतिशय अघधारी।
तापस मूर्ति विलोकोगे जब। सहज०

× × ×

होंगे व्यथित पिता जी मेरे,
मेरी करके याद निरन्तर,
जलता होगा उनका अन्तर,
कोई नहीं सहारा होगा,
हारे से होंगे निशिवासर;
माताएं सब होगीं घेरे। होंगे०
राह न दिखती होगी कोई,
आशाएं सब होंगी सोयी,
धीरज उन्हें बंधाती होंगी,
माताएं भी खोयी खोयी;
अंधकार ही साँझ सवेरे। होंगे०
राजसभा की याद दिलाती,
मुकुट उन्हें मैं थी पहनाती,
चिन्ता की बदली चेहरे पर—
देख हवा थी मैं बन जाती;
गिनते होंगे निशिदिन फेरे। होंगे०

× × ×

अलि सब माताओं ढिग जाना।
किसी पूर्णिमा निशि में सुन्दर—
छिटके जब चन्द्रका मनोहर,
चन्द्र ओर ऊपर को जाना,
फिर गूँजना श्रवण ढिग आकर;
मैं प्रसन्न हूं यों बतलाना। अलि०
जब अपूर्ण शशि अगले दिन से,
प्रति निशि में कट कट कर विलसे,
नवल नवल लावण्य अलंकृत—
उसकी धवल कला जब दरसे;
विपदा में भी हसित जताना। अलि०
रात अमावस की जब आये,
चन्द्र लोप उसमें हो जाये,
गुन गुन करना करुण स्वरों में,
मेरा हरण समझ में आये;

सच्चा सच्चा हाल बताना। अलि०
चाँद दूज का जिस दिन आकर,
विलसे दुरलभ छवि छिटकाकर।
लोग धन्य होते हों, दृग को—
जब उसकी ही ओर लगाकर;
उसी दिवस तुम मुदित दिखाना। अलि०
लोप हो गया जब लट लट कर,
पूर्ण खो गया जब कट कट कर,
तभी कढ़ा शशि पूत मनोरम,
जगत धन्य छवि अवलोकन कर;
ऊपर नीचे गाने गाना। अलि०
गुन गुन कर क्रमशः समझाना,
शान्ता को भी यों ही आना
उसको अभी पूततादायिनि—
कला विपद में पड़ विकसाना।
धीरज यों ही तनिक बँधाना। अलि०

आया दृग में वारि सहज जो गिरा ढलक कर।
बिजली ही सा पड़ा चित्र कृत श्याम भ्रमर पर।
स्वप्न विभव भी हाय गया जब यों ही लूटा।
राजकन्यका - ध्यान अचानक ही तब टूटा।
कागज-अंकित भ्रमर अवधनगरी को जाये।
प्रिय जन से कर बात धैर्य्य उनको दे आये।
पागल भी तो यों न सँदेसा कहलायेगा।
पागल से बढ़ क्यों न मुझे जग बतलायेगा?
कैसी मैं खो गयी हाय विपदा की मारी।
व्रीड़ा - निधि में मग्न हो गयी राजकुमारी।
शक्ति हीनता आज अधिक इससे क्या होगी?
अधम दीनता आज अधिक इससे क्या होगी?

औचक आयी किरण तरणि की एक वहां पर?
चित्रोपरि थी गिरी नयन जल बूँद जहां पर।

पी बैठी वह बूँद परम विहसित वदना - सी ।
अन्धकार - नैराश्य - नाशिनी प्रबलमना सी ।

यह आश्वासन यत्न देख कर शान्ता बोली—
"करो नहीं इस भाँति दिवाकर-किरण ठठोली ।
एक बूँद कर पान सिन्धु क्या सोख सकोगी ?
क्या भूखे को वचन-दान से पोख सकोगी ?

थाली - जल से चन्द्र कहीं नीचे आयेगा ?
फूँक मात्र से तो न हिमाचल चल जायेगा ।
यदि हो किरण उदार प्रेम निर्मल दिखलाओ ।
हँसती हो ज्यों आप मुझे उस भाँति हँसाओ ।"

आयी हँसती किरण और हसती ही दीखी ।
सहृदयता की सीख न उसने कोई सीखी ।
होकर अकरुण अधिक ताप ही उर में लायी ।
तिमिर-राशि सी घोर दृगों के आगे छायी ।

बन्दीगृह - वासिनी अवध की राजकुमारी ।
यों ही अन्यमनस्क भाव पाकर धृतिहारी ।
अगम प्रवास समुद्र पार - करती रहती थी ।
प्रियतम-स्मृति में मग्न एक सम्बल लहती थी ।

———

दशम सर्ग

कृष्णपक्ष में चन्द्रकला ज्यों घटती।
शान्ता की थी देह उसी विधि लटती।
लटकर भी लावण्य अधिक पाती थी।
छवि ललाम, अभिराम बनी जाती थी।
कंचन-तन-आलोक अमित बढ़ता था।
आनन पर भी ओप प्रखर चढ़ता था।
दुर्बलता के सङ्ग लसी सुघराई।
लोकोत्तरता मनुज-लोक ने पायी।
मुनिवर के उपदेश उरसि अंकित थे।
जिनसे संयम-भाव सतत झंकृत थे।
मोह-तिमिर के हेतु तरणि-सायक वे।
भूल-भुलैयां हेतु कुशल नायक वे।
फिर भी धीरज आज हाथ से छूटा।
सकल ज्ञान-विज्ञान किसी ने लूटा।
सावधानता गयी विवशता आयी।
पानी में भी आग विकलता लायी।
जल बूँदें दृगमध्य पड़ीं दिखलायी।
दो कमलों ने ओस-माल सी पायी।
ओस-माल भी किन्तु न उचित बतायी।
उसमें इतनी ज्वाल कहां, कब आयी?

प्रबल चित्त-विक्षेप दृष्टि नव लाया।
जड़ भी चेतन रूप सहज हो आया।
इनमें से ही एक कान्त ढिग जाता।
मेरे मन की बात उन्हें बतलाता।

अरुणा दीखी अरुण वसन वर धारिणि।
अति सहृदय सुकुमारि दया विस्तारिणि।
सिंधु, कलाधर सकल प्राणमय दीखे।
करुणा-दोलित, व्यथित, त्राणमय दीखे।
क्या ये मेरा क्लेश न बिनसायेंगे।
क्या मेरा संदेश न ले जायेंगे।
दया-दृष्टि क्या नेक न हाय करेंगे?
देख मुझे असहाय सहाय न देंगे?
आशा-निधि में मग्न बैठ खिड़की पर।
अति आरति के भाव भरे उर भीतर।
शान्ता ने तब बात कही अरुणा से—
जो पाहन को द्रवित करे करुणा से।

अरुणे! तुम मन-ताप निवारणकारिणि।
मेरे मन का ताप हरो, मनहारिणि!
घोर तपस्या-निरत कान्त प्रिय मेरे।
दो उनको दो शब्द हमारे प्रेरे।
पूर्ण चंद्र के संग हास करती हो।
कुमुदों के मन में विकास भरती हो।
थोड़ा सा उल्लास मुझे भी दे दो।
डगमग मेरी नाव नेक ही खे दो।
आयीं प्रिय निधि पास कहां अब शंका।
भोगोगी आमोद-राशि अकलंका।
मैं प्रियतम के पास कौन विधि जाऊं।
सन्देशा ही जाय धन्यता पाऊं।
कार्त्तिकेय - साधना - निरत प्राणेश्वर।

बैठे ध्यान-निमग्न विंध्य वन भीतर । ५०
उर की तीखी व्यथा उन्हें बतलाऊं ।
अरुणे साधन बनो, धन्यता पाऊं ।
कभी किया था दान आज पाती हो ।
ऐंठी, मद से मत्त चली जाती हो ।
कर लो फिर उपकार सजनि बलि जाऊं ।
प्रिय जानें परिताप धन्यता पाऊं ।
विंध्य विपिन अति दूर नहीं भेजूँगी ।
दोगी जो श्रमरहित वही ले लूँगी ।
तुम्हें सहज व्यापार मुझे नवजीवन ।
दो शोणितपुर-देवि ! तनिक करुणा कन ।

जाती सिन्धु समीप, बताना उनसे । ६०
एक विरहिणी थकी विरह के तप से ।
डूब रही असहाय किनारे ला दें ।
चले जा रहे प्राण उन्हें समझा दें ।
पीड़ित यद्यपि प्राण, चाहती जीऊं ।
प्रियतम - वदन-सरोज-मधुर मधु पीऊं ।
जीने का अवलम्ब दिला दो रानी ।
यह कुम्हलायी बेलि खिला दो रानी ।
उनको भी मैं क्लेश अधिक क्यों दूँगी ।
अनायास मिल जाय वही तो लूँगी ।
शशि पर उनका प्रेम-प्रभाव घनेरा । ७०
उससे ही, कुछ लाभ करा दो मेरा ।
कुमुद-बन्धु के श्रवण घोष से भर दें ।
व्यक्त व्यथा से भरी कहानी कर दें ।
मेरी पीड़ा जान चन्द्र रो देंगे ।
वे सहृदय - सिरताज धैर्य खो देंगे ।
शशि-उर अति सुकुमार दया का डेरा ।
वे देंगे सन्देश कान्त को मेरा ।
कर दो इतना कार्य प्रणय-संचारिणि ।

८० विमल प्रीति की मूर्त्ति रक्तता-धारिणि !
दैत्य-नगर में तुम्हीं सरस दिखती हो ।
लहरों ही में करुण गान लिखती हो ।
मेरी हर लो पीर परम यशशालिनि !
मैं हूं कलिका म्लान बनो तुम मालिनि ।

अरे ! न देती ध्यान चली जाती हो ।
प्रियतम - संगम - गान समद गाती हो ।
अरुणे ! हो तुम हाय दया से हीना ।
नहीं पा सकी नेक सहारा दीना ।
दानव की संगिनी भरी दानवता ।
९० पा सकतीं तुम कहां अमल मानवता ।
दैत्यों ही का पक्ष करोगी अविचल ।
उनके ही हित - हेतु मरोगी प्रतिपल ।
दैत्य-सखा वह सिन्धु तुम्हारा प्रियतम ।
जिसका हृदय विशाल अपरिमित सक्षम !
क्यों उससे उपकार हमारा होगा !
वह तो आग्रह-पात्र तुम्हारा होगा ।
स्वार्थ-धर्म्म सकलंक तुम्हें अति प्यारा ।
जाओ, प्रिय का अङ्क तुम्हें अति प्यारा ।
दीन - दीनता से न द्रवित हो पायीं ।
जाओ, अरुणे ! व्यर्थ जगत में आयीं ।

१०० अरुणा-दिशि से नयन गगन-दिशि फेरे ।
अतिशय कातर दीन भाव से प्रेरे ।
कही चन्द्र से बात विकल शान्ता ने ।
विक्षिप्तों की भाँति अमित भ्रान्ता ने ।
विरही हो तुम आप, न होगे निर्मम ।
हे रजनीवर, सुनो विरह गाथा मम ।
सुनकर प्रिय को बात बता दो सारी ।
मानूँगी उपकार तुम्हारा भारी ।

प्रिय प्रवास में लीन प्रवासी हो तुम ।
अनायास विश्वास-विकासी हो तुम ।
मेरे उर का हाल उन्हें बतला दो ।
मुझको भी निज भाँति प्रफुल्ल बना दो ।

अरुणा अकरुण बनी बनो मत वैसे ।
सहृदयता की लाज रहेगी कैसे ?
अपना सुयश अपार अमल ही रख लो ।
निराधार-आधार बनो गौरव लो ।

क्लेश न तुम्हें विशेष, अधिक सुख मेरा ।
दृष्टि दया की फेर हरो दुख मेरा ।
जाते हो सब ठौर वहां भी जाकर ।
कर दो मेरा काम व्यथा बतला कर ।

विरहानल से आज ज्वलित यह हीतल ।
किया तुम्हीं ने तप्त करो अब शीतल ।
दिया तुम्हीं ने रोग दवा दे दो अब ।
हर की हरि की कीर्त्ति विमल ले लो अब ।

आयें मेरे कान्त दवा यह मेरी ।
सरोजिनी सब काल दिवाकर - चेरी ।
दोगे यदि संदेश न क्यों आयेंगे ?
चन्दन से क्यों अङ्क न लग जायेंगे ?

"कान्त तुम्हारे कार्त्तिकेय में अनुरत ।
चरम समाधि-निमग्न, न होंगे जाग्रत ।"
यों मत कहो मृगाङ्क ! सत्य ही बोलो ।
अपनी शक्ति अपार, न ऐसे तोलो ।

मन्मथ से बलवान कलाधर हो तुम ।
दीपक वह तो, प्रखर प्रभाकर हो तुम ।
पंचवाण वह दीन, अमितकर हो तुम ।
प्रति कर में शर अनल; प्रखरतर हो तुम ।

हर से करके समर मनोभव हारा ।
शत्र - दया से अतनु जिया बेचारा ।

माथे पर आसीन सहज तुम शोभन ।
परम प्रफुल्ल सहास रुचिर मनमोहन ।
मारे मारक सुमन - वाण मनसिज ने ।
केवल कर से काम किये सब तुमने ।
मन्मथ मन की प्रजा और तुम स्वामी ।
करता मन को मलिन नीच-अनुगामी ।
शक्ति-धाम ! निज शक्ति - रूप पहिचानो ।
शक्ति तुम्हारी अधिक, कथन मम मानो ।
तुम देते हो त्राण, प्राण यदि हरते ।
अमृत - पाणि तुम नित्य पियूष वितरते ।
प्रेम - पन्थ के पथिक ! अनुग्रह कर दो ।
जिये गरीबिन एक तनिक अवसर दो ।
विनती बारम्बार यही करती हूं ।
पैरों पर निज विनत शीश धरती हूं ।

"कार्त्तिकेय का जन्म न होगा जब तक ।
नहीं तुम्हारे कान्त जगेंगे तब तक ।"
यह कहना भी एक बहाना केवल ।
भिखारिनी को राह दिखाना केवल ।
"शिव न उमा से ब्याह करेंगे जब तक ।
कार्त्तिकेय-अवतरण असम्भव तब तक ।"
कहो न ऐसी बात सरस अनुरागी !
लूँगी किसकी शरण अमित हतभागी ।
मन में दुर्दमनीय कामना भर दो ।
चाहो जब जागरण शम्भु का कर दो ।
चंचल कर - संकेत मात्र तव जैसा ।
विशिख आक्रमण भी न मदन का वैसा ।
घर का प्राणी कार्य सहज कर पाया ।
वही शत्रु के हेतु कठिन हो आया ।
तुमसे तो सम्बन्ध शम्भु का निशिदिन ।
विष-प्रभाव से अन्ध बनेंगे तुम बिन ।

क्यों आशंकित-प्राण सुमन-सायक हों ।
क्यों विक्षोभ-निमग्न सुरति-नायक हों ।
हँसते-हँसते कार्य हमारा कर दो ।
हसूं तुम्हारी भाँति मुझे अवसर दो ।

रूपवान ही नहीं चन्द्र तुम प्यारे ।
करुणामय भी संग-संग ही न्यारे ।
विरही ताप विलोक हृदय तव रोता ।
जल-जल कर के राख सहज ही होता ।
कीर्तिधाम अभिराम सदा शिव शंकर ।
नील कण्ठवर नाम कण्ठ में विषधर ।
तुमने जग का गरल हृदय में धारा ।
जग ने कह सकलंक तुम्हीं को मारा !
बने विरोधी हाय दिवाकर दुरमति ।
अमा निगल ले गयी देह लोनी अति ।
तो भी तुमने किया लोक को पावन ।
दिखला बाल स्वरूप परम मनभावन ।
किया राहु ने ग्रास वेदना सहली ।
प्रखर निखर आ गयी कान्ति वह पहली ।
विपदा में भी हास तुम्हीं में दीखा ।
रोने में उल्लास तुम्हीं में दीखा ।
कटना-छँटना सहा नहीं घबराये ।
आयी जब पूर्णिमा अमृत ले आये ।
तुमने सब को दिया सहारा कर का ।
दीनबन्धु क्यों नाम व्यर्थ श्रीवर का !
तरणि-ताप से तप्त जगत मर जाता ।
जो न तुम्हारा रूप शीतकर पाता ।
तुम्हीं विश्व - शृंगार - सार - संचारक ।
विश्वम्भर से अधिक विश्व के धारक ।
मूढ़ बताते हृदय तुम्हारा काला ।
नीलम इव तनु पार दीखने वाला ।

कब नीचों को रुची ऊच की उन्नति ।
नीच न कब चाहते ऊँच की दुरगति ।
वियोगियों की आग हृदय में धारी ।
उर में अपने हाथ कटारी मारी ।
जले तुम्हारे हाथ हवन भी करते ।
देते लोग कलङ्क दोष सिर धरते !
"लोहा लेकर कान्त बाँटते मोती ।
फिर भी हाय ! कलङ्क-प्राप्ति ही होती ।
अमृत बेलि क्यों भला कुफल ये लाती ?"
यों कह दृग से नीर रात ढलकाती ।
नीच कीच को दोष न कोई देते ।
सरोवरों को लोग समल कह लेते ।
विलग न मानो चन्द्र बड़ा पद पाया —
जिसने उसके पास दोष भी आया ।
मेरे हित श्रद्धेय स्वरूप तुम्हारा ।
अगुण स्वल्प गुण-राशि-निमज्जित सारा ।
मुझ पर करुणा करो अहो रजनीवर !
मैं सब विधि असमर्थ समर्थन दो कर ।
मेरी करुणाजनक कुगति अवलोको ।
निशा-कुमुदिनी-संग रमण निज रोको ।
दयनीया के हेतु दया विस्तारो ।
निस्सहाय की विपद समूल निवारो ।

तुमने पायी ज्योति जिन्हीं से हितकर ।
मेरे पूर्वज वही लोकपति दिनकर ।
कर न सको उपकार बनो प्रतिदानी ।
रख लो अपनी लाज चन्द्र अभिमानी !
इतना भी यदि कार्य्य न कर पाओगे ।
आनन-श्याम कलंक न हर पाओगे ।
बढ़ जायेगा अधिक वदन कालापन ।
अमा सरिस ही निगल जायगा सब तन ।

मुझे न शंका नेक कार्य कर दोगे ।
मेरा ताप अनन्त शीघ्र हर लोगे ।
द्रवित-हृदय हो रहे देखती मैं हूं ।
अपना अतिशय भाग्य लेखती मैं हूं ।
तो निज उर का क्लेश बताऊँगी मैं ।
प्रिय के प्रति संदेश सुनाऊँगी मैं ।
पहले कह दूं जान उन्हें लो जिस विधि ।
पहचानो अविलम्ब जगत-अतुलित निधि ।

जो इसमें सारल्य तुम्हें न दिखाये ।
हृदयंगम प्रिय रूप नहीं हो पाये ।
तो देती हूं और सहारा सुन लो ।
रुच जाये जो ढङ्ग उसी को चुन लो ।
शम्भु रूप विज्ञात तुम्हें अति छविमय ।
मानो उनको शम्भुरूप गत - संशय ।
शम्भु बसे कैलास, विन्ध्यवासी वे ।
प्रखर समाधि - निमग्न, खेद - नाशी वे ।
शम्भु-हृदय में रमे षड़ानन प्रतिपल ।
प्रिय मानस में धँसे षड़ानन अविचल ।
गिरिजा ही की भाँति तपस्या-रत हूं ।
स्वीकारें हृदयेश सतत अनुरत हूं ।

समता इतनी और विषमता भारी ।
कह दूं वह भी नयन - विमोहितकारी ।
शंकर से रमणीय-रूप प्रिय मेरे ।
जिन्हें देख संकोच मदन को घेरे ।
पंचानन शिवशम्भु कुरूप, भयावन ।
प्रियतम वदन-सरोज मनोज, लजावन ।
शम्भु त्रिशूली रुद्र रूप स्वर धारक ।
प्रियतम निपट निरस्त्र अखिल अरि मारक ।

जटिल जटा में देव-सरित लहराती।
दे एकान्त विराग विश्व बिनसाती।
प्रिय की मादक जटा हृदय उलझाती।
दे अनुराग - विराग जगत सरसाती।

शिव - ललाट-कृत चन्द्र सतत परिवर्त्तित।
प्रिय ललाट - कृत चंद्र एक रस अंकित।
वहां श्वेतता यहां पीतता न्यारी।
सकल भाँति रसधाम प्रणय-संचारी।

शंकर - लोचन तीन भयानक भारी।
प्रिय के सरसिज नयन प्रकृत मनहारी।
शंकर के गण प्रेत, पिशाच भयंकर।
प्रिय को घेरे नित्य सुमन-रत मधुकर।

शंकर-भूषण भुजग भीति - संचारक।
प्रिय शोभन उपवीत - विभूषण - धारक।
शंकर नग्न, मसान विभूति लगाये।
पीताम्बर से कान्त सुगात सजाये।

प्रिय का मंजु स्वरूप देख कर शशि कर।
भूलोगे निज रूप सरस, मानसहर।
सुन्दरता का गर्व विगत सब होगा।
आँखों के सामने रूप जब होगा।

महामना हे चन्द्र! ग्लानि मत करना।
नहीं दैन्य का भाव हृदय में धरना।
द्वेष - अनल में जले न सुजन सुजनता।
सुमन त्यागते नहीं कदापि सुमनता।

नेक निरखना कान्ति वदन की प्यारी।
लोचन फुल्ल अमोल कमल - मदहारी।
सुघर नासिका, कान, कपोल-अमलता।
अरुण अधर अभिराम, सुकंठ-मधुरता।

मंजुल बाहु विशाल विशद वक्षस्थल।
त्रिबली - भूषित उदर मन्मथ - मानसबल।

पाकर परस दुकूल कंध पर विलसित।
नवल नवल छविरूप मनोहर विकसित।
ललित नाभि, कटि कलित पीतपट राजित।
चरण मृदुल सुकुमार कंज-छवि-भ्राजित। २९०
कनक-यष्टि या एक तेज आलोकित—
जिस पर आपा भूल तिमिर भी मोहित।
पद पद्मों पर प्रणत शीश धरना शशि!
लेकर पावन धूलि धन्य बनना शशि!
अपलक छवि अवलोक हृदय खोना शशि!
ले दृग-निर्गत नीर वदन धोना शशि!
यों होकर कृतकार्य कार्य मम करना।
प्रिय मानस में सरस चपलता भरना।
मन्मथ ही की भाँति मथन अनुसरना।
सहज भाव से अमित व्यथित मन करना। ३००
खाकर पवन झँकोर तरंग चली ज्यों।
उमँगी रविकर परस सरोज-कली ज्यों।
त्यों मनोज से चलित कान्त उर कर दो।
चलने ही की चाह हृदय में भर दो।

प्रिय के सब आदेश भुलाये मैंने।
उनके क्लेश अनन्त बनाये मैंने।
ताप-निवारक चंद्र! ताप सब हरलो।
मेरे प्रिय का कोप शमन भी कर लो।
प्रिय का सकरुण भाव-पोत यदि पाऊं।
तो मैं भी नैराश्य-जलधि तर जाऊं। ३१०
करते पाहन द्रवित, उन्हें भी कर दो।
उर-मरुथल में स्रोत दया का भर दो।
मेरे प्रिय का हृदय नहीं मरुथल सा।
करती हूं अपराध एक फिर सहसा।
वह अतिशय सुकुमार सकल रस-आलय।
जैसे प्रगट कठोर रसाल हिमालय।

विन्ध्य विपिन में कहीं दिखाये अलिनी
पागलिनी सी रसिक अरुण-दल नलिनी
संध्या आयी देख हृदय न सँभाले।
बंधन औ परिताप आप अपना ले।
जाएं उसके पास, उन्हें देना मति।
देखें जाकर विकल हृदय-चंचल गति।
अरुण सुमन से प्रीति मुझे बचपन से।
मानें प्रियतम, हार गयी मैं मन से।
दिखे प्राणधन - पास अधीर चकोरी।
खाने को अंगार हठीली भोरी।
सहसा होकर प्रगट दृश्य दिखलाना।
शान्ता निपट निरीह सहज बतलाना।
लें जब बारिद घेर मलिनता आये।
अंधकार सब ओर अधिक छा जाये।
भीतर से तुम झाँक चलाना निज कर।
काल-विवश जग अखिल बताना प्रियवर!
हरिणी हो यदि नाद-विमोहित कोई।
जिसने संज्ञा सकल प्रेमवश खोयी।
दीपित करना वदन दिखाना प्रिय को।
मेरा सरल स्वभाव जताना प्रिय को।
रह रह मेरी याद दिलाना यों ही।
प्रिय मानस-नव कमल खिलाना यों ही।
करुणा भ्रमरी नवल नेह पायेगी।
गुन गुन करती पास चली जायेगी।

तब मेरा संदेश प्रेम का देना।
चंद्र, जगत में कीर्त्ति सहज ही लेना।
तुम सा दूत प्रवीण प्रणय का गाना।
संभव होगा क्यों न सफलता पाना?
"परम व्याधि से ग्रस्त हमारे लोचन।
हार गयी मैं सोच पंथ दुख - मोचन।

कंकर सा कुछ पड़ा जान पड़ता है।
काँटा सा कुछ हाय गड़ा करता है।
जल-विहीन हो मीन तड़पते रहते।
जल में रह ये मीन तलफते रहते। ३५०
चातक ही की भाँति एक रस गाहक।
पिया पिया की मौन रटन निरवाहक।
सपनों से थी आस, नींद-ढिग धाये।
हाय वहां भी प्राण नहीं दिखलाये।
अविरत प्रिय की राह जोहते रहते।
पलकों से भी प्रीति तोड़ते रहते।
इनका कौन उपाय करे यह दासी।
मैं अबला, यह विपद परम प्रबला सी।
आओ, प्रिय प्राणेश बचाओ इनको।
निज छवि-रस का पान कराओ इनको। ३६०
पीड़ित मेरे प्राण कंठ तक आये।
तो भी तो ये हाय नहीं कढ़ पाये।
मैं पा जाती त्राण चले ये जाते।
जीवन के सब ताप संग ले जाते।
बँधे आस की डोर तुम्हीं को जपते।
विरहानल के बीच कठिन तप तपते।
जीवन का बस एक सहारा लेते।
प्रति धड़कन में नाम तुम्हारा लेते।
तुम्हें खोजने हेतु चाहते उड़ना।
होगा सम्भव किन्तु न पीछे मुड़ना। ३७०
यही सोचकर प्राण गले तक आते।
फिर होकर भयभीत वहीं दब जाते।
मेरे प्राणाधार! पधारोगे कब?
मेरे दिनकर! तिमिर निवारोगे कब?
ताप-पयोधि अथाह थहाऊं कैसे?
तरणी लाओ नाथ! हो सके जैसे।"

मार्ग तुम्हारा सरल बनाऊं कैसे ?
पत्री देती एक पठाऊं कैसे ?
संभव हो जिस भाँति सँदेसा देना ।
जैसे भी बन जाय उसे लिख लेना ।

गगन-विहारी चंद्र न सोच सको यदि ।
पत्र-लेख की राह न शोध सको यदि ;
तो मैं विमल प्रकाश तुम्हें देती हूं ।
प्रतिभा-सरल विकास तुम्हें देती हूं ।

मेरे प्राणाधार ईश-पूजन - हित ।
उषाकाल में सुमन - चयन करते नित ।
कान्त आगमन - पूर्व कुसुम-पत्रों पर ।
कर से करना लेख ओस-अक्षर धर ।

जायं अन्हाने तीर देवसरिता के ।
करो कराङ्कित लेख सुअवसर पा के ।
अक्षर लहरित सरित-पत्र पर पायें ।
मेरे उर का भाव जान हिल जायें ।

स्नान - अनंतर चन्द्रभाल को भजते ।
उनको लेकर कान्त न तुमको तजते ।
पत्र शम्भु के विमल भाल को करना ।
बंकाक्षरमय लेख-रूप अनुसरना ।

रत्नाकर से निकल गये तुम नभ पर ।
एक एक पदपात - संग लिख अक्षर—
मिलो जनक से लौट, आँक दो पाती ।
पढ़ जिसको हो तप्त कान्त की छाती ।

चन्द्रवदनि शारदा - भजन ठानेंगे ।
तो तुमसे क्यों चंद्र ! विरति मानेंगे ?
मृगाङ्कता के व्याज कृष्ण अक्षर धर ।
पाती लिखो स्वकीय हृदय - कागज पर ।

प्रिय पूजन में देर देख थक जाओ ।
करने हित विश्राम लोभ यदि पाओ ।
तो अरुणोदय-अरुण मसी से अंकित ।

कर दो गोलाचक्र ताप से कम्पित।
चक्र चरण प्रत्येक एक अक्षर हो।
यों ही पत्री लिखित गगन-पट पर हो।
तरणि-अर्चना निरत कान्त देखेंगे।
मेरी गति दयनीय आप लेखेंगे।
संध्या में जब तुम्हें विलोकेंगे प्रिय।
आश्रम-हरिणी याद न रोकेंगे प्रिय।
देकर - थपकी प्यार जिसे करते थे।
'भूखी तो रह गयी नहीं'— कहते थे।
पाकर ऐसा समय चूक जाना मत।
प्यारे चंद्र, प्रमाद उरसि लाना मत।
तजना खगगण संग रसीली बातें।
कान्ता रजनी-मिलन, प्रणय की घातें।
शाखाओं के पत्र उपरि वर अक्षर।
नवल कदम्ब प्रसून रूप ज्योतित कर।
हे मृगांक वर ! बात बताना उनको।
भूखी हरिणी एक जताना उनको।
तुम्हें व्योम सर कंज मान कर निर्मल।
चलें तुम्हारी ओर जभी अलिमंडल।
मंडल वह प्रत्येक सुअक्षर वर लो।
धरा गगन का पंथ पत्रवर कर लो।
मधुकर - विरह-विषाद-सहज-अवसादित।
प्रिय देखेंगे दृश्य बने उन्मादित।
पायेंगे संदेश आप ही मेरा।
जानेंगे सब क्लेश आप ही मेरा।
ले तुषार के खण्ड-रूप ही अक्षर।
लिखना मेरा पत्र कमल पत्रों पर।
कमल - व्यथा से व्यथित सहज देखेंगे।
मुझको भी यों विकल कान्त लेखेंगे।
घेरेंगे जब मेघ तुम्हें घिर घिर कर।
देखेंगे वे आप विकल हो प्रियवर !

फिर फिर आना निकल विमल मुसकाते।
यों अक्षर नभ-पत्र-उपरि दरसाते।
तरु रसाल से प्रीति मानते अतिशय।
ललित लतावलि नवल विलम्बित छविमय।
पिक शुक आदि विहंग हेतु करते श्रम।
होते नहीं समाधि-मग्न जब प्रियतम।
देख रहे हों कान्त आम्र-कलियों को।
खगगण का सउमंग रंगरलियों को।
ऊपर ही की ओर उठे हों जब दृग।
देना मम संदेश तभी उनके ढिग।

श्वेत प्रकाश-स्वरूप आँकना अक्षर।
अति सुकुमार रसाल रसाल-दलों पर।
पढ़ें पत्र हृदयेश झाँकते रहना।
उनके आनन-भाव भाँपते रहना।
मेरा यह संदेश चन्द्र ले जाओ।
जैसे समझो उचित उन्हें समझाओ।
मैंने दिये निदेश, उन्हीं पर निर्भर—
मत रहना मतिमान जगत-मानसहर।
तुमको हो जब भान, याद कर मेरी—
प्रियतम पाते पीर अतीव घनेरी।
कोई सरल प्रयोग चंद्र कर देना।
प्रिय मानस में भाव वेग भर देना।
कलित कौमुदी केलि ललित गिरिवर पर।
मोर-मोरनी-नृत्य निर्झरी तट पर।
कुमुद-विकासित विभव सरोवर के ढिग।
करते जहां विहार समोद मृगी मृग।
वे प्रमोद-वन-दिवस संग विचरण के—
आ जायेंगे याद विकलकर मन के।
होकर भी न समीप हृदय छू लूँगी।
प्रिय मानस-हिंडोल चढ़ी झूलूँगी।

करना मेरा काम कामनाएं तज
छन भर को सब स्वार्थ-भावनाएं तज।
लेकर पर-उपकार-भार कंधों पर।
उचित न होगा रमण भ्रमण हे शशिकर!

कभी द्वैज की क्षीण देह धर जाना।
मेरा क्षीण स्वरूप समक्ष दिखाना।
जल में निज प्रतिबिम्ब कभी चमकाना।
दृग-जल-मज्जित वदन सामने लाना।

इतने पर भी चल न पड़ें जीवन-धन—
तो तुम होना तनिक नहीं विचलित-मन।
अमा रात्रि को लोप गात निज करना।
मेरा लोप निदान—भाव संचरना।

जो इतना भ जान न प्रियतम आयें।
तो मेरे दृग प्राण तजें आशाएं।
मेरा रोग असाध्य मरण ही औषधि।
मानूँगी परलोक-वरण ही औषधि।

नासा, रसना, श्रवण—इन्द्रियां भूखी।
पीड़ित ही रह जायं लता ज्यों सूखी।
नहीं मूल आहार मिला तो जायें।
जहां मिले आधार वहीं को जायें।

मुझको दानव-त्रास न मार सकेगा।
कर कर अत्याचार अपार थकेगा।
किन्तु वज्र की भाँति गिरेगा उर पर।
कान्त-उपेक्षा-भाव सहज जीवन-हर।

लेकर पद की धूलि लगाती सिर पर।
कर का प्रिय सौभाग्य बढ़ाती रुचिकर।
उर में धर यह चाह मरूँगी अब मैं।
प्रिय को जो स्वीकार करूँगी सब मैं।

———

एकादश सर्ग

आश्रम सूना मिला वहां जब ऋषिवर आये।
लगे परखने बैठ शीघ्र शान्ता आ जाये।
देख अतीव विलम्ब कुसुम-कुंजों प्रति धाये।
वहां न उसको देख अधिकतर वे अकुलाये।

जितनी कुंजें विपिन बीच थीं सुमन-अलंकृत।
पिक-चातक-रव-मुखर मनोहर मधुकर-झंकृत।
सब में दौड़े व्यग्र—कहीं शान्ता मिल जाये।
प्रकृति - रूप - प्रेमिका कहीं बिलमी दिखलाये।

कोई रव हो उन्हें पाँव का रव लगता था।
१० शान्ता आयी—भाव यही रह रह जगता था।
शान्ता दिखी न किन्तु गयी पीड़ा बढ़ती ही।
रही निराशा - तिमिर - राशि क्रमशः चढ़ती ही।

गाढ़ हो चला तिमिर व्यस्त ऋषि की आशा पर।
पाला सा पड़ गया लता सी अभिलाषा पर।
रो-रो कर ही रात उन्होंने काटी सारी।
दिखा गगन निर्मेघ दिखे नव नलिनि-विहारी।

अकस्मात ऋषिवर ने देखा मधु के हित मतवाला।
आया एक मधुप कदम्ब ढिग जान मधुर मधुशाला।
सहज वृत्ति चंचलतामय थी उस रस-संग्राहक की।

समझ न पायी उसने पीड़ा विरह हृदय-दाहक की।
थी ऋषि की कामना मधुप को अपनी प्रणय कहानी—
श्रवण करा कर कहें प्रेम-पथ पर चलना नादानी।
किन्तु कुसुम-रस-पान-कामना या सहृदयता न्यारी—
उड़ा ले गयी रसिक भ्रमर को या कोई स्मृति प्यारी।
चला न जाने गया कहां को वह अलि नव रस भोगी।
चले ढूँढ़ने उसे विपिन में नव बल-प्राप्त वियोगी।
देखा एक गुलाब कुसुम के मधुहित ललक रहा था।
काँटों के गड़ने से लोहू तनसे छलक रहा था।
अति अधीर हो बोले ऋषिवर, "हे गुलाब मधुवाले।
दो घड़ियों का तेरा यौवन सत निर्दय कहला ले।
खड़े-खड़े देखूँगा बिखरी मैं तेरी पंखड़ियां।
कड़ी नहीं रह जायेंगी यों तेरी यौवन-कड़ियां।
मेरी दारुण हृदय व्यथा को देख अमित घबराया।
नवल रसाल मंजरी का रस छोड़ चला यह आया।
जो क्रूरता तुम्हारी ही सी यह भी उर में लाता।
पीता मधु निःशंक भाव से मैं निज प्राण गँवाता।
हाय! हाय! तुम तो हँसते हो तनिक नहीं सकुचाते।
सुमन! सुमन इस भाँति हया को कभी नहीं पी जाते।
अनाचार कर अकड़े रहना सुजनों को न सुहाता।
कुछ अनुताप - भाव से जोड़ो हे प्रसूनवर! नाता।"

जब गुलाब निष्करुण भाव में अंतर पड़ा न कोई।
शृंगी की रसना ने, मति ने धृति सारी निज खोयी।
कहा उन्होंने तब भौंरे से पीड़ा-विचलित स्वर में।
"अलि, निर्ममता ही मिल सकती यहां विनय-उत्तर में।
नव यौवन के मद में फूला छविधन पाकर भूला।
मुग्ध आत्म-विस्मृति का इसको मोद दे रहा झूला।
चलो यहां से प्यारे मधुकर! मधु न यहां पाओगे।
काँटों की चोटें खा खाकर बेदम बन जाओगे।
हाय मधुप, तुम अपमानित क्यों बार बार होते हो?

क्यों अरसिक के प्रेमिक बन कर अपनी पत खोते हो।
इस विशाल जग में कितने ही फूल और भी होंगे।
उनका मधु पी जीने वाले रसिक भौंर भी होंगे।

चलो, चलो, छोड़ो अभिमानी से अब अधिक न अटको।
मिथ्या आशा के कानन में नाहक ही मत भटको।
स्वाभिमान अपना मत छोड़ो प्रेम-नियम-अनुगामी!
हो जाता बस शून्य उसे तज अखिल विश्व का स्वामी।

हरे! हरे! आसक्ति-भाव यह इतना करुणोत्पादक।
पाया कहां मधुप मधुलोलुप! यह विमोह उन्मादक?
इतने अपमानित होकर भी चाव-भरे तुम गाते।
उर के उद्गारों को फिर फिर सहित सनेह सुनाते।

अरे! अरे! यह क्या करते हो मधुर प्रणय-दीवाने!
लगे वाण मेरे उर पर भी परम अचूक चलाने।
तुम दीनता दिखाते हो पर मैं आहत होता हूं।
रुको रुको मत करो याचना जीवन मैं खोता हूं।

अधिक कामना-पीड़ित होकर उलझ उलझ कंटक में।
व्यर्थ पड़ रहे हो मधुकामी नव मधुहित संकट में।
यही नहीं, मेरा जीवन भी संकटमय करते हो।
प्रिया-विरह की व्यथा बढ़ाकर धीरज भी हरते हो।

प्रिय प्रसून पंखड़ियां देखो, छवि पर तन मन वारो।
बना रहे उसका नवयौवन कैसे ढंग विचारो।
थोड़ा थोड़ा रस लो उसके रस का स्वाद न जाये।
धीरज अमित तुम्हारा उसकी नित माधुरी बढ़ाये।

आह! पार करके काँटों को मिले फूल से जाकर।
जीवन रस का स्वाद ले रहे नव मधु मीठा पाकर।
हाय हाय अलि क्रूर हो गये, दया न क्यों दिखलाते?
विरहानल में दग्ध हमारा उर क्यों हाय जलाते?

आया था तुमसे कहने को अपनी करुण कहानी।
प्रेम-पंथ की अमित व्यथाएं तुमको थीं बतलानी।

थोड़ी सहृदयता धारण कर करुणामय बन जाओ।
अधिक वहां विरमो मत प्यारे मेरे ढिग उड़ आओ।
वे भी कभी प्रमोदमयी थीं घड़ियां रस में सानी।
जब मेरे मन की मौजें भी थीं अतिशय दीवानी।
मलिन मधुर मधु पान किया है मधुकर मैंने जितना।
कैसे आज बताऊं तुमको जग को दुर्लभ कितना!
वह मीठापन विष का घर है उस पर मत ललचाओ।
मधुकर बात मान लो अधरों से उसको न लगाओ।
थोड़ा भी चख लोगे उसको दाम न दे पाओगे।
मोती बरसा कर भी प्यारे उऋण न कहलाओगे।"
इन्हीं कल्पनाओं में ऋषि का हृदय बना दीवाना।
अधीरता को गले लगाने लगा अमित मनमाना।
देख न सके अधिक अलि का जब वे मादक मधु पीना।
मूर्च्छित गिरे धरणि पर उसकी क्रीड़ा कर रसहीना।

आयी पवन गुलाब वदन पर अमित थपेड़े देती।
मधुप मधुर मधुपान-क्रिया की अबाधता हर लेती।
पर-दुख-कातर होना सीखो, स्निग्ध स्वरों में गाया।
मधु-अनुरक्त मधुप मन फिर भी नहीं हाथ में आया।
मधुकर - निर्लज्जता देखकर घृणा-सिन्धु में डूबी।
सुमन - वृत्ति ऐसे प्रेमिक प्रति अवलोकन कर ऊबी।
अधिक वेग से मृदु गुलाब की डालें लगी हिलाने।
तज गुलाब का अंक मधुप तब फेरी लगा लगाने।
अन्य कुंज के नव कुसुमों की देकर सुरभि मनोहर।
भेजा उसने लोभी अलि को नवल लालसा से भर।
इस बाधा का उन्मूलन कर शृंगी ऋषि ढिग आयी।
शीतल कर से छू ललाट को लाली मुख पर लायी।

कर चैतन्य-लाभ ऋषिवर ने कुसुम ओर जब देखा।
मधुकर के न वहां होने को प्राणागम सम लेखा।
नव मधु के हित गया कहीं वह परम रसिक मतवाला।

इस विचार ने भी धधका दी ऋषि के उर में ज्वाला।
कृश जर्जर शरीर को वश में किये मनोबलशाली।
गये किसी विधि कुसुम पास वे लिये व्यथा मतवाली।
बारम्बार अपार प्रेम से चूम मनोहर आनन।
भौंरे ही की भाँति झूमने लगे असीम रसिक बन।

चाटुकारिता कर अनेक विधि बोले बानी प्यारी।
"हे गुलाब मैंने कुछ बातें कहीं तुम्हें दुखकारी।
मुझ पागल से स्वजनों को भी अब तो यही मिलेगा।
क्यों कदम्ब का फूल बबूलों के बन मध्य खिलेगा।
मेरे ही आश्वासन के हित तो तुम जग में आते।
वदन प्रिया का ललित लालिमा वलित मुझे दिखलाते।
अलङ्कार धारण करते हो मोती के निज तन पर।
चित्रित होवे छवि प्यारी की देखूं मैं दृग भर कर।
कठिन कुचक्री से बचने को कण्टक-पहरा रखते।
मेरी सेवा कर प्रफुल्लता - अमृत नित्य ही चखते।
प्रिया-कपोल-श्याम तिल दर्शन पाऊं मैं मनमाना।
इसीलिए अलि को निज उर में तुमको पड़ा गड़ाना।
सरस समीर संग क्रीड़ा कर स्वाथ्य लाभ करते हो।
मेरे ही हित तुम जीते हो, मेरे हित मरते हो।
स्वल्प काल में जब पंखड़ियां रज में मिल जायेंगी।
मेरी सेवा हित फिर नूतन लाली ले आयेंगी।
मेरे लिए सहन करते हो जरा-निधन की पीड़ा।
फिर भी निर्मम तुम्हें बताते आयी मुझे न व्रीड़ा।
मैं दुर्भाग्य-ग्रस्त हूं मेरी बुद्धि न हाथ ठिकाने।
ठीक ढंग से बातें कब कर पाये दुख-दीवाने?
क्षमा करो हे प्रिय प्रसून! तुम क्षमा करो इस जन को।
क्षमा तुम्हारी धीरज देगी मेरे अस्थिर मन को।"
इस प्रकार ऋषि ने कह फिर फिर चूमा नवल सुमन को।
अलङ्कार नव दिये दृगों से उसके शोभन तन को।

आयी याद मधुप की औचक नव अधीरता आयी।
उत्कण्ठा अलि से मिलने की उर में अति अधिकायी।
मीठा अतिशय जान पड़ा था जिसका ढिग से जाना।
तीखा लगा उसी का आँखों के आगे न दिखाना। १४०

यह उन्माद ले चला ऋषि को कुंज-कुंज प्रति खींचे।
नयन-वारि ने क्लान्त चरण-द्वय बार बार मृदु सींचे।
कुसुमों से ऋषि फिरे पूछते यहां कहीं अलि आया।
काला काला रंग हृदय-हर, गुंजन भी मनभाया।

अलबेला बेला हँसता था जहां सरसता डूबा।
कुन्द जहां मुसकरा रहा था यौवन-धन से ऊबा।
क्रीड़ा सरि में क्रीड़ा-रत थीं जहां मालती कलियां,
मधुप न जी सकता जिनके सँग किये बिना रंगरलियां।

भौंरे को ढूँढ़ा ऋषिवर ने सब ठौरों में जाकर। १५०
शीश लगे धुनने न कहीं भी उसके दर्शन पाकर।
इसी निराशा-अन्धकार में काला मधुकर आया।
मानों कमल-बन्धु अरुणोदय श्यामाम्बर धर आया।

चला गया पाटल कुसुमों की टोली में रस-लोभी।
समय कहां था श्रवण करे वह क्षमा-याचना को भी।
पीछे-पीछे चले गये ऋषि विनय भाव दिखलाते।
रुके जहां पाया प्रेमिक को प्रेमपात्र ढिग गाते।

अवसर पा बोले, "हे मधुकर, मुझे क्षमा कर भाई।
तव अपार उपकारशीलता थी न समझ में आयी।
प्रिया मंजु मानस के प्रतिनिधि मैंने तुम्हें न जाना।
नित नूतन रस-रसिक तुम्हारा रूप नहीं पहचाना। १६०

अन्तर एक पड़ा हे मधु-प्रिय! जो यह धोखा खोया।
सहस्रांश चांचल्य न तुमने प्रिया हृदय का पाया।
मेरी पूत प्रेयसी-मन की चंचलता बिजली सी।
क्रीड़ामयी सतत रहती थी ललित गंग-लहरी सी।

अलिबाला सी नित नव फूलों हित मचला करती थी।
गूँथ-गूँथ केशों में पल-पल में बदला करती थी।

क्षण भर धारण कर मृदु तन पर मंजु वसन तजती थी।
नित्य नये अनुराग में रँगी साज नये सजती थी।
नित नूतन सौन्दर्य खोजती थी वह रसिका बाला।
मधु पीने से तृप्त न होता उसका मन मतवाला।
भूषण बिना अपार सुन्दरी मनोहरी सुकुमारी।
मंजु विभूषण-प्रति नित नव रुचि-अरुचि दिखाती न्यारी।"

उदासीनता, चपल रसिकता अलि ने एक न छोड़ी।
लता-भवन के भीतर जाकर प्रीति अनूठी जोड़ी।
अन्य मधुप भी मधु के गाहक एक एक कर आये।
एक पाँति में बैठ भ्रान्ति नव ऋषि के उर में लाये।
लता-वदन चूमती झूमती गुंजन - रत अलिमाला॥
सुकेशिनी-छवि लायी ऋषि दृग आगे नव रस शाला।
भरकर बहु उल्लास हृदय में धाये आलिंगन को।
पछताये फिर हाय पास आ खोया जब भ्रम-धन को।
भौंरे सब उड़ गये वहां से शीघ्र हो गया सूना।
यह सूनापन शृंगीऋषि को लगा सताने दूना।
देख लताओं का लहराना फिर से स्मृति लहरायी।
फहर प्रिया के वर अम्बर की दृग आगे खिँच आयी।

पीड़ांगार - दग्ध हो बोले, "हे लोनी लतिकाओ!
बीत गयीं वे बातें उनकी चर्चा नहीं चलाओ।
लाभ नहीं इसमें उपकारिणि! तुम भी उन्हें भुला दो।
गयीं, गयीं, वे गयीं सदा को स्मृति भी सजनि सुला दो।
मेरे प्राणों की वैरिणि बन मृगतृष्णा सी आशा।
बारम्बार उन्हें रख लेती उर में बो अभिलाषा।
किन्तु चाहता हूं मैं जी से जी की जलन बुझाऊं।
वर्तमानता त्याग भूत की गोदी में सो जाऊं।"

आया संध्या समय अचानक याद मधुप की आयी।
शृंगी ऋषि के दृग में करुणा वारि-बूँद बन छायी।

सोचा, चलूं सरोज-विपिन में मधुकर को समझाऊं ।
पंकज-कोष-बद्ध होने से उसको सपदि बचाऊं ।
गये वहां तो देखी अलि की प्रीति वही तल्लीना ।
भोग-भाव-पीड़ित अनियंत्रित मधु-कामना-मलीना ।
सिहर उठा कोमल उर उनका काँटा गड़ा हृदय में ।
यह भी विरही हो जायेगा, व्यथा बढ़ी सहृदय में ! २००
हृदय संभाल किसी विधि बोले, "सुनो अहो अलि प्यारे ।
ये अनुरक्ति-भाव बस होंगे, अति प्रतिकूल तुम्हारे ।
विकल वियोग-निशा अब आयी ले नैराश्य अँधेरा ।
पीड़ा-खग का तव मानस में होगा विरस बसेरा ।
देखो-देखो अलि ! सरोज अब सम्पुट मारे जाता ।
जग-जीवन के प्रति विरक्ति ही उर में धारे जाता ।
अरे बचा लो अपने को तो, तुम भी बँध जाओगे ।
रह जाओगे बँधे निशा भर पीछे पछताओगे ।
हाय ! हाय मैं मूर्ख महा हूं सीख तुम्हें क्यों देता ?
मोती की माला पाकर क्या कपि धारण कर लेता ? २१०
कहीं स्वार्थ मेरा भी होगा करता हूं जो ऐसा ।
अयाचकों को देते फिरना दान भला यह कैसा !
अरे मूर्ख अलि ! जा मेरी ही भाँति व्यथित-पीड़ित हो ।
हितचिन्तक की बात न मानी, सोच-सोच व्रीड़ित हो ।
कमल-कोष में बंद हो गया हाय ! न कढ़ पायेगा ।
दण्ड प्रेम करने का पाकर सीधा हो जायेगा ।
अहह ! रात में गज ने आ यदि कमलनाल को तोड़ा ।
निज विकराल दन्त चोटों से तुम्हें न जीता छोड़ा ।
तो फिर मिलन न तुमसे होगा हा,हा,इस जीवन में ।
बस जायेगी एक वेदना और हमारे मन में । २२०
जाओ, जाओ भाग्यवान हो तुम्हीं मधुप हे भाई ।
प्रेम-पंथ पर चल के तुमने सत्य सफलता पायी ।
जीवित आओगे तो नव-नव कुसुमों का रस लोगे ।
मर जाओगे तो अमरों से अविनश्वर यश लोगे ।"

मंजु सहासवदन कुमुदिनिपति स्वल्पकाल में आये।
विभावरी में परिवर्तन वे विस्मयकारी लाये।
रोती जो प्रतीत होती थी हँसने लगी छबीली।
प्रिय-कर से पीयूष पान कर प्रणय-मत्त गरबीली।
ऋषि बोले, "हे रजनी! तुम हो वंचकतामयि कितनी!
कपट-भरी मैंने जाना था हाय न तुमको इतनी।
प्रिय-मन-मोहन-हित तुम तारक-भूषण धार रही थीं।
मैने समझा था मेरे हित दृग-जल ढार रही थीं।
अहो चन्द्रमा! तुम सी ही थी विकसित मेरी प्यारी।
जहां बैठती थी रहती फिर वहां नहीं अँधियारी।
कर में अमृत तुम्हारे रहता, वह थी अमृत पिलाती।
प्रतिपल जग-जीवन सरसाती मृत को अमृत बनाती।
चंचल तो वह थी पर उसकी कला न घटती-बढ़ती।
ओप निराली ही छन-छन पर उसकी छवि पर चढ़ती।
रूप तुम्हारा तो सरोजिनी को रुचता न तनिक भर।
किन्तु समुदकारी प्रभाव था उसका कमल-कुमुद पर।
अलिगण की तुम व्यथा बढ़ाते वह रसकेलि बढ़ाती।
म्लान कमल से अधिक ग्लानिमय मधुकर उर सरसाती।
तुम्हें राहु जब तब ग्रस लेता छवि-अभावमय करता।
केश-राहु उसकी मुखश्री में अधिक भाव था भरता।
द्वेष सदा ही तुममें देखा प्यारी के प्रति भारी।
निष्प्रभ कर देती थी तुमको उसकी खर उजियारी।
द्वेष-भाव से जल जलकर उर राख हो गया सारा।
उसी जलन को अब भी तुमने अपने उर में धारा!
अब वे मेरे नहीं रहे दिन, मौज-भरे, रस-डूबे।
गयी न जाने प्रिया कहां को, मिटे सभी मनसूबे।
हे सौभग्यवान! क्यों मन में कालापन हो धारे।
वे बीते प्रसंग क्यों तुमने अब लों नहीं बिसारे?
शान्ता गयी न आयेगी अब, गयीं चली वे घड़ियां।
मेरे जीवन में लायी थीं जो विलास की लड़ियां।
देखोगे अब नहीं निशाकर वह उन्माद निराला।

किसी समय फूँकी थी जिसने तव मानस में ज्वाला।
एक बात तुमको बतला दूं श्रवण करो हे शशिकर!
पीड़ित तुम्हें नहीं करती थी प्रिया कभी निज वशभर?
उसे मुसकराते क्या तुमने कभी रात में देखा। २६०
मैंने तो बस ओंठ दबाते बात बात में देखा।
अँधियारी रजनी में उसका कभी मंद मुसकाना!
मोती से मनोज्ञ दाँतों की पाँति धवल दिखलाना—
कालापन हरके भरता था चमक-दमक मतवाली।
उसके गोरेपन से गोरी बनी निशा भी काली।
जो यह कहो विरहिणी निशि को था न हँसाना अच्छा।
कभी हँसाने से भी होता अधिक रुलाना अच्छा।
अपराधिनी अवश्य रही वह यदि यह दूषण भारी।
बुद्धिहीनता मान इसे लो, वह थी सरला नारी।
तो भी एक बात तो सोचो रात रुदन कर करके।
मर जाती निराश होकर यदि ठंडी साँसें भर के।
कहां भला पाते तुम अपनी प्राणवल्लभा प्यारी?
कैसे होते आज मुदित यों बोलो निशाविहारी?
प्रिया-आश्रिता बनी चकोरी थी सब दिवस बिताती।
उसका वदन विलोक कुमुदिनी विरह-सहन-बल पाती।
उदारता धारो उर में कुछ सोच यही हे शशिकर!
विरह-वेदना-पावक में मत मुझे जलाओ जीभर।
एक बार सोचा था मैंने तुम न वेदना पाओ।
इसी भाव से कहा प्रिया से, "देवि दयामयि आओ।
किसी विटप की घन छाया में चलो कहीं हम बैठें।
शशि की दृष्टि न जाय जहां हम वहीं मोद में पैठें। २८०
मुझसे भी थी अधिक चिन्तिता प्रिया निमित्त तुम्हारे।
बोली थी, "यों शशिकर संकट होंगे विगत न सारे।
जाऊँगी मैं नहीं, राहु यदि औचक आ जायेगा।
आकर्षित कर उसे, चन्द्र को कौन बचा पायेगा?"

देखो मैं निरुपाय निराश्रित निस्सहाय सबभाँति बना।
अति अशान्त हो ठौर-ठौर में फिरता हूं अति विकल मना।

देता नहीं सान्त्वना कोई जी न ठिकाने आ पाता।
शीतलता के धाम निठुर बन तुम भी तोड़ न दो नाता।
जो न करो करुणा यों वीरों का ही धर्म निभाओ तुम।
२९० मुझे शत्रु यदि मान रहे हो तो भी दया दिखाओ तुम।
दाँतों तले दाब तृण बैरी जभी सामने आ जाता।
क्षोभ भरा मानस दृग-द्वारों से बह निर्मलता पाता।
किन्तु अनंगाराधन में रत कहां वीरता पायेगा?
वीरोचित उदारता उर में भला कहां से लायेगा?
कामुकता के धाम कामना-लोलुप काम-वृष्टि कारी।
शान्ति कहां से दो मुझको जब तुम्हीं अशान्त बने भारी।
फिर भी जिस शीतलता के बल पर कहलाते हो हिमकर।
तज कर उसे स्वधर्म न त्यागो प्रकृति देवि-लाड़ले सुघर!
पावक का ही धर्म जलाना उसे न ग्रहण करो प्यारे।
अंगीकार विधर्म न करते कभी आन वाले न्यारे।

कामी के सारे के सारे लक्षण तुममें दीखे।
काम-कला कौशल तुमसे ही कामी जन ने सीखे।
उदारता ही नहीं दीखती तुम हो बड़े निराले।
कोमल कर से बाण चलाकर हृदय चीरने वाले।
अपने पिता सिन्धु को देखो कितना दीन-हितैषी।
इतने विभववान में मैंने देखी दया न ऐसी।
दुखियों-हित भंडार लवण का अपने पास बटोरे—
लहरों मिस आमन्त्रित करता आओ मेरे धोरे।
लक्ष्मी बहन प्रसिद्ध तुम्हारी सतत दीन-हितकारिणि।
जग-निन्दित उलूक को वाहन कर त्रय-लोक-विहारिणि।
पल भर में सब संकट हरती ऋद्धि-सिद्धि से घर भर।
पंक-अंक में कमल खिलाती कमला नाम मनोहर।
फिर भी तुम्हें न लज्जा आती स्वकुल-कलंकितकारी।
अधिक खेद से अचरज मुझको आज हो रहा भारी।
मुसकाना ही मुसकाना क्या तुमने जग में सीखा।
आँखों से दो बूँद गिराना हाय न तुममें दीखा!

अरे पूर्व में कैसी लाली का छिड़काव निराला।
पंकज-उर-स्थली को प्रतिपल बना रहा मधुशाला।
कूक उठी यह कौन, कहां से मीठा स्वर यह आया।
मेरे नीरस मानस में भी नवल सरसता लाया। ३२०

अरे उछलते हृदय शान्त हो! उचित न यों बौराना।
करके दया प्रिय आतो जब तब क्यों यह अकुलाना?
यों पागल बन कर मत धड़को हाय कहीं दम टूटे।
आकर अधरों तक प्रिय मधु का प्याला कर से छूटे।

आओ, आओ प्रिय हृदयेश्वरि शीतल हृदय बनाओ।
अरुण अमल अम्बुज-सम विलसित आननछविदरसाओ
हँसो हँसो अयि प्रिये! हँसी की आज घड़ी तो आयी!
विमुदमयी विषाद-रजनी का अन्त संग तो लायी!

वही मृदुल मुसकानि-माधुरी चितवनि वही रसीली।
वही सरलतामयी चपलता मुद्रा वही लजीली।
आहा! वही मिठास कंठ का तनिक नहीं परिवर्तन!
मेरी श्याम घटा आ जाओ, मोर करे यह नतन।

यह कह दौड़ पड़े शृंगीऋषि मिलन-मोद में माते।
अविरल-वाहित अश्रुधार में सहित सनेह अन्हाते।
रहे भुजाएं फैलाये वे जिनमें प्रिया न आयी।
ज्यों-ज्यों वे धाये आगे को वह पीछे को धायी।

इस मृगतृष्णा ने उनको दी अमित क्लान्ति ही केवल।
क्लान्ति देवि ने मूर्च्छा देकर शैया दी धरणी-तल।
ओस-कणों से सजल कमल थे, ऊषा अकुलायी सी।
कुमारिका वह सृष्टि-जाल में नयी-नयी आयी सी।

ऊब गये शशि शृंगी ऋषि की देख वेदना भारी।
खो बैठे उदास तारागण भी अपनी धृति सारी।
अपनी असमर्थता समझ कर वे सब भाँति लजाये।
अन्य लोक को चले गये निज आनन ओप गँवाये।

मलयाचल की पवन चली फिर करुणा रस में सानी।
शृङ्गी ऋषि की व्यथा देखकर बनी विकल दीवानी।

मूर्च्छा हरने लगी विविध विधि दीनों की उपचारिणि।
सुमन-सुगंधि-रमण-रत निशि-दिन पीड़ित-पीड़ाहारिणि।
भागी ऊषा उसी के अनुगत दीप्त दिवाकर आये।
भ्रमर-वृन्द में नवल चपलता नवल विकलता लाये।
क्रम-क्रम से शृङ्गी ऋषि ने भी अपनी संज्ञा पायी।
व्यथित विमोहित अखिल चराचर को नव जीवन दायी।

अलि गुलाब संध्या शशिकर से और प्रभात प्रवर से।
करने लगे विरह वार्ता फिर ऋषिवर सचराचर से।
आकुल होना, अश्रु बहाना, उन्मादित हो जाना।
प्रति दिन का था कार्य गँवाकर फिर चेतनता पाना।
कभी घटा से इन्द्र धनुष से बातें थे वे करते।
कभी चंचला-चंचलता भी निज विषाद से हरते।
चारा चुगने को जो चिड़ियां कभी पास आ जातीं।
उनकी व्यथा देख निज शावक की स्मृति सकल भुलातीं।

गरज-गरज कर चले गये घन देकर अपना पानी।
गयी चंचला चमक चमक कर अमित बार मनमानी।
कूके मोर, चातकी बोली तीव्र व्यथा से विचलित।
किन्तु रहा शृंगी ऋषि का उर यथापूर्व ही विदलित।
कतिपय बार सिधारी ऊषा ज्योति विपिन में भरती।
अमित बार संध्या भी आयी श्रमिकों का श्रम हरती।
किन्तु वल्लभा-मिलन उषा का नहीं हो सका आना।
संध्या भी आयी वह जिसका काम वियोग बढ़ाना।

फिर-फिर ललित लताएं फूलीं सुमन मनोहर फूले।
उन्मादक कदम्ब-सुमनों पर भौंरे आपा भूले।
पंखड़ियां गुलाब की अगणित बार अरुण पट धारिणि।
आयीं रसिक भ्रमर के उर में नव-नव रस संचारिणि।
फूले कमल, कुमुद भी फूले, फूली फिरी चकोरी।
चक्रवाक फूले न समाये पाकर प्रिया किशोरी।
रहा एक शृंगी ऋषि ही का मन उमंग से सूना।
बढ़ता जाता था वियोग-दव उनका दिन-दिन दूना।

अरुण सुमन वाली निकुंज का ध्यान अचानक आया।
वहीं गयी शान्ता पथ-भ्रान्ता भाव सतत लहराया।
मिला सहारा ऊब रहे को, चले वहीं को ऋषिवर।
होते पंख पहुँचते पल में रहे सोचते सत्वर।
शान्ता-मार्ग-सहायक शुक पिक आदि रहे जो मूर्च्छित।
हो चेतना प्राप्त अब वे थे अपलक-लोचन-केन्द्रित।
लक्ष्य एक था उनका ऋषि का फिर भी पास न आये।
पंथ एक था देखा भी था तो भी जान न पाये। ३८०

वन-सीमा से बढ़े मिला तब अरुण सुमनमय उपवन।
"शांता शांता!!" सम्बोधनकरशिथिलकियानिज तनमन।
प्रति पुकार में अधिकाधिक थी आर्ति,प्यास औ तड़पन।
प्रतिध्वनि में होता था उत्तर—शांता! शांता!!" झन-झन।
तालू सूखा मुँह में लाटी लगी अधिक चिल्लाते।
सूखे अधर, पड़ा धीमा स्वर शब्द न थे कढ़ पाते।
पन्द्रह दिन औ रात गयी थी जलते विरहानल में।
कटे नवल द्रुम भाँति गिरे वे बेदम अवनीतल में।
ऊब रही थी साँझ देख यह दृश्य करुण उर-दारक।
दिखलाये उसने भी पीड़ित नयन-वारिकण-तारक। ३९०
अन्धकार ने काला परदा ऋषि-शरीर पर डाला।
रहा अभागा पड़ा वहीं पर परम प्रेम-मतवाला।

ले सौरभ उपहार पूत मलयाचल-बाला—
पवन गयी ऋषि पास प्रथित ज्यों औषधिशाला।
गोदावरि - वर वारि वहन कर शीतल लायी।
श्रीहत मुख - छवि हेतु बनी जीवन-रस-दायी।
तरुदल से फिर व्यजन लगी करने सुकुमारी।
तब शृंगी ऋषि सजग बने निद्रा तज भारी।
उर-नभ घेर तुरन्त ताप-घन लगे बरसने।
वर वारिज में बूँद वारि की आयी बसने।४००
चित्त किया एकाग्र यत्न कर जैसे-तैसे।
लगे सोचने मुक्ति प्रिया की होगी कैसे।
तारक जग का अधिप, परम असहाय अबल मैं।

किसकी पाकर शक्ति करूं संग्राम अचल मैं ।

इसी समय श्रीनाथ परम विहसित कमलानन ।
दीख पड़े प्रत्यक्ष प्रखर आभा अमलानन ।
ज्योतित मुकुट-विमुक्त अलक थी वदन-विहारिणि।
चल कुण्डल कल कांति महामुनि-मानसहारिणि।
करुणा का आवास नवल नीरज लोचन था।
अनायास जो सृष्टि-खेद-चिंता-मोचन था।
पीताम्बर की फहर मंद लहरित मनभायी ।
उर में माल मनोज्ञ वैजयंती छविछायी ।
चारु भुजाएं चार लसित थीं जग-मनमोहन ।
शंख चक्र औ गदा पद्म जिनमें अति शोभन ।
लोक-विमोहक रूप निराला अवलोकन कर ।
लोचन से जल राशि चले ऋषिवर मोचन कर ।
"रक्षा हो घनश्याम!"-कढ़ी वाणी अति गद्गद ।
"मैं नितान्त निर्जीव, शरण में लो जीवनप्रद !"
"डरो नहीं ऋषिराज अंश मेरे ही हो तुम ।
तुमसे हूं गौरवित, वंश मेरे ही हो तुम ।
कार्तिकेय के दिव्य रूप में मुझको देखो ।
अपनी जीवन-सिद्धि उसी साधन में लेखो ।"

यह कहने के साथ चला चंचल परिवर्तन ।
कमलेश्वर के दिव्य रूप को मिला विवर्तन ।
मोर - वाहिनी मूर्ति सामने पड़ी दिखायी ।
जिसकी छवि छः मुखी छिटिक नव आभा लायी ।
छः शिर विलसित मुकुट विविध मणियों सेशोभित।
रविकर निन्दक ज्योति सतत जिन पर ही मोहित ।
बारह भुज बहु अस्त्र-शस्त्रमय प्रबल-निरंतर ।
दानव-दलन-विलास हास मय अबल-विपदहर ।
अस्त्र-शस्त्र वे चित्र जगत में जो न दिखाये।
नेत्र-चकितकर परम तेज जिनके मनभाये।
बोले वे षटवदन, "धैर्य अपना मत त्यागो ।

श्रद्धा-भक्ति-समेत सतत मुझमें अनुरागो।
दूँगा तुमको शक्ति तुम्हारी ही जय होगी।
प्रिया मिलेगी तुम्हें, कीर्ति भी अक्षय होगी।
शान्ता की कामना-पूर्ति के हित तुम जाओ।
रसा तरसती पड़ी अमल रस-राशि पिलाओ।
तदनन्तर तप करो शस्त्र ये सब मिल जायें।
तारक दानव मरे सुदिन जगती के आयें। ४४०
शान्ता सदा अजेय न उसकी चिन्ता करना।
मैं रक्षा में निरत ध्यान यह मन में धरना।
होकर शंकर-तनय जगत में मैं आऊँगा।
करना होगा समर तुम्हें कब बतलाऊँगा।"
ऋषि को विविध रहस्य दैत्य-वधके समझाकर।
कमलाकर चल दिये स्वप्न-सौन्दर्य मिटाकर।

ऋषि लौटे, पथ बीच मिले शान्ता के अनुचर।
बैठे अरुण प्रसून-कुंज-दिशि ही आँखें कर।
देकर उनको धैर्य संग अपने ले आये।
उपाख्यान प्राचीन मनोहर श्रवण कराये। ४५०
विरह-बाण से विद्ध विरह-रस पीने वाले।
गद्गद सब हो गये मरण में जीने वाले।

रवि - पूजन था शेष फूल ऋषिवर ने लाकर—
कृत्य किये सविषाद हृदय के भाव दबाकर।
आश्रम परम उदार देवताओं को सौंपा।
कानन-रक्षण-भार देवताओं को सौंपा।
"उच्छृंखल उन्माद न तुम मेरा अनुसरना
अमल विरह का भोग, रमण उसमें ही करना।
ले शान्ता को संग शीघ्र ही मैं आऊँगा।
होना नहीं निराश अमृत नव बरसाऊँगा।" ४६०

यों कह कर ऋषि चले विदा लेकर प्रिय वन से।
आये 'मानस' पास, नयन से जलकण बरसे।

"चलो प्रिया-लालसा-पूर्ति के हित हे मानस !
कोशलेश-साम्राज्य लहे नव रसमय पावस ।"
शान्ता-कृत प्रेरणा यान को देकर बैठे ।
ज्यों-ज्यों ऊपर उठे वेदनानल में पैठे ।
बना शीघ्र ही यान विहग आकाशविहारी ।
घहराने लग गये जलद जग-शीतलकारी ।
मानस उड़ा सवेग देश-कोने-कोने में ।
४७० लगा भरत-महि-दैन्य-कालिमा मल धोने में ।
मेघों का उर चीर पर्वतों पर हो विचरा ।
चला वितरता व्यथित लोक को जीवन निखरा ।

———

द्वादश सर्ग

प्रिय पति-श्रीवाणी से करके श्रवण मनोहर गाथा ।
भक्तिमयी वनदेवी बोली नत कर अपना माथा—
"करुणा-जनक कथा शान्ता की जैसी तुमने गायी ।
मेरे उर-थल में गंगा की धारा सी वह आयी ।
देव ! बताओ आगे कैसे त्राण पा सकी बाला ?
किस प्रकार प्रियतम-पद-पद्मों पास जा सकी बाला ?
जा भी सकी नहीं अथवा वह तारक से आक्रान्ता ?
फिर से फिरे अयोध्या के दिन या कि रही चिर क्लान्ता ?
अंधी माताओं ने फिर से अपनी आँखें पायीं ?
या वे अंधी ही रह रोती यम के लोक सिधायीं ?
पके कलेजे के घावों का कोई मरहम आया ?
या दशरथ ने तड़प-तड़प कर अपना प्राण गँवाया ?
यदि दानव हारा तो किस विधि शृंगी के दिन आये ?
अमल शारदा ने कब प्रिय-उर-हित फिर बाहु बढ़ाये ?
मुनिपति ने किस भाँति जतन कर अपना धरम निभाया ?
यह सब कथा कहो हे स्वामी, स्वाद बड़ा ही आया ।"
प्रेमिक पति ने कथन किया तब—मेरी हृदय दुलारी !
धीरज धरो, रसीली गाथा श्रवण करोगी सारी ।
तुम्हें स्वाद इसमें आया तो यह सौभाग्य हमारा ।
बंधन से हम दोनों ही फिर पायगे छुटकारा ।

जब से शान्ता गयी, अवध में ऐसी घिरी अधेरी ।
तप्त प्रभाकर यों दिखते थे मानों तम की ढेरी ।
भयावनी रजनी नागिन सी फन काढ़े सी आती ।
मान अमृत लोचन के जल को पीती नहीं अघाती ।

रह-रह के आकाश ओर ही दृष्टि चली जाती थी ।
चील दिखाती यदि मँड़राती यान-भ्रान्ति आती थी ।
बेटी आयी, बेटी आयी, उतरेगी अब नीचे ।
देखा करते लोग उठाये नयन सलिल से सींचे ।

मणि से हीन भुजंगम से थे अवध नारि नर सारे ।
रहते प्राण प्राण-विरहित से खग मृग पशु मनमारे ।
तरु, लतिका, सरि, सर, सुमनों में प्रबल उदासी छायी ।
जब से शान्ता गयी हवा भी आहें भरती आयी ।

जीने वाले बने मृतक से मरे, न मरने वाले ।
ठगिनी आशा मृगतृष्णा के पड़े रहे सब पाले ।
शान्ता आती कोई कह दे, मुँह जोहा करते थे ।
सब को मन मारे विलोक कर बिन मारे मरते थे ।

हम-हत लतिका सदृश रानियां, दग्ध विटप इव राजा ।
विकट मसान समान भयानक महल मनोहर साजा ।
धीरज-जतन किया करते थे तदपि न धीरज होता ।
रह-रह कर जारी होता था लोचन-जल का सोता ।

कौशल्या जब धीरज खोतीं कैकेयी समझातीं ।
कैकेयी को देख विकल अति पास सुमित्रा आतीं ।
महाराज जब कातर होते कौशल्या ढिग जातीं ।
नाना भाँति भरोसा देतीं आशा-जाल बिछातीं ।

धीरजवान नहीं कोई था, धीरज थे सब देते ।
वक्ता-श्रोता दोनों ही थे संग-संग रो लेते ।
आते थे वशिष्ठ गुरुवर भी नीरव बैठे रहते ।
वे विज्ञानी भी चिन्ता के निधि में पैठे रहते ।

महारानियों को समझाने अरुन्धती आती थीं ।
धर्मपत्नियां महर्षियों की अपने सँग लाती थीं ।
ज्ञान भुला देती थीं वे भी जड़ता देख निराली ।

जाती थी मोती से भर निज विलोचना की थाली ।
शान्ता के पालित खग-मृग-पशु मौन अचल थे ऐसे ।
पाहन की मूर्तियां वहां हों प्राण-विहीना जैसे ।
जान गये वे, गयी कहीं को माता राजकुमारी ।
जीते थे; आ जाय कदाचित उसको याद हमारी ।

दासी दास काम करते थे काम न पूरा होता ।
जभी ध्यान दे सोचा करते काम अधूरा होता ।
मूल्यवान बर्तन हाथों से गिर कर फूटा करते ।
सेवा-टूट देख टूटे मन उनके टूटा करते । ६०

शंका विविध भाँति करते थे तोते को न खिलाया ।
मार पड़ा प्यासा ही कब से पानी नहीं पिलाया ।
बेटी की प्यारी पूसी वह हाय रही भूखी ही ।
देखो सींचे बिना लता वह जाती नित सूखी ही ।

सेवा करके भी सेवा की याद न रख पाते थे ।
अभी जहां से आते थे फिर दौड़ वहीं जाते थे ।

चित्रों पर की धूलि झाड़ने जाके उन्हें भिगोते ।
खाली पात्र हंस के ढिग धर मोती-माल पिरोते ।

एक दिवस ध्यानावस्थित हो गुरु वशिष्ठ ने देख ।
शान्ता के बन्दी होने का मिला उन्हें सब लेखा ।७०
ऋषि का करुण प्रलाप विलोका ज्ञानवन्त वे रोये ।
संसृति-निधि में वैज्ञानिक के सारे विभव डुबोये ।

कठिन समय में महारानियों को समझाऊं कैसे ।
पूछ पड़े तो हाय सत्य वह बात छिपाऊं कैसे ?
महाराज दशरथ को कैसे जाके बोध बँधाऊं ?
विज्ञानी की इस विपदा से कैसे मैं बच पाऊं ।
असमंजस यह गया शीघ्र ही मुनि ने पथ निरधारा ।
तज कर अवध विपिन में बसना कतिपय दिवस विचारा ।
अरुन्धती को सब समझाकर चले गये निर्जनमें ।
सब बाधाओं से विमुक्त हो लगे तत्व-चिन्तन में ।८०
था विश्वास एक प्रति मन में, एक भरोसा भारी ।
बिना बिलम्ब चली आयेगी निश्चय राजकुमारी ।

किन्तु आगमन का अनुमानित दिन जब सूना आया ।
अन्धे की लकड़ी सी टूटी हृदय अधिक अकुलाया ।
टूट गयी गाढ़ी निद्रा सी आस लगी सब लटने ।
बेटी क्यों न अभी तक आयी लगा कलेजा फटने ।
गुरु वशिष्ठ की खोज की गयी वे न मिले आश्रम में ।
महारानियां, महाराज सब जले वेदनानल में ।

सचिव सुमंत्र परम चिन्तित थे गुरुवर कहां पधारे ?
अवध आपदा देख भयंकर क्या अब वे भी हारे ?
जब-जब पूछा अरुन्धती से बस यह उत्तर पाया—
"थोड़े दिन के हेतु विपिन में मुनि ने गेह बनाया ।"

शान्ता-खोज-हेतु मंत्री ने व्योम-विमान पठाये ।
सकल दिशाओं में चालकगण वेग सहित ले धाये ।
लगी प्रतीक्षा उनकी होने वे भी एक न आये ।
क्यों इतना प्रतिकूल विधाता ? सब के सब घबराये ।
क्रमशः बीस दिवस यों बीते किन्तु न आयी शान्ता ।
इक्कीसवें प्रात गुरु आये, आनन-श्री अक्लान्ता ।
महारानियां दौड़ पड़ीं सब महाराज भी धाये ।
अन्धे ने दृग पाये मानों प्राण मृतक में आये ।
परम विकल कौशल्या बोलीं देव ! यथार्थ जताओ ।
बाघ-सिंह-उदरस्थ बनी या बेटी बची ? बताओ ।
प्रकृत भाव से योग-निरत वे बोले मुनि विज्ञानी ।
"होगा नहीं अमंगल कोई, धैर्य धरो हे रानी ।"

इसी बीच आ गये सचिव वर समाचार ले प्यारा ।
कितने ही प्रान्तों ने पायी मोदमयी जल-धारा ।
आशा उमँग उठी प्रति उर में, राजकुमारी आती ।
आँखों की सब प्यास मिटेगी, शीतल होगी छाती ।
फैली मोददायिनी वार्ता शान्ता के आने की ।
अति उन्मन उल्लास-सिन्धु-हित पूर्ण चन्द्र पाने की ।
स्वाती जल पीने को पागल अति पीड़ित पपिहा से ।
अपलक टँगे गगन-दिशि लोचन लक्ष-लक्ष रस-प्यासे ।

आये विविध विमान हृदय का रह-रह मन्थन करते ।
प्रिय मानस-सन्देश-मालिका नव-नव ग्रन्थनकरते ।
दावानल ही रहे जलाते एक न लाया पानी ।
ऊब गयी पथ जोह अयोध्या शान्ता की दीवानी ।
कोशलेश से विदा ग्रहण कर गुरु आश्रम को आये ।
लोक-व्यथा से परम प्रभावित दृग में जल भर लाये ।
अरुधन्ती से सकल कथा कह हरि-चिन्तन में भूले ।
ज्यों-ज्यों बीती रात कुमुद इव अधिक-अधिक वे फूले । १२०

अकस्मात ही उषा काल में घन आये घहराकर ।
चंचल बिजली लगी चमकने छन-छन में कढ़ आकर ।
वारिगर्भ घिर चलीं घटाएं नभ मण्डल में काली ।
जीवन-शक्ति सरस बूँदों ने तप्त अवनि में डाली ।
बोल उठी कोयल कुंजों में पपिहे ने 'पी' गाया ।
शीतल मंद पवन झोंके खा वेलि-हृदय लहराया ।
सुमन सरसता पा इठलाये, भौंरे भी बौराये ।
मोर नाचने लगे मत्त हो सब के दिन फिर आये ।
चारों ओर चली जल-धारा धरती-ताप-नसावनि ।
पाप धँसावनि अतिशय पावनि उजड़े गेह बसावनि । १३०
दीख पड़ा 'मानस' मन भावन जल के बीच अन्हाता ।
तृषित उरों में रस बरसाता क्रमशः नीचे आता ।

राजभवन-आँगन दिशि दौड़े अमित अवध-नर-नारी ।
सब के वदन प्रफुल्ल कमल सम, स्वर वीणा-मदहारी ।
महारानियां महाराज सब अरुन्धती सँग गुरुवर ।
मध्य भाग में हुए विराजित माल सुमन की लेकर ।
ऊँचे राजकर्मचारी थे पीछे खड़े यथोचित ।
ध्यान भींगने का न किसी को, दृष्टि यान पर मोहित ।
"क्लेश काटने के हित आये क्लेश नहीं देंगे हम ।"
मेघ यही कहते से घहरे वृष्टि थाम लेंगे हम ।१४०

पानी थमा "जयति जय शान्ता" गूँजा घोष गगन में
मानस आया क्रमशः नीचे अधिक-अधिक प्रतिछन में ।
क्यों विलम्ब करता यों 'मानस'? सत्वर क्यों न उतरता ?

पंछी होते उड़ जाते हम—सब का जा यों करता ।
सकल प्रतीक्षा उत्कण्ठा का केन्द्र मही पर आया ।
यह क्या आँखों ने शान्ता को कहीं न उसमें पाया ।
"ऋषिवर आये, पानी लाये, बेटी कहां गँवायी ?"
कंठ-कंठ से गगन-विदारक परम करुण ध्वनि आयी ।

मानस में से ऋषिवर निकले बरस पड़े सब लोचन ।
कितने बादल लाये अपने सँग सन्ताप-विमोचन ।
पानी बिना अवध पीड़ित था, अब पानी से पीड़ित ।
असमर्थता देख कर अपनी शृंगीऋषि थे व्रीड़ित ।
अरुन्धती के सँग आगे आ तब गुरुवर ने सादर—
किया उचित अभिनंदन, स्वागत सुमन-माल पहना कर ।
आशीवचनों में भी पाकर मृदुल फूल झड़ते से ।
अमित सकुच ऋषि ने कर जोड़े धरती में गड़ते से ।
महारानियों और नृपति को देखा आगे आते ।
मूर्तिमन्त चिन्ता, विषाद से पाहन भी पिघलाते ।
उर पर धर कर हाथ विलोके उनके नयन सजल वे ।
पीड़ा - संयम-संघर्षों के बिम्बक परम अमल वे ।
देखा पीड़ा का वह लड़ना बाँध तोड़ बह जाये ।
देखा संयम का वह अड़ना नयनों में रह जाये ।
समझौता चल सका न लेकिन तल-तल चलते देखा ।
विरहानल की प्रखर आँचसे उर-हिम गलते देखा ।
आँचल औ रूमाल भिगोते देखा दृग के जल को ।
हाथों की मालाओं पर फिर देखा उस चंचल को ।
मालाओं से गिर कर उसको महि में मिलते देखा ।
अपनी आँखों आज पहाड़ों को भी हिलते देखा ।

शान्ता-विरहानल से यों ही वारि अवध ने पाया ।
व्यर्थ अकेला क्यों मैं आया मुँह में मसि भर लाया ।
किस मुँह से स्वागत लूं इनका अस्वीकारूं कैसे !
धरती फटती यहीं समाता, जीवन धारूं कैसे ?
यही सोचते आगे बढ़कर ले लीं वे मालाएं ।

जिनकी सुमन पँखड़ियों में थीं सलिलमयी ज्वालाएं ।
फूल झड़े अगणित हाथों से थी न चपल गति जिनमें ।
ग्लानि-शिथिलता-निरुत्साहता-जनिता थी यति जिनमें ।
सब में दर्शन कर पीड़ा का अति पीड़ित वे बोले ।
उनका विचलित रूप देखकर नव रसाल द्रुम डोले ।
सन्नाटा छा गया चतुर्दिक बही वचन की धारा ।
प्लावित होने लगा उसी में लोक समागत सारा । १८०

"गुरु वशिष्ठ, नृप, महारानियो ! और शेष करुणाकर ।
देख रहा हूं व्यथा तुम्हारी यहां अकेले आकर ।
लोभ नहीं जीवन का तुमको, केवल शान्ता प्यारी ।
क्षमा करो अपराधी मैं हूं आयी जो न दुलारी ।
आने के पहले करना था अमरों का आराधन ।
मैं न रहूं तो कर लें जिससे कानन - रक्षा-साधन ।
मैंने किया प्रमाद पठाया करने चयन सुमन का ।
क्षमा करो मैं ही हर्ता हूं हाय तुम्हारे धन का ।
मेरे वन-ढिग अरुण सुमनमय एक कुञ्ज अति प्यारी ।
प्रकट भाग तारक के गढ़ का मनहारक, संहारी । १९०
मना किया था वहां न जाना उसने बात भुलायी ।
क्षमा करो मैंने ही उसको विस्मृति-राह दिखायी ।
कितनी ही कुमारियां मोहीं सुमन-चयन हित जाकर ।
लौट न पायीं अपने घर को तारक-बंधन पाकर ।
बंधन वही मिला शान्ता को मैं रो रो कर आया ।
क्षमा करो मुझको सब लोगो नत-शिर होकर आया ।
कार्तिकेय ने दर्शन देकर बोध बँधाया मुझको ।
शान्ता के फिर से मिलने का पन्थ बताया मुझको ।
ले संदेश वही आया हूं लज्जा सकल गँवाकर ।
क्षमा करो मैं भीख माँगता शरण तुम्हारी आकर । २००
होनहार था राजकुमारी दानव-बंधन पाये ।
होनहार था अवध तपाया अधिक तपाया जाये ।
दैत्य मरेगा, कार्तिकेय ही निज कर से मारेंगे ।
आयेगा वह दिन भी, मानो, जगतो को तारेंगे ।"

यह कह मौन हो गये ऋषिवर, सबने धीरज खोये।
शान्ता बेटी गयी सदा को फूट-फूट सब रोये।

शृङ्गीऋषि को ले गमने तब राजकार्य - अधिकारी।
संग नृपति, मुनि - पत्नी, रानी सब विपदा की मारी।
की घोषणा नृपति-सम्मति से महासचिव ने सत्वर—
"लोकसभा में आप पधारें वेला मध्याह्नोत्तर।
मुक्ति मिले शान्ता को कैसे क्या उद्योग करें हम।
सब के आगे अपना अभिमत आज अवश्य धरें हम।"
यह कह सचिव मिले ऋषिवर के मंडल से फिर जाकर।
चिन्ता छिटिक चली बाहर को प्रखर प्रेरणा पाकर।

सज्जित एक कक्ष में ऋषि को ले सब लोग पधारे।
जहां रानियों ने दृग जल से उनके चरण पखारे।
महारानियों और नृपति को बोध विविध विधि देकर।
लीन हो गये आराधन में कार्तिकेय-रसिकेश्वर।
मिली दोपहर को निवृत्ति तब थोड़े से फल खाये।
लोकसभा में चलने को फिर सावकाश दिखलाये।

राजभवन के अति समीप था एक मनोरम उपवन।
जनता जहां किया करती थी देश-समस्या-चिन्तन।
आडम्बर की थीं न उमंगें, देख समय दुविधामय।
सभा प्रबंध किया मंत्री ने वहां सरल सुविधामय।
केवल मंच किया समलंकृत पट अमोल बिछवाकर।
कलित गावतकिये भी थोड़े आस पास लगवाकर।
महाराज के हेतु मध्य में कुछ विशेषता - मंडित।
दक्षिण वाम ओर ऋषि गुरुवर-हित सारल्य-अलंकृत।

महारानियों अरुन्धती औ अन्य देवियों के हित।
निरधारे ऋषि- पास सुआसन मंत्रीवर ने आदृत।
राजकर्मियों हित उपवेशन क्रमशः किये नियोजित।
कर नर-नारि-विभाजन जनता-सुविधा की समयोचित।
नाद प्रसारक यंत्र लगाये श्रोता-सरल श्रवण हित।

राजदण्डधर नियत किये बहु सुप्रबन्ध-रक्षण-हित ।
प्रकृत प्रेम करता था जनता कृत गति विधि संचालन ।
तदपि कराया कुशल सचिव ने उचित नीति का पालन ।

अम्बुधि-तुंग-तरंगावलि सी जनता उमड़ी आयी ।
आँख जहां जाती थी पड़ते थे नर मुंड दिखायी ।
जैसे ही जैसे जन क्रमशः सभा-स्थली में आये ।
यथायोग्य ही राजकर्मियों-द्वारा गये बिठाये । २४०
उत्कंठित अगणित आँखें थीं विकल श्रवण अगणित थे ।
तृषित शान्ति-हित चंचलता तज केन्द्रित लाखों चित थे ।
देकर परिचय नियम-ज्ञान का संयममय पग पग पर ।
राजकीय जन-कार्यभार हर लिया सभी ने सत्वर ।

अवसर जान महामंत्री तब ऋषि के पास पधारे ।
जहां आ रहे थे आदृतजन चलना ही निरधारे ।
महाराज, ऋषि, गुरु, अरुधन्ती-संग राजमहिषीगण ।
सभास्थली को चले बढ़ाये पग किंचित चिंतित मन ।
राजकर्मियों ने बढ़ आगे यथा - योग्य बैठाया ।
लोकसभा ने क्षण भर ही में रूप व्यवस्थित पाया ।
उत्कंठित अति लगा दीखने श्रोता-मंडल सारा । २५०
बड़ी त्वरा करके मंत्री ने कार्य प्रबन्ध सँवारा ।

कार्यक्रम सामने देखकर कहा नृपति ने तब यों ।
"पाया हमने ऋषि को चातक पाता स्वाती-रस ज्यों ।
केवल दृग-जल पास हमारे और न कुछ तैयारी ।
कौन प्रकार करें हम स्वागत चिन्ता यही हमारी ।"

महाराज बैठे यह कह कर गुरु वशिष्ठ तब बोले-
"आज यहां ऋषि को पा हमने मुक्ति-किवाड़े खोले ।
कोशल ग्रस्त विषम विपदा में, वही इसे तारेंगे ।
कर में लेकर अस्त्र चकितकर तारक को मारेंगे ।"२६०

गुरुवर के अनुगत सुमंत्र जब भाषण करने आये ।

स्निग्ध ललित कोमल स्वर-लहरी सबल भाव ने पाये।
श्रोतागण ने अचल भाव से अपने श्रवण लगाये।
शब्द शब्द के आवाहन में केन्द्रित प्राण जगाये।
"तारक सँग संघर्ष बढ़ाना हमने सदा बचाया।
किया प्रमाद भयंकर जैसा वैसा फल भी पाया।
शिथिल शांतिप्रियता हम सब की किंचित हिली न डाली।
देखे अनाचार आँखों से फिर भी आँख न खोली।
निष्क्रियता की नीति आज यह लायी प्रबल तबाही।
शान्ता को ले गयी हमारी अतिशय लापरवाही।
बारम्बार यही कहता हूं, दानव से रण ठानो।
प्राणों की बलि देने ही से आन रहेगी मानो।
रण के बिना कहां कब निर्णय किसी प्रश्न ने पाया?
नीच जनों को भलमनसी का राग कहां कब भाया?
अत्याचारी से हम अपना जिस दिन बदला लेंगे।
अम्ब-प्रसव-पीड़ा-सार्थकता उस दिन ही समझेंगे।
जोह रही ललकार तुम्हारी व्योमयान की माला।
आग्नेयास्त्रों की वर्षा के हेतु विकल विकराला।
जोह रहे वरुणास्त्र तुम्हारे स्थल को जलमयकारी।
जिनमें चकित बनेगी गति-विधि तारक की भी सारी।
अश्वारोही प्रबल धनुर्धर लक्ष-लक्ष पैदल दल।
दो आदेश आज सब मिलकर चलें सबेरे ही कल।"
यह कह बैठ गये निज आसन पर मन्त्रीवर जाकर।
हो अब समर कहा जनता ने रव से गगन गुँजाकर।

आयी शान्ति सभा में ज्योंही सेना-नायक आये।
सचिव-समर्थक भाव उन्होंने शौर्य सहित प्रगटाये।
"अमर-लोक में विजित बनाकर भी न शत्रु को शोधा।
कारण यही बना है अब तक तारक भारी योधा।
तारक की शासित नगरी का ध्वसं करें हम छन में।
विजयी हो सिर ऊँचा कर लें अमर बनें मर रण में।
प्रायश्चित्त चलो हम कर लें, भूल बड़ी कर डाली।
तारक के जीते न रहेगी कोशल मुँह की लाली।"

सेनापति के इन वचनों का पड़ा प्रभाव अपरिमित।
भाव समर के उद्दीपित थे उत्तेजित सबके चित।
"प्राणों की बलि हम सब देंगे हो अब समर भयंकर।
चिल्लाये सब लोग—"करेंगे हम संग्राम भयंकर।"
सेनापति : आसीन हो गये बोले तब अवधेश्वर—
"भाषण अब आरम्भ करेंगे स्वयं सिद्धिमय ऋषिवर।
श्रवण करें हम चित्त लगाकर वे जो हमें बतायें।
वे ही परम प्रभा के आलय पन्थ प्रदीप्त बनायें।" ३००

यह कह कर सम्राट विराजे गौरवमय आसन पर।
होकर खड़े स्वभाषण में रत शीघ्र हो गये ऋषिवर।
महाराज, गुरुदेव, मान्यजन, सब श्रोतागण फिर-फिर।
क्षमायाचना करता हूं मैं होकर अति अवनत-शिर।
बच्चे की तोतली बोल सुन फूले नहीं समाते।
अर्थ लगाते रस ले लेकर हँसते मोद मनाते।
जननी, जनक अगाध प्रेम का परिचय मुझको दीजे।
मान अजान मुझे शिशु सा ही बात श्रवण कर लीजे।
अर्चिता, दयनीया शान्ता—भाव न मन में लाओ।
अनल-दग्ध अनुमान कृपा का वारि न लेकर धाओ। ३१०
सरस्वती सी ज्ञानमयी वह आप रक्षिका होगी।
भक्षण-हित जाने वालों की आप भक्षिका होगी।
रण प्रयाण करना ही होगा, संशय कहीं न इसमें।
दनुज गर्व हरना ही होगा, संशय कहीं न इसमें।
तरणि-करों ने तम के उर को जब तक नहीं विदारा।
कमल-नयन मानस ने पायी कहां प्रणय की धारा।
तारक को मरना ही होगा अन्य उपाय न कोई।
शान्ता को ले जाकर उसने वेलि मरण की बोई।
कनी खा गया जो हीरे की उसकी जीवन-आशा।
वैसी ही जैसी वामन की नभ-स्पर्श-अभिलाषा। ३२०
किन्तु देश औ काल व्यवस्था पहले हम अनुमानें।
उस पर अवलम्बित रण-शैली का तब रूप प्रमानें।

शान्त अहिंसक रण-शैली से हो यदि कार्य हमारा।
रक्त-पात की बात करें क्यों ? पन्थ त्याज्य वह सारा।

शाखा-पत्तों को विलोक कर तरु की शक्ति न आँको।
मूल शक्ति का वास मूल में उसके भीतर झाँको।
बता रहा हूं मैं रहस्य सब उसे ध्यान से सुन लो।
फिर विमर्श-अवलम्बन लेकर कर्म-सुमन निज चुन लो।

अमर लोक औ मर्त्य लोक का सृजन किया धाता ने।
३३० रचना की सब शक्ति दान की जिन्हें शक्ति-माता ने।
दोनों के सम्बन्ध परस्पर परम प्रीतिमय थापे।
फिर भी धर्म-क्षेत्र दोनों के पृथक-पृथक ही नापे।

महाशक्ति-अनुमोदित हिंसा प्रकृत कहाने वाली—
रुद्र देव ने की, रचना को सरल बनाने वाली।
सृष्टिकार ने उस साधन से सृजन-कार्य सरसाया।
सृष्टि-विटप में दानव-मानव-देव-सुमन विकसाया।

रम अभिन्न समष्टिगात पर शूलाघात निरन्तर—
कर उपकरण दिये रचना के रुद्र देव ने रुचिकर।
इससे अमर लोक में पाया मूल प्रभाव उन्होंने।
३४० दिये सफलता-सहित अबाधित उर में घाव उन्होंने।

त्योंही रचना के हित शिव ने बिखरे तत्व मिलाये।
जल,थल,अनल,गगन,मारुत ले जीवन-कुसुम खिलाये।
इससे मर्त्य लोक में पाया मूल प्रभाव उन्होंने।
दिये सफलता-सहित अबाधित नव-नव भाव उन्होंने।

अमरलोक में रुद्र-साधना यहां शम्भु-आराधन—
जिसने किया मिला उसको ही मूल शक्ति-आस्वादन।
विकृत रौद्र भावना-मग्न जो कर न सका शिव-अर्चन।
मर्त्य लोक में भूल-निरत वह त्याग मूल का अर्जन।

रुद्राराधन किया दनुज ने अमरलोक में रुचिकर।
३५० रुद्र-शक्ति शङ्कर-गिरिजा की पायी प्रीति विवशकर।
मर्त्यलोक में किया देव ने देव-देव शिव-अर्चन।

दिया सरस अमरत्व शम्भु ने मोद-प्रमोद-प्रवर्द्धन ।
दोनों से वंचित हो मानव पड़ा रहा संशय में ।
कभी मग्न होगया तिमिर में, कभी प्रकाश-निचय में ।
दानवत्व की ओर प्रगति कर चला कभी अभिमानी ।
कभी बढ़ा देवत्व ओर को होकर चिन्तक, ज्ञानी ।

भीषणतम भौतिक अस्त्रावलि दानव को दे डाली ।
करुणामयी महामाया ने प्रीति अम्ब की पाली ।
पाकर अति सन्तोष रुद्र ने शस्त्र दिये संहारी ।
दिया अनुग्रह शम्भु-उमा ने होकर करुणाकारी । ३६०
प्रेम, अहिंसा, क्षमा, दया का अस्त्र दानकर न्यारा ।
शङ्कर ने अखण्ड जीवन वर दिया देव को प्यारा ।
गौरी ने निज सरस कामना दे दी उसे निराली ।
नये-नये रस से भरिता हो उसकी मानस-प्याली ।
किसी मूल का किया न अर्चन अर्जन किया न साधन ।
मानव ने केवल 'अहिमिति' का ठान लिया आवाहन ।
दानवत्व, देवत्व, उभय से आकर्षित हो होकर ।
रस से हीन किया अपने को प्रगति निरन्तर खोकर ।

दानव ने विश्वासघात कर हर-आदेश भुलाया ।
प्रकृति-प्रगतिकारक भावों प्रति प्रखर विरोध बढ़ाया ।३७०
कभी प्रभावित होकर उससे मनुज दनुज बन आया ।
होकर भी पण्डित विज्ञानी दनुजेश्वर कहलाया ।
दानव से पीड़ित होकर भी देव नहीं मर पाया ।
उसके इस वैभव ने मानव मन को मुग्ध बनाया ।
प्रकृति-समर्थित हिंसा द्वारा प्रकृत अहिंसा द्वारा ।
मानव ने देवत्व-ग्रहण-हित अपना मार्ग सँवारा ।
प्रकृत अहिंसा टिक न सकी जब, मिटी प्रकृत हिंसा भी ।
रुचिकर जान पड़ी मानव को परम विकृत हिंसा भी ।
दानवता के फंदे में फँस गौरव सकल गँवाया ।
मानव ने दासता ग्रहण कर अपना नाम मिटाया ।३८०

रूप अभिन्न ब्रह्म का संतत रुद्र-शम्भु मनहारी ।
एक प्रगति का एक अगति का भाव प्रवाहितकारी ।
पाती प्रगति विराम अगति में अगति प्रगति में चलती ।
रुद्र शम्भु में शम्भु रुद्र में—काल-कला यों ढलती ।

रुद्र-शक्ति का अर्चन लाया शङ्कर-उमा प्रसादन ।
ज्यों रविकर किरणों से आया शस्यराशि-आह्लादन ।
प्राप्त किये दो मूलों के बल इसी भाँति दानव ने ।
नहीं एक का भ बल पाया अति दुर्बल मानव ने ।

जब लौं शिव प्रतिकूल न होंगे रुद्रदेव लयकारी ।
प्रलय मचा देंगे तारक के अरि-मण्डल में भारी ।
तारक तिनका भी न उठाये होंगे रुद्र प्रहारी ।
पलक मारते भर में सेना दल डालंगे सारी ।

जब लौं शिव प्रतिकूल न होंगे रचना शक्ति करेगी ।
दानव दल का एक मरेगा तो दस बना धरेगी ।
देवी कवच रूप तारक की उसे न मरने देगी ।
संतति विरह कौन सी माता अपने उर पर लेगी ?

रुद्र देव का मूलाराधन मानव कर न सकेगा ।
देशकाल-बाधा-अगाध निधि को वह तर न सकेगा ।
मर्त्य लोक में समाधिस्थ शिव-अर्चन ही वह ठाने ।
तपस्विनी गिरिजा-उपासना प्रति ही अनुरति माने ।

रुद्राराधन की सामग्री कोध दर्प मद सारा ।
खड्ग-प्रहार, अनल की बर्षा, हत्याकाण्ड पसारा ।
लक्ष-लक्ष नर-मुण्डों की बलि रण-वेदी पर देना ।
प्रखर प्रवाहित रक्त-सरित में स्नान सविधिकर लेना ।

शङ्कर-साधन की सामग्री सकल रुद्र-विपरीता ।
रौद्र भावना सबसे पहले करना वहां व्यतीता ।
अहंकार तज प्रेम, विनय का कवच मनोहर धारें ।
मारें नहीं, आप मर वैरी को, बिन मारे, मारें ।

भोजन त्यागा शिव-रसिका ने केवल पत्ते खाये ।
अमित काल लौं विरत शिवा ने यों ही दिवस बिताये ।
त्याग पर्ण भी बनी अपर्णा परम पूततोशालिनि ।

मारुत-अवलम्बन से जीती जगत-पाप-प्रक्षालिनि ।
भौतिकता-परिहार-रता वह हीन हो रही छिन-छिन ।
लीन हो रही देव-देव के परम रूप में दिन-दिन ।
शून्य अचल शिखरासीना वह निरता जड़ता-नियमन–
त्याग-विभूति दिखाकर करती आकर्षित प्रियतम-मन ।
रिक्त-पाणि हो, वीत-राग हो शम्भु शरण में आयी ।
ताप-दग्ध मानस की श्रद्धा श्रीचरणों में लायी ।
गौरी की अर्चन-शैली यह सरल समक्ष तुम्हारे । ४२०
इसका ही अनुसरण करो तुम संशय तज कर सारे ।
आर्त भाव मन में धारण कर शिव शरणागत होओ ।
नयनों के निर्मल जल-द्वारा अन्तर का मल धोओ ।
सकल शक्तियां तन मन की दो लगा शम्भु-पद-रतिमें ।
भूख-प्यास हो विगत आपही प्रखर भक्ति की गति में ।

तारक-मरण षड़ानन ही के हाथों विधि ने आँका ।
तोड़ न पायेंगे हम कोई परम प्रबल वह टाँका ।
शिव-जागरण नहीं होगा तो उमा-वरण क्यों होगा ?
उमा-वरण के बिना षड़ानन-शुभागमन क्यों होगा ?
सत्य रूप शिव ने वियोग-वश अमित समाधि लगायी ।
उन्हें जगाकर विरहित रखने में होगी न भलाई ।४३०
कोई काम करेंगे कैसे भ्रान्त-चित्त अभयंकर ।
आग्रह-रूपा गिरिजा को यदि पा न सकेंगे शंकर ।
हो अन्योन्य वियोगी होंगे देह प्राण से वंचित ।
शंकर गिरिजा दोनों ही का करो प्रणय तुम संचित ।
उमा प्रसन्न तुम्हारे अरि का सत्यानाश करेगी ।
जहां तुम्हारा एक मरेगा वहां वही दस देगी ।
शैल-कन्यकामय पञ्चानन के प्रणयी बन जाओ ।
अथवा एक षड़ानन ही में अपना हृदय रमाओ ।
सत्याग्रह-स्वरूप इन प्रभु से होगा त्राण तुम्हारा ।
मुक्ति-मुक्ति पायेगा दोनों इनमें प्राण हमारा ।४४०

शिव के सत्य शिवा के आग्रह दोनों के अधिकारी ।

हरण करेंगे नारायण-नर कोशल-विपदा सारी।
हो जिस ओर प्रवाह प्रकृति का उसी ओर हम जायें।
शम्भु उमा को प्रीति-मग्न कर सारा काम बनायें।
देश-काल-अनुकूल भाव से हम सब लाभ उठायें।
देश काल प्रतिकूल दैत्य को यम के लोक पठायें।
कार्तिकेय बल के साधक हों तो न अस्त्र उपयोगी।
कार्तिकेय बल के साधक हों तभी शस्त्र उपयोगी।
सभी भाँति उनकी उपासना हमको करनी होगी।
४५० उनकी दिव्य शक्ति निज उर में हमको भरनी होगी।

अन्तिम यही निवेदन मेरा इसे गाँठ कर लीजे।
ध्यान प्रकृत हिंसा प्रयोग की ओर कभी मत दीजे।
लाभ न एक हाथ आयेगा होगी हानि भयंकर।
एक भूल यह अमित शूल की होगी खानि भयंकर।
गौरी की यह प्रखर कामना देवदेव अब जागे।
रहे विरत समाज-चिन्ता से, अब उसमें अनुरागें।
शम्भु-जागरण की न प्रेरिका हिंसा प्रकृत बनेगी।
केवल गौरी की विरोधिनी होकर हमें हनेगी।
रति समेत तारक-नगरी में कारावासी होकर।
काट रहे स्मर निज खोटे दिन रक्त अश्रु से रोकर।
समर शम्भु-मन से करने को वे अतिशय उत्कंठित।
४६० उसी समर में शाप-मुक्ति भी उनकी निहित अखंडित।
ऐसा कार्य करें न कभी हम रति-मनोज पीड़ित हों।
उचित यही उनके बंधन से हम विचलित, व्रीड़ित हों।
स्मर-दम्पति-बंधन से मानव-बंधन सदा बढ़ेंगे।
जीवन का पीयूष अमर, अमरेश्वर पा न सकेंगे।

जाता हूं मैं कार्तिकेय प्रभु का आराधन करने।
सत्य-शक्तिमय सत्याग्रहमय के प्रिय दर्शन करने।
आर्तभाव से तप ठानूँगा, करुणा उपजाऊँगा।
४७० परम प्रभामय को अपना कर संग लिये आऊँगा।
करें आप भी प्रभु का अर्चन समय न व्यर्थ गँवायें।

पल्ला अधीरता का छोड़ें, दृढ़ पुरुषार्थ बढ़ायें।
कार्य-मग्नता लेकर हम सब अवधि-विलम्ब मिटायें।
केवल प्रखर कार्य में रत हों, फल प्रभु ही ले आयें।"

यों कह कथन समाप्ति किया निज ज्ञानवान ऋषिवर ने।
कर दो सभा विसर्जित त्यों ही नय-निधान नृपवर ने।
तप के हेतु विपिन जाने को ऋषि सन्नद्ध दिखे जब।
आग्रह सहित नृपतिने 'मानस' करवाया सज्जित तब।

इष्ट जहां जाना था ऋषि ने 'मानस' को समझाया।
जय जयकार-निरत जनता को फिर फिर शीश नवाया। ४८०
महारानियों, महाराज, गुरुवर वशिष्ठ से फिर-फिर—
कर प्रणाम बैठे विमान में नयन-नीरदों से घिर।

जय-जयकार-निनाद बढ़ा-फिर अन्तरिक्ष-उरदारक।
ऋषि को लेकर उड़ा हवा में जब 'मानस' मनहारक।
शीघ्र हो गये दृग से ओझल यान-विराजित ऋषिवर।
लोप हो गया 'मानस' क्रमशः चले सभी निज-निज घर।

त्रयोदश सर्ग

सेनापति रणधीर विरत थे प्रेम-समर-शिक्षण से।
कहते थे वे निर्णय होगा बस हिंसामय रण से।
धिक्कारते सदा रहते थे तरुणों के यौवन को।
ललकारते सदा रहते थे योधा सैनिकगण को।
कुछ दिवसों में अवसर पाकर अन्य सभा करवायी।
सेनापति ने रण की भेरी निर्भय वहीं बजायी।
"कोई शक्ति हमें लड़ने से रोक नहीं पायेगी।
महाशक्ति भी आगे आकर टोक नहीं पायेगी।
लड़ना कर्म हमारा निशि दिन लड़ना धर्म हमारा।
लड़ते-लड़ते मरने ही को हमने जीवन धारा।
क्षत्रिय तरुण अगर लड़ने से अपना मुँह मोड़ेंगे।
कीर्ति-स्वर्णघट अपने हाथों हतभागे फोड़ेंगे।
मरें अहिंसा हिंसा दोनों हम स्वधर्म पालेंगे।
जिसने आँख दिखायी हमको उसको दल डालेंगे।
अस्त्रों का न प्रयोग करें क्यों ? क्यों वे गये बनाये ?
किंकर्तव्यमूढ़ता आयी कैसे हम बौराये !
कोशलेश-साम्राज्य-प्रतिष्ठा बन्दीगृह में बैठी।
और अहिंसा-व्याख्या-निधि में कुमति हमारी पैठी।
महाराज ने गुरु वशिष्ठ ने डाल दिये यों कन्धे।
अगम गर्त में ज्यों गिर पड़ते विचलित होकर अन्धे।

सहन नहीं होगा यह हमको हम विद्रोह करेंगे।
अपनी आन नहीं छोड़ेंगे करके समर मरेंगे।
धरे हाथ पर हाथ रहें क्यों? हाथ चलायेंगे हम।
चढ़ी नाक पर मक्खी आकर, उसे उड़ायेंगे हम।
महाराज रोकें मत हमको गुरु आशीश हमें दें।
सेनासहित समर प्रांगण में हम सबको चलने दें।
सेना भी न मिलेगी तो हम आप चले जायेंगे।
आगे हम होंगे पीछे सब सहज खिंचे आयेंगे।
सेनापति ने यों कह कर सब युवकों को ललकारा—
"कायर हो जो यहां सभा में वह कर जाय किनारा।" ३०
"कायर रहते नहीं अवध में सब ने शोर मचाया।
सूर्यवंश-पौरुष में किसने कहां कलंक लगाया?"

इसी भाँति की विविध सभाएं कोशल भर में करके।
सेनापति ने हृदय-हृदय में रण-चालन ही भरके।
बालक वृद्ध तरुण नर-नारी सब का मन मथ डाला।
दशों दिशाओं में अशान्ति की फैली आग कराला।
लाखों ही जन बाँध-बाँध दल राजभवन को आये।
आगे पीछे कितने बालक और वृद्ध भी धाये।
कितनी ही नारियां पधारीं चण्डी सी लयकारिणि।
दृष्टि मात्र से प्रबल शत्रुगण-साहस-बल-क्षयकारिणि। ४०
रण की आज्ञा मिले-"सैन्य सब हो अविलम्ब प्रचालित।
तारक की शोणित नगरी हो शीघ्र रक्त-प्रक्षालित।
रण हो, रण हो, एक यही थी चिल्लाहट सब जन की।
प्रबल भीड़ से धरती काँपी शंकित राजभवन की।
कठिन समय में तब गुरुवर को स्मरण किया नृपवर ने।
पाते ही संदेश पदार्पण किया धीरे गुरुवर ने।
कर स्वागत-सत्कार यथोचित। देकर ऊँचा आसन।
बोले, "देव! तिमिर-आवृत हूं करो सुपन्थ-प्रकाशन।
शृंगीऋषि उपदेश दे गये हमें नहीं रण करना।
केवल कार्तिकेय-आराधन का अविचल प्रण करना। ५०

सेनापति, सेना, जनता का रण-आग्रह ही भारी।
इस दुविधा में मार्ग निकालो प्रभु, जो मंगलकारी।"
वयोवृद्ध तप के निधान तब श्री वशिष्ठ विज्ञानी—
बोले यों मंजुल वचनावलि नीति-निरत गतिदानी—

"हे नृप तुमने किया उचित अति परामर्श निरधारा।
नृप का धर्म सत्य को खोजे सुमंत्रणा के द्वारा।
सद्विमर्श ही प्राण नीति का, उसमें हो न प्रमादी।
राजा सावधान हो तौले सत्य विभिन्न, विवादी।
सर्वश्रेष्ठ मत का निर्णय कर कार्यक्षेत्र में जाये।
प्राण रहे या जाय न इसका ध्यान कभी फिर लाये।
शृंगी-ऋषि ने उचित बताया कार्तिकेय-आराधन।
दानव-मानव के झगड़े का इतिकारक वह साधन।
केवल रुद्र-उपासक दानव, नहीं शम्भु को भजता।
मानव तो न धर्म निज छोड़े दैत्य उसे यदि तजता।
शम्भु-जागरण होगा ही अब काम-वरण भी होगा,
कार्तिकेय प्रभु आयेंगे ही दैत्य मरण भी होगा।
ऋषि ने सत्य बात बतलायी तिनका भी न चला कर—
दानव का प्रभु अन्त करेंगे दैत्य-लोक में जाकर।
मानव का पुरुषार्थ यही अब ध्यान धरे प्रभुवर का।
मंगलमय हो मंजु पदार्पण, गान करे प्रभुवर का।
निर्मल भाव-सुमन-माला ले हम उनको पहनायें।
नयनाम्बुधि-मोती बरसाकर अपने घर में लायें।
अहंकार पैठा दानव में विजित करूं मानव को।
अहंकार पैठा मानव में विजित करूं दानव को।
दानव मर कर ही छोड़ेगा अहंकार निज भारी।
क्या मानव भी यही करेगा प्रभु-पद-अर्चनकारी?
समाधिस्थ शंकर-अनुगामी हम तो रहे सदा ही।
उनके आराधन-रस-निधि में हम सब बढ़े सदा ही।
नहीं आक्रमण किया किसी पर हिंसा-वृत्ति न धारी।
सत्य, त्याग ही को अपनाया शिव के बने प्रचारी।
नहीं जागते वे इससे ही क्या हम उनको छोड़ें?
नहीं तोड़ते व्रत वे अपना क्यों हम अपना तोड़ें?

उनकी शक्ति,उमा का अर्चन कब हमने कर पाया ?
मन्मथ का भी आराधन तो करना हमें न आया।
कारण इसका मैं कहता हूं श्रवण करो हे राजन् !
नहीं संगठन का बल हममें रहा नहीं अनुशासन।
नेता की आज्ञा का पालन लोग नहीं जब करते।
सत्परिणाम मिलेगा कैसे उसे न जब अनुसरते ?
रजनी के सब अंधकार को शशिकर ही हर पाये।
किया यत्न अति ताराओं ने कार्य न कुछ कर पाये। ९०
सिद्धि-कामना हो तो पहले खोजो अपना नेता।
नेता बिना नहीं हो सकते रण में कभी विजेता।
मान लिया जब अपना नेता शृंगीऋषि को हमने।
तब क्यों घेर लिया यों आकर हृदय हमारा भ्रम ने ?
इस उच्छृंखलता की जननी दुर्बलता ही केवल।
हिंसात्मक रण भी कर लेंगे कैसे हम उसके बल ?
यह भी देखें हानि कहां तक समर-घोषणा-द्वारा।
कोशल का भविष्य तो होगा विकृत न उससे सारा।
कोशल की विपदा के बादल तो न सघनतर होंगे।
राजकुमारी ही के बन्धन तो न प्रखरतर होंगे। १००
रण का करो निवारण अविरत किन्तु जभी वह आये।
बैरी को शिक्षण देने में तुम्हें न पीछे पाये।
कायर को भी बीर बनाओ दे हुँकार निराला।
ज्वलित करो उसके मन में भी देश-प्रेम की ज्वाला।
काली से काली रजनी भी जन्म उषा को देती।
काली से काली बदली भी रस बरसा यश लेती।
काला पंक कमल विकसाता काले में गुण भारी।
काले मुँहवाला रण भी तो वीर भाव-संचारी।
स्वल्प काल की विपदा हो तो उसे अशुभ मत मानो। ११०
शुभ अमूल्य अनुभव की निधि ही उसे मनोहर जानो।
उज्ज्वल परम भविष्य हमारा तज दो सकल निराशा।
रण भी कोई क्षति न करेगा देगा नव-नव आशा।
कायरतामय विलासिता औ मरण-भीति निनसाकर—
कार्तिकेय - आराधन का पथ शोधेगा रण आकर।

पूर्ण मृगांक-कलंक श्यामता औ विभूति हर-तन में।
शुभ शोभा की जननि मानते लोग अखिल त्रिभुवन में।"

श्री वशिष्ठ के इन बचनों ने नृप-मानस विकसाया।
जैसे तैर थका हो कोई, छोर सहज मिल पाया।
बोले देव, "आपने मेरी शंका सब दल डाली।
कार्तिकेय-अर्चन-रत अविचल नीति समर की पाली।
समर-सिन्धु में धँस जाने पर इति तो वहीं मिलेगी।
जहां नम्रता-कलिका अरि-उर-लतिका-मध्य खिलेगी।
शत्रु जभी शरणागत होगा रण भी तब गत होगा।
बैरी होगा बन्धु हमारा जभी प्रणत वह होगा।
अहंकार मर्दन करना ही रघुवंशी ने जाना।
दानव-दलन-निमित्त प्रचालन उसने अविरत ठाना।
अनाचारियों, आततायियों का बध हमको करना।
राजकुमारी-हरणकारियों के प्राणों को हरना।
आशीर्वाद आप का पाया मुझको मिला सहारा।
मिली आपकी कृपा तभी वह बैरी मेरा हारा।
अपने को निमित्त भर मानूं कर्त्ता आप षड़ानन।
हे गुरुदेव! न धोखा खाऊं अब की बार महामन!"
विविध भाँति उपदेश अमित दे नृप का किया प्रबोधन।
गुरु ने खींच लिया संशय-मल दिया हृदय-संशोधन।
निकल मंत्रणा-गृह से दोनों चले वहां तब आये।
शंका-विचलित हृदय जहां थे लक्ष-लक्ष जन लाये।
गुरुवर की प्रसन्न मुद्रा में नृप के हसित वदन में।
पाया भानु कलाधर सब ने शोभित एक सदन में।
एक संग ही कमल-कुमुद ने प्रफुल्लता निज पायी।
नयी उमंग तरंग निराली हृदय-हृदय में आयी।
महाराज, गुरुवर ने क्रमशः नाद-यंत्र के द्वारा।
तब जनता के आश्वासन-हित मंजुल वचन उचारा।
"सेनापति सेना ले जाकर समर यथोचित ठानें।
आशीर्वाद हमारा अपने संग सदा ही मानें।"
बजा शीघ्र ही रण का डंका बढ़ी समर-तैयारी।

लगे नाचने, गाने, हँसने रणोन्मत्त नर-नारी ।
हलचल मची अवध में घर-घर बालक वृद्ध उमंगित—
सेनापति-आज्ञा-विलंब-भय से रह-रह थे शंकित ।

—गीत—

चलो रण प्रांगण में हे वीर! १५०
शान्ति में कायर वीर समान,
समर में दोनों की पहचान,
भाग्य से आया समर महान,
प्रेम से गाओ रण का गान;
शत्रु के उर में मारो तीर । चलो०
प्रकृति का आया है आह्वान,
हमें करना संहार-विधान,
विश्व का हो नव-नव निर्माण,
विधात्री ले अपना बलिदान, १६०
वक्ष वैरी का डालो चीर । चलो०
मांस बैरी का खाना है,
रक्त उसका पी जाना है,
विजेता बन कर आना है,
अम्ब का पूत कहाना है,
सिंह जैसे तड़पो हे वीर। चलो०
× × ×
हमें करना है अरि-संहार ।
लखे पर जैसे झपटा बाज,
शत्रु को हम मारेंगे आज,
हथेली पर रख करके प्राण, १७०
धरेंगे शिर पर यश का ताज,
खड्ग को देना है आहार । हमें०
सिन्धु के भीतर भी धँस जाय,
शत्रु तब भी होगा असहाय,
हमारा क्रोधानल अति चण्ड,
उसे कर डालेगा निरुपाय,
यही है कोशल की ललकार । हमें०

भिड़ेगा जब कोशल का वीर,
रहेंगे कैसे दानव धीर,
हवा ने बादल के दल घोर,
नहीं कब डाले पल में चीर,
हमारा होगा वज्र-प्रहार । हमें०

× × ×

जलाना है वह शोणित-द्वीप ।
नहीं हमको हत्या की लाज,
जलें दानव सबके सब आज,
जलें दानव, शिशु, अबलावृन्द,
गिरे घर घर के ऊपर गाज,
जगाना है क्रूरता प्रदीप । जलाना०
सकल मरजादा छोड़ेंगे,
धर्म का बन्धन तोड़ेंगे,
भुलाकर मानवता, दिवता,
दैत्य की गरदन गोड़ेंगे,
निशाचर के लोहू से लीप । जलाना०
भयङ्कर दानव से अत्यन्त,
बनेंगे मानव क्रूर अनन्त,
दैत्य शिशु ललना का पी रक्त,
करेंगे प्रखेर पिपासा अन्त,
राख होगा वह दैत्य-महीप । जलाना०

× × ×

हृदय में हिंसा धारेंगे ।
द्वीप में जब पावक-ज्वाला,
प्रज्वलित होगी विकराला,
पोत पर व्याकुल भागेगी,
विकल दानवगण-शिशु - माला,
पोत भी वह संहारेंगे । हृदय में०
परम भूखे के भोग समान,
मिलेंगे यदि दानव म्रियमाण,
नमक घावों पर देंगे डाल,
करेंगे पीड़ित उनके प्राण,
सहज ही उन्हें न मारेंगे । हृदय में०

कहीं दानवियां पायेंगे,
खाल उनकी खिंचवायेंगे,
रहीं हमको हँसती सब काल,
ओठ उनके सिलवायेंगे,
न अनुचित-उचित विचारेंगे। हृदय में०

× × ×

आज तो जागे हैं काले।
दर्प में, मद में, रह कर चूर,
सताया दैत्यों ने भरपूर,
शीस पर खाते खाते चोट,
हो गयी नींद हमारी दूर,
तरह रह रह देने वाले। आज तो०
काल ही हमको मानें आज,
हमीं दैत्यों के हित यमराज,
देख लें खलगण आँखें खोल,
मरण का अपना सारा साज,
शम्भु से भी भोले-भाले। आज तो०
हरण कर भोजन - धन सारा,
हमें भूखा रख कर मारा,
हमारा ही भीषण कंकाल,
बनेगा उनका हत्यारा।,
मार कर ही मरने वाले। आजतो०

इन गीतों ने ओर-छोर तक कोशल को मथ डाला।
मुर्दों में भी प्राण फूँक कर भभका दी खर ज्वाला।
मग्न हो गये रणोन्माद में कोशलवासी ऐसे।
नाद श्रवण करके मोहित हों अहि, कुरंगगण जैसे।

शान्ता-हरण-खबर भिजवायी दक्षिण के नृपगण को।
ज्ञापित किया प्रयाण अवध का दानव के सँग रण को।
उनके प्रिय सम्राट विपद में वे सब बनें सहायक।
मिलें पंथ में अपनी सेना लेकर सब जन-नायक।

रण-यात्रा-प्रबन्ध सब चलने लगा अवारित, अविरत।
निश्चित होने लगीं समर-विधि विशेषज्ञ-जन-अनुमत।

गुर्जर पोतागार मध्य से भाग गया निरधारा।
शत-शत रण-पोतों से घेरें द्वीप दैत्य का सारा।
नये सैनिकों की भरती-हित कार्यालय कर जारी—
उनके शिक्षण के प्रबन्ध की चली सकल तैयारी।
जो नियमित सैनिक थे उनका लगा सुशिक्षण होने।
कायर की भी भीति-भावना लगी सहज ही सोने।
लक्ष-लक्ष चंचल घोड़ों की दर्शनीय अवली थी।
थी न गयंद-पंक्ति, घन-माला ही महि पर निकली थी।
द्रुतगामी वाहन अनेक थे सामग्री-प्रेषण-हित।
२५० नियत कर्मचारी थे जिनके सुप्रबन्ध-प्रेक्षण-हित।
'दशरथ' दशरथ तुल्य महारथ गया निकाला समरथ।
जिसके द्वारा इन्द्र लोक में दैत्य हुए थे लथपथ।
व्योमयान बनता था नभ में वह जलयान सलिल पर।
और धरा पर चण्ड महारथ शत्रु-मान-मर्दनकर।
महासचिव ने समर-घोषणा तारक को पठवायी।
"शान्ता को यदि फेरे अपनी कर ले बड़ी भलाई।
सात दिनों के भीतर शान्ता जो न गेह आयेगी।
शोणित - द्वीप - हेतु वह साढ़े साती हो जायेगी।"
सात दिवस क्रम - क्रम से बीते उत्तर एक न आया।
२६० सेनापति ने प्रस्तुत सेना का संगठन कराया।
एक कोटि सैनिक गण का वह अनुशासन-परिपालन।
नयन - विमोहक दृश्य एक था नियमित पद-संचालन।
पथवर्ती रक्षित राज्यों से नहीं सँदेसा आया।
चिन्ता नहीं क्रोध ही खर-तर महाराज ने पाया।
लेकर प्रभु का नाम चली तब मानवेन्द्र की सेना।
हृदय-हृदय का निश्चय था बस अरि से बदला लेना।

क्यों रसहीन हो गये बादल गया गरजना प्यारा?
क्यों अखंड परदे में रहना चपला ने निरधारा?
मोरों में छा गयी उदासी, मंद हो गये झरने।
२७० क्यों चंचलता तज कर नदियां लगीं शिथिलता धरने।
अर्जुन, कुटज आदि सुमनों की सुरभि नहीं अब मिलती।

मत्त हाथियों का मद उतरा मन की कली न खिलती।
क्यों विदीर्ण हो गया पंक-उर ? कौन आपदा आयी ?
किसके अग्निवाण से उसने भीषण ज्वाला पायी ?
गया सरस पावस का शासन वृद्ध शरद अब आये।
रस की जहां अधिकता दीखी संयम वहां बढ़ाये।
कास नहीं वे फूल रहे थे अमल श्वेत मनहारी—
शरद देव-उज्ज्वल अलकावलि थी वह मोहितकारी।
रस का यों न समाराधन हो समर अगति पा जाये।
प्रगति रुके व्यवसायीगण की मुनि-पद थिरता पाये। २८०
चक्रवाक-कलहंस-केलि-मिस कही शरद ने वाणी—
"क्यों कर्तव्य कर्म में अपने पा न सका रस प्राणी ?"
"उच्छृङ्खलता में न कहीं रस, उचित उमंग बढ़ायें।
यों आह्लाद न ग्रहण करें हम पर-पीड़क बन जायें।"
सारस धेनु वृषभ-ध्वनि-संकुल लहरित सरिताओं से।
शरद जुन्हाई यों कहती थी बात सरस भावों से !
न्याय वही निर्मल, प्रति प्राणी जिसमें उन्नति पाये।
ऐसा नहीं कि एक गगन को, एक रसातल जाये।
न्यायी शरद देव ने नभ को घन से रहित बनाया।
त्यों ही बिल से विलग भुजगगण को भी भवन दिलाया। २९०

पहन श्वेत पट कास व्याज ही गति में धीरा होकर।
पंकिलता का परित्याग कर निर्मल-नीरा होकर।
कला उच्च जीवन की सीखी शरद देव से शोभन।
नवल कलाधारिणी नदीं यों आज हो गयी मोहन।

ताराओं मिस अमित दृगों से अन्यायों को देखा।
ज्ञान - ओट में अधिक मोह ही के भावों को देखा।
छीर-नीर बिलगा देने की की योजना शरद ने।
चन्द्र-व्याज असि लेकर कर में की घोषणा शरद ने।

शैवालिनी सुवसना पहने मछली ही की करधन।
उषा देवि से पाकर बेंदी जिसमें सच्चा कंचन। ३००
पैरों में मराल नुपुरमयि बैठ कास-शिविका पर।
सरिता-वधू मन्द रोदन-रत चली परम प्रिय के घर।

कड़ी धूप मिस कर्मकाल का तीखापन दरसाया।

सरस रात मिस कर्मपूर्ति का मीठापन बरसाया।
एक हाथ से विष, पियूष भी अन्य हाथ से देते।
शरद देव यों जग-जीवन का तत्व बता यश लेते।

ऊच-नीच का भेद मिटाना नहीं शरद को भाया।
उसमें व्यक्ति, समाज सभी का उनको अहित दिखाया।
बाँटी केवल ओस भुजग को अमृत राशि शशिकर का।
दिया किसानों को ज्वर केवल रास राधिकावर का।

नहीं धूलि हो थी जगती में फिर गोधूलि कहां हो।
होगो लीक कहां फिर कोई शेष न राह जहां हो?
शरद देव ने पथ पगडंडी अगम सुगम करवायो।
लोक-प्रगति के हेतु धूलि की भी महिमा बतलायी।

बादल-अंक-शयित भी चंचल बनें नहीं दामिनियां।
चन्द्र-निशा जैसी विलसित हों शान्त कान्त कामिनियां।
शरद देव का यही सँदेसा लेकर खंजन आये।
वियोगिनी खंजन-दृगियों ने दृग से वारि बहाये।

नहीं उदय था वह अगस्त का थी वह श्वेत पताका।
गड़ी गगन की छाती में जो ले व्रत निश्चलता का।
उसे देखकर पंकिल पग था आप सूखता जाता।
कब न सिंह की हाँक श्रवण कर मृग निज धैर्य गँवाता?

दानव-दलनि महादेवी का आराधन कर विधि से।
वीरों ने सविनय वर माँगा अम्बा करुणा-निधि से।
तदनन्तर अभियान अवध ने तारक के प्रति ठाना।
चली वाहनों पर सामग्री रण के हित मनमाना।

खाद्य द्रव्य भार चला
अम्बर अपार चला
खीमों का पहाड़ चला
दुतगामी यानों पर; और
पीछे पीछे मत्त
योधा चले कोशल के, जैसे चण्डरश्मि धावे
सप्त अश्वरथ पर
अन्धकार मग्ना निशा—

उर को विदार कर ।
प्रलय के मेघ जैसे चले ले अपार वारि
त्यों ही चले कोशल के योधागण अस्त्र-शस्त्र से सजे।

बीस बीस सहस की टोली,
एक सेनाधिप,
पाँव जिनके थे संग उठते और गिरते ।
अहंकार भरी यह घोषणा सी करते—
अधम विरोधी नीच दक्षिण के राजागण
आज दंड पायेंगे निशाचर से पहले,
क्रोधित अपार दाँत पीसते हुए चले ।

अश्व ज्योंही क्रोध से प्रमत्त और चंचल हो
चबा रहे थे लगाम
त्यों ही वीर योधागण वैरी पर आक्रमण
करने में एक पल की भी देर
दुःसह विचार कर
अस्थिर हो खीझते हुए चले ।
ऐरावत मान को मिलाने वाले धूलि में
गजराज स्वर्ण-मढ़े दन्तों की छटा से
घन-दामिनी का दृश्य नभ मंडल से छीनकर
धरा पर लाते हुए
भावी प्रलयंकर संग्राम की विभीषिका से
दिल दहलाते हुए
झालरों से शोभामय पीठ पर हौदे धरे
जिनमें विराजमान तेज के निधान
महानिश्चय की आभा से विमंडित महारथी
शत-शत की पंक्ति बाँध आगे बढ़ने लगे ।

सिंह गर्जना में रत सेना चतुरंग चली
या कराल यमराज लक्ष-लक्ष रूप धर
ज्वलित हुताशन की ज्वाला में ढले हुए

चले उदरस्थ करने को उन्हें जिनकी—
जीवन की अंतिम घड़ी थी बाट जोहती;
या प्रचंड पावक के अंगारक राशि-राशि
भीषण अपार दीप्त तूल वन ओर
लप-लप जीभ करते
प्रबल प्रभंजन की पाकर सहायता
लयकारी नादमय, वेगवान लपके।
अथवा विक्षोभ से तरंगित महासमुद्र, आनन-असंख्य,
किसी वृष्ट ग्राम का विनाश
करने के लिए हर हर महारव द्वारा
दिशा विदिशाओं को
बधिरता प्रदान-रत
वीर में भी भीरुता औ चलता अचल में भी
शून्य में भी हाहाकार दारुण प्रचार कर
फैले सब ओर को।
अथवा वे शेषनाग क्रुद्ध मही-पीड़ा से
दिग्गजों को सौंप भार धरा को सँभालने का
नीचों के पराभव-निमित्त कढ़े नीचे से
सहस फनों को जोड़
अगणित लाखों ही
और, विष-दंशन का दान करने के लिए,
धरात्रासकों का अवसान करने के लिए
कर फुफकार
बाण ही की भाँति गमने।

मध्य में अवस्थित दिवाकर की भाँति ह
करता उत्साहमयी किरणों का वितरण
चला दिव्य महारथ
चक्र चक्र महागति अक्षर विजय के
पुलकित धरा के अंक-पत्र पर लिखता।
रघुवंश-भूषण श्री वीरवर दशरथ
महारानियों के संग उसमें विराजे थे—
विहसित-आनन संकल्प-ज्योति ज्योतित।

मारुत-प्रताड़ित पताका शब्द व्याज ही
रथराज बढ़ा घोष नभ में प्रचारता—
कौन दानवों का अब काल से बचायेगा
कोप कर चले जब मानवेन्द्र रण में ?

ज्यों-ज्यों बढ़े आगे पाँव
टोली-नायकों का बढ़ा आग्रह भी त्यों ही त्यों—
दक्षिण नरेशों पर उग्र आक्रमण हो।
हठ गया जितना दबाया उतना ही बढ़ा।
मानवेन्द्र, सेनापति आये नहीं पक्ष में
शोणित नगर ही को
धुन थी उन्हें तो लगी
तारक से जूझने की तैयारी पहले थी,
सेनापति बोले यों—
"कौशल के वीरवर ! व्यर्थ हठ ठानो मत
दानवों को छोड़
अन्य को स्वशत्रु मानो मत
सब अपमान का हमारे वही मूल एक
भूल कर प्रतिकूल भाव हिये आनो मत।
उसे जीत लेंगे यदि शेष भी विजित होंगे,
हार कर उससे सभी से हम हारेंगे।
पोतागार-केन्द्र पर जाना हमको है शीघ्र
सारा पथ शासित बनाना हमको है शीघ्र
व्योमयान-दल लेके शीघ्र घेर लेना है
दानवों को पाठ नया जीवन का देना है।
सीमा लाँघ आगे चले आये अनाचार की
वध्य हो गये हैं अब आततायी नारकी
एक पल का भी अब जीवन न दो इन्हें।"
शान्त हुए वीर इस भाषण को सुनके।

दिन गये रातें गयीं कितने पड़ाव गये
सेना गयी चित्रकूट आगे शत योजन।

भोजन-निवृत्त हो के सो रहे थे सैनिक
औचक ही शत्रु-दल चढ़ आया घेर कर;
जागे मानवेन्द्र
जाग पड़े सोता केसरी ज्यों
वारिद का नाद कर्णकुहरों में आने पर।
जान गये दक्षिण महीपति विद्रोही बन
दानवेन्द्र-प्रेरित हो संगठित आ गये।
"कितना लड़ेंगे दीन हीन रण-कौशल से
पीठ ही दिखाना जिन्हें आ सका समर में।"
ललकारते यों चढ़े अवधेश रथ पर।
उनसे भी प्रथम प्रमत्त हुए रणधीर
कोशल के सेनापति योधा रणबाँकुरे।
उनसे भी पूर्व गजराज औ तुरंगदल
वैरियों का भान पाके रण-भाव में पगे,
स्वामियों के अधिक विलम्ब से अधीर हो के
लगातार चरणों से भूमि खनने लगे।
महाराज, सेनाधिप, कोशल के योधागण
शीघ्र ही सजग हो के
हय गज रथारूढ़ और पदचर भी
घोर घमासान महारण-सिंधु में धँसे।

भीषण संग्राम था।
वीरवर दशरथ-आनन की मुद्रा रौद्र
द्रोहियों के हित मौत अनायास लाती थी,
खड्ग से भी भीषण थी तीखी दृष्टि उनकी।
कोशल के वीरों का उमंग-सिंधु लहराता
बाण बरसाता, जैसे मेघ वारि-बूँदों को,
गया जिस ओर महारथ उस ओर ही
मची भगदड़ जैसे देख मृगराज को
मृगों का दल भागता।
"तुम्हीं हो कृतघ्न
ले सहायता की याचनाएं

दीन, नत-आनन हमारे पास आते थे;
तुम्हीं मेरी बालिका के मुक्ति-पथ काँटे बने
दानवों से मिलकर"—
कह वीर केसरी ने बाण विकराल छोड़े,
जो थे अति धीर पाँव उनके भी उखड़े।

चंडी सी कराल
महारानियां वे छोड़ती थीं विष से बुझाये बाण,
सनसन करते जा भुजंगम की भाँति ही
अरि ओर जाते थे।
बाण लगते थे पीछे, प्राण पहले ही चले
द्रोहियों के बीच मचा हाहाकार भारी था,
देवियों का साहस अपार देख हारे वे।

जिस रथ पर थे विराजमान सेनापति
उसका भी शब्द-चित्र लेखनी! उतार दे—
रुद्र में तो करुणा-विचार कभी देखा गया,
उसकी न रेखा मिली किन्तु रणधीर में;
मशक समान शत्रुओं के दल पीस डाले
एक संग शत-शत ही नहीं सहस्रशः,
हृदयों को चीर कर गिद्धों के हवाले किये
गया जिस ओर ही को प्रबल महारथी
रक्त के महानद में उन्हें नहलाता हुआ
धूलि में जिन्होंने मान देश का मिलाया था।
कोशल के सूरमों की युद्ध की कला थी वह
अथवा बला थी बैरियों की बलहारिणी।
कोशल का योधा एक
गया जिस ओर को ही
बह गयी रक्त-धार
गिरे शत-शत मुण्ड, नाचे शत-शत धड़
भागे भी सहस्रशः
हाहाकार करते औ त्राणपथ खोजते।

नृप-द्रोहियों के हाथ वाण लेते काँपते थे
लोचनों के आगे अंधकार घिरा आता था
नेता मानवेन्द्र के प्रचंड सैनिकों के हाथ
हम न बचेंगे आज—
भाव यह प्रबल समीरण की भाँति ही
साहस के मेघ को उड़ाये चला जाता था।

टूट गया व्यूह भारी भगदड़ मच गयी
किन्तु भाग के भी कहां
प्राण वे बचा सके ?
चारों ओर काल रूप वीरवर कोशल के
उन्हें सामने ही मिले
दौड़ के जिन्होंने घेर लिया चारों ओर से
और नागपाश ही की भाँति बाँधा उनको।
अम्बुनिधि में ज्यों नदी
पाती शान्ति सहसा
त्यों ही शत्रुदल अनायास ठंडे हो गये।
अर्द्ध लक्ष बंदी लगे हाथ कोशलेश के
भेज कर उन्हें चित्रकूट ओर सैन्य संग
सेनापति और कोशलेन्द्र बढ़े आगे को।

किन्तु प्रथम व्यवधान नहीं अंतिम बाधक था।
कोई गूढ़ विधान वेदना का साधक था।
शोणित नगरी ओर न कोशल-गति हो पायी।
अस्थिरता से मूढ़ नृपति की मति हो आयी।
कहां विघ्न का मूल, बढ़ाया उसको किसने ?
पौधा था, तरुराज बनाया उसको किसने ?
देवि, करूँगा कथन वृत्त सब मानसहारी।
श्रवण करो रुचि-सहित सकल उर-कलुष-विदारी।

गुरुवर से हो विदा चले मुनिवर जब आगे।
देव, मनुज के भाग्य घोर निद्रा से जागे।
लेकर शत-शत नेत्र गगन ने उनको देखा।

जगत-जनों को विविध भाँति देने को लेखा।
प्रगति और विश्राम यथारुचि लेते चलते।
कभी पूछते पंथ, ज्ञान भी देते चलते।
चित्रकूट आ गये रात दिन के राही वे।
अंधकार-आलोक उभय के निर्वाही वे।

एक दिवस घनघटा घिरी नभ में घहरा कर।
लगे नाचने मोर दरस प्रियतम का पाकर।
चमक उठी चंचला लोचनों को चौंधाती।
बूँदें छूटीं रसा-तप्त उर को सरसाती।
लगा मूसलाधार धरा पर गिरने पानी।
शृंगी-अवध-प्रयाण बात मुनि ने अनुमानी।
ध्यान गया गम्भीर चित्र दृग आगे आया।
शान्ता का खल दैत्यराज ने हरण कराया।
मुनि के हर्ष-विषाद-भाव ने समता पायी।
यहीं करूं आवास प्रेरणा मन में आयी।
निर्झर कलकल नाद विहग-कूजन-मोदित हो।
रमे गुफा में एक महामुनिवर मोहित हो।
जग-कल्मष से विकल आत्म-संशोधन कामी।
समाधिस्थ हो गये अखिल मुनियों के स्वामी।

इस समाधि का अंत शारदी ऋतु ही लायी।
मुनि ने प्रीति अनंत प्रकृति-शोभा में पायी।
अकस्मात ही नाद पड़ा कानों में भारी।
दीखे विकल विहंग डरे पशु कानन-चारी।
निकल गुफा से शैल शृंग के ऊपर आये।
सैनिक छिटके देख चतुर्दिक चकित दिखाये।
करते विनत प्रणाम कई मुनि पास पधारे।
आप बताते "अवधनाथ-अनुचर हम प्यारे।"
मुनि ने परम अजान-सदृश तब प्रश्न किया यह।
क्यों आया अवधेश सैन्य इस ठौर भयावह।
बोला सैनिक एक, "देव हमको लड़ना था।

दानवेन्द्र उर बीच शूल बनकर गड़ना था।
धोखा हमको दिया दक्षिणी राजाओं ने।
जिन्हें किया आक्रान्त दानवों के भावों ने।
होकर रक्षित राज्य हमारे ही नृपवर के।
गये शत्रु की ओर वंचना हमसे कर के।
हमने भी संग्राम किया उनसे मनमाना।
तारक से भी पूर्व हनन उनका ही ठाना।
घमासान रण छिड़ा नर्मदा के प्राङ्गण में।
त्राहि त्राहि मच गयी प्राण-लोलुप अरिगण में।
उखड़े उनके पाँव उन्हे यों मारा हमने।
दे खड्गों की धार सहज ही तारा हमने।
लगा दिया सब भाँति शत्रु को चूना हमने।
वाण अग्निमय छोड़ आग में भूना हमने।
भालों से उर छेद द्रोह का स्वाद चखाया।
तप्त धरा को रक्त पिला कर तृप्त बनाया।
रुद्रदेव को मुंडमाल हमने पहनायी।
नृत्य-कला अभिराम रुण्ड की उन्हें दिखायी।
गिद्धों को आहार दिया हमने जी भर कर।
गरम रुधिर से भरा जननि चंडी का खप्पर।
अर्द्ध लक्ष ये मिले इन्हें बन्दी कर लाये।
श्रीगणेश में विजय मिली हम सब हरषाये।"

सैनिकगण जब गये ध्यान नृपवर का आया।
उनका हृदय विषाद-व्यथा मानस में लाया।
एक शिला पर बैठ मधुर वीणा-वादन-रत।
बने सहज मुनिनाथ नृपतिवर-आवाहन-रत।
दिव्य महारथ मध्य दिखे तब नरपति आते।
उत्कण्ठा के वेग-सहन की शक्ति न पाते।
मुनि-चरणों के पास निराला वह रथ उतरा।
मानो हो विहगेश रमापति-पद-ढिग बिखरा।
रथ भीतर से निकल प्राप्त-आवेग अचानक।
गिरे दण्ड की भाँति चरण पर मानव-नायक।

होकर भी अति विरत, मानवी मन के ज्ञाता ।
विचलित से हो गये जगत-जीवन के त्राता ।
वीणा कर से गिरी नहीं दृग उस पर डाला । ५८०
कंधे से गिर रहे वसन को भी न सँभाला ।
उठे त्वरा के साथ नृपति को शीघ्र उठाया ।
अति अनुराग समेत गले से उन्हें लगाया ।

नृप-लोचन का कोण सजल मुनिवर ने देखा ।
उपालम्भ सा मौन उसी में अंकित लेखा ।
सहृदयता से किया ज्ञान का निर्मल शासन ।
निज-आसन के पास दिया उनको वर आसन ।

नृपति-माण्डलिक प्रणतदण्डइव अवनि-पतित थे ।
उनका स्नेह विलोक मुनीश्वर चलित द्रवित थे ।
एक-एक को उठा प्रेम से कण्ठ लगाया । ५९०
आसन के हित विविध शिलाओं को दिखलाया ।
नृपति-मण्डली संग महामुनिवर यों राजे ।

ग्रह तारकगण मध्य बृहस्पति ज्यों छवि छाजे ।
गिरि प्रान्तर वह दिखा सकल जनसहित विमंडित ।
ज्यों हो निर्मल ताल कलित उत्पल-समलंकृत ।

आसपास द्रुमपंक्ति गिराती थी सुमनावलि ।
यों ही उर-उल्लास दिखाती जाती थी बलि ।
पवन-परस कर प्राप्त लताएं हिल जाती थीं ।
वे भी दृश्य विलोक प्रीति से खिल जाती थीं ।

झरने ने संगीत किया झंकृत रस-चञ्चल । ६००
उठी कोकिला कूक परम मद से हो विह्वल ।
मानों था यह प्रश्न-"नृपति क्यों यह कोलाहल ?
कानन था यह शान्त, शान्तजन का वास-स्थल ।

"गुर्जर पोतागार बना रणकेन्द्र हमारा ।
जहां हो गया प्राप्त यान, सेना-दल सारा ।
करने की अभियान हो चली थी तैयारी ।
तब तक ही हे देव ! आ गयी याद तुम्हारी ।

यत्न किया अविराम पाँव पीछे न हटाऊं ।
दानव के संहार हेतु बस आगे जाऊं ।
किन्तु मिला अनिवार्य तुम्हारा आवाहन सा।
सका न आना रोक पड़ा ऐसा बन्धन सा ।
चिन्तित हूं, आशीश न शृङ्गी ऋषि का पाया ।
मिले मुझे उत्साह आप दे दो यदि छाया ।
ईश्वर हो अनुकूल देव का आश्रम पाऊं ।
तो तारक को बाँध अवध नगरी में लाऊं ।"

यों कह कर हो गये मौन कोशल के अधिपति ।
मुनि आनन की ओर निखरते रहित पलक-गति ।
मुनि रसना से कढ़ी परम पावन तब वाणी ।
नृपति-प्रतीक्षा-अन्तकारिणी अति कल्याणी ।
" हे नृप ! परम प्रसन्न आज मैं तुमसे मिलकर ।
करो श्रवण दे ध्यान सभी प्रश्नों का उत्तर ।
आया अवसर उचित बात सारी कह डालूं ।
रखूं न कोई भेद सत्य-सेवक-व्रत पालूं ।
नृप का धर्म कठोर दण्ड का वितरण करना ।
दस्यु जनों का दर्प और दुस्साहस हरना ।
तुमने उसके हेतु उचित पग आज उठाया ।
सेवा-भाव-विकास देख मैंने सुख पाया ।
साधुवाद के योग्य महीपति वह हितकारी ।
व्यक्ति व्यक्ति के खेद-ताप का जो संहारी ।
जितना ही असमर्थ, दीन हो व्यक्ति प्रजाजन ।
उतना ही वह कुशल नृपति-सेवा का भाजन ।
राजकुमारी एक व्यक्तिमात्र ही नहीं है ।
राजा की वह सहज कृपा - पात्र ही नहीं है ।
वह समाजकृत सकल आत्मसम्मान-मूर्ति सी ।
आत्म-तृप्ति साकार, सरल, सुकुमार पूर्त्ति सी—
उचित तुम्हारा रोष उचित आक्रमण असंशय ।
सभी भाँति अवरोध्य नीच दानव-बल-संचय ।
किन्तु कहूँगा सत्य समस्या समझ न पाये ।

दानवत्त्व अति प्रबल अभी पहचान न पाये ।

दानवत्त्व का वेग अधिक दानव से जानो । ६४०
दानवत्व का क्षेत्र अधिक दानव से मानो ।
दानवत्व-रण-चरण अधिक भयकारक होगा ।
दानवत्व संहरण अधिक श्रमकारक होगा ।

दानव-वध के हेतु तुम्हें तारक ढिग जाना ।
दानवत्व को किन्तु पास अपने ही पाना ।
तुमने किया परास्त दानवेश्वर तारक को ।
किन्तु न पाये जीत दैत्यता जग-मारक को ।

चले छेड़ संग्राम, जीत तारक को लोगे ।
दानवत्व को किन्तु पूर्ववत जीवन दोगे । ६५०
तो न कटेगा मूल डाल ही कट पायेगी ।
बना रहेगा शूल न विपदा छँट पायेगी ।

तारक-जीवन-अन्त कभी तुम कर न सकोगे ।
कार्त्तिकेय का कार्य ग्रहण कर व्यर्थ थकोगे ।
विष-तरु शाखा-मूल-सहित जब अचल रहेगा ।
कौन तुम्हारे इस प्रयास को सफल कहेगा ?

दानवत्व-आक्रान्त तुम्हारा कोशल सारा ।
हरण-धर्म में लीन व्यक्ति हित का हत्यारा ।
भोग-भावना-मत्त कर्म्मचारीगण तस्कर ।
मद्य, द्यूत, व्यभिचार मात्र के रसिक निरन्तर ।

पहले कर लो शुद्धि अमित दूषित मन मन की । ६६०
निर्मल कर लो बुद्धि राज्य भीतर जन-जन की ।
दानवत्व का लोप प्रथम सम्पन्न बनाओ ।
शोणित नगरी ओर तभी तुम चरण बढ़ाओ ।

दानवत्व-लोपिनी शुद्धि किस ठाँव मिलेगी ।
जिसके बिना कदापि शान्ति-कलिका न खिलेगी ।
करता हूं अब कथन ध्यान से सुन लो राजन् ।
उसके ही अनुसार कर्म्म-पथ चुन लो राजन् ।

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर-संचालित—

दानवत्व का सैन्य बिना व्यय निशि-दिन पालित।
सम्भव नहीं कदापि सहज उस पर जय पाना।
दमन-मार्ग में विघ्न भयंकर आते नाना।

और, विलक्षण एक बात उसकी बतलाऊं।
उसकी कितनी शक्ति, सरल अनुमान कराऊं।
स्थूल दृष्टि से दीख नहीं पड़ती वह सेना।
करना उससे प्रीति आपदा सिर पर लेना।

ज्वाला परम प्रचण्ड छिपी उसके उर भीतर।
प्राणी-जीवन-सार चाट जाती जगती पर।
सतत आक्रमणशील निगलने को मुँह बाये।
मिले नया आखेट—निरन्तर ताक लगाये।

इस प्रदाह की एक मात्र हारिणि, उपकारिणि।
केवल करुणा देवि सहज दृग-जल-उदगारिणि।
गङ्गा ही की भाँति जगत-जीवन-मलहारिणि।
मरुप्रदेश में नव हरीतिमा-रस-संचारिणि।

करुणा हो न विमूढ़, मोह के संग समन्वित—
होकर जो दनुजत्व-पक्ष-पोषण में दे चित।
उस करुणा का सलिल दाह अधिकाधिक देगा।
उसमें धोखा गूढ़ मूढ़ बनकर जग लेगा।

करुणा-शक्ति अजेय, सत्य की यदि सहयोगिनि।
पीड़ित-हित-संन्यास-धारिणी भोग-वियोगिनि।
खान-पान औ ध्यान सकल पीड़ित तक सीमित।
वहीं आत्म-अस्तित्व विसर्जित - स्वार्थ-असीमित।

मातृ - भाव-सम्पन्न विमल सेवाव्रत-धारिणि।
सन्तति को दे प्राण मरण-आवाहनकारिणि।
मरण-रूप विश्राम-ग्रहण-अविरत परिहारिणि।
ले नव-नव संघर्ष निरन्तर जीवन-चारिणि।

करुणा यही उदार सदाचारिणि विस्तारो।
व्यक्ति व्यक्ति के क्लेश इसी को ले संहारो।
कोशल में प्रज्वलित अनय का जो अंगारा।
पाकर करुणा-वारि राख होगा वह सारा।

बतलाता हूं अस्त्र, ग्रहण उसको करो । ७००
भय-शंका का भाव दैत्य उर में भरो ।
जो हिंसा का धाम वही शंकित सदा ।
होगा उसमें भीति-भाव अंकित सदा ।
दैत्य-मनोबल सकल कमल उत्फुल्ल पर ।
संशय प्रबल तुषार-सदृश ही नाशकर ।
संशय-राहु-विलीन मानसिक चन्द्र हो—
तो दानव-कुल सहज बिना मारे मरे ।
तूल वृन्द को आग जला क्षण में सकी ।
पावक को हिमराशि गला क्षण में सकी ।
त्यों ही यदि सन्देह - गरल धँस जायगा । ७१०
दानव-हृदय विनाश सहज कर पायगा ।
कीट दारु को भेद खोखला कर सका ।
त्यों ही संशय दैत्य-शक्ति को हर सका ।
जब प्रचण्ड सन्देह तरणि सा आयगा ।
दैत्य-गर्व-तम घोर आप कट जायगा ।
हिंसा का अवलम्ब अगर तुमने लिया ।
तो संशय का मार्ग कण्टकित ही किया ।
संशय कोयल बोल कहां तब पायगी ?
जब करती घन नाद तोप घहरायगी ।
पा हिंसा-आघात कड़ा पाषाण सा । ७२०
होगा दानव-हृदय रोष-अघ-खान सा ।
जम पायेगा नहीं बीज संशय कभी ।
हो पायेगा नहीं दैत्य का क्षय कभी ।
जीवन का जो मूल उसी को त्यागता ।
शाखा-दल-प्रति दैत्य सदा अनुरागता ।
दुर्बल हो वह जहां वहीं आघात हो ।
तो उसका आयास-विनैव निपात हो ।
भ्रम-आच्छादन-गर्त्त, जहां दानव खड़ा ।
वह आच्छादन हरो हृदय को कर कड़ा ।
निरवलम्ब हो दनुज पतित हो जायगा । ७३०
अपने मुँह की अनायास ही खायगा ।

जग-रचना का कार्य्य कुशल विधि ने किया।
पूर्ण किसी को भी न कहीं होने दिया।
तुम्हें दया, सन्देह दनुज को दान कर—
विधि ने अपनी नीति रखी अभिमानहर।

विधि-करुणा के पात्र तुम्हीं माने गये।
पियो दया का अमृत योग्य जाने गये।
करुणा-सीढ़ी सुघर चढ़ायेगी तुम्हें।
अमर महापद ओर बढ़ायेगी तुम्हें।

विधि ने संशय दिया दनुज के नाश हित।
पावन चिन्तन-भाव-विलास-विकास-हित।
मानव-पद की ओर अग्रसर हो चले।
मानव से फिर अमर बने फूले-फले।

दानव को दो दान दया का सत्यमय।
ले उसका अवलम्ब चले संशय सभय।
कलिका को यदि वारि नहीं मिल जायगा।
तो उसका किस भाँति हृदय खिल पायगा?
दया देव का धर्म्म, मनुज की साधना।
वही दनुज के हेतु पहेली-भावना।
बनो साधना-मग्न देव साह्लाद हों।
दानव के भी विगत प्रमाद-विषाद हों।

विकसित व्यक्ति समाज-शक्ति वर्द्धित कर देगा।
बन बलवान समाज रोक दनुजत्व सकेगा।
दानवत्व का उदय विलय में परिणत होगा।
शान्ति-रूप नभकुसुम सहज करतल-गत होगा।

दानवत्व का नाश अगर यों हो जायेगा।
अनायास ही दैत्य ह्रास अपना पायेगा।
होगा जब जलहीन तरणि-कर-तप्त सरोवर।
आप मरेगा मीन व्यथित अति तड़प तड़प कर।

फिर भी, जीवन शेष दनुज का यदि रह जाये।
क्यों मानव बलवान व्यर्थ उससे भय पाये।
दानवत्त्व का अंत अस्त्र जो कर डालेगा।

क्यों न वही अविलम्ब दनुज को भी पालेगा।
मानव जीवन-मध्य शक्ति का स्रोत बहाये।
हरण-वृत्ति कर त्याग कर्म में चित्त लगाये।
हिंसात्मक संग्राम व्यर्थ दानव से करना।
खाकर धक्का एक आप ही उसको मरना।

दानव मानव देव विलग होकर मिले।
मिल कर होते विलग सुमन जिससे खिले।
यह क्रीड़ा अभिराम निरन्तर ही चली।
मंजु लता की भाँति मधुर फल ही फली। ७७०

तज कर सैनिक साज समर यह रोक दो।
व्यर्थ प्राणियों को न विपद में झोंक दो।
घबराने से काम न होगा एक भी।
आने ही पर समय क्लेश कटते सभी।
जिनको बंदी बना यहां भेजा अभी।
कर दो उनको मुक्त त्याग संशय सभी।
करुणा सहज स्वभाव, उसे मत छोड़ दो।
देगी अमित प्रभाव, न नाता तोड़ दो।

राजनीति की चाल सभी अब त्याग दो। ७८०
मानवता की वेलि खिले अनुराग दो।
क्रोधानल का ग्रहण गाँठ का ले चला।
प्रेम-बीज का वपन सौगुना दे चला।
किया जिन्होंने द्रोह मित्र हो जायँगे।
उनको करो स्वतंत्र बँधे फिर आयँगे।
करुणा का कण एक उन्हें अब दान दो।
वे सब होंगे क्रीत दास ध्रुव जान लो।

शान्ता को आपदा-ग्रस्त मत मानना।
दानवपति आतंक-त्रस्त मत जानना।
क्यों शारदा विषाद-व्यस्त हो जायगी? ७९०
कैसे अपना तेज अमल खो पायगी?
मेघाच्छादित चन्द्र अमल ही हो कढ़ा!

अमावदन से निकल धवल ही हो बढ़ा।
शान्ता लेकर सुयश यहां जब आयगा।
वर्षा सी नव इन्द्रधनुष-छवि पायगी।"

यों कह मुनि ने तनिक विराम-प्रवृत्ति दिखायी।
जिज्ञासा नृप-हृदय-भाव-प्रति दृग में छायी।
बोले अवसर जान नृपति, "हे मुनि, विज्ञानी।
मुझ चातक के हेतु बनो स्वाती-घन दानी।
मुझको हिंसा और अहिंसा भेद बताओ।
संशय-निधि में मग्न मुझे प्रभु पार लगाओ।"
एक क्षीण मुसकान अधर पर मुनि के आयी।
ज्ञान भरे ये वचन सहज अनुगत सा लायी।

"हे नरेन्द्र गुण-खानि, कथन करता हूं सत्त्वर।
संशय सकल समूल हरण करता हूं सत्त्वर।
प्रश्न तुम्हारा उचित, मुझे भी है सब कहना।
श्रोता हो जब योग्य मौन क्यों मुझको रहना?
प्रकृत अहिंसा और प्रकृत हिंसा अनुमानो।
विकृत अहिंसा और विकृत हिंसा पहिचानो।
उलझी है जो गाँठ सुलझ जायेगी छन में।
निर्मल सत्य-प्रतीति-उदय लायेगी मन में।

प्रकृत अहिंसा त्याग और सेवा की भूखी।
जीती पीकर वायु, पत्तियां खाकर सूखी।
लोकाराधन-निरत पहर आठों वह देवी।
अपनी तनिक न याद, विश्व-पद की वह सेवी।
त्याग अधिक अधिकार विमल उपकार बढ़ाती।
एक मात्र उपकार-मध्य अधिकार बढ़ाती।
ममता का संहार रात दिन करती रहती।
उसे मारने हेतु आप ही मरती रहती।
जितने अणु-परमाणु परम-परमाणु सूक्ष्मतर।
परम-परम-परमाणु उत्तरोत्तर ही लघुतर/

उनसे भी अति सूक्ष्म ब्रह्म सब भाँति अगोचर।
मग्न उन्हीं में प्रकृत अहिंसा निज को खोकर।
क्यों पाये परिताप अहिंसा का अनुयायी।
उसकी प्रणय-समाधि उसी में जब बन आयी।
जीवन उसके हेतु केलि की सरस थली इव।
उस आलबाल निमित्त ललित अरविंद कली इव।

हिंसा प्रकृत-स्वरूप अहिंसा का न विरोधी।
मारकाट की राह यद्यपि उसने ही शोधी।
रण-यात्रा को प्रणय धर्म उसने ठहराया। ८३०
भृकुटि-भंग के संग खड्ग का रंग दिखाया।
"जितनी हो निज भूख और निज आश्रित जन की।
उतने के हित छूट तुम्हें सब काल ग्रहण की।"
कहती यह निर्दोष प्रकृत हिंसा रह रह कर—
"ले लो अपना भाग रक्त-निधि में बह-बह कर।"
भुला देह का ध्यान शीश हाथों में लेकर।
चलती हिंसा प्रकृत विश्व को कम्पन देकर।
प्रलयंकरी कराल अमित प्राणी-संहारिणि।
स्वार्थ अमृत के हेतु विश्वनिधि-पीड़ा कारिणि।
"संग्रह का तज ध्यान स्वत्व भर अपना ले लो। ८४०
कौन सकेगा रोक काल से भी खुल खेलो"—
कहती यह ललकार प्रकृत हिंसा सब जग से।
कहीं न ब्रह्म-विरोध, स्वर्ग भी लो इस मग से।

ब्रह्मभाव प्रति द्रोहकारिणी विकृत अहिंसा।
मानस-अघ-कर्दम विहारिणी विकृत अहिंसा।
कूटनीति-छल-छद्मचारिणी विकृत अहिंसा।
अमृत रूप में विष-प्रचारिणी विकृत अहिंसा।
विकृत अहिंसा सतत योग को कोसा करती।
कपट, द्वेष में लीन भोग को पोसा करती।
काम-वासना-अनल-ज्वाल में जलती दीखी। ८५०
निंदनीय मद लोभ मोह में पलती दीखी।

प्रगट रूप में नाट्य क्षमा का करते चलना।
अंतर कायर भीरु भाव से भरते चलना।
उसका कार्य अनन्त ठगी का जाल बिछाना।
लौकिक लाभ निदान किसी विधि से पा जाना।
नम्र भाव को छोड़ मलिन अभिमान बढ़ाती।
उदर-परायण अमित जिसे भी पाती खाती।
विकृत अहिंसा विकृत भावना की परिपोषक।
अनाचार में मग्न दानवी जावन-शोषक।

८६० हिंसा विकृत सदैव ब्रह्म प्रति द्वेष बढ़ाती।
प्रकृति-प्रेम भी त्याग नियम उसका न चलाती।
मिथ्या चिन्तन मनन और मिथ्या अभिलाषा।
उसको मिथ्या कर्म प्राप्त मिथ्या ही आशा।
जितना उसका स्वत्व अधिक उससे भी लेना।
संग्रह ही में चित्त प्राण-मन अविरत देना।
संग्रह के हित अमित प्राणियों का वध करना;
उसका जीवन लक्ष्य मारना आप न मरना।
शौर्य, पराक्रम का अभाव उसमें न दिखाया।
किन्तु बिना सद्भाव व्यर्थ ही सब हो आया।
८७० चोर, प्रवंचक, नीच जगत में वह कहलायी।
निन्दा औ अपकीर्त्ति नित्य ही उसने पायी।
किससे पीड़ित, व्यथित लोक ने शान्ति गँवायी।
किसने ले शिशु-प्राण सती-मरजाद मिटायी।
किसके प्रेरित अग्निकांड में देश गये जल।
केवल हिंसा विकृत, विकृत हिंसा वह केवल।
प्रकृत अहिंसा लक्ष्य सूर्य्यवंशी नृपगण का।
रघु दिलीप इक्ष्वाकु प्रतिष्ठित प्रिय जन मन का।
लेते थे अवलम्ब प्रकृत हिंसा का निर्भय।
जब होती थी बाढ़ विकृत हिंसा की दुर्जय।

८८० विकृत अहिंसा शोचनीय अतिशय हे राजन्!
करती वह सब राजशक्ति का क्षय हे राजन्!

दृढ़ संगठन विशाल नहीं वह चलने देती।
आयी विपद कराल नहीं वह टलने देती।
हिंसा विकृत असीम हानि की खान जान लो।
उसे सदैव समाज-देह का रोग मान लो।
विकृत अहिंसा हानि नहीं उतनी कर पाती।
जितनी हिंसा विकृत सहज अपने सँग लाती।
अखिल विकृति का दमन धर्म नृप का, नेता का।
मिली न जो यह विजय निरर्थक जय जेता का।
हो यदि विकृति-विनाश प्रकृत हिंसा गत होगी। ८९०
प्रकृत अहिंसा-प्रगति विश्व में अक्षत होगी।
मानवेन्द्र, जो प्रश्न किया तुमने रसदायक।
उसका उत्तर उचित हो गया सुमति-विधायक।
तदपि प्रश्न अति गूढ़ भावना से प्रेरित था।
कहता हूं संकेत तुम्हारा जिसके हित था।"
बोले नृपवर, "देव, सत्य ही मुझको शंका।
होना मुझको धन्य प्राप्त कर मति अकलंका।
जान सकूं निज धर्म्म यही अभिलाषा मेरी।
लाभ करूँगा बोध आप से आशा मेरी।"

नृप-आवेदन-भाव-परम-पुलकित मुनि-नायक। ९००
बोले मंजुल वचन ज्ञान-गर्भित रसदायक।
"अनुचित दुविधा-विकृत भावना ढोते रहना—
उचित न कभी नृपेन्द्र! मनोबल खोते रहना।
दानव ही के हेतु उचित संदेह विषैला।
रखो न अपने पास वेदना का यह थैला।
अपना सब सन्देह दान दानव को कर दो।
निज कंधों का भार उसी के सिर पर धर दो।
तारक-हिंसा-विकृत वृद्धि जो होती जाती।
सूर्य्यवंश-यश हेतु अमा की पदवी पाती।
क्यों उसका संहार प्रकृत हिंसा के द्वारा— ९१०
करें नहीं हम लोग? प्रश्न यह नृपति तुम्हारा।

छिड़ा प्रसंग अनूप चित्त एकाग्र बनाओ।
कहता हूं जो बात हृदय में उसे बिठाओ।
करुणा ही में विजय, हार हिंसा में होती।
हिंसा यदि कंकाल मनोहर करुणा मोती।

प्रकृत अहिंसा मार्ग सदा रघुकुल ने माना।
शासन का भी नियम उसी से प्रेरित जाना।
सत्य प्रेम आदर्श ब्रह्मनिष्ठा से मंडित।
माना अस्त्र अमोघ सतत सब काल अखंडित।
होने पर अनिवार्य प्रकृत हिंसा-अनुसारी।
करते थे संहार शत्रु का वे रणकारी।
प्रकृत अहिंसा-पंथ तदपि वे छोड़ न पाये।
लचा तनिक सा शत्रु लचे वे आप दिखाये।

उनकी अंतर-शक्ति उन्हें रक्षित करती थी।
विकृत-अहिंसा-रति न उन्हें भक्षित करती थी।
वे पाये पहचान प्रकृत हिंसा का अवसर।
फिर न रुके विकराल काल से भीषण होकर।

रक्षित हुए सुरेन्द्र, राजबल का मद छाया।
तारक-विजय-प्रमाद पतन के दिन ले आया।
विकृत अहिंसा-रात घिरी फैली अँधियारी।
दिन के अन्धे अधिक बने अन्धे अधिकारी।

तारक ने संगठन किया अपना बलशाली।
देश-देश में गुप्तचरों की सेना पाली।
प्राप्त किये सब भेद, जहां निर्बलता जानी।
कर आक्रमण कठोर विजय करने की ठानी।

छाया था आलस्य और उन्माद यहां पर।
प्रकृत अहिंसा दूर प्रकृत हिंसा न यहां पर।
चूके कितनी बार प्रकृत हिंसा के अवसर।
तारक-दानववृन्द गये चढ़ते ही सिर पर।
वीरों में अति श्रेष्ठ कोशलेश्वर उपकारी!
स्वल्प तुम्हारा दोष अधिक दोषी अधिकारी।
ढीली पाकर रास बहक कर दौड़े घोड़े।

थामे गये न शीघ्र पीठ, पर पड़े न कोड़े।
नेता की लघु चूक हानिकारक हो जाती।
जनता का संहार अवांछित भी कर पाती।
शान्ता का अपहरण न सपने में भी होता।
होकर अमित अचेत नहीं जो कोशल सोता।
सङ्कट ऐसा विषम न जो कोशल पर आता।
यह अभाग्य-हत राष्ट्र अभी सोता रह जाता।
आया नव जागरण विकृत हिंसा सब भागी। ९५०
जगा वीर रस उग्र प्रकृत हिंसा-अनुरागी।
कायर, निष्क्रिय भाव विकृत हिंसा का सङ्गी।
सेवा-निरति-अभाव विकृत हिंसा का सङ्गी।
भोग-मग्नता-चाव विकृत हिंसा का सङ्गी।
मिथ्या कर्म-स्वभाव विकृत हिंसा का सङ्गी।
ये दुर्गुण भग जायं प्रकृत हिंसा का स्वागत!
ये न राष्ट्र को खायं प्रकृत हिंसा का स्वागत!
खल संहारे जायं प्रकृत हिंसा का स्वागत!
स्वार्थी मारे जायं प्रकृत हिंसा का स्वागत!

दक्षिण का नृपवृन्द हराया रण में तुमने। ९६०
यश अपने ही योग्य कमाया रण में तुमने।
वैरीगण रणधीर धनुर्धर वर वीरों का।
गये पराक्रम जान वार पाकर तीरों का।
विकृत अहिंसावान नहीं श्रद्धा अधिकारी।
पति पौरुष से हीन त्याग देती प्रिय नारी।
अनुगामी उस ठौर जायगा श्रद्धा लेकर।
जहां मिलेगी शक्ति सुरक्षा उसको देकर।
वे अश्रद्धा-विवश छोड़ तुमको भागे थे।
तारक की अन्याय-नीति-प्रति अनुरागे थे।
फिर से श्रद्धावान तुम्हारे अनुगत होंगे। ९७०
आर्य्य-भाव-अनुकूल सत्य-सेवा-रत होंगे।
यह सब संभव किन्तु तभी होगा हे नृपवर!
करुणा का व्यवहार करोगे जब तुम सत्वर।

विजय अनन्तर प्रेम जभी तुम झलकाओगे।
तभी भक्ति-उपहार-रूप प्रिय फल पाओगे।

होगे यदि अनुदार प्रकृत हिंसा न रहेगी।
उसका करके अंत विकृत हिंसा विचरेगी।
उससे पाकर जन्म, द्वेष विकराल बढ़ेगा।
पतन ओर ही विकल तुम्हारा चरण पड़ेगा।

९८० तारक का सन्देह बढ़ाना इष्ट हमारा।
उसका मार्ग प्रशस्त किया इस रण ने सारा।
उसे हुआ फिर ज्ञात, बाहु बलवान तुम्हारे।
होगा शीघ्र सशंक क्षमा-गुण जान तुम्हारे।

क्षमा शक्ति के साथ जभी दिखलायी पड़ती।
तीखे शर की भाँति दैत्य के उर में गड़ती।
प्रेत-सदृश सन्देह उसे इस भाँति जकड़ता।
कभी न पाता मुक्ति बिना मारे ही मरता।

भूलो यह न नरेन्द्र प्रकृत हिंसा साधन भर।
फूलो मत यह सोच पा गये क्षयहारक घर।

९९० प्रकृत अहिंसा ओर गमन करना ही होगा।
वहीं परम विश्राम, वहीं चलना ही होगा।

प्रकृत अहिंसा ओर चरण यदि तुम डालोगे।
अनायास आशीस अमरगण का पा लोगे।
सेवक होंगे देव सिद्धि चेरी सी होगी।
नित्य बढ़ेगी शक्ति वृद्धि की ढेरी होगी।

मानव-शौर्य महान प्रगट करुणा में होता।
चल हिंसा की ओर सहज विचलित वह खोता।
करुणा ही में वास अखिल प्राणी-जीवन का।
करुणा ही तो धर्म प्रगति उन्नतिमय-मन का।

१००० प्रकृत अहिंसा-रूप दिव्य करुणामय होकर।
पाओगे तुम विजय बीज श्रद्धा का बोकर।
क्षमा-भाव कर ग्रहण शक्ति की दीप्ति दिखाओ।
बन हिंसा-पथ-पथिक न निज आसक्ति बढ़ाओ।

करुणामय का धाम छोड़ हम जग में आये।
देखें दृश्य मनोज्ञ लालसा उर में लाये।
उपवन यह रमणीय कुसुममय, कंटकमय भी।
मिला अनन्त विनोद, हास, रोदन, विस्मय भी।
यात्रा का उद्देश्य चित्त बहलाना केवल। १०१०
भिन्न-भिन्न रसस्वाद ग्रहण कर पाना केवल।
ले विचरण-आह्लाद भवन में आना होगा।
करुणामय में लीन हमें हो जाना होगा।
चली चंद्र की किरण विश्व में विहरण के हित।
शैल, शृंग, तरुशीश, समल धरणी प्रति दे चित।
संभव यह न कदापि विचरती ही रह जाये।
महि, तरु, गिरि को छोड़ चंद्र में फिर न समाये।
जिनका अतिशय मोह विकृत हिंसा-प्रति वर्द्धित।
क्या अचरज यदि पाप कर्म में वे देते चित।
लेकर अनुभव उचित बढ़ेंगे वे भी आगे।
घोर आलसी भी न सो सके सदा अभागे।
धीमी उनकी चाल, निराशाजनक न तो भी। १०२०
पायेंगे मति शीघ्र कभी वे भी गति-लोभी।
सघन अमा का तिमिर पूत शशि को ले आता।
विश्व न पाता ज्योति धन्य फिर भी हो जाता।
उनकी हिंसा विकृत, अहिंसा विकृत बनेगी।
क्रमशः हिंसा प्रकृत ओर फिर प्रगति करेगी।
पाकर क्रमिक विकास सुगति की सीढ़ी पर यों।
प्रकृत अहिंसा भी न उन्हें होगी रुचिकर क्यों?
निंदनीय, अति अधम उन्हें हम सब कह लेवें।
जितनी भी अपकीर्त्ति सभी उनको दे देवें।
शोचनीय मैं तदपि नहीं उनको कहता हूं। १०३०
उनके प्रति विश्वास और आशा रखता हूं।

समय आ गया, दैत्य-लोक जाऊँगा।
तारक को संशय - निमग्नता दूँगा।"
यों ही कह कर खड़े हो गये मुनिवर।

खड़े हो गये नृपति-संग सब अनुचर।
गहरा पड़ा प्रभाव सभी के मन पर।
मन के झलके भाव विमल आनन पर।
कार्य - सिद्धि - विश्वास मूर्त्त हो आया।
सजल विलोचन-मध्य रुचिर-छवि लाया।
पद-पद्मों की धूलि धरी सबने सिर।
सबने किये प्रणाम प्रीति से फिर-फिर।
सब के हित आशीश सुमति-संचिति हित।
मुनि ने अपने हेतु प्रगति की निश्चित।

वीणा कर में लिये मंजु मुसकाते।
दीखे तब मुनिनाथ वहां से जाते।
नयनों ने अनिमेष सुछवि अवलोकी।
जब लौं गति ने राह न उनकी रोकी।
नृप ने मुनि-आदेश हृदय में धारा।
परिवर्त्तित कर दिया कार्यक्रम सारा।
चिन्तानल में प्राण जले जाते थे।
तदपि नीति पर अटल चले जाते थे।

बंदी छोड़े गये, शत्रु पर रोकी गयी चढ़ाई।
मानी सबने नृप की आज्ञा बात परन्तु न भायी।
गुर्जर पोतागार भेज कर अपने सैनिक सारे।
चित्रकूट में रहे अवधपति श्रान्त, क्लान्त, मनमारे।

———

चतुर्दश सर्ग

ज्यों-ज्यों बढ़े मुनीश पंथ में आगे-आगे।
बंदी मिलते गये मुक्त होकर अनुरागे।
कोशलेन्द्र से विजित महीपति मिलने आये।
कृतज्ञता-कृत वारि दृगों में जो भर लाये।

मुनिवर ने व्याख्यान दिये अनुमान सुअवसर।
दशरथ के गुणगान किये बहु भाँति सुरुचिकर।
शान्ता-हरण-प्रसंग सकल क्रमशः समझाया।
उनका हृदय-विषाद मर्म्मवेधक बतलाया।

"रक्षित जितने राज्य विपद में बनें सहायक।
हो सकता सम्राट तभी उनका भी नायक। १०
क्लेश-समय में द्वेष मानना उचित नहीं था।
भ्रम में पड़ कर द्रोह ठानना उचित नहीं था।

कोशलेश ने तदपि कृपा ही की तुम सब पर।
मेरा कहना मान मुक्ति दी तुमको सत्वर।
उनका जय-जयकार करो उनके गुण गाओ।
उनके अनुचर बनो, काम उनके नित आओ।

दानव-सँग सम्बन्ध तुम्हारा चल न सकेगा।
उस साँचे में रूप तुम्हारा ढल न सकेगा।
दानव तुमको कुगति-गर्त्त में ले जायेंगे।
मान वेन . त्राण तुम्हारा कर पायेंगे। २०

यों करते उपदेश शक्ति मन-मन में लाते।
कर अनुरक्ति-प्रसार भक्ति जन-जन से पाते।
व्यक्ति-व्यक्ति-उर मध्य आर्यता-भाव जगाते—
मुनि जाते थे भक्त-नयन-जल बीच अन्हाते।

बीते दिवस अनेक छोर दक्षिण का आया।
महासिंधु अभिराम दृगों आगे लहराया।
दीखे पोत अनेक चतुर्दिक आते जाते।
सागर का अभिमान धूलि में सकल मिलाते।
लंका-सम्मुख यान विविध जाते रहते थे।
शोणितपुर की ओर कई यात्रा करते थे।
चलने को तैयार एक था शोणितपुर को।
भाया वाहन अमित वही मुनिवर के उर को।
पोतेश्वर ने भाव वदन-अंकित पहचाना।
अवनी-तल पर दिव्य पुरुष कोई अनुमाना।
आगे बढ़ कर आप ले गया सहित समादर।
मानो गमने एक राशि में चंद्र-दिवाकर।

फैला दिव्य प्रकाश यान के भीतर जगमग।
लोग खड़े हो गये विवश सब के पग डगमग।
सब को दे आशीश विराजे वर आसन पर।
जन-जन अनुरति-पात्र दृष्टि के केन्द्र मुनीश्वर।
उषाकाल था अरुण पूर्व दिशि अंक-लसित थे।
इधर पोत में तेज-सदन मुनिपति विहसित थे।
तारकगण-नभ मध्य तरणि आभा-विचलित थे।
यात्रीगण भी इधर चकित, ऐश्वर्य-दलित थे।
वाष्प-प्रचालित यान चला अतिशय द्रुतगामी।
मुनि को भायी अरुणप्रभा जल-अंतरयामी।
कामांगना ललाम नीलवसना मनमोहन।
दीखी वह अभिराम वरुण वामा सी शोभन।

आयी संध्या नवल रंजना नभ ने पायी।

छँटते-छँटते छँटी श्वेतिमा मंजुल आयो। ५०
ताराओं से कान्ति सरस शोभा शशिकर से—
मिलने पर रस-शून्य शून्य में भी रस बरसे।

बिहँस रहा था व्योम चन्द्र तारकमय पाकर।
ज्यों विकसित हो हृदय लाभ कर मित्र रसाकर।
या वह कोई हाट लगा था जिसमें शशिकर—
बना जौहरी बेच रहा था रत्न मनोहर।

या वह मानस झील, हंस-जल-विहग सुशोभन—
जिसमें थे रत चरण सुदर्शन मानस-मोहन।
या वह वृन्दा विपिन संग ले अगणित ग्वाले।
गो-चारणरत दिखे जहां व्रजचंद्र निराले। ६०

या वह कोई कुंज राधिका जिसमें जाकर—
भरती थीं उच्छ्वास दृगों से जल बरसाकर।
या वह रति शशिमुखी केश कर सुमन-अलंकृत।
थी दर्पण देखती सुछविमयि परम उमंगित।

ऊपर था आकाश चित्रता-आलय अविकल।
नीचे दश दिशि दृष्टि जहां जाती जल ही जल।
पारावार अपार वार औ पार न जिसका।
गर्जित आठों याम, खर्व व्यापार न जिसका।

नहीं कोकिला गान नहीं भृंगों का गुंजन।
पपिहे का पी कहां नहीं मोरों का नर्त्तन। ७०
नहीं द्रुमावलि कहीं लता-सुमनावलि हीना।
प्रकृति देवि थी वहां असीमित निधि में लीना।

वहां परम एकान्त रमण नभ औ सागर का।
चलता था अविराम अखंडित निशि वासर का।
सागर ने हृदयेश गगन ही को माना था।
करना उसे विलीन हृदय तल में ठाना था।

आराधना अकाम गगन की करता रहता।
लहरों ही के व्याज पाठ प्रिय पढ़ता रहता!
मुक्तिधाम भी व्यर्थ परिश्रम में क्यों रत था!
कौन परम पद हेतु अम्बुनिधि-अविचल व्रत था! ८०

कभी लालिमा मिली कभी कालिमा गगन से।
फिर भी सागर ने न उतारा उसको मन से।
एक वही था, खेल खेलता था वह जिससे।
निर्जनता के क्लेश ठेलता था वह जिससे।

हर हर हर हर नाद सिंधुवर क्यों करता था ?
क्या हर की अर्चना निरन्तर उर धरता था ?
रौद्र गर्जना निरत 'रुद्र-आराधक था क्या ?
दानवेन्द्र-कल्याण-काममय साधक था क्या ?

यही उग्र भावना जलधि हित लायी बंधन।
ले दैत्यों को संग किया देवों ने मंथन।
रत्नाकर हो गया रत्न से हीन दीन अति।
तो भी गर्वित आज; खलों की नित मलीन मति।

नहीं, उग्र भावना नहीं, यह हृदय-हहर थी।
अपनों ही से मिली हानि से जनित कहर थी।
जिनका ही जयगान किया प्रतिपल निशि-वासर।
किया उन्हीं ने कपट, रुदन करता था सागर।

नहीं, नहीं यह रुदन अब्धि का करुणोत्पादक।
यह था क्रोधोद्गार देव प्रति प्रखर भयानक।
कर के खर षड्यन्त्र हरण कर ली श्री सारी।
क्यों न रुद्र की भाँति बने वह प्रलयंकारी।

नहीं, क्रोध यह नहीं अम्बुनिधि अतिशय शीतल।
कम्बुपाणि द्विज सदृश सरल अति उसका हीतल
जिसमें पाया वास शीतकर ने शैशव में।
हो सकता वह हीन न शीतलता-वैभव में।

अपने प्रियतम रत्न-विरह से पीड़ित होकर।
उच्च स्वर में यही पूछता रहता रोकर।
कब तक मैं निस्सार रहूँगा सार गँवाकर।?
कब होगा फिर नाम सत्य मेरा रत्नाकर ?

नहीं, नहीं, सिन्धु में दीनताभाव नहीं था।
उसमें तो अविराम प्रगट उल्लास सही था।
मथा नहीं जो गया व्यर्थ उसका जग-जीवन।
करता था वह घोष—अमृत का निर्झर मंथन।

छिपे पड़े थे रत्न गर्भ में तब था सागर।
चमके 'जा जग-मध्य बना तब मैं रतनाकर।
ऊर्मि व्याज ही हाथ उठा जलनिधि था कहता—
"त्याग-अचल-उद्भूतपूत यश-झरना बहता।"
उसका ही तो लाल बिलसता था नभ ऊपर।
छिटकी जिसकी कान्ति चतुर्दिक थी मानसहर।
गले लगाने हेतु जिसे ऊपर चढ़ता था।
परम वृद्ध असमर्थ हाय गिर-गिर पड़ता था। १३०

"तप करके अति कठिन लिया मैंने वर प्यारा।
असफलतामय मिले मुझे दारुण खर धारा।
क्या लिखता था यही परम ऊँची लहरों पर—
जलधि मनोहर गान—सफलता जीवन-रस-हर?
नहीं, नहीं, निधि अगम ग्लानि में मज्जित सा था।
दैत्यदेश-सम्पर्क-हेतु से लज्जित सा था।
दानवेन्द्र का सखा भ्रान्त मुनिवर न मान लें।
करता था बहु यत्न, बात जो सत्य, जान लें।

"मेरा ही वह पूत-पूत करता जग लोचन।
मेरी ही कन्यका बसी नारायण के मन। १४०
मेरा ही वह अमृत पी रहे जो निर्जरगण—"
कहताथा हो खड़ा लहर-मिस निधि चंचल-मन।
तारकगण औ चन्द्र सरस बिम्बों के द्वारा।
थे प्रसन्न कर सही कथन जलनिधि का सारा।
बसी जलधि-सौजन्य-भावना मुनि के मन में।
विकसित सुमन-सुगन्धि बसे जैसे उपवन में।

अतिशय चंचलगात बात करती बल खाती।
आती दिखती पास और फिर पीछे जाती।
अट्टहास कर एक अचानक वदन छिपाती।
हाव-भाव के साथ नयी छवि फिर दिखलाती—१५०
तुंग तरंगों-मध्य चन्द्र-किरणावलि-अम्बर।
पहने दीखी एक उन्हें तब नव ललनावर।
मनि का मोहित भाव उसे रंजित करता था।

रँग उसमें अनुराग-कूचियों से भरता था।
ऊँघ रहे थे व्योम-मध्य तारागण, शशिकर।
ऊँघ रहे थे पोत-मध्य यात्री, पोतेश्वर।
जाग्रत स्वप्न-निमग्न ऊँघते थे योगीश्वर।
सहज भाव से पोत चला जाता था द्रुततर।

चन्द्रदेव के संग रात बिलसी मनहारिणि।
पा प्रिय को सउमंग कामिनी ज्यों छविधारिणि।
१६० पौ न फटी वह हाय फटी थी निशि की छाती।
दिन-आगम की भीति, मालमणि टूटी जाती।

आये ताप-निकेत ताप जगती ने पाया।
'जीवन ताप-समेत'—गान किरणों ने गाया।
पोतेश्वर ने समय देख कर लंगर डाला।
खड़ा हो गया यान दीर्घ आकृति बलवाला।

'यात्रा में सविशेष क्लेश तो कहीं न पाया?'—
चालक करता प्रश्न मुनीश्वर के ढिग आया।
एक हास में मृदुल मनोहर उत्तर देकर।
१७० मुनिवर ने रसमूल बात की उससे रुचिकर।

इस विराम उपरान्त चला फिर यान प्रखर-गति।
ग्रहण प्रगति पश्चात इसी विधि से करता यति।
रात छीजती चली दीर्घता दिन ने पायी।
ज्यों-ज्यों शोणितनगर-राह कटती दिखलायी।

शून्य हो गयी निशा दिवस ही दिवस रहा जब।
आया शोणित द्वीप लगे कहने सब जन तब।
दीखा कीर्त्तिस्तम्भ कीर्त्तिमय शोणितपुर का।
कनकाचल आसीन दिखा प्रासाद असुर का।

१८० गत थे चौदह दिवस अन्त यात्रा का आया।
शोणितनगर विशाल भव्यताभवन दिखाया।
आया पोतागार पोत ने आश्रय पाया।
लगे उतरने लोग दृश्य मुनिवर को भाया।

मुनिनायक का चित्र खींच कर अवध दुलारी।

करती थी विश्राम तनिक लेटी सुकुमारी।
अकस्मात ही भाव नवल मानस ने पाया।
जो लोचन में उतर समद लहराता आया।
मुनि का भाल विशाल जटिल वर तिलक विमंडित।
कलित नासिका श्रवण अधर कल कंठ अलंकृत।
वीणा कर में मंजु उपरना पीत कन्ध पर।
पीताम्बर कटिदेश चरण अनुरक्त ललित, वर।
अंकित ये सब किये राजकन्या ने रुचिकर।
किन्तु नेत्र में दीप्ति अभी वह थी न सकी भर।
दिव्य दृष्टि आभास प्राप्त कर उल्लासित थी।
पाकर रविकर परस कमल सी सुविकासित थी।
कूची का सम्पर्क मिला ज्यों ही अनुरंजित।
चमक पड़े वे नयन करुण आभा से भंकृत।
उषा देवि ने मनो चला कर ज्योतित सायक।
वाणी कर दी दान पूर्व दिशि को उन्नायक।
मिला चित्र को प्राण सहज साकार मुनीश्वर।
दीखे से उस ठौर लिये निर्भयता का वर।
शान्ता हित नव प्राण त्राणकारिणि छवि लायी।
निर्भय वह सब काल अधिक निर्भय हो आयी।
दैत्य अंगना एक पधारी इस अवसर पर।
मन्त्रीवर-आदेश-पत्र निज कर में लेकर।
सहसा वह आ गयी द्वार अवरोध न पाकर।
शान्ता लता समान हिली झोंका सा खाकर।
'मेरी सम्मति बिना चली आतीं क्यों भीतर।
दैत्यराज को पत्र लिखूं क्या इस अविनय पर।'
'मन्त्री का आदेश पत्र लेकर आयी हूं।
छोड़ो सब अभिमान यही सम्मति लायी हूं।
शान्ता के सामने दानवी पत्र फेंक कर।
बोली स्वीकृति-पत्र एक मुझको दो लिखकर।
अक्षर थे वे आर्य्य आर्य्य ही थी वह भाषा।
आशय परम अनार्य्य, कपट-आवृत अभिलाषा।

ज्यों ज्यों पढ़ती चली भवें तनती जाती थीं।
आँखें बरबस आग उगलती दिखलाती थीं।
शीघ्र पत्र के खंड-खंड उसने कर डाले।
ज्यों अशंक मृगराज मृगों का जीवन घाले।

उत्तर उसने लिखा आर्यभाषा में सत्वर।
"हे जगती-भूपाल-वृन्द-त्रासक दैत्येश्वर! २२०
मुझे नहीं यह मान्य अधम आदेश तुम्हारा।
मना सकेगी नहीं खड्ग की भी खर धारा।

योगानल में भस्म देह को कर सकती हूं।
अवसर पाकर यत्न बिना भी मर सकती हूं।
निज अधिकार-व्यतीत मुझे तुम प्रतिपल मानो।
मैं सब भाँति स्वतन्त्र न किंचित परवश जानो।

जीती हूं मैं अभी तुम्हें जीवन देती हूं।
कालकोप विकराल; बचा उससे लेती हूं।
मर कर मैं ही काल तुम्हारा बन जाऊँगी।
अनायास अवसान तुम्हारा ले आऊँगी। २३०

ये अनार्य्य आदेश अगर फिर भी भेजोगे।
तो उत्तरदायित्व मरण का मेरे लोगे।
चंडी-सदृश कराल देह तज कर मैं हूँगी।
शोणित द्वीप विशाल एक पल में निगलूँगी।"

शान्ता का यह पत्र दानवी ने जब पाया।
मन्त्रीवर-ढिग सावधान हो पाँव बढ़ाया।
मन्त्री थे मन्त्रणाभवन में राह देखते।
संध्योत्सव किस भाँति सफल हो ढंग लेखते।

पढ़ शान्ता का पत्र हो गये वे अति अस्थिर।
आँखों के सामने अँधेरा घोर गया घिर। २४०
असफलता-संवाद भेजने में सकुचाये।
करने हेतु विमर्श आप तारक ढिग धाये।

अन्य कक्ष में पास विराजित थे दैत्येश्वर।
रख उनके सामने पत्र बैठे मन्त्रीवर।
पत्र उठाकर सहज पढ़ा जब दानवपति ने।

अनायास ही विकृति प्राप्त की वदनाकृति ने।
अकस्मात् हो गयी इसी क्षण में नभवाणी।
"सोच समझ कर चलो अहो तारक अभिमानी!
शोणित नगरी ओर आ रहे नारद मुनिवर।
स्वागत उनका करो अनर्गल कार्य भुलाकर।"

दैत्यराज ने श्रवण किया सब परम चकित बन।
दीखे सचिव सभीत, आनमित, व्यथित, थकितमन।
सर्वाहारी अनल डरा जल की धारा से।
छिपा प्रतापी भानु चोट खाकर तारा से।
बोले तब दैत्येश, "समुद्री तार पठाओ।
कब आता मुनिपोत पता सब शीघ्र लगाओ।
मुनिवर का आगमन यहां होगा हितकारी।
उनके स्वागत हेतु करो सब विधि तैयारी।"
मन्त्रीवर सोत्साह कक्ष में आये अपने।
लगे पोतपति पास सँदेसा प्रेषित करने।
किया नियत तत्काल मन्त्रिमण्डल-अधिवेशन।
मुनि-स्वागत के हेतु लगा होने द्रुत चिन्तन।
पोतेश्वर-संदेश सपदि उत्तरमय आया।
पोत-आगमन-समय-ज्ञान मन्त्री ने पाया।
निश्चय यह हो गया सकल मन्त्रीगण जायें।
मुनि को आदर सहित राजमन्दिर में लायें।
आया निश्चित काल गये सब स्वागतकारी।
सहज दिखे मुनिनाथ पीतपट वीणाधारी।
दृश्य विचित्र विलोक चकित थे मुनि के लोचन।
उनके चरणों पास खड़े हो गये सकल जन।
अभिवादन की रीति प्रीति के साथ निभायी।
नवल सुमन की माल मन्त्रिवर ने पहनायी।
"इस प्रवास में आप हमारे संग पधारें।
राजकीय आतिथ्य कृपा करके स्वीकारें।"
यह कह वाहन-राह दिखायी मन्त्रीवर ने।
लगी रसा के ताप प्रगति मनि पद की हरने।

सुमनावलि से सजा सुवाहन था वह सुन्दर।
जिसमें हय थे जुते हवा होने को तत्पर।
सारथि था थामता, नहीं थामे थमते थे। २८०
काले-काले अश्व न किसका मन हरते थे।
स्वल्प काल पश्चात मन्त्रणा-भवन दिखाया।
जिसने रूप ललाम आज सज कर था पाया।

बैठे थे मन्त्रणा-भवन में दानव-स्वामी।
अमित प्रतीक्षा-निरत महामुनि-दर्शन-कामी।
पंडितगण थे संग विविध शास्त्रों के ज्ञाता।
एक-एक विद्वान अन्य गुरु सा दिखलाता।
अकस्मात ही उठे स्वआसन से दनुजेश्वर।
अनुगत हो सब चले प्रातः के सँग ज्यों मधुकर।
सब के कर में एक नवल सुमनों की माला।
सब के मन में दीप्त दर्शनेच्छा की ज्वाला। २९०
महाद्वार के पास पहुँच पायें वे जब तक।
आया मुनि को लिये यान द्रुत भीतर तब तक।
मन्त्रीगण के बाद महामुनिवर जब उतरे।
दैत्यनाथ ने दौड़ गले में डाले गजरे।
मुनि ने बिना प्रयास दैत्यपति को पहिचाना।
देखा भाल विशाल राज-लक्षण से जाना।
दैत्येश्वर के बढ़े हुए कर को ले कर में।
हुए प्रफुल्लित साधु-शिरोमणि दैत्य-नगर में।

"आभारी मैं देव यहां जो आप पधारे।
दर्शन ही से ताप हो गये विगत हमारे। ३००
धन्य हमारा देश आज पद-कमल परस कर।
रहते जिसके हेतु लोक सब तरस तरस कर।"

तारक की यह उक्ति श्रवण कर मुनि मुसकाये।
कोमल सुमन समान वचन अधरों पर आये।
"दैत्यराज, मैं विश्व देखने को आया हूं।

रस की प्यासी दृष्टि यहाँ पर भी लाया हूं।
अमरों का आमोद हीन पड़ता अवलोका।
खाया मैंने प्रखर वहां पीड़ा का झोंका।
मनुजों का तो दैन्य देख कर रोना आया।
उनका ताप अनन्त ताप मेरे हित लाया।
आया हूं इस ठाँव प्रकृति आनन्द-भिखारी। ३१०
मेरी झोली भरी जगत-रस के अधिकारी।
ब्रह्म लोक को शीघ्र यहां से जाना होगा।
चतुरानन को वृत्त सकल बतलाना होगा।"
यह कह कर मुनि हँसे हँस पड़े दनुजेश्वर भी।
विहँसे मोद समेत मन्त्रिगण, पंडितवर भी।
तारक ने तब दिया सकल मन्त्रीगण-परिचय।
डाल गले में माल सपदि जो दिखे प्रणतिमय।
नियत कक्ष की ओर चले दैत्येश्वर आगे। ३२०
पीछे सकल अमात्य वृन्द चञ्चल अनुरागे।
बात-विपट में अट्टहास के फूल खिलाते।
मन्द - मन्द मुनिनाथ संग उनके थे जाते।

आया तब वह धाम ललित वातायान विलसित।
विकल लता का जाल जिसे करता था विकसित।
दीवारें थीं जहां सिन्धु-पर्वत-छविशालिनि।
मणि से रंजित फर्श दीप्ति विहगी शुक पालिनि।
एक मंत्र रमणीय श्याम मृग चर्म विमंडित।
बैठे वहीं मुनीश प्राप्त दनुजेश्वर इंगित।
दानवेन्द्र औ सचिव संग वर आसन राजित।
सोहे अरुण समान चन्द्र तारक सँग भ्राजित।
पाकर सब सत्कार विविध अनुचरगण द्वारा। ३३०
कर पीयूष प्रसार सरस वाणी ने न्यारा।
मुनि ने दैत्य प्रदेश देखने की अभिलाषा—
सहज व्यक्त की, विमल वारि ज्यों माँगे प्यासा।

दैत्यनाथ-संकेत प्राप्त करके मन्त्रीवर।
वाहन-उचित प्रबन्ध कराकर आये सत्वर।

वाष्प प्रचालित यान सहित दैत्येन्द्र मुनीश्वर।
दैत्य देश लावण्य दिखाता चला मनोहर।
सिन्धु महानद-नाद-विपुल-आन्दोलित कल-कल।
कनकाचल कमनीय-गगन-मद-तोलित प्रतिपल।
नाना निर्झर-कुसुम-लता द्रुम-विहग-विराजित।
वन्य-जन्तु-रमणीय देश अतिशय आह्लादित।
कहीं प्रकृति उद्दाम नग्न शोभा समलंकृत।
कहीं अमित अभिराम रूप दानव-मति झंकृत।
कहीं भयानक विकृत कहीं अतिशय रसलीना।
नव-नव रचना-स्वाद दायिनी परम अदीना।
दृश्य दिखा कर विविध प्राकृतिक गौरव-मण्डित।
तारक ने यों कहा, अहंकृतिभाव-अखंडित।
"हे मनि देखो देश परम रमणीय हमारा।
मानो केलि-निवास अखिल शोभा का प्यारा।
मर्त्यलोक में श्रेष्ठ रसातल अतल महातल।
वितल सुतल पाताल तलातल, विधियशसम्बल।
उसमें भी सिरताज द्वीप यह शोणित नामक।
वैभव से देवेन्द्र पराजित, मानस-भ्रामक।
छः मासों की रात विधाता ने हमको दी।
या काली विकराल मौत की खेती बो दी।
हमने उन्हें परास्त किया मानसबल द्वारा।
निशि को किया प्रदीप्त दिया नव गौरव प्यारा।
शेष विश्व से विलग सिन्धु में हमें बसाया।
प्रतिभा से व्यवधान सकल हमने बिनसाया।
परम मित्र हो गया पराक्रम-वर्द्धक जलनिधि।
उससे हमको प्राप्त विजय की नित नूतन निधि।"

उत्तर में रह मौन महामुनिवर मुसकाये।
तारक ने उत्साह नहीं इस रुक से पाये।
दैत्येश्वर ने नगर दिखाये तब अति शोभन।
जिनके थे वर सदन जलद-चंचला-विमोहन।

वही सरल मुसकान अधर पर मुनि के आयी ।
प्रभामयी भी तिमिर दनुजपति के हित लायी ।
शोणितपुर की ओर चले तब दानव-शासक ।
मन में कर संकल्प महामुनि-मौन-विनाशक ।
मानव दानव देव सकल आश्चर्य-प्रसारक । ३७०
दिखलाये प्रासाद शची के हृदय-विदारक ।
आशा थी यह प्रबल विमोहित होंगे मुनिपति ।
अमित प्रशंसोद्गार करेंगे व्यक्त विमल-मति ।
किन्तु महामुनि-अधर चन्द्रकिरणें सी पाकर ।
तारक-हित तत्काल निराशा के थे आकर ।
दानवेन्द्र का भाव जान कर मुनि सकुचाये ।
फिर भी अपना मौन किसी विधि तोड़ न पाये ।
कौन परम सौन्दर्य महामुनि जिसके कामी ?
सोच रहे थे सतत संग में दानव-स्वामी ।
असन्तोष धारणा वदन पर अंकित सी थी । ३८०
अस्थिरता-भावना विविध-विधि झंकृत सी थी ।

मुनि-आहार-निमित्त स्वादमय सुफल मँगाये ।
थोड़े से अति प्रीति सहित मुनिवर ने खाये ।
सप्त अश्व रथ रुचिर मन्त्रिवर से मँगवाया ।
मुनि को आदर-सहित दैत्यपति ने बिठलाया ।
थीं दानव-कामिनी जहां अतिशय रमणीया ।
बिल्लौरी पाषाण-सरीखी सित कमनीया ।
चंचल ज्यों चंचला सरस ज्यों ओस रसीली ।
मन्मथ - प्राप्त - प्रचंड - मन्त्र-मारण गरबीली ।
मुनि नायक को वहीं लिये आये दनुजेश्वर । ३९०
दिखलाया लावण्य, निराला यौवन, मनहर ।
वही मंजु मुसकान दनुजपति-निबलकारिणि ।
मुनि-अधरों पर चढ़ी अमलता गौरवधारिणि ।
फिर भी आगे चले दैत्यवर भाव छिपाये ।
बन्दी थे रति-मदन जहां, मुनि को ले आये ।
मुनि-चरणों पर गिरे मदन-रति प्रीति-तरंगित ।

पाकर प्रिय आशीश परम कृतकृत्य उमङ्गित ।
अहंकार में मग्न दैत्यवर बोल पड़े तब ।
"मर्त्यलोक में श्रेष्ठ हमारा देश नहीं कब ?
जहां किया आवास काम ने तज जगभर को ।
नहीं कहेगा कौन धन्य उस देश-प्रवर को ?"
तारक का यह कथन श्रवण करते भी मुनिवर ।
बातें करने लगे काम-रति से अति रुचिकर ।
दीखी यौगिक शक्ति वहां मुनिश्रेष्ठ-प्रदर्शित ।
भाषण श्रवणातीत हो गया वह तारक-हित ।
रति बोली, "हे देव, करो उद्धार हमारा ।
दानव-नगर-निवास हृदय-रस हरता सारा ।"
"स्वल्प समय ही शेष क्लेश आया कटने पर—"
यों कह कर सान्त्वना मनोभव रति को देकर—
मुनिवर ने ली विदा-चले दानव-पति आगे ।
फिर-फिर वैभव-अमित-प्रदर्शन में अनुरागे ।
दीखे वरुण धनेश अनल मारुत बन्दीकृत ।
नाना यन्त्र-विलास-यंत्रणा-विकल, नियंत्रित ।
अमरों को अवलोक नमित, बन्धन से पीड़ित ।
थे मुनि खेद-विलीन संकुचित, अतिशय व्रीड़ित ।
दे आश्वासन अमित सभी का हृदय सँभाला ।
मन्द हास से तिमिर निराशा का दल डाला ।

बढ़े, स्वल्प ही अग्र मिला वह सदन अलंकृत ।
जिसमें दीखीं बद्ध अमर ललनाएं सीदित ।
पावित्रत की हानि ग्लानि में छीज रही थीं ।
अति परवश असहाय हाथ ही मींज रही थीं ।
वहीं पास ही दिखीं मानवी बहु बालाएं ।
जला रही थीं जिन्हें रूप ही की ज्वालाएं ।
कर निज घर की याद विषादित थीं जो प्रतिपल ।
पड़ा दीखना विवश जिन्हें आह्लादित अविचल ।
बोले गर्व-समेत दैत्यनायक स्वर वाणी ।
"यह ललाम सौन्दर्य विलोको हे मुनि ज्ञानी ।

यही रूप की आग उपासक हूं मैं जिसका।
यही अतनु-अनुराग विकासक हूं मैं जिसका।
करता हूं संहार रुद्र-अनुगामी होकर। ४३०
नित विहार में निरत जगत का स्वामी होकर।
मेरे कन्धे सृष्टि-भार से थक-थक जाते।
नारी छवि-आस्वाद-रमण से नव बल पाते।"
ध्यान न मुनि का गया कथन पर दैत्य-प्रवर के।
देख रहे थे भाव विकृत कामिनी अधर के।
दारुण दैन्य प्रभाव भाल पर अङ्कित देखा।
परवशता का भाव दृगों में झंकृत देखा।
"धीरज धारे रहो शीघ्र ही मुक्ति लहोगी।
मानस-सङ्ग-विहीन दोष से रहित रहोगी"—
कह कर ये प्रिय वचन किया मनिवर ने बोधन। ४४०
दिया सहज ही प्रणत अन्तरों को बल-शोधन।

तारक आगे चले महारानी - गृह आया।
थी ऊँची दीवाल जहां अब भीषण - काया।
तारकाक्ष मां - सहित जहां कारा सेते थे।
पिता-कुमति की बात सोच रो-रो देते थे।
बोले मद के साथ दनुज-शासक अभिमानी।
"देखो मेरा न्याय नीतिपथ के हे ध्यानी।
जिसने तोड़े नियम दण्ड उसने हीं पाया।
नहीं कहीं आसक्ति तनय हो चाहे जाया।"
अभिवादन स्वीकार महारानी का करके। ४५०
अभिवादन कर आप रूप-छवि लोकोत्तर के।
मन ही मन दे प्रणति विमल निस्वार्थ त्याग को।
छिपा न सके मुनीश परम शुचि स्वानुराग को।
तारकाक्ष-कर सहज लिया मुनिवर ने कर में।
दिया प्रेम-आवेग सबल उसको क्षण भर में।
देखा उसका भाल और तारक का देखा।
उठती-मिटती दिखी राज पद-दायिनि रेखा।
बोले तब मुनिनाथ, "धन्य जिसने जनमाया।

तुमसे इस संतप्त धरा ने जीवन पाया।
थोड़े दिन का क्लेश सहन हँसकर तुम कर लो।
तारकाक्ष ! तप-भार-वहन हँसकर तुम कर लो।

गायेगा जग गान तुम्हारे ही गौरव का।
युग-युग होगा ध्यान तुम्हारे ही गौरव का।
मुझको केवल एक बात तुम को बतलानी।
हिंसा का अवलम्ब तुम्हारे हित नादानी।

दानव गण भयभीत, प्रथम भयमुक्त बनाओ।
बोल सकें मुँह खोल यही पहले सिखलाओ।
कटी न काई तनिक और पद डाले उस पर।
पद-स्खलन परिणाम मिलेगा क्यों न खेदकर।

जोतो पहले खेत और फिर पीछे बोओ।
चट्टानों पर फेंक बीज को भी मत खोओ।
परम्परा से मिली उन्हें डाके की रोटी।
खाते रहे सदैव कमाई करके खोटी।

दानवता की जहां कहीं तक सीमा जाती।
उसे गये वे लाँघ जगत में बन उतपाती।
महापतित हो गये उभय विधि हिंसक होकर।
लो तुम कीर्त्ति महा न कलुष सब उनके खोकर।

मानवता का धर्म अहिंसामय सिखलाओ।
जिसकी जो जीविका शृंखलित उसे बनाओ।"
तारकाक्ष को विविध भाँति यों आशिश देकर।
शीलमयी का हृदय अमित आशाओं से भर।

चले दनुजवर संग महामुनि सहज प्रफुल्लित।
क्रमशः शान्ताधाम मिला शोभामय अतुलित।

मुनिनायक का चित्र देखती आनन्दित थी।
जीवनप्रद नव भाव-प्रभावों से स्पन्दित थी।
आँखों के सामने वही मुनिनाथ पधारे।
बैठी थी, हो गयी खड़ी नव-नव छवि धारे।

अंधकार आलोक, संग अवलोका उसने।

सहा साथ ही खेद हर्ष का झोंका उसने।
धीरे-धीरे तिमिर लीन होता दिखलाया। ४९०
प्रसन्नता का स्रोत दीप्त होकर लहराया।
"दैत्य-देश में मुझे सहारा देने आये।
आये करुणाधाम मुझे नव जीवन लाये—"
यों कह कर गिर पड़ी मुनीश्वर के चरणों पर।
पद पखारती नयन-वारि ही से अति कातर।
देख दृगों का नीर हृदय मुनि का भर आया।
अतिशय प्रेम-समेत बालिका को समझाया—
"बेटी, तुम बंदिनी अगर तो बंदी हम सब।
तिमिर कटेगा आप दिवाकर आयेंगे जब।
जगती के कल्याण हेतु यह ताप तुम्हारा। ५००
औचक ही वरदान मिलेगा प्रभु का प्यारा।
कार्त्तिकेय-अवतार शीघ्र ही होवेगा अब।
दानव-विभव-समाज विवश हो सोवेगा सब।
दैत्यों के सँग समर छेड़ने आयेंगे ऋषि।
तारक-दल का दलन शीघ्र कर पायेंगे ऋषि।
ले उनका संदेश शीघ्र ही फिर आऊँगा।
अपने पीछे अखिल लोक का बल लाऊँगा।
मानवता का धर्म धर्म इस युग का होगा।
मानवता का कर्म कर्म इस युग का होगा।
दानवत्त्व देवत्त्व निबल दोनों ही होकर। ५१०
मानवत्त्व की शरण जायँगे महिमा खोकर।
पड़े धूलि में अभी वही सिर पर बैठेंगे।
दैत्य-देश में मनुज बने विजयी पैठेंगे।
दिग-दिगन्त में कीर्त्ति कोशलेश्वर की होगी।
और सभी का मूल तुम्हीं हे बेटी होगी।"
कर इस भाँति प्रबोध उठाया द्रुत शान्ता को।
ऋषि का सारा हाल बताया अति क्लान्ता को।
दे आशीश अनन्त दैत्यवर के हो अनुगत।
गमने मुनिवर; बनी राजकन्या चिन्तन-रत।

पाकर मुनि-प्रेरणा नसी दैत्येश्वर-विस्मृति।
मुनि-सम्मति-हित प्रीति पा गयी उनमें जागृति।
ज्यों अवरुद्ध प्रवाह राह अपनी पा जा ये।
किसी लक्ष्य की ओर अमित द्रुतगति से धाये।

बोले, "हे मुनिनाथ आपके हृदय-उदधि की—
चले लगाने थाह भला जग में गति किसकी?
ऐसा करूं प्रयास कामना कभी न मेरी।
कैसा मेरा देश? बताओ करो न देरी।"

मंजु लतावलि-वलित सुमन-संकुल खग-कूजित।
ले अनुराग अपार भृंगगण द्वारा पूजित।
दीखा मुनि को एक वहां द्रुम परम मनोहर।
वहीं गये वे ठहर दैत्यपति के सँग आकर।

मूल्यवान मणि-खचित वहां मंजुल आसन थे।
मर्मकथन-अनुराग-वृद्धिकारक साधन थे।
मुनिनायक ने बैठ दैत्यवर को बिठलाया।
मथित सिंधु की भाँति रतन अनमोल दिखाया।

"कैसा सुन्दर देश? कहा तुमने यह फिर-फिर।
मैं उत्तर दे सका न असमंजस से घिर-घिर।
तुम्हें जहां सौन्दर्य दीखता अमित विमोहक।
मुझको वहीं कुरूप मिला दैत्येश! अरोचक।

पर-गौरव को देख सदा जलनेवाले हो!
पर-नारी, पर-द्रव्य हरण करने वाले हो।
आग लगाना काम तुम्हारा जल में थल में।
करते हो वीरान सरस नगरों को पल में।

पाते हो प्रेरणा जहां से यह करने की।
वह तो केवल राह दनुज-नायक! मरने की।
हिंसा की दावाग्नि जलाती रहती मन को।
सुन्दरतामय कौन कहेगा इस जीवन को?

भय-उत्पादन मूल जहां शासन का सारा।
दीखा वहां प्रयत्न, चले उलटी ही धारा।
परम त्रस्त सब लोग तुम्हारे आज्ञाकारी।

तारकाक्ष ही एक सत्य-सेवक-धृति-धारी।
पर-पीड़न-चिन्तना बनाती जिसको पागल।
उसका मानस विकल रहेगा प्रति पल चंचल।
वायस ही की भाँति रहा जो निशिदिन शंकित।
'सब सुन्दरता-हीन' भाल पर उसके अंकित।

भानु पूर्व में अस्त उदित पश्चिम में होवे।
तो भी विचलित चित्त न हलका होकर सोवे।
जहां नहीं आवास हृदय में सुन्दरता का।
फहराये किस भाँति वहां छवि राशि पताका।

शोणित द्वीप अपार रूप का धाम कहाता। ५६०
यदि वह सुन्दर हृदय-अलंकृत शासक पाता।
बिना कलाधर व्योम मलिन हो जाता जैसे।
सुन्दर शोणित द्वीप हो गया नीरस वैसे।

भोग-धुरी पर टिके सकल आदर्श तुम्हारे।
जो घर-द्वार-विहीन खड़े तुम उसके द्वारे।
निराधार जो आप उसे आधार बनाया।
जो सब भाँति असार सार उसमें ही पाया।

प्रकृति-प्रदत्त स्वरूप विकृत तुमने कर डाला।
किया धूम्र से व्यस्त उषा-दृग-कमल निराला।
कितना था सुकुमार रुचिर संध्या अरुणाम्बर। ५७०
तुमने अरसिक सदृश दिये उस पर धब्बे धर।

श्रमिक नारि-मातृत्व किया सकलंक तुम्हीं ने।
माथे में लिख दिया विषय का अंक तुम्हीं ने।
उसका ही निश्वास रात औ दिन कढ़-कढ़ कर।
गया राहु की भाँति निगलने को छवि-शशिकर।

यंत्र-अपार-निनाद बढ़ा कर विहग उड़ाये।
हरि-चिन्तन के भाव तालियां पीट भगाये।
फेंक स्वर्ण अनमोल हाथ में मिट्टी ले ली।
दमने राशि अमोल रतन की लातों ठेली।

जहां नहीं अन्याय वहां अन्याय बताते। ५८०
जो जन अतिशय सरल उसे भी अमित सताते।
नाहक रक्त-प्रवाह-दोष-हत देश तुम्हारा।

पा सकता सौन्दर्य कहां अति पावन प्यारा।
सत्य - भक्ति में नित्य द्रोह, शंका करते हो।
कर खर अनल प्रसार सार उसका हरते हो।
दग्ध हो गया देश तुम्हारा इस ज्वाला से।
कह दूं फिर किस भाँति लसित सुषमा-माला से।

देवों में दौर्बल्य दैन्य मानव में देखा।
महा पतन ही किन्तु यहां दानव में देखा।
दैत्येश्वर ! यह देश नहीं मुझको तो भाया।
पाप-राशि से विकृत हो गयी इसकी काया।

जगहित चिन्तन-निरत सतत ही मैं रहता हूं।
नेक न मानो विलग बात हित की कहता हूं।
पाने पर एकान्त तनिक सोचो औ सँभलो।
नव युग की प्रेरणा ग्रहण कर जीवन बदलो।

मुझे बना कर अतिथि कृपा तुमने की भारी।
साधुवाद स्वीकार करो हे प्रबल सुरारी।
ब्रह्मलोक को गमन मुझे अब करना होगा।
विधि से प्राप्त निदेश सकल अनुसरना होगा।

"चौंक उठे दनुजेश, महामुनि से यों बोले—
मेरे हेतु विचार्य्य भवत उपदेश अमोले।
किन्तु कार्य विधि-लोक-गमन का होगा किसविधि?
वैसे साधन तो न हमारे पास कृपानिधि !"

बोले मुनि तत्काल, "प्राप्त सब मुझको साधन।
मैंने विहग समान किया नभ का आराधन।
चाहूं जब हो चलूं पवन से भी मैं हलका।
ओस बूँद सा तरल बनूं सुमनों पर ढलका।

कोई बात न बड़ी, पीठ पर भार न लादा।
सारा चिन्तन, कथन, कार्य भी सारा सादा।
एक सूत्र में बद्ध सकल जीवन-क्रम मेरा।
वहां न संशय, खेद, भ्रान्ति, चिन्ता का डेरा।

जीवन मेरे हेतु पूत मधुमास सलोना।
मेरे हेतु सुगम्य जगत का कोना कोना।

मैं जगती का सखा सखा यह जगत हमारा !
दोनों ही ने प्रेम अवारित, अविचल धारा।
जीवन-सरिता नित्य तरंगित होती देखूं।
मानस को नव भाव-प्रगति से धोती देखूं।
यही कामना लिये अमित स्वच्छन्द-विहारी।
फिरता हूं अविराम प्रेम-रस-वितरणकारी।"
यह कह कर मुनि उठे महत आश्चर्य सरीखे। ६२०
निराधार आकाश ओर उठते ही दीखे।
रवि-किरणवलि मनो दिव्य आकृति वर धारे।
जाती थी रवि पास गेह प्रति नेह सँवारे।
निर्निमेष देखते रहे मुनि को दनुजेश्वर।
थे अति चंचल-चित्त शक्ति अवलोक चकितकर।
सघन घनों में छिपी मूर्त्ति दीपित जब जाकर।
दनुजनाथ भी चले भवन को चिन्तन पाकर।

सीमा मर्त्य-प्रदेश पार होने जब आयी।
श्रीहरि का संदेश विमल नभवाणी लायी।
"हे मुनि जाओ प्रथम इन्द्र-इन्द्राणी के ढिग। ६३०
वे कठोर तप-लीन, दीन, जलमय उनके दृग।"
मान यही आदेश अमरपति ओर ढले वे।
विधिविधान अनुमान व्यथित के बंधु चले वे।
कहीं नहीं आसक्ति कार्य प्रभुवर का करना।
जहां क्लान्ति, अवसाद वहीं नवजीवन भरना।

बढ़ी निराशा घोर विवश इन्द्राणी में थी।
शक्ति नहीं अब शेष इन्द्र की वाणी में थी।
बीता इतना काल नहीं अब लौं प्रभु आये।
महाशक्तिधर रुद्र रुके किसके बिलमाये ?
नाव पड़ी मँझधार, खे रहे थे वे दोनों। ६४०
ऊब-ऊब कर साँस ले रहे थे वे दोनों।
अमरलोक में ज्योति दिव्य फैलाते आये।
इसी समय मुनिनाथ मधुर मुसकाते आये।

चरण-सरोज पखार लिया चरणोदक पावन।
आसन दिया अनूप मंजु मणिमय, मनभावन।
आकस्मिक आनन्द, प्रेम से दम्पति डोले।
आशीर्वाद-स्वरूप वचन तब मुनिवर बोले—

"थोड़ा और विलम्ब; तुम्हारा गेह बसेगा।
अमरलोक अभिराम नवल छवि से विलसेगा।
चला काल का चक्र जागना हर को होगा।
निद्रा-रस का भोग त्यागना हर को होगा।

अन्धकार-आलोक रात-नि चलते रहते।
भिन्न-भिन्न आस्वाद सदैव वितरते रहते।
होगा गत सब शोक तुम्हें जो घेर रहा है।
पाओगे रस-स्रोत; परम परिताप सहा है।

अपने से भी हीन दशा मनसिज की मानो।
दीन, मलीन नितान्त दैत्य बंदी अनुमानो।
परम नीचतामयी व्याप्त उसमें दानवता।
काँप जाय अवलोक जिसे दिवता, मानवता।

शिव के धीरज-कमल-राशि पर डाला पाला।
अब उसका उद्धार शीघ्र ही होने वाला।
महाशक्ति की सृष्टि चली यों ही आधारित।
तप से रस की वृष्टि बढ़ी अविचल अनुसारित।

तप में रस में भेद नहीं पहले था कोई।
अज ने पीड़ा आप हृदय में अपने बोयी।
लेकर पहले आप उन्होंने सब को बाँटा।
उनसे ही सुकुमार सुमन ने पाया काँटा।

रुकने का अब अधिक नहीं अवकाश मुझे है।
देना चारों ओर विकास-प्रकाश मुझे है।
विधि भी मेरी राह देखते बैठे होंगे।
कन्या-विरह-विषाद-सिंधु में पैठे होंगे।

होगा सब का कार्य, जभी प्रभु हर जागेंगे।
साधन भी अनिवार्य्य; तभी विभुवर जागेंगे।
जाता हूं इस हेतु त्वरा कर के हे वासव!

आऊंगा प्रभु संग शीघ्र लेकर प्रेमासव।"
आदर औ सत्कार नहीं कुछ भी कर पाये।
दम्पति के दृग-कमल विवश से सजल दिखाये।
मुनि-चरणों पर शीश मात्र ही वे धर पाये।
देकर उनको बोध चले मुनि प्रगति बढ़ाये।

कैसी बीत रही बेटी पर नारद क्यों न पधारे? ६८०
चौदहवां मन्वन्तर भी अब लगने चला किनारे।
पत्थर करूं कलेजा कितना, कितना धीरज धारूं।
व्यथा अधिक अब सही न जाती कितना मनको मारूं।

कितनी आह व्यथाएं कितनी उपजाता हूं प्रति पल।
रखता हूं कितनी आँखों को जल से भीगी, चंचल।
कर्मपत्र पर लिखते ऊबा जीवन-गाथा जग की।
कर्म किया यह कम करने को बाधाएं निज मग की।

व्यर्थ क्रूरता भी फैलायी, हाथ न आया कुछ भी। ३९०
किया धर्म निज पालन वह भी लाभ न लाया कुछ भी।
महाशक्ति आदेश मान कर और फँसा दलदल में।
देख रहा हूं जन्म-जन्म के पाप विषैले फल में।

"क्यों समाधि-रस मैंने त्यागा, बोले जग के नायक।
"अहह मार ने नाहक मारा मुझे कुसुम का सायक।
उनको जाकर उत्तर दे दूं अपना काम सँभालें।
चाह न मुझको इस जीवन की, मारें या प्रतिपालें।"

इसी भावना-निधि में धाता बह बह ऊब रहे थे।
मिलता था न कहीं आश्रय-थल रह रह डूब रहे थे।
अकस्मात आये नारदमुनि वहीं चरण द्रुत धरते। ७००
अपनी मुद्रा से विषाद का वेधक भाव वितरते।

वीणा से पीड़ा के स्वर ही झंकृत थे विधि नाना।
क्रीड़ा को तज व्रीड़ामय ही था मुनिवर का गाना।
बीतराग मुनि की यह गति लख चौंके जगत विधाता।
व्यग्र हुए वार्त्ता सुनने को, उर था दहला जाता।

खड़े खड़े ही मुनिवर बोले, "नाथ उठो अब सत्वर।

जड़ शारदा-कुगति अब देखी जाती नहीं दृगों भर।
तारक के अत्याचारों से जलती उसकी छाती।
खल-संगिनी पवन भी होकर उसकी धूल उड़ाती।
रोने औ आहें भरने का सब अधिकार गँवाया।
पीड़ा की अनुभूति मात्र का बल भी हाय न पाया।
दयनीया - दुर्दशा देख कर फट जाती थी छाती।
जग के सिरजनहार तुम्हीं पर खीझ मुझे थी आती।
कामदेव रति को बंदी कर तारक बना विलासी।
चारों ओर बसी मानस में ज्वालामयी उदासी।
शंकर-मानस-संग मिले कब इस चिन्ता में पैठे।
मन्मथ मरने तक का व्रत ले राह जोहते बैठे।
ऋषिमुनियों के किये न हो जो तप गिरिजा ने ठाना।
दो उनको ललाट-लिपि स्वामिन् अब तो वर मनमाना।
पाणिग्रहण करें मन्मथ-अरि बजे मदन का डंका।
पीड़ित-चित्त हिमाचल-मैना की गत हो सब शंका।
पावस की वियोगिनी रविजा ने कीं कठिन तपस्या।
नीलकंठ जागें तब हल हो उसकी विषम समस्या।
शंकर का जागरण-जतन ही हे करतार! विचारो।
त्रस्त लोक की परम मुक्ति में अपनी मुक्ति सँवारो।
शृंगी-आश्वासन निमित्त ही भेजी तुमने शान्ता।
प्रिय सेविका बनी वह भ्रमवश दैत्यकुंठिता क्लान्ता।
अपयश के कर्दम में धँसकर मलिन बनो मत स्वामी।
अखिल धर्म के तुम्हीं विधायक रहो धर्म-पथ-गामी।
महाराज दशरथ-विषाद की कैसे कहूं कहानी।
कन्या के वियोग की पीड़ा प्रभु ने भी तो जानी।
कार्तिकेय-अवतार शीघ्र हो, रचो प्रबन्ध विधाता।
चलो सपदि कमलापति के ढिग उठें सृष्टि के त्राता।
सब से करुण प्रमोद-विपिन के विरही जन की पीड़ा।
विरह-कथा के कथन-श्रवण में जिनकी जीवन-क्रीड़ा।
आशुतोष-गिरिजा-परिणय की, कार्त्तिकेय-उद्भव की—
मिलन-कहानी नाथ उन्हें दो पूर्त्ति साधनासव की।

क्षीर-सिन्धु में चलो चलें हम विनय करें श्रीवर से।
उनसे प्रेरित होकर रतिपति समर करें शंकर से।
अब विलम्ब का काम नहीं कुछ चलो चक्र-परिवर्तक। ७४०
सृष्टि-विटप के जीर्ण पात गिर जायं नवीन-विवर्त्तक।

कलम उतार कान से रख दी कलमदान में अज ने।
कमलापति-सम्मिलन हेतु फिर साज लगे वे सजने।
मुनिवर बैठे नहीं कक्ष में रहे विचरते तब तक।
जगत-विधायक गमन-वेष में नहीं आ गये जब तक।
स्वर्ण-मुकुट मणि मुक्ताओं से जटित शीश पर राजित।
अरुण तिलक कुंचित रेखामय भव्य भाल पर भ्राजित।
श्वेत अंग पर श्वेत वसन वर औ दूकूल कंधे पर।
धारण किया उपानह पद में विधि ने आसन तज कर।

लचकी कटि की सहायिका ले लाठी कर में दाएं। ७५०
आगे चले, महामुनि पीछे कहते लोक व्यथाएं।
दिग्गज हिले धरा भी काँपी प्रेमपुलक से पूरित।
शेष मुदित हो गये सोचकर दुख होंगे दूरीकृत।
योग-शक्ति का साधन लेकर चले पंथ पर दोनों।
प्रखर व्यथा के द्वारा विचलित अति द्रुततर चर दोनों।
नहीं जान पाये वे कैसे लम्बी राह सिरानी।
क्षीर-सिंधु के तट पर आये क्षण भर में विज्ञानी।

एक शिला पर बैठे अज, मुनि प्रथम गये श्रीवर ढिग।
जगत व्यथा कह उन्हें बनाया विकल-हृदय जलमय-दृग।
अज आगमन बताया ज्यों ही सत्वर उठे रमापति। ७६०
नंगे सिर औ पाँव चल पड़े पाकर चंचलता अति।

बोले मुनि, "हे नाथ शीश पर मणिमय मुकुट सँवारो।
कौस्तुभ मणि-समलंकृत माला कम्बु कंठ में धारो।
नव नीरद से श्याम कंध पर वर पीताम्बर धर लो।
क्यों सिंधुजा विरहिणी होवें संग इन्हें भी कर लो।
तारक की नगरी में हमको कामदेव ढिग चलना।
उनके द्वारा शम्भु-अचलता में चंचलता भरना।

इसीलिए अज आये हे प्रभु अधिक विलम्ब न कीजे।
उनका हृदय विदीर्ण हो रहा चलकर धीरज दीजे।"
मर्म वचन नारद के सुनकर कंज-वदन मुसकाये।
शोभामय के साज चंचला ने तब सविधि सजाये।
नारद के अनुगत कमला हरि चले जहां थे धाता।
कमल-विलोचन का मग धोता चला सिंधु लहराता।
लोहा तो सुवर्ण हो पाता पारस-सुपरस पाये।
दर्शनीय के दर्शन ही से विधि सुवर्ण हो आये।
दीनबन्धु को देख सामने सकल विकार बिलाया।
हृदय-कमल संकुचित पड़ा था सहज विकच हो आया।
अवसर जान किया मुनिवर ने श्रीवल्लभ को आगे।
देख वेदना-वृद्ध विधाता को प्रभुवर अनुरागे।
गले लगाया आगे बढ़कर विधि मानस हुलसाया।
मानो शशि ने उतर धरा पर विमुद कुमुद विकसाया।
"चले देव, अब शीघ्र तुम्हारी पीड़ा सब मैं हर लूं।
शंवरारि को शिव मन-मंथन में खर तत्पर कर दूं।
ये आश्वासन-वचन श्रवण कर विधि भूले दुख सारा।
बोल सके न कढ़ी आँखों से उत्तर में जल-धारा।
वाहन के प्रबन्धहित चिन्तित प्रभु को जब अवलोका।
सहज उपस्थित खगनायक ने दिया स्नेह का झोंका।
"नाथ कृपा की दृष्टि करें तो तनिक न थक पाऊँगा।
कामदेव के पास निमिष में सब को पहुँचाऊँगा।
एक पक्ष पर श्रीवर राजे अपर पक्ष पर नारद—
और विधाता हुए सुशोभित, उड़े प्रयाण-विशारद।
चले चीरते नभमंडल को दृश्य विविध दिखलाते।
कहीं पहाड़ द्रुमावलि संकुल कहीं जलधि लहराते।
उचित जान श्रीवर ने पूछा, हे मुनीश बतलाओ।
सृष्टि-प्रगति के वृत्त अपरिमित थोड़े में समझाओ।
मुनि के कर वीणा-तारों के बने सहज अनुरागी।
सत्वर गान-वाद्य सहकारिणि प्रिय तन्मयता जागी।

—गीत—

देव हो रहे दुर्बल।
मानव-प्रेम-दान ही जिनके
जीवन का है सम्बल।
दानवता से पीड़ित मानव,
स्वयं हो रहा है अब दानव,
जर्जर होते जाते निर्जर,
उनका जीवित गात बना शव,
क्षीण हो रहे प्रतिपल। देव०
करुणा का नित ह्रास हो रहा,
दुर्भावना-विकास हो रहा,
अट्टहास कर रही क्रूरता,
खल कौटिल्य-विलास हो रहा,
दैत्य-वृद्धि है अविकल। देव०
कामदेव की गति दयनीया,
दीना अतिशय रति कमनीया,
बंदी कर इनको उच्छृङ्खल,
बनी दानवी दुर्दमनीया,
विश्व हो रहा चंचल। देव०

वीणा खिसक गयी कब कर से मुनि ने जान न पाया।
तल्लीनता बढ़ी थी इतनी सारा भान गँवाया।
कहते ही वे चले निरन्तर बातें करुणासानी।
रहे श्रवण-रत हरि खगेश विधि कमला द्र तगति ध्यानी।
"अमरों को उस पतित रूप में मैं पहचान न पाया।
सत्य कहूं, उनका रूपान्तर तनिक न मुझको भाया।
मेरी चले, शीघ्र ही उनको पूर्व रूप में लाऊं।
व्यर्थ आत्मविस्मृत हो बैठे कथा सकल समझाऊं।
दानव ने संहार-कार्य की सब मर्यादा तोड़ी।
मानव और देव - हित जीवन की गति एक न छोड़ी।
महाशक्ति के रस-विकास का टूट जायगा प्याला।
होगा जो न प्रयत्न उभय का रक्षण करने वाला।

दानव को आधार बताया सकल सृष्टि का विधि ने।
परम कृपा का पात्र बनाया शम्भु ज्ञान के निधि ने।
दोनों ही विश्वासघात के भाजन होने वाले।
दोनों ही अब रोने वाले पड़ दानव के पाले।
विकृत मात्र संहार-कार्य को दानव ने अपनाया।
सेवा का आस्वाद भुलाया मारण में रस पाया।
भय-पीड़ित मानव ने देवों का आराधन छोड़ा।
८३० पूजन, भजन, यजन, चिन्तन का सारा साधन छोड़ा।
इष्ट याग-बलि से वञ्चित हो देव विकल बेचारे।
उतरे मानव-देह ग्रहण कर अमित विपद से हारे।
मानव से भी पतित निरन्तर वे नित होते चलते।
अपने अमर रूप की स्मृतियां अनुदिन खोते चलते।
और हाल मानव का कैसे बतलाऊं हे स्वामी।
मुझे दया आयी जब देखा उसको मिथ्या कामी।
मिट्टी से, कीचड़ से उसने इतना प्रेम लगाया;
फेंक दिया हाथों से सोना धन्य मनोभव माया!
काल-प्रभाव शिथिलता ऐसी मानवेन्द्र में लाया।
८४० ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ने संयम नियम भुलाया।
बढ़ती गयी उत्तरोत्तर ही उच्छृङ्खलता अविचल।
मलिन हो चला जो उज्वल था मलिन मलिनतर प्रतिपल।
त्याग-याग ब्राह्मण ने छोड़ा क्षात्र धर्म क्षत्रिय ने।
दान वैश्य ने, भक्ति शूद्र ने तजा कर्म निज सब ने।
गौरव का आधार बनाया वर्ण-जन्म को केवल।
नहीं संग ही उसके माना वर्ण-कर्म का सम्बल।
पूर्वज-कर्म राशि की पूँजी बैठे खाते जाते।
फिर भी धनी स्वयं को जग में वे बतलाते जाते।
मिथ्या अभिमानी दिवालियों का दल वहां दिखाता।
८५० लज्जा उसे न आती यद्यपि लोक उसे ठुकराता!
जहां वर्ण की नहीं व्यवस्था आश्रम कहां चलेगा।
जैसा होगा तरु वैसा ही फल सब काल फलेगा।
इन्द्रिय-रस का स्वाद तजे बिन जन बनते संन्यासी।
ज्ञान भला वे देंगे किसको अघ-अज्ञान - विकासी।

साधु, गृहस्थ, यती वैरागी नेता और महाजन।
बिरति-आड़ में करते रहते रति ही का नित साधन।
अंतिम साँस अंत तक उनकी आँखें फूटी रहतीं।
सकल वृत्तियां विषय-ओखली में ही कूटी रहतीं।
मानवेन्द्र-विचलित-शासन में शेष नहीं अनुशासन।
प्रतिद्वन्दिता धन-अर्जन हित सकल विकास-प्रकाशन। ८५०
वर्णाश्रम-मान्यता वहीं जब लोप अमा-शशिकर सी।
दैत्यलोक में क्या अचरज फिर उसकी कला न दरसी।
हरण, रौद्रता, मदनालिंगन हर का धर्म ग्रहण कर।
दानव बना प्रहारी जग में हर का कर्म वहन कर।
अपना लिया उसे मानव ने अपनी बात बिसारी—
मर्त्यलोक में हर ही अशरण-शरण, शम्भु, कामारी।
इसीलिए वह समय आ गया शम्भु जगाये जायें।
जग-जीवन-संतुलन कार्य में शीघ्र लगाये जायें।
देव और मानव की दुरगति देखें आप त्रिलोचन।
उचित उपाय करें सत्वर ही वे संकट-दल-मोचन। ८६०
दानव-संग-जनित विद्रोही मन्मथ-विकृति नसायें।
अपना अनुचर उसे बनाकर अपने पास बसायें।
मानव-देव प्रकाश उचित तब पोषक उसमें पायें।
जीवन की क्षीणता विगत हो तनिक सँभल सब जायें।
महा सत्यमय महाशक्तिमय गिरिजा सँग परिणय कर।
कार्त्तिकेय के जनक बनें अब अभयंकर शिवशंकर।
दानवता का अंत करें नव मानवता विकसायें।
विकसित मानवता में स्मृतियां अमर लोक की लायें।"

मुनि-वाणी कर श्रवण तोष श्रीहरि ने पाया।
कमला का दृग-कमल दया-जल से भर आया। ८७०
बोले नहीं विरंचि हृदय-मंथन से विचलित।
कन्या का अनुमान वदन पीड़ा से विदलित।

———

पंचदश सर्ग

पाकर पीड़ा प्रखर वंचना तारक अति दुरमति से।
ऊब रहे थे कामदेव निज शोचनीय दुरगति से।
जोह रहे थे कब आयेंगी जीवन की शुभ घड़ियां!
कब आयेंगे रमाविहारी लिये मुक्ति की लड़ियां!

अकस्मात ही दिखे उतरते नभ से खगकुल - स्वामी।
दीखे अज नारद कमलावर जन-मन-अंतरयामी।
मुक्ति मिली पहले ही पीछे मुक्ति - विधायक आये।
कारागृह ने अमर लोक के गर्व सकल बिनसाये।

कामदेव रति ही को वे दिखलायी पड़ने वाले।
प्रणति प्राप्त कर लगे बताने जग के कठिन कसाले—
"जगत-मुक्ति से विलग नहीं अब मनसिज! मुक्ति तुम्हारी।
जाओ प्रखर समर कर शिव को दो चेतनता न्यारी।"

कहा अतनु ने, "भले सिधारे संशय गया हमारा।
मेरा हृदय स्वयं रसकामी धैर्य खो रहा सारा।
अमर लोक में आदर करते मेरा प्यार बढ़ाते।
वे ही शंकर मर्त्यलोक में मेरे अरि हो जाते।

उनके मानस के रस का यदि पान न मैं कर पाया।
तो नव रसमय मर्त्यलोक को फिर नाहक ही आया।
आज समर उनसे ठानूँगा जी भर लोहा लूँगा।
लड़ कर, मर कर उनके हाथों, मन को शान्त करूँगा।

मरे बिना जीवन के रस का स्वाद कहां कब आया ?
वही पा सका जीना सच्चा जिसने मरना पाया।
इस मरने में स्वार्थ हमारा तुम परमार्थ बखानो।
मेरा ताप निवारित होगा लोकलाभ तुम मानो।"

यह कह कर मन्मथ ने फूलों का निज बाण सँवारा।
ललित इन्द्रधनुषी धन्वा पर हास-सहित फिर धारा।
नवयौवन की एक मदिरता अखिल लोक में व्यापी।
सरस लता-पल्लव-मिस पुलकित प्रकृति चंचला काँपी।
दानव आठ पहर के अंधे बने अधिकतर अंधे।
जलने लगे विषम ज्वाला में भूल गये सब धंधे। ३०
एक पद्म पर रतिनायक को और एक पर रति को।
सब को बिठा सप्रीति खगेश्वर उड़े बढ़ाये गति को।
उसी समय खगेश की महिमा सब लोगों ने मानी।
सागर, पर्वत पार दिखे जब क्षण भर में अभिमानी।
मदन-प्रेरणा से खगपति ने सब को वहां उतारे।
जहां शान्त कैलास अचल था अगम उच्चता धारे।

पास पड़ी थीं रुचिर शिलाएं बैठे सभी उन्हीं पर।
करने लगे विमर्श परस्पर सकल कार्यशैली पर।
हरि ने कहा, "अशिष्ट आक्रमण अधिक न होने पाये।
पीड़ा का आघात शम्भु को मृदुता साथ जगाये।" ४०
विहगनाथ, मुनि, अज, कमला ने किया विनीत निवेदन।
"देवदेव का चित्त नहीं हो अमित अधैर्य-निकेतन।
आवश्यक से अधिक न पायें चोट जगत के स्वामी।
कामदेव, इतनी करुणा के आज बने हम कामी।"
"यह तो बात नितान्त असम्भव"—निर्मम मन्मथ बोले।
"बिना उग्रता के शंकर के कभी न आसन डोले।
घोर विकृत हिंसा जब होगी करुणा-हृदय-विदारिणि।
तभी समाधि हिलेगी उनकी विश्व-उपेक्षाकारिणि।
प्रोत्साहन दें आप मुझे अब करूं रुद्र-आवाहन।
दानव-संगज अखिल विकृति के सज्जित कर लूं साधन।" ५०

क्षोभ बढ़ा मनोज का क्रमशः वाणी परम रसाला।
होने लगी प्रतीत सभी को अनलमयी विकराला।
तब टंकारित करके स्मर ने प्रत्यंचा अभिरामा।
मारा वाण धरा के उर में वह हो चली सकामा।
तीखी सुरभि धरणि में व्यापी अलि रसाल बौराये।
आग लगाने वाले गाने पिक चातक ने गाये।

अपने प्रियतम के हित पागल सी होकर बालाएं।
प्रणय-भेंट के हेतु गूँथने लगीं सुमन-मालाएं।
उत्कंठित हो गयीं वियोगिनि उमँग उठीं संयोगिनि।
६० एक मात्र जो योग-निरत थीं बनीं सहज ही भोगिनि।

एक वाण मारा सागर के उर में वह लहराया।
पूर्णचंद्र से मिलने के हित अमित वेग से धाया।
सागर के उर से लगने को दौड़ पड़ीं सरिताएं।
जल-विहंगमों की बोली में आयीं केलि - कलाएं।

अचल-कन्यका निर्झरिणी ने ऐसा गाना गाया।
काननवासी ऋषि मुनियों ने अपना हृदय गँवाया।
सरस हो गये नीरस नाले कल-कल नाद-प्रसारी।
वियोगिनी-नयनों में उमड़ी रसधारा मनहारी।

एक वाण पावक को मारा धधक उठा कामानल।
७० उषा देवि के पीछे दौड़े रवि तृष्णा से विह्वल।
घूँघट उठा सरोजकुमारी ने प्रियतम को झाँका।
काले भौंरों मिस काजल सा लगा नयन में बाँका।

बढ़ा ताप रवि की किरणों में मत्त बनाने वाला।
स्वयं वाण सी हो दौड़ीं वे ले मनसिज की ज्वाला।
चकई दौड़ गयी चकवा के पास विरह की मारी।
दिन भी निशि सा लेकर आया व्यथा मदन की भारी।

एक वाण मारा मारुत को वह मंजुल मनभाया।
नये पल्लवों नव कलियों से मिलने को ललचाया।
फूलों को चूमता फिरा वह लतिकाओं से अटका।
८० भौंरों को बहकाता घूमा दे सौरभ का झटका।
बालाओं के कल कपोल की पीकर मदिरा प्यारी।

कर्णफूल से केशफूल से खेल मचा मनहारी।
सिर से साड़ी को सरका कर खेल निराला करता।
चला अकुण्ठित-गति त्रिलोक में प्रखर मोह मद भरता।
पृथ्वी की सीमा न जहां थी जहां न जल की माया।
गति-अवरोध जहां पाती थी रवि किरणों की काया।
बहां गया मारुत मतवाला स्मर-संदेश-प्रवाहक।
चर औ अचर अचेतन चेतन बँधे प्रेम में नाहक।

डंका पिटा मदन का जग में लाज छिपी शरमायी।
आँखों का पानी सब उतरा बड़ी विकलता छायी। ९०
भूख प्यास की रही न चिन्ता भूल गये दुख सारे।
एक शूल पाकर जगती ने सब उर-शूल बिसारे।

हिला साधना मूल, विरागी बने प्रबल अनुरागी।
वेद-पाठ से उचट गया चित नारि-संग-रति जागी।
परम तत्व के जो खोजी थे बने विषय-रस-कामी।
कलह-चलित हो गये रहे जो अचल शान्ति अनुगामी।
यों तो विश्व सकल व्याकुल था स्मर-शर-प्रखर प्रताड़ित।
किन्तु शम्भु-आश्रम-पथ में था क्षोभ विशेष समाश्रित।
पाकर मदन-निदेश निमिष में मधु ने साज सजाये।
दोनों ओर रसाल-विटप घन बौर समेत दिखाये। १००

नवल आम्र मंजरियां लेने मृगाक्षियों का आना।
मधुप-आक्रमण से बचने को मधुमय गाने गाना।
बिम्बाधरा-तरुण अधरों की अरुण धारियाँ ऐसी।
विमल शारदी सान्ध्य व्योम में प्रभा-पंक्तियां जैसी।

आस पास सर निर्झर शोभन कुसुम लता छबि नाना।
पंक्ति बाँध अलि विहग मृगों का फेरी वहां लगाना।
काम-कलोल-निरत सबके सब विकृति-निरत मतवाले।
दृश्य विविध मनसिज के स्वागत हित मधु ने रच डाले।

रति औ रतिवल्लभ ने जब इस पथ पर पाँव बढ़ाया।
चतुरानन, श्रीवर मुनि ने भी क्लेश भयानक पाया।११०
कहा मनोभव ने तब उनसे-"धीरज आप न खोवें।

शंकर-हित ये अस्त्र हमारे आप न विचलित होवें।
हां, जब सर-निर्झर नीरस हों, फूल लता कुम्हलायें।
दृश्य मनोहर सब सपने की सम्पति सरिस बिलायें।
तब लेना यह जान गया मैं मारा शंकर-कर से।
आना कहने को तब आशय अपना विश्वंभर से।
समझाना रतिको सब विधि से ज्ञान कथाएं कह कर।
मरने ही से जीवन मिलता नव नव रसमय रुचिकर।
मरना एक नाम जीवन का उसको मर्म बताना।
जीना कायर होकर जग में जीवित मृतक कहाना।

यह कह पंचम वाण चाप पर रतिवल्लभ ने धारा।
सारा धर्म मिटाया जग का अपना धर्म सँवारा।
एक एक पदपात विकलता का उत्थान-पतन था।
स्वल्प विराम-मिलन भी मारक प्रखर विषाद-जतन था।
यों ही शिव के शान्त धाम में आये जब रसनायक।
समाधिस्थ अवलोक शम्भु को उमँगा तीखा सायक।
सुरभित-सुमन लता-भवनों का तान व तान निराला।
शम्भु-सदन में मदन-सखा ने डेरा अपना डाला।
नव उल्लास उल्लसित मधु ने सरस रसाल बनाया।
जिसकी मृदुल डाल पर चातक पिक ने गाना गाया।
व्याकुलता आयी बसने को उजड़ा शान्ति बसेरा।
ज्वाला, कोलाहल, चंचलता को बल मिला घनेरा।
रति-लोचन का सकल हलाहल खर यौवन की ज्वाला।
पान करा कर क्रूर विशिख को मुसकानों की हाला।
वहीं ओट ले एक विटप की भीषण रव गुंजारित।
शंकर उर-प्रति सुमन-विशिख ने लक्ष्य किया निर्धारित।
पीपल के पत्ते सा काँपा तीन लोक आशंकित।
अति भय शेष कमठ दिग्पालों के आनन पर अंकित।
अज,हरि,मुनिवर अति चंचल थे जो न चले अचलेश्वर।
अधिक निपीड़ित जगती होगी स्मर कृत पीड़ा लेकर।
रति की मूर्ति हृदय में धर कर शक्ति नवीना पायी।

मदन देव ने निर्मम मन में भर ली अधिक कड़ाई।
शिव-मानस-रस-प्रखर पिपासा से कर हृदय तरंगित।
कानों तक ली तान चाप की डोरी अमित अशंकित।
छूटा वाण अनंगदेव का ज्यों विषधाम भुजंगम।
पागल से हो गये विकल हो जीव जंतु जड़ जंगम।
जलने लगा जगत पावक में धधकी लपट कराला।
भुजग-विभूषण ने उसको भी हृदयंगम कर डाला।

कैसी बात भयंकर कर ने शक्ति आज सब खोयी।
डरे पंचशर तरकस में था वाण नहीं अब कोई।१५०
लोचन केन्द्रित हर-आनन पर तनु था काँपा जाता।
नीलकंठ संग्राम भयानक था अब उन्हें दिखाता।
तेज मिला मिट्टी में सारा मुँह पर स्याही आयी।
गिरा धनुष अति शिथिल करों से,ग्लानि निराशा छायी।
मुकुट हो गया धूमिल माथे पर आ गया पसीना।
लगा गरल से भी अति तीता असफल होकर जीना।
प्रियतम की यह गति विलोक कर रति अतिशय सुकुमारी
गिरी धरणि पर मूर्च्छित होकर अमित व्यथा की मारी।
कर न सके उपचार एक भी थी मति कुंठित सारी।
शिव - जागरण - पूर्व ही मरने की दीखी तैयारी।१६०
इसी बीच में दिखा अचानक वीतराग परिवर्त्तन।
अंतर की स्वर ज्वालाओं का गौर वदन पर नर्तन।
हिम से धवल देह ने पाया कंचन का अनुरंजन।
शत्रु-खोज-रत दिखे अरुण दृग रतिवल्लभ-मद-भंजन।
था संकोच न मदन देव को आगे वे आ जाते।
अपराधी मैं देव तुम्हारा घोषित कर बतलाते।
किन्तु विजय का स्वाद सरस वे लेने के थे कामी।
छिपे ओट में—और बढ़ायें रोष जगत के स्वामी।
दो नेत्रों से दिखा न कोई रुक कर ध्यान लगाया।
ज्ञाननिधान ललाट-विराजित नेत्र तृतीय जगाया।१७०
शीतलता थी वहां घनेरी मन का ताप मिटाया।

आशुतोष ने अनायास ही सहज भाव निज पाया।
हिंसा भाव विहीन दृष्टि थी अमृत-वृष्टिकारिणि वह।
थी न नाश-कामना-मलीना सतत सृष्टिकारिणि वह।
समाधिस्थ ही शिव को करने चली नितान्त अदीना।
निज अपराध-ग्रहण में तत्पर निज संशोधन-लीना।
छिप रहना अनुमान अहितकर मदन सामने आये।
विकृत-रूप थे वे मनमोहन आनन कांति गँवाये।
पड़े त्रिलोचन-लोचन पथ में वीर मनोभव भारी।
१८०कार्य्य-साधना-निरत मरण की कर के सब तैयारी।
सक्रियता का क्षेत्र देखकर मदन-करों विस्तारित।
बाधा के समूल वारण हित चली दृष्टि अनिवारित।
सब सविकार सृष्टि मन्मथ की लोप हो गयी छन में।
बौरे आम पपीहा पिक अलि रहे न शम्भु-सदन में।
होकर विलग विटप के उर से लता गिरी अवनी पर।
रस से हीन विहीन वेग से बने सरित सर निर्झर।
मार उमंग गयी सब मारी सृष्टि मरी बिन मारे।
नव लावण्य विनाश देखती रहीं प्रकृति मन मारे।
नव बाला के यौवन को ज्यों विगत जरा कर देती।
१९०तस्कर मन में चन्द्रकला ज्यों भाव मरण भर देती।
वर्षाकृत नालों के जीवन को ज्यों शरद मिटाता।
वदन-मृगांक कृषक-ललना का ज्यों ओला बिनसाता।
जैसे पावक की ज्वाला को पी ले जाता पानी।
ज्यों चंद्रिका मिटाती पल में संध्या-नाम-निशानी।
त्यों ही शंकर अमल दृष्टि ने लोप किया रतिपति का।
अगति सिधारी संदेशा ले अखिल विकार-विगति का।
केवल रति की मूर्च्छा पर की करुणा करुणामय ने।
यों भी अबला की रक्षा ही सोची बल-आलय ने।
जीवन उसका किया न शोषण पोषण ही प्रिय माना।
२००निर्विकार कैलास अचल की श्री सी उसको जाना।

मदन-मरण औ रति-मूर्च्छा ने जग को शिथिल बनाया।

यौवन मरा मरे सब के मन बनी भार सी काया।
आकर्षण-बल-रहित बनीं सब कुंजें शोभा-आकर।
गाती थी कोकिला न उनमें उसका हृदय गया मर।
कामिनियों की काजलवाली आँखों में न रहा बल।
तन को त्याग जवानी भागी ज्यों कपूर अति चंचल।
शेष न रही सरस युवकों में बोली और ठिठोली।
नहीं दमकते थे कुन्दन से गति मृतकों सी हो ली।
मदन मरण ने अज, हरि, नारद को भी शिथिल बनाया।
खगपति ने भी जीवन का रस मानो सकल गँवाया। २१०
तो भी बोध दान करने को वे सब वहां पधारे।
मूर्च्छित जहां पड़ी थी अब भी रति सब जगत बिसारे।
उनके यत्न बिना ही जागी काल-प्रेरणा पाकर।
उठने लगी प्रणाम हेतु ज्यों गिरी पछाड़ें खाकर।
श्रीवर ने उपदेश घनेरे देकर शक्ति दृढ़ायी।
अग्रगामिनी विश्वम्भर के पास चली तब आयी।
अमित बिलखती रोदन करती दीखी जब हतभागी।
करुणा से अभिभूत हो गये शंकर परम विरागी।
उसके पीड़ित मन का कर के विविध प्रकार प्रबोधन।
ब्रह्मादिक-स्वागत-प्रबन्ध - रत बने शील-पथ-शोधन। २२०
बैठे स्फटिक शिलाओं पर जब प्रणति-अनन्तर सब जन।
बोले रति से दीनबन्धु यों—"रहो नहीं पीड़ित मन।
बीर मदन का शोचनीय यह मरण नहीं मानूँगा।
फिर भी रुचे तुम्हें वह माँगो प्रीति सहित मैं दूँगा।"
पा कर के संकेत अलक्षित ब्रह्मा, हरि, मुनिवर से।
वर-याचना-तिमिरमय पथ पर भाव ज्योतिमय बरसे।
बोली हर से स्मर की विधवा जग-संजीवनदात्री।
"धन्य भाग्य जो प्रभु ने मुझको किया दया की पात्री।
हों प्रसन्न जो मुझपर तो प्रभु करें मुझे फिर सधवा।
धूप-छाँह जीवन में देखूं होकर सधवा-विधवा। २३०
दिवस-निशा का सा यह फेरा दो जीवन को मेरे।
नव-नव रस मेरे मानस के रहें सदा ही चेरे।

एक और वर माँग रही हूं दो मुझको करुणा कर।
यहीं निवास करूं प्रिय के सँग रचूं नवल रस का घर।
जग हित यहीं समान प्रेम का वितरण किया करें हम।
दानव का मानव का देवसभी का सेवन किया करें हम।
इसीलिए हम आये जग में, पीवें अमृत, पिलावें।
खिलें सुमन की भाँति, जगत को सुमन समान खिलावें।
प्रभु समाधि तारक-कारा से मुक्ति चाहिए हमको।
केवल मक्ति न भुक्ति अकेली युक्ति चाहिए हमको।"
"एवमस्तु," बोले करुणाकर कामदेव फिर जागे।
प्रभु के श्री पदपद्मों के प्रति प्रीति-सहित अनुरागे।
कंज-विनिन्दक वदन निरख कर रति-मानस लहराया।
महारंकिनी ने मानो फिर रानी का पद पाया।
मृतकप्राय बनी जगती ने प्राप्त किया नव जीवन।
ब्रह्मा, हरि, मुनिवर आदिक का जागा फिर सोया मन।
रहित विकार रसाल भ्रमर पिक उपवन कुंज बनाया।
लोक-वेद-मरजाद थाप कर प्रभु ने रस बरसाया।

परम नम्रता साथ कही तब बात मदन ने हर से।
एक प्रार्थना मुझको करनी विभुवर विश्वम्भर से—
"किया पार्वती ने तप भारी नाथ उन्हें स्वीकारें।
परिणय का प्रिय उत्सव रच के सब की व्यथा निवारें।
कोशलेश-अविराम यातना, शान्ता की व्याकुलता—
सहनातीत क्लेश शृंगी का, धरणी-व्यथा-विपुलता।
अज, हरि की वेदना विगत हो कार्त्तिकेय जब आयें।
तारक का कर अन्त शीघ्र ही रस की धार बहायें।"
प्रेम - सहित प्रस्ताव श्रवण कर दीनबंन्धु मुसकाये।
पुलकित गात हो गया सारा दृग में जलकण छाये।
मदन करो जो भावे तुमको मैं सब का ही अनुचर।
जैसे हो कल्याण जगत का कार्य करो वह सत्वर।

ब्रह्मा श्रीहरि नारद रति को मिला प्राण सा मानो।
डूब रहे थे अगम सिंधु में मिला त्राण सा मानो।

दयाधाम हर की स्वीकृति ने वह प्रिय रस बरसाया।
जिसने अखिल सृष्टि-मानस की नस-नस को सरसाया।
कहा मुदित हो श्रीवर ने तब, मुनिनायक से, "जाओ।
गिरिजा को सम्वाद हर्षमय अवगत शीघ्र कराओ।
कहो हिमाचल से भी जाकर शीघ्र लगन भिजवायें।
अमरों का अभिमत रसदायक उत्सव शीघ्र मनायें।"
अवगाहते मोद-अम्बुधि में वीणा-वादन करते।
चले महामुनि निज प्रसाद से आभा मंजु वितरते। २७९
आये जहाँ विराज रही थीं तप में रता भवानी।
बोले, "देविदेवि अब जागो जागे हर वरदानी।
चलो गेह अब जननि जनक का शीतल हृदय बनाओ।
देवदेव आयेंगे उनको प्रिय पीयूष पिलाओ।
मौर तुम्हारे हेतु धरेंगे सिर पर जग के स्वामी।
वे सब भाँति उदार कृपानिधि जन-इच्छा अनुगामी।"
नेत्र खुले जग की जननी के कर प्रणाम मुसकायीं।
बोलीं, "कैसे खनी आपने शंकर-उर में खाईं।
अचल चित्त की वृत्ति तोड़कर कैसे चल हो आये?
मर्त्यलोक में महादेव को क्यों रतिबल्लभ भाये?" २८०
तपोमयी को मुनिनायक ने सब इतिवृत्त बताया।
मदन समर फिर मरण जागरण क्रम-क्रम से समझाया।
करुणा ही से स्मर को जीवन दान किया यतिवर ने।
अधीनता चरणों में मानी कर प्रणाम रतिवर ने।
प्रसन्नता गिरिजा आनन पर छिप पायी न छिपाये।
गंगा की लहरों में जैसे तरणि-बिम्ब लहराये।
"देवि चलो अब अपने घर को," बोले मुनि विज्ञानी।
"जननी जनक हृदय भी उमँगे गौरव पा अभिमानी।"
कर स्वीकार वचन मुनिवर के उमँग चलीं जगदम्बा।
जनक हिमाचल जननी मैना की जीवन-अवलम्बा। २९०
आगे मुनि पीछे जगजननी प्रभु-गुण-कथन-सहारे।
अनायास कर पार पंथ सब आये गिरिवर-द्वारे।
मुनि के संगपधारी बेटी वृत्त मिला जब प्यारा।

मैना और हिमाचल-लोचन से उमड़ी जलधारा।
दौड़ पड़े स्वागत हित दोनों निधि थी आँखों आगे।
फिर भी संशय था क्या सच ही भाग्य हमारे जागे!
पल में मुनि आगे दोनो ही गिरे दंड की नाईं।
अनायास ही जलधाराएं पद पखारने आयीं।
परम प्रीति-विह्वल मुनिवर ने उनको सपदि उठाया
शिव जागरण, उमा-रति-स्वीकृति सकल प्रसंग बताया।
कठिन तपस्या से गिरिजा कर शंकर उर का कर्षण।
आयी आज तुम्हारे गृह को करने नवरस वर्षण।
जगदाराध्य विवाह करेंगे चरण यहां धारेंगे।
वे सच्चिदानन्द जीवन दे तुमको उद्धारेंगे।
मीठे फल मेवे आदिक से मुनि का आदर करके।
बार-बार उनके चरणों पर विनत शीश निज धरके।
बेटी के बहुविधि दुलार में भूल गये अपने को।
कितनी दुबली होकर आयी, व्यर्थ गयी तपने को!

आँखों में भर नीर गिरी फिर मैना मुनि चरणों पर।
"नाथ बात यह तनिक न भाती शंकर हों गिरिजावर।
रोक सको तो अब भी रोको बेटी को समझाओ।
भंग-तरंगी को जामाता मेरा नहीं बनाओ।
जटा जूटधारी त्रिविलोचन भुजग मात्र ही भूषण।
अंग विभूति, दिगम्बर, शूली, सब दूषण ही दूषण।
ऐसे को निज कन्या देकर पाऊँगी, सो जाना।
जीवन भर आहें भर-भर कर होगा अश्रु बहाना।
स्वयं विधाता ने क्या पाया कार्त्तिकेय से देखो।
कुगति शारदा ही की सी अब गिरिजा की भी लेखो।
विधि का अन्तर्दाह न मुझको दो मुनियों के नेता।
तड़पन दे देकर मत मारो हे जगती-हित-चेता!
कहीं तनिक सी देरी होगी भंग न दे पायेगी।
तो कराल शापानल में जल मिट्टी हो जायेगी।
जिसे सनक आती पल-पल में उस चंचल के पाले।
पड़ कर होंमे मेरी रानी के जीवन के लाले।

साँपों की फुफकार देखकर डर जायेगी बेटी।
फिर तो हाय बिना मारे ही मर जायेगी बेटी।
जो न मरेगी तो मरने के भय में होगी प्रति पल।
यह संशय सौ सौ मरने की पीड़ा देगा अविचल।
और कभी समाधि जब लेंगे युग-युग खबर न लेंगे।
अबला सती समान मरण का तब सामान करेंगे। ३३०
जागें तो अविराम यातना सोवें तो दुख भारी।
ऐसे को कन्या देने की हिम्मत नहीं हमारी।
अभी-अभी सब जगने देखी शक्ति सुमन-सायक की।
लगी न एक प्रसिद्ध विभवमय अखिल जगत-नायक की।
उसके ही वश होकर जागे वे कैलासविहारी।
लोक-विमोहन के शराग्र पर नची धरा यह सारी।
बात आपकी मानेगी यह आप इसे समझायें।
ब्याह करे स्वीकार मदन सँग जैसे बने मनायें।
जो यह होगा नहीं, कलेजे में सौ बाण गड़ेंगे।
तलफ-तलफ उर में रहने ही को ये प्राण अड़ेंगे।" ३४०

बात हिमाचल के मन की थी, श्रवण लगे थे करने।
गिरिजा के अधरों के ऊपर स्मिति थी लगी विचरने।
मैना, गिरिवर की उत्कंठा गिरितनया-कौतूहल।
मनि ने शमन किया दोनों का वचन-सुमन दे निर्मल।
"अब भी क्यों करती हो शंका, धन्य भाग्य जगदीश्वर—
देवदेव आयेंगे, होंगे खड़े यहां ड्योढ़ी पर।
जगदीश्वरी तुम्हारी कन्या, वही घड़ी यह लायी।
त्याग समाधि ब्याह करने हित करुणा प्रभु को आयी।"
विविध प्रकार महामुनिवर ने दम्पति को समझाया।
शंकर मूल जगत-जीवन के प्रखर प्रताप बताया। ३५०
अवसर जान तुरत ही उनसे पत्री लगन लिखायी।
दे आशीश शम्भु-आश्रम-प्रति अपनी प्रगति बढ़ायी।

था दरबार लगा शंकर का शोभामय मनहारी।
राजित थे जिसमें रतिवल्लभ ब्रह्मा रमाविहारी।

एक ओर अमरावलि बैठी रुचिर वसन वर धारे।
अपर ओर गण भूत भयंकर अम्बर आदि बिसारे।
बात छिड़ी थी मुनिपति ने क्यों अधिक विलम्ब लगाया।
आशंकित थे विघ्न नया क्या कोई पथ में आया।
इसी समय मुनिनायक आये लिये लगन की पाती।
जिसे देख शीतल हो आयी सब की ताती छाती।
कामदेव ने लेकर कर में उरसे उसे लगाया।
जीवन का अभिमत सारा रस मानो उस छन पाया।
लगे बाँचने फिर वे पाती सब को रस देने का।
बढ़े श्रवण शत-शत जीवन का प्रिय पियूष लेने को।
दिन मुहूर्त्त सब बाँच बताया मोदित परम मदन ने।
सब ने मोद, कुतूहल पाया हर आमोद - सदन ने।
लगता था दरबार नित्य ही नित्य यही थीं बातें।
तरह-तरह की ठिठोलियां थीं सरस प्रीति की घातें।

एक दिवस प्रभु से मुनि बोले, "मुझको कुछ कहना है।"
प्रभु ने कहा, "कहो मत केवल, अब हमको करना है।
इन्द्र और इन्द्राणी के ढिग सत्वर ही चलना है।
कठिन तपस्या में रत उनके खेद सकल दलना है।"
सकल योगबल लिये खड़ा था नंदी आगे आकर।
मुनि के संग विराजे प्रभुवर ज्यों शशि संग प्रभाकर।
आर्त्त वेदना, मुनि उत्कण्ठा, प्रभु-पीड़ा से बलमय।
व्योम-मार्ग-गामी नन्दी चल पड़ा प्रखर गति निर्भय।
अमरेश्वर के राजभवन के शीघ्र आ गया आगे—
दम्पति यों ही कहते दौड़े अमित प्रणत अनुरागे—
"दीन भवन में घोर तिमिरहर रवि शशि दोनो आये।
मला हो गया हमने कितने लाभ दण्ड से पाये।"
भक्ति सहित आरती उतारी प्रभुकी इन्द्राणी ने।
दिया दृगों को भाव-प्रकाशन-भार रुद्ध वाणी ने।
प्रभु बोले, "माँगो अमरेश्वरि, वर जो तुमको भाये।
अनायास ही तृप्ति सुरेश्वर को जिसमें मिल जाये।

देवराज-रानी तब बोलीं, "प्रभु प्रसन्न यदि हम पर।
तो यह भाग्यचक्र का फेरा फिर-फिर दो हे ईश्वर!
दे प्रमाद विषमय विवाद दो फिर विषाद दो स्वामिन्!
अमल कृपा-पीयूष-प्रवर्षक फिर प्रसाद दो स्वामिन्!
और एक प्रार्थना हमारी पूर्ण उसे भी कर दें।
मर्त्यलोक में आयें हम भी मंगलमय अवसर दें। ३९०
पाणिग्रहण उमा का देखें धन्य करें ये लोचन।
हरो हमारी प्यास यही हर हे जन-आर्त्ति-विमोचन!"

इन्द्राणी के वचन श्रवणकर मन्मथारि मुसकाये।
बोले, "देवि कहां ये तुमने तत्त्व मनोहर पाये?
सफल साधना आज तुम्हारी जीवन-रस पहचाना।
सिद्ध कामना होगी सारी तुमने जग को जाना।"
मुनिनायक की ओर विलोका यह कहकर प्रभुवर ने।
समझा भाव, निमंत्रणपत्री दी तुरंत मुनिवर ने।
इन्द्र और इन्द्राणी दोनों पढ़ उसको हर्षाये।
गात हो गया पुलकित दृग में अश्रु मोदमय आये। ४००

समाधान करके सुरेश का, सुरेश्वरी का सब विधि।
गमने श्री कैलाश धाम को मुनि के संग कृपानिधि।
अवसर जान प्रसंग उठाये मुनिवर ने कितने ही।
पाये उत्तर सरल मनोहर प्रश्न जटिल जितने ही।

प्रभु आये कैलास अचल पर चहल-पहल बढ़ आयी।
क्लेश जगत के शीघ्र नसायें चिंता मन में छायी।
नाश-नियम का अतिक्रमण क्यों तारक ने कर डाला?
लगे सोचने क्यों दी उसने जग को इतनी ज्वाला?
क्रमशः सब अमरों को भेजा गया निमंत्रण प्यारा।
आये सब लेकर लहराती वर विनोद की धारा। ४१०
तारक के बंदी अमरों ने मुक्ति सहज ही पायी।
मुक्तिधाम की परिणयवार्त्ता मुक्तिधाम-ढिग लायी।
ज्यों-ही-ज्यों विवाह की घटिका पास चली आती थी।
त्यों-ही-त्यों कैलास अचल पर भीड़ बढ़ी जाती थी।

शास्त्रों ने धन्यता प्राप्त की अपनी अनुगति पाकर।
रव-गुंजित की सकल दिशाएं वेदों ने भी आकर।

क्रमशः दिन विवाह का आया लगे बराती सजने।
प्रभु-माया से सुवाहनों की माला लगी विलसने।
भाया जो कुछ जिसे वही था प्रस्तुत उसके आगे।
कामदेव की सुघर व्यवस्था से सब जन अनुरागे।
हर-अनुचर प्रेतों की सेना सजने लगी निराली।
स्वामी के विवाह से वे थे प्रमुदित गौरवशाली।
जैसा भी स्वरूप था उसको सब ने बहुत सँवारा।
बार-बार सामग्री लाने को मधु को ललकारा।
गौर, चन्द्र-निन्दक मुख प्रभु का देख-देख ललचाये।
हिम के जल में मुँह का कालापन धोने को धाये।
अमरों को हँसते विलोक कर वे नाहक अरुणाये—
विधि ने हाथ न देकर जिनके सिर थे विविध बनाये।
"मेरी नाक दाँत से काटो छोटी उसे बनाओ।
एक आँख मैं दूँगा तुमको देख दृश्य तो पाओ।"
दाँत तुड़ाने को आतुर थे लम्बे दाँतों वाले।
मिला न कोई हाँफ रहे थे लम्बी जीभ निकाले।
प्रभुवर सिर पर मौर धरेंगे, हम भी क्यों न धरें फिर?
हिम प्रदेश की किसी प्रेतिनी को हम क्यों न वरें फिर?
बिना रूप के नहीं वरेगी कोई प्रेतकुमारी।
तड़प उठी प्रिय रूप-प्राप्ति-हित प्रेत-मंडली सारी।
थके सरित सर निर्झर आनन का प्रतिबिम्ब दिखाते।
पानी थका वदन को धोकर उसमें पानी लाते।
थके वसन्त फूलमालाएं मनचाही पहनाते।
किन्तु न थके निराले प्रेमिक अपना रूप बढ़ाते।
जैसे-तैसे समझ स्वयं को अमित रूप-अधिकारी।
की समाप्त सब प्रेत जनों ने अपनी प्रिय तैयारी।
क्यों न मिलेगी हमको दूल्हन जब हम यों छविशाली?
आपस में बढ़-बढ़ कहते थे, हँसती थी अमराली।

श्रीवर ने हँस कहा, प्रेतगण केवल सुघर न दीखो।
प्रेतकुमारी के रंजन-हित नृत्य-गान भी सीखो।"
"नृत्य-गान भी सीखेंगे हम", प्रेत सकल चिल्लाये।
देव-देव थे जहां वहां तक श्रवणों में स्वर आये।

नृत्य-गान-अभ्यास चला फिर स्वयं महाप्रभु आगे।
देख विनोद रमावल्लभ का गौरीवर अनुरागे। ४५०
अंग-भंग जिनके थे वे ही तान तोड़ने आये।
थी लापता नासिका जिनकी गान जोड़ने आये।

अमित प्रीतिमय वचनावलि से रतिवर ने सत्कारा।
"ठीक न होगा यों थक जाना,"-उचित विमर्श उचारा।
"अमरों को भी अब कर लेनी होगी सब तैयारी।
संग-संग सब चलें बराती सम्मति यही हमारी।"

तदनन्तर रति से वे बोले, "प्रभु सिर मौर सँवारो।
दूलह के अनुरूप सजा कर वृष-वाहन पर धारो।
कामदेव की बात श्रवण कर गये अमरगण सजने।
चले प्रेतगण आवासों को, बल सब संचित रखने। ४६०

रति संकुचिता थी प्रभुवर का कैसे साज बनाऊं?
काले साँपों का भय भारी कैसे ढिग जा पाऊं?
उसके मन का भाव समझकर करुणामय मुसकाये।
भय के सब सामान उन्होंने पल में सकल छिपाये।

राशि-राशि विकसित सुमनावलि मधु लेकर के आया।
फूलों ही का मौर मनोहर रति ने तुरत बनाया।
फूलों की गङ्गा लहरायी फूलों ही का शशिकर।
रति ने रचे अमित कौशल से फूलों ही के विषधर।

सुमन-भुजंगों ही का कुंडल कंकण कलित सँवारा।
एक पीत उपवीत उरग-छवि रचा मनोहर प्यारा। ४७०
कनक-धूलि लेकर विभूति का किया प्रबंध मनोहर।
चम्पक-कुसुमावलि सेविरचा ललित पीतपट सत्वर।

जब सज गये महावर छवि से करुणाधाम उमावर।
रति ने कंज-चरण-ढिग जाकर तब दे दिया महावर।

यों शृंगा यतीश्वर का कर नन्दी पास पधारी।
भरने लगी सरस छवि उसमें काम-कामिनी प्यारी।
पीले रँग से सींगों को रँग गल में गजरा डाला।
श्वेत पीठ पर धरा दुशाला पाटल सुमनों वाला।
मदन देव ने ले जा उसको खड़ा किया प्रभु आगे।
बैठे परम प्रफुल्ल-वदन वे भाग्य जगत के जागे।

स्वल्प साज से अमरवृन्द की छवि हो गयी निराली।
४८० पंक्ति बाँध हो गये खड़े वे नव-नव गौरवशाली।
औरों की क्या बात कहें जब विधि में था परिवर्त्तन।
उनके तन में भी होता था तरुणाई का नर्त्तन।
दुर्लभ दूलह देख अमरगण ने दृग का फल पाया।
मधु में मत्त मधुप इव अपना आपा सकल भुलाया।
फिर औचक जग गये न जाने क्या आवाहन आया।
विविध भाँति से वाद्य बजाया गान मनोहर गाया।
आगे शम्भु अमरगण पीछे, पीछे प्रेत सकल थे।
श्याम घटा इव बहु कुंजर थे, तुरग अतीव चपल थे।
प्रभु-इच्छा-वश सुर-वाहन से होड़ नहीं कर पाया।
४९० प्रेत-मंडली आगे नंदी पिछड़-पिछड़ कर आया।
करते विविध पड़ाव मार्ग में बार-बार सँग लेते।
बोली - ठोली भरी ठिठोली बोल-बोल रस देते।
अमर गिरीन्द्र-नगर में आये अखिल नयन-आकर्षक।
रूप-मधुरिमा के रसिकों-हित नव मधुधारा-वर्षक।
इतने सुघर बराती जिसके दूलह कैसा होगा!
जैसा भाग्य अचल-कन्या का किसका ऐसा होगा!
उत्कंठित बालक - मण्डल था दूलह-दर्शन पायें।
तप्त नयन की प्रखर पिपासा पीकर रूप नसायें।

५०० वृषवाहन थे चले आ रहे प्रेत-मण्डली आगे।
तनु-आन्दोलन के होते भी अपने में अनुरागे।
एक पालकी में रतिनायक रति के सँग चलते थे।
ज्ञान-धाम को कर्म-ध्यान में सतत निरत करते थे।

कहें प्रमाद सुमन - सायक का या विस्मरण बखानें।
या उनकी शृङ्गारवासना - परम प्रबलता मानें।
या थोड़े से रस-विकास की सहज प्यास अनुमानें।
जो हो हटा निरीक्षण उनका, कौन हेतु क्या जानें।

जगदीश्वर ने सुमनावलिमय निज शृङ्गार भुलाया।
प्रकृत भुजग-भूषण-अलंकृता कर ली अपनी काया।
प्रेतों के स्वरूप में भी हो गया प्रकृत परिवर्तन।
करने लगी भयंकरता निज नग्न रूप में नर्तन। ५१०

जहां अमर विश्राम - निरत थे वे क्रमशः नियराये।
बालक सकल विलोक दृश्य यह भाग चले भय खाये।
लेकर प्राण भगीं बहु नारी चाव भरी बेचारी।
गिरती-पड़ती गयीं भवन में थर-थर कम्पित सारी।

मैना ने संवाद श्रवण कर प्रण तुरन्त ही ठाना।
होने दूँगी ब्याह नहीं मैं गिरिपति का मनमाना।
नहीं भाड़ में झोंकूँगी मैं बेटी परम दुलारी।
चिन्ता नहीं अगर रह जाये अविवाहिता कुमारी।

बिठा गोद में प्रिय कन्या को दृग से बारि बहाये।
"ऐसे ही वर के हित बेटी, तुमने गात गलाये! ५२०
बात न तुमने मां की रक्खी अपनी बात निभायी।
ब्याह सँपेरे सँग करने की बदनामी ही आयी।

धोखा दिया भुझे नारद ने क्यों यों रोया जाता?
हृदय-धरा में बीज व्यथा का क्यों यों बोया जाता।
तुम्हें संग ले पितासदन को अभी चली जाऊँगी।
ब्याह न होगा, बरातियों को बैरँग लौटाऊँगी।"

निज आँचल से पोंछ जननि के आँसू गिरिजा बोलीं—
"अम्बे! तुम तो नाहक इतनी पीड़ा पाकर डोलीं।
जिन्हें सँपेरा तुम कहती हो वे अमरों के स्वामी।
स्वयं इन्द्र अज औ कमलापति उनके ही अनुगामी।५३०

किसी सँपेरे के विवाह में देव भला जायेंगे?
नारद आदि महामुनि होकर आकर्षित आयेंगे?

अग्नि, वरुण, मारुत इन्द्रादिक देखो तो सब आये।
कामदेव भी तो अनुचर हो दल-बल संग सिधाये।
तुम्हें नहीं विश्वास अगर हो, मन्मथ को बुलवाओ।
समाधान कर लो सत्वर ही शंका सकल मिटाओ।"
मैना को यह बात भा गयी प्रिय पति को कहलाया।
गिरिपति ने रतिकान्त-मिलन का उचित प्रबन्ध कराया।
कामदेव रति संग पधारे गिरे उमा - चरणों पर।
"देवि, तुम्हारी उग्र तपस्या से आया यह अवसर।"
रति ने भी चरणों की रज ले माथे उसे लगाया।
"देवि, तुम्हारा दर्शन पाकर जीवन का फल पाया।"
किया प्रणाम उभय ने मैना को सादर तदनन्तर।
उमा-जननि ने आशिश के संग आसन दिया मनोहर।
कामदेव को श्रवण कराकर तब निज शंका सारी।
कहा—"बताओ सम्मति अपनी हे नव कुंजविहारी।"

कामदेव बोले, "हे माता, शंका व्यर्थ तुम्हारी।
रस-आवास प्रकृत शंकर ही मानो बात हमारी।
भेस देखकर मत घबराओ केवल प्रकट भयंकर।
लेते कठिन परीक्षा जन की जन-वत्सल अभयंकर।
अमर लोक में उनसे बढ़कर एक नहीं अनुरागी।
मर्त्यलोक में उनसे बढ़कर कोई नहीं विरागी।
कर अनुराग-विराग उभय का परम रुचिर गँठबंधन—
पायी शक्ति महत शंकर ने अरि-विक्रम-मद-भंजन।
ज्ञात पराक्रम मेरा सब को मैं भी उनसे हारा।
शीतल दृष्टिपात से मुझको अविनाशी ने मारा।
उनकी करुणा से जीवित हूं, आया हूं बन अनुचर।
मेरे भी आराध्यदेव वे जगत-जनक विश्वम्भर।
जगदम्बा उनको न वरेगी तो फिर किसे वरेगी?
चन्द्रकला शिव का माथा तज कहां विलास करेगी?
त्याग करो सब संशय अपना बाधा एक न डालो।
साँझ हो गयी काम सँभालो नाहक समय न टालो।"

यह कह उठे अनंग संग ही रति ज्यों दिन औ छाया।
चलते-चलते भी रतिपति ने भाँति विविध समझाया।
कर प्रणाम गमने तब अपने मधु-गृह को रसदानी।
पाकर बोध बनी साहसमय हिमगिरि-प्रिया सयानी।

मैना की उत्साह-किरण ने ज्योति नवीन जगायी।
प्राणहीन उत्सव में मानों संजीवनी पिलायी।
चौंक गये सब लोग देखकर उनका धीरज भारी।
होने लगी प्रतीक्षा आयें द्वारे शिव कामारी। ५७०

और प्रतीक्षा में थे जिसकी वह तो नहीं पधारा।
आया भुवन-विमोहन कोई छवि के हाथ सँवारा।
विश्वनाथ ने लोक-प्रीति-हित दिव्य रूप था धारा।
अपने भक्तों का कुरूप भी हरण किया था सारा।

अन्धकार में उषाबाण से देवदेव वे आये।
एक साथ ही अन्त निराशा दैन्य, ग्लानि का लाये।
भय का काम न शेष रहा अब प्रभु ने रस बरसाया।
भागा-भागा जो फिरता था भागा भागा आया।

जीवन-निधि सी पाकर मैना फूली नहीं समायीं।
सहित उमंग संग ललनाजन परिछन के हित आयीं। ५८०
आँखों भर अवलोक महाछवि आपे में न रहीं वे।
स्वप्न लोक के मोद-उदधि में होकर विवश बहीं वे।

हाथों ने कब काम किया सब कुछ न उन्होंने जाना।
जाना तो बस यह, क्यों टोका सब ने आँख गड़ाना?
जन्म-जन्म की प्यास बुझाने का जब अवसर आया।
क्यों प्यासे नयनों के मग में काँटा गया बिछाया?

द्वार-अर्चना स्वीकृत कर जब आये प्रभु जनवासे।
वाद्य नृत्य आतसबाजी के होने लगे तमासे।
अमरों के गुरु गुरु से उलझा पंडित एक निराला।
अक्षर का भी शत्रु नया ही सूत्र बनाने वाला। ५९०

बालकगण की थपोड़ियां थीं अट्टहास था भारी
एक हंस को घेर लिये हों ज्यों कौए रवकारी।

पंडितराज बृहस्पति ने बस मंद मृदुल मुसकाकर—
मारा प्रबल विरोधी भागा अपने मुँह की खाकर।
शास्त्र-विवाद अनन्तर भोजन भाँति-भाँति के आये।
दूलह सहित बराती जन ने षोड़श व्यंजन पाये।
शुभ मुहूर्त्त में वर-कन्या दल परिणय के हित बैठे।
मंडप में दर्शक नर-नारी मोद-सिंधु में पैठे।
बाजे बजे बड़े मनमोहक कामिनियों ने गाया।
६०० वेद-ध्वनि से अज गुरु मुनिगण ने आकाश गुँजाया।
विघ्न-विनाशन का अर्चन कर हर ने भाँवर फेरी।
उमा-माँग में सेंदुर डाला पाकर प्रीति घनेरी।
ब्याह हो गया हर गिरिजा का सारा क्लेश भुलाया।
अमरों ने उत्साह अपरिमित औ नव जीवन पाया।
हर-गिरिजा-जय का निनाद ले मारुत लगा विचरने।
कुंज-कुंज में, भवन-भवन में घोषित-पोषित करने।
स्वागत औ सत्कार विविध कर करके बहु पहुनाई।
हिमगिरि-मैना ने रो-रोकर की प्रिय सुता-विदाई।
ज्ञान-निधान शम्भु प्रभुवर ने जीवन-नियम बताये।
६१० सहज भाव से अति विचलित उर के भी खेद नसाये।
अपने-अपने गृह को गमने वाहन-सजग बराती।
गिरिजागण रति पति अज नारद सहित मदन-आराती।
निखरी छवि कैलास धाम की मंजुल शोभाधामा।
बनीं अन्नपूर्णा प्रभुवर की गृहसेविका ललामा।
स्मर ने सुमन द्रुमावलि-संकुल नवल निकुंज बनाये।
नव-नव पीड़क तान-अलापक कोकिल वहां बसाये।
युग-युग से कैलास-शिखर ने गान न था जो जाना।
गाया वही मधुप चातक ने पा मधुबल मनमाना।
कामदेव-अनुमति से रति ने करना मान सिखाया—
६२० हिमाद्रिजा को प्रणयास्वादन का नव पंथ दिखाया।
जगदीश्वर-अनुराग-वेदना से जब थे मर्माहत।
बनीं मानिनी जगदम्बा ले आग्रह अचल नवागत।
"त्याग समाधि बने प्रभु मेरे तन-मन-रस के चाहक।

किन्तु समाधि नहीं लेंगे फिर मानूं क्यों यह नाहक?
परिवर्त्तन से मैं शंकित हूं दो आनन्द अनश्वर।
जो यह सम्भव हो न, मुझे मत छेड़ो हे विषधरधर!"
"रात बिना दिन, रात बिना दिन नीरस होगा ज्यों ही।
प्रिये, समाधि तथा तन-मन-रस को तुम समझो त्यों ही।
परिवर्त्तन से क्यों डरती हो? वह नव रस का दाता।
महाकाल का चक्र रुचिर वह जीवन-खेल-विधाता।" ६३०
वचन-स्रोत रसहीन बना सब रोष-तरणि के मारे।
चला उपाय नहीं कोई भी सब करके हर हारे।
बोले, "प्रिये, चलो रविजा की बातें श्रवण कराऊं।
मान सिंधु यह अगम तुम्हारा शायद यों तर जाऊं!"
यह कर अंगीकार शंकरी बनी शम्भु-अनुगामिनि।
धाये प्रभुवर योग-शक्ति से बिजली द्रुतगति दायिनि।
अपना ही न मनोरंजन था इष्ट जगतस्वामी को।
किसी भक्त की व्यथा खली थी उन अंतरयामी को।

करती फिरी खोज पावस की मिले न कहीं दुलारे।
तीर्थराज में रवि की तनया बैठी थी मनमारे। ६४०
परम निराशा-अंधकार था गंगा तभी पधारी।
प्राणेश्वर-संदेश संग ले हृदय-प्रफुल्लितकारी।
घनी अमा के अंधकार में दोनों का वह संगम।
ऐसा था, करती हो निशि को ज्यों ज्योत्स्ना हृदयंगम।
तनु से विरहित होकर भी प्रिय मन के भीतर बैठे।
गंगा ने सब समझाया ज्यों रोम-रोम में पैठे।
पौ फटने पर ज्यों फट जाता तम का परदा काला।
त्यों ही मोह मिटा मानस से आया ज्ञान-उजाला।
थे आकाश-मार्ग में राजित शंकर उमाविहारी।
दीख पड़े रवि की तनया को मंजुल ज्योतिप्रसारी। ६५०
खड़ी हो गयी जैसे-तैसे पा जाह्नवी-सहारा।
कढ़ते थे न वचन; आँखों से कढ़ती थी जलधारा।
जलद-घोष सा नभ से आया, "बेटी अब माँगो वर।
चाहो तो आनन्द तुम्हारा कर दूं यह अविनश्वर।"

अंचल से जल पोंछ दृगों का बोली रवि की बेटी—
"बड़ी कृपा की प्रभु ने मेरी आज वेदना मेटी।
परिवर्त्तन-विरहित प्रमोद प्रभु किन्तु नहीं प्रिय मेरा।
मुझे वेदना और मोद का दो निशिदिन सा फेरा।
प्रियतम के सनेह में पड़कर मतवाली बन घूमूं।
पीड़ा का मद लेकर करिणी सी बन-बन में झूमूं।
रोने के रस से हँसने के रस को सरस बनाऊं।
हालाहल ज्वालामय पीकर प्रिय पियूष पा जाऊं।"
दृष्टि फेंक गिरिजा आनन-दिशि शंभु मृदुल मुसकाये।
स्वीकृति-वचन-सुमन नव विकसित अधरों से गिर आये।
प्रभु-मुसकान विलोक उमा का मान गया गल सारा।
ज्यों न टिकी पावक के आगे प्रबल मोम-हठ-धारा।
भक्त हृदय का आश्वासन कर शंभु सदन को गमने।
विरति-मुक्त मन गिरि-नन्दिनि का लगा निरति में रमने।
"विरति-विहीना निरति न लूँगी विरति न निरति-विहीना।
मुझको भी दो हे जगसाईं दृष्टि नितान्त अदीना।"
कहती चलीं बात यों मग में प्रीतिमयी जगमाता।
लगे जागरण का रस पाने जीवन-मोद-विधाता।
दो हृदयों की बढ़ी एकता हास-विलास-विकासिनि।
मानस के कोने-कोने में मनसिज - रस - उल्लासिनि।

कामदेव रति दोनों ही में होड़ लगी थी न्यारी।
प्रभु के रमण-निमित्त निकुंजें रचें विमोहितकारी।
अरुण-पीत-सित सुमनावलिमय ललित रसाल-विलम्बित—
विरची एक निकुंज युगल ने मिलित कुशलता-मंडित।
भेदभाव के चतुर पारखी प्रभु ने सब पहिंचाना।
जिसमें मिला अभेद उसी को परम मनोहर माना।
लोक-लोक की मंजुल छवियां कृतार्थता हित आयीं।
प्रभु के हेतु अमित क्रीड़ाएं विलासिताएँ लायीं।
थी शुभ घड़ मुहूरत शुभ था जग-जीवन-अवलम्बा।
करुणामयी बनीं जब गिरिजा गर्भवती जगदम्बा।
देव तथा मानव-समाज में आयी जीवन-आशा।

बढ़ी विपुल दानव-कुल में त्यों व्याकुलकरी निराशा।
श्री कैलास ओर ही थे अब लगे जगत के लोचन।
करुणाधाम पधारेंगे कब तारक - विपद विमोचन।
एक एक पल बीत रहा था एक महायुग जैसा।
पूछ रहे थे—प्रभु विलम्ब क्यों लगा रहे अब ऐसा? ६९०

आयी वह शुभ घड़ी मुहूरत भी अति पावन आया।
नारायण को नवल रूप में त्रस्त लोक ने पाया।
कार्त्तिक कृष्णपक्ष षष्ठी तिथि को अवतरे कृपानिधि।
नखत कृत्तिका उदित गगन में हित-साधक ही सब विधि।

खाली गोद भरी गिरिजा की भरा शम्भु-मन रस से।
जीवन-सिद्धि मिली रतिपति को गण प्रमोद से विकसे।
उठा बोल सा कैलासाचल अमित हर्ष के मारे।
उर - उमंग उसकी कहते थे विकच-लता-द्रुम प्यारे।

अज, नारद, रतिपति के मन का मोद बखानूं कैसे।
उनको जीवन - मूल मिला था अंधे को दृग जैसे। ७००
सरबस दे डालना कभी भी उन्हें न इतना भाया।
मुँहमाँगा वह दान पा गया जिसे माँगना आया।

उड़े विहंग, पवन भी दौड़ी ले संदेश मनोहर।
आतुर थे, फैला दें जग में अति प्रिय वार्त्ता द्रुततर।
किन्तु उन्होंने देखा, सबने उनसे पहले जाना।
शम्भु-प्रताप अमित गतिशीलों ने तब प्रखर बखाना।

कौन बता देता कमलों को अब दिनमणि आयेंगे?
कहता कौन मधुपमाला से सरसिज खिल जायेंगे?
किसने कहा चकोरी से जा रात सलोनी आती?
चंद्र-किरण-रस के पीने से होगी शीतल छाती। ७१०

प्रभु का वह अवतरण मंजु था भूमि-भार हरने को।
देव दनुज मानव सब में ही शक्ति-तुलन करने को।
उर-उर के भीतर धँस-धँस कर कहा किसी ने "स्वामी -
करुणा कर के आज पधारे घट-घट-अंतरयामी।"

कुम्हलाये फूलों ने पाया तन में आज निराला।
दग्ध लता-मंडल ने पहनी सरस सुमन की माला।

"हर लेंगे षट वदन हमारे संकट और कसाले।"
कहते यही फिरे षटपद भी गुंजन-रत मतवाले।
कर के भी अन्याय विविध विधि दानव जीता ही था।
अहंकार वारुणी निरन्तर खल-मति पीता ही था।
अवध अभागे के दिन भी अब फिर से फिर आयंगे।
कहा किसी ने दशरथ-मन से प्रभु रस बरसायंगे।
ध्यान-मग्न शृंगी ऋषिवर को मिला मनोहर सपना।
दानव - वंश - निकंदन आये बंद करो अब तपना।
अवध-आपदा से चिन्तित थी शान्ता परम सयानी।
पड़ा कहीं से स्वर कानों में, "आये प्रभु, वरदानी।"
मर्त्यलोक का मधु पीकर के अमरावलि ऊबी थी।
व्याकुलता-निधि में मघवा की मति-गति सब डूबी थी।
प्राणों से कह दिया किसी ने—"वे जगत्राता आये।"
अपने मद से मत्त हरिण से फिरते थे बौराये।

अति उत्साह-समेत जन्मदिन-उत्सव कर निर्धारित।
चतुरानन ने किया निमंत्रण चारों ओर प्रचारित।
नियत काल पर अमर पधारे फूले नहीं समाते।
तारक - शीघ्र - निधन-आशा से भरे उमंग दिखाते।
मध्याह्नोत्तर वेला में तब बैठी सभा निराली।
जिसमें देव-देव शोभित थे सहित सजी अमराली।
सकल निर्जरों ने अपने मन का उल्लास दिखाया।
कार्त्तिकेय सेनापतित्त्व प्रति निज सहयोग बताया।
कहा चंद्रमा ने, "पखवारे में मैं यौवन दूँगा।
अमृत पिलाऊँगा मन माना मन में मोद भरूँगा।"
कहा तरणि ने "दे सकता हूं सप्त अश्वमय रथ मैं।
कर सकता हूं सतत प्रकाशित गुप्त दैत्य का पथ मैं।"
"मैं दूँगा वरुणास्त्र भयंकर जिसके संचालन से—
मेघ बिना ही प्रलय काल का जल अनिवारित बरसे।"
वाणी यह वारुणी श्रवण कर, अग्निदेव ने भाषा।
"दूँगा मैं वह बाण न जिससे अरिदल-जीवन-आशा।
बोले मरुत शीत - संचारक, "शर प्रचंड मैं दूँगा।

कास-श्वास मारक रोगों का जिसमें सार भरूँगा।"
कहा इन्द्र ने, "वृत्त दैत्य को जिससे था संहारा।
दूँगा वज्र वही मैं अपना तेजवान जो न्यारा।"

यों ही कह कर सब अमरों ने निज निज शस्त्र भयंकर।
देव-देव को किये समर्पित, हों प्रसन्न अभयंकर।
भाषण किया सदाशिव ने तब परम निराशाकारक।
प्रति मानस-उल्लास-सुमन कृत सकल सरसताहारक—
"हे अमरो! ये शस्त्र तुम्हारे मेरे हेतु निरर्थक।
तारक के विरोध का कैसे मैं हो सकूं समर्थक?
मेरे रुद्र रूप का तारक रहा सदैव उपासक।
मेरी अंगीकृति ही से वह बना जगत का त्रासक।
उस पर अस्त्र उठाऊं कैसे वह मेरा अनुरागी?
कैसे हनन करूं निज जन का बनूं अयश का भागी।
मानव-अमर-द्रोह से केवल दानव - मरण न होगा।
अनायास मिट जायेगा जब मेरी शरण न होगा।"

पंकज-वन में पाला सा यह वचन शम्भु का आया।
अमरों ने निज सकल परिश्रम आज व्यर्थ सा पाया।
बढ़ी विधाता की व्याकुलता मनसिज ने समझाया।
नारद मुनि ने एक-एक ढिग जाकर धैर्य बँधाया।

जब से शान्ता बनी बंदिनी शोणित नगर विकल था।
नित्य नये अशकुन होते थे कलह-विकास प्रबल था।
तारकाक्ष को रोक न पाये हिंसा से मुनिनायक।
आन्दोलन बढ़ता जाता था द्रुततर द्रोह-विधायक।
बंदीगृह से निकल भागना कामदेव औ रति का।
बना उत्तरोत्तर ही साधन वर्द्धित दैत्य-कुमति का।
व्यक्ति-व्यक्ति में क्रोधानल की धधकी लपट कराला।
पहनी सब ने हृदय-देश में मलिन द्वेष की माला।
कीर्त्तिस्तम्भ महान शिखर ने गिर कर यह बतलाया।
सर्वनाश दानवगण का अब अति समीप ही आया।
क्यों बढ़ गये उपद्रव इतने शान्त नहीं क्यों होते?
पड़े ज्योतिषीगण संकट में रात-रात थे रोते।

कहा एक ने जा तारक से "बस न हमारा कोई।
प्रभु के प्रबल पाप ने सारी शक्ति हमारी खोई।
हो कैलास-निवासी स्मर ने हर - उद्वाह कराया।
कार्त्तिकेय का जन्म हो गया काल तुम्हारा आया।"

श्रवण ज्योतिषी की वाणी कर दानवपति अकुलाया।
सिर से मुकुट गिरा धरती पर स्वेद-बूँद कढ़ आयो।
चला गया ज्योतिषी कुअवसर जान प्राण-रक्षण-हित।
चिल्ला उठा क्रुद्ध दैत्येश्वर मानो जग-भक्षण हित।

बैठा था मंत्रणाभवन में गूँज उठी चिल्लाहट।
निज-निज कक्ष छोड़कर दौड़े मंत्री पाकर आहट।
उन्हें देख चिल्लाया फिर से अहंकारमय तारक।
"बरसाओ कैलास अचल पर अनलबाण संहारक।

कामदेव-रति, शंकर - गिरिजा को अविलम्ब जलाओ।
जो विद्रोही बने हमारे उनका चिन्ह मिटाओ।
क्यों हो खड़े? तुरत ही जाकर गगन-यान दौड़ाओ।
शिव के गिरि को ढेर राख का पल में करके आओ।"

उचित त्वरा कर सचिव चले जब तारक ने फिर रोका।
"विज्ञापित करना, तब देना उन्हें मरण का झोंका।
मरने के पहले जानें तो किसने क्योंकर मारा।
रुद्र उपासक का बल देखे शिव, शिवमण्डल सारा।"

किया प्रयाण व्योमयानों ने बिजली खबरें लायी।
तारक ने तब मुकुट उठाया मन में थिरता आयी।
काँप उठे वे बलशाली भी कौन घटा घहरायी?—
'शिव की नहीं तुम्हारी अंतिम घड़ी शीघ्र ही आयी।'

कथन-समापन से पहले ही उठे सदाशिव शंकर।
उत्तेजना दिखी आनन पर कुछ अज्ञात भयंकर।
खड़े हो गये सकल अमरगण भेद न जान सके कुछ।
कोई बात लगी अति अप्रिय यह पहचान सके कुछ।

शंका-सिंधु-तरण से प्रभु ने सब को शीघ्र उबारा।
आगे बढ़ कर बोले, "देखो गौरव उदित तुम्हारा।
तारक मुझको शत्रु मान कर क्या कहता वह देखो।

कुछ नीचे आकाश-मार्ग में क्या लिखता वह देखो। ८१०
"मर्त्यलोक में रुद्र देव की महिमा ग्रथित बनेगी।
उनके ही अनमोल गुणों की माला ग्रथित बनेगी।
मुझसे द्रोह बढ़ाने वाले हे शंकर! सच जानो।
भस्म करूंगा तुम्हें तुम्हारे शैल-सहित ध्रुव मानो।
काम देव रति को बहका कर अपने यहां बसाया।
किया विवाह पिता बन बैठे अति अभिमान बढ़ाया।
मदन षड़ानन सहित तुम्हारा नाम-निशान मिटाऊं।
तब मैं रुद्र-उपासक त्रासक तारक दैत्व कहाऊं।"
बड़े अक्षरों में अंकित अपमान-लेख यह देखा।
अमरों ने उसमें अपने ही को अपनानित लेखा। ८२०
अकस्मात ही शैल-मूल में दीखी पावक ज्वाला।
चंडी के समान ग्रसने को बाये वदन, कराला।

जब लौं भीतिग्रस्त अमरावलि शिव की ओर विलोके।
तब लौं स्तम्भन कर प्रभुवर ने वेग अनल के रोके।
शीघ्र तेज से रहित हो गया राख मात्र अंगारा।
गिरा साथ ही व्योमयान-दल जल पावक में सारा।

आसन पर फिर बैठे प्रभुवर बैठी सब अमरावलि।
झड़ने लगी अरुण अधरों से अमृतमयी वचनावलि।
"तारक-अरि-दल-संहारक था, समाधिस्थ मैं होकर।
तारक का संहार करूँगा अब सब ममता खोकर। ८३०
तारक हित निर्माण-रता थी गिरिजा अम्ब समाना।
अमरों-हित निर्माण करेगी वह भी अब मनमाना।
भौतिक अस्त्र दिये दानव को अमरलोक में हमने।
पायेंगे ब्रह्मास्त्र षड़ानन जायेंगे जब लड़ने।"

'साधु' 'साधु' कह कर अमरों ने शिव की नीति सराही।
सच्ची प्रीति-रीति प्रभुवर ने सकल भाँति निरवाही।
अपनी ही करनी से दानव अपनी मौत मरेगा।
कार्त्तिकेय प्रभु का मारण-श्रम हलका सकल करेगा।

चंद्रकला की भाँति बढ़े प्रभु प्रति दिन नव छविधारी।
स्वाती-मेघ समान अमर-दृग-चातक पुलकितकारी। ८४०

पंद्रह दिन में ही किशोर वय का था रूप सलोना।
जिसे देखकर लगा जगत का सब रस-हीन, अलोना।
शरद-चंद्र-निन्दक आनन में विकसित पंकज लोचन।
करुणा-वृष्टि-निरत करते थे हृदय-वेदना-मोचन।
ललित भाल में तिलक वशीकर गोरोचन विलसित था।
जिनका पार्श्वभाग अलकावलि-लहरित छवि-मंडित था।
नवल नासिका का सुडौलपन कल कुंडल-आन्दोलन।
अरुण अधर मृदु हास सुरंजित विरति शक्ति संतोलन।
शतशत रत्नाभरणअलंकृत सिर पर मुकुट विराजित।
८५० गोरे तन पर वर पीताम्बर पवन केलिमय भ्राजित।
पंख मनोहर देख मोर का वाहन प्रभु को भाया।
शंकर गिरिजा अमर मुदित थे देख उन्हें ललचाया।
कैलासाचल मृदुल हास से गूँज उठा मनहारी।
जब भगवान षड़ानन दौड़े चढ़ अभिराम सवारी।
नित्य नवल क्रीड़ाएं करते मोद विविध सरसाते।
धन्य देखनेवाली आँखों को अविराम बनाते।
सेनापति पद-योग्य हो गये गिरिजा-दृग के तारे।
तिमिर-रूप दानव-नाशन-रत दिनकर-सदृश दुलारे।

पंद्रहवें दिन सभा लगी फिर शंकर-गिरिजा बैठे।
८६० कार्त्तिकेय के रण-प्रयाण हित सब उमंग में पैठे।
वेद मंत्र उच्चारित करके गुरु ने स्नान कराया।
धारणा करा नवल बर अम्बर माथे तिलक लगाया।
दिया इन्द्र ने सेनापति पद योग्य मुकुट-धारण हित।
उसको लिया षड़ानन प्रभु ने जगत-ताप-वारण हित।
रत्नविमंडित, चंड प्रभामय मुकुट शीश पर सोहा।
देख न सकी किसी की आँखें अधिक-अधिक मन मोहा।
स्वर्ण-जटित सिंहासन पर जब बैठ गये जगनायक।
गिरिजा ने आरती उतारी कीर्त्ति ज्वलन्त विधायक।
की वंदना सकल अमरों ने, स्वयं शम्भु ने, जिसकी।
८७० उसके महा प्रताप-कथनमें गति हो सकती किसकी?
देख देख कर दशा मनोहर गिरिजा हृदय उमंगित।

देवदेव का तन भी पुलकित, मन था सतत तरंगित।
जय जयकार किया अमरों ने धन्य पिता औ माता।
जिनका तनय मनस्वी होवे जगती-भाग्य-विधाता।
उमा आरती कर आयी जब उठे सदाशिव शंकर।
अपने आसन ही से बोले वाणी स्वर अभयंकर—
"भाग्यवान अति कैलासाचल, यह शुभ घड़ी पधारी।
कार्य-निरत हो चले षड़ानन हरने जग दुख भारी।
कल्प कल्प में जब अमरों की व्यथा अधिक बढ़ आयी।
कैलासाचल ने जगती में अपनी शक्ति पठायी। ८०
जगत-परिस्थिति-संतोलन का वही काल शुभ आया।
अधिक समय तक टिक न सकेगी अब दानव की माया।
अमर लोक में पूर्ण सत्य से ऊब जभी हम जाते।
तब असत्य-प्रति आकर्षित हो इस जीवन में आते।
जब असत्य की अमित अधिकता भार यहां हो जाती।
पूर्ण सत्य प्रति प्रीति अवारित वृद्धि सहज तब पाती।
कार्त्तिकेय के इस चालन में निहित महापरिवर्त्तन।
देखेंगे हम शीघ्र जगत में महानाश का नर्त्तन।
मानव और अमर - उत्पीड़न की हो गयी महत्ता।
तारक को अब अनुभव होगा निर्बल उसकी सत्ता। ८९०
जेठ मास का तरणि-ताप ज्यों हरता सरिता - जीवन।
कार्त्तिकेय-आक्रान्त मरेंगे त्यों ही सहज दनुजजन।
अहंकार कुचला जायेगा तारक - मारण होगा।
मारण ही के द्वारा तारक का संतारण होगा।"
यह कह कर आगे बढ़ शंकर कार्त्तिकेय ढिग आये।
सहज प्रेम से आँखें छलकीं पुलकित - गात दिखाये।
खड़े हो गये विनत षड़ानन धीर भाव अपनाये।
शिव ने उनके षट कंधों पर षट तूणीर सजाये।
करके प्रकट अमर सम्मुख तब ब्रह्मास्त्रों की माला।
अंधकार में भी जो कर दें द्वादश भानु - उजाला। ९००
तूणीरों में एक - एक कर देव-देव ने डाले।
आशीर्वचन दिये—अरिदल के पड़ें प्राण के लाले।

गिरे पिता के पदपद्मों पर कार्त्तिकेय आभारी।
"नाथ मुझे यश देने के हित लीला सकल तुम्हारी।
दानव-नाश तथा अमरों का सतत विकास करूँगा।
मानव जो रोते निशि-वासर उनमें हास भरूँगा।"
मां ने आगे बढ़कर मंजुल सुमनमाल पहनायी।
अमरों ने भी डाल गले में माल स्वप्रीति दिखायी।
जननी के चरणों पर गिर कर कर प्रणाम सुरगण से।
९१० आशीर्वाद लिये प्रभु ने मिल जनक-समादृत गण से।
मंजु मोर वाहन पर बैठे जग-पीड़ा-संशोधक।
बारम्बार अम्ब-विचलित उर - आश्वासक, उद्बोधक।
प्रभु मन की प्रेरणा समझकर उड़ा मनोरम वाहक।
विश्व अटन कर शृंगीऋषि द्रुत मिलन लक्ष्य-संग्राहक।
पड़ते रहे दिखायी जब लौं थे सब आँख लगाये।
मिटी सूक्ष्म रेखा भी जब सब निज आसन पर आये।
कहने लगे कथाएं रोचक तब कैलास - विहारी।
गिरिजा के मानस-सरोज-हित प्रफुल्लता - संचारी।

लेकर विदा शैलबाला से वीणाधारी मुनिवर।
९२० चले अवध-पीड़ा-वारण-हित धरते प्रति पद द्रुततर।
दिन-दो-चार बिता अमरावलि चली गयी घर अपने।
पोषित करती निज-निज उर में नवजीवन के सपने।
कामदेव, रति रहे वहीं पर प्रभु का मन बहलाते।
नव क्रीड़ा - विनोद धारा में गिरिजा को नहलाते।
मीठा कभी कभी अति तीखा था वह मन का रंजन।
लेते थे आस्वाद यथारुचि शंकर भवभय - भंजन।

———

षोड़श सर्ग

उजाड़ने को कुटी शरद की दृढ़ हेमन्त पधारे।
एक छत्र साम्राज्य-पिपासा अपने उर में धारे।
निर्धन, धनी उन्होंने दोनों विलग-विलग दिखलाये।
काँपा थर-थर एक, अन्य ने भाव प्रीति के पाये।

पाया त्रास अमल कमलों ने ललित लता अकुलायी।
पाला पड़ने के पहले ही चिन्ता से कुम्हलायी।
लहराती खेती पर बूँदें सघन ओस की छायीं।
ओले भी आयेंगे मारक विपद-सँदेशा लायीं।

औरों की तब बात कहें क्या आप शिथिल जब दिनकर।
अस्त हो गयी यश गाथा सब दीखे वे जीवित भर।
पहले थे पीयूष - पाणि अब हिमकर पदवी पायी।
बदली देख हवा शशिकर ने नवल कला दिखलायी।

किया प्रबल हेमंत देव ने वश में वरुण, पवन को।
खड्ग-समान हवा जल दोनों लगे काटने तन को।
स्वाद-परस जिनका रसमय था आज हो गये तीखे।
पड़ कुसंग में सहृदय जन भी नीच, कलंकित दीखे।

जला-जला कर राख बनाने वाली अनल कराला।
लगने लगी मधुर ज्यों अलि को लतिका ललित रसाला।
स्वार्थ नहीं जब होता कोई स्वार्थी सदा अकड़ते।
स्वार्थ तनिक सा आ जाने पर वे ही पाँव पकड़ते।

जिन सन्तों को शरद देव ने दी करुणा अनियंत्रित।
वे हेमन्त कुशासन में अब हुए शीत से कम्पित।
मन ही मन पूछने लगे वे स्वल्प वसन-व्रत-साधक—
यह हेमन्त कहां से आया ईश-भजन में बाधक!

दौड़ दौड़ जिसकी लहरों से लोग लहर लेते थे।
गहरी से गहरी थकान को मरण-कहर देते थे।
वह अछूत हो गयी सरित क्यों छूना आज बचाते?
छू जाने पर क्यों भुजंग का दंशन सा पा जाते?

हिलती तरु शाखाओं के मिस हिला-हिलाकर अपना।
आमंत्रित करते थे जो गिरि प्रणय दिखा कर अपना।
पाकर टोपी श्वेत बरफ की बने वही गरबीले।
त्याग रसीले भाव हो गये करुणा में भी ढीले।

जेठ मास में रवि ने मधु पर प्रखर प्रहार किया था।
भीषण अनल बाण द्वारा तनु सारा छेद दिया था।
काल चक्र गतिवश दिनकर को हिम ने विजित बनाया।
अमित प्रतापी को लज्जा से विगलित-वदन दिखाया।

हरे भरे गोहूँ, जौ, अरहर खेत लगे लहराने।
हरियाली उनकी मनहारिणि लगी दृगों को भाने।
गाती गीत सिचाई करती नवल कृषक ललनाएं।
दिखलाने लग गयीं सहज ही अपनी सरस अदाएं।

वृन्त-वियोजित नव कलिका सी नवल वधू अभिरामा।
मंजु पालकी-घन में विलसित बिजली सी छविधामा।
मातृ-अंक तज पति-गृह जाती पड़ने लगीं दिखायी।
विरह-मिलन की धूपछाँह से विमोहिता, अकुलायी।

उतर गया आँखों से पानी उसकी प्यास सिरानी।
भूख जगी केवल भोजन की पाकर नयी जवानी।
खाया वही पचा छन भर में "अधिकाधिक ही खाओ"—
दी हेमन्तराज ने आज्ञा भोजनमय हो जाओ।

गयीं देर कर, चलें शीघ्र घर, इसी भाव में भर कर।
भाग चलीं भूखी ही कम्पित शीत-भीति से थर-थर।
चिड़ियों ने नीड़ों में आकर शिशुओं को जब पाया।

स्नेह-उमंगों ने गरमाहट-तृप्ति-भाव सरसाया।
परम क्रूर हेमन्त राज में रसिक भाव यह न्यारा।
वियोगियों का मिलन कराना क्यों उर में निरधारा?
ज्यों-ज्यों शीत बढ़ी त्यों ही त्यों बने वियोगी योगी।
सभी प्रणय-रोगी हो आये जग के भोगी-योगी।

निर्दय हिम ने शृंगीऋषि का क्लेश विशेष बढ़ाया।
कहीं न अंत अमित धीरज का तदपि उनमें पाया।
एक भाव में, एक प्रणय में, एक स्वाद में अविचल।
कार्त्तिकेय ही के चिंतन में ऋषि निमग्न थे अविकल। ६०

विंध्यदेश में अष्टभुजा के चरणों की ले छाया।
शृंगीऋषि ने कार्त्तिकेय - हित साधन अमित बढ़ाया—
जिनके जन्म बिना तारक का निधन नहीं हो सकता।
आयें वही महाप्रभु उर में लेकर दिव्य अमरता।

दिन का था अविराम यही जप, चिन्ता थी यह निशि की।
ज्योतिनिधान पधारें, काटें तिमिर-राशि दिशि दिशि की।
"क्यों विलम्ब करते श्रीवल्लभ नहीं हृदय में आते?
झाँक-झाँक मुसका-मुसका कर फिर ओझल हो जाते।

बचन दिया था रूप षड़ानन धारण कर आऊँगा।
दानव अंत करूँगा सत्त्वर नव मधु बरसाऊँगा। ७०
कृपाधाम क्यों अकरुण ऐसे? क्यों न सनेह दिखाते?
क्यों आँखों के आगे आकर खड़े नहीं हो जाते?

महारानियों को वह पीड़ा महाराज का रोदन।
शान्ता का मेरे वियोग में भींगा कमल-विलोचन।
अमरों का विषाद मानव का जर्जर होते जाना।
विरहामृत-वंचित प्रमोद-वन का नीरसता पाना।

यों ही चला चलेगा कब लों हे चंचला-विहारी?
यों ही निशि-वासर बीतेंगे कब लों नाथ खरारी?
पावस गया शरद भी बीता अब हेमन्त पधारा।
अभी बिताओगे कितने दिन किंकर थका तुम्हारा?" ८०

प्राणों के प्रति कम्पन में यह ध्वनिता ऋषि की वाणी

गूँज रही थी लोक-लोक में, विचलित थे सब प्राणी।

तीखी प्रखर हो गयी पीड़ा दिव्य दृष्टि तब आयी।
ऋषि के अन्तर में प्रकाश की एक राशि नव लायी।
जाता था न सँभाला इतना था आवेग प्रखरतर।
आया वह आलोक अलौकिक दिखा न जो महितल पर।

खुले आप ही आप नयन प्यासे मतवाले।
लगे गगन की ओर पलक न गिरानेवाले।
दोलित रंजित वसन तीव्र आगामी दीखे।
धारे छः तूणीर जगत के स्वामी दीखे।

सत्त्वर उतरे नाथ गगन से, फिर वाहन से।
लगे गले से दौड़ प्राण मन ऋषि के हरसे।
'यों ही रहिए देव हृदय से मुझे लगाये'—
रुद्ध कंठ से शब्द यही ऋषि के कढ़ पाये।

"तारक का संहार इष्ट हम दोनों ही को।
शान्ता का उद्धार इष्ट हम दोनो ही को।
भेद न कोई शेष हृदय का खेद भगाओ।
आत्मसात कर मुझे समर प्रांगण को जाओ।

गले लगाने नहीं, तुम्हीं में बस जाने को।
आया हूं मैं ऋषे, तुम्हीं में धँस जाने को।
अपनाता हूं पूर्ण जिसे मैं अपनाता हूं।
कर देता हूं चूर्ण जिसे मैं ठुकराता हूं।

कल्प-कल्प में जभी प्रबल दानव बौराये।
सीदित मानव, देव नयन-जल-राशि अन्हाये।
तभी शक्तिमय बने सत्य त्रिविलोचन शंकर।
दोनों ही का अंशरूप मैं हूं अभयंकर।

दानव मानव देव सभी का ताप - निवारक।
मैं सब का ही भाग प्रीति से वितरणकारक।
तूणीरों में बाण प्रेम ही के लाया हूं।
जग-सेनांपति, तुम्हें कीर्त्ति देने आया हूं।

पायी तुमने दिव्य दृष्टि मुझको अवलोको।
देखो मेरा रूप नयन की पलकें रोको।
देखो ये तूणीर बाण ये इनके देखो।
अपना जीवन आज सफल हे ऋषिवर लेखो।

ये षट बाण विचित्र तुम्हारे रक्षक होंगे।
अनायास ही दैत्य - वृन्द के भक्षक होंगे।
तीन उमा के बाण सतत निर्माण करेंगे।
तीन शम्भु के बाण शत्रु के प्राण हरेंगे।

उमा बाण में एक बाण 'संकल्प' कहाता।
चण्ड अनल भी देख जिसे शीतल हो जाता। १२०
उसका देख प्रताप चकित तुम हो जाओगे।
अगर मरेगा एक लक्ष सैनिक पाओगे।

एक बाण का नाम 'दैन्यहर' दैन्यविदारी।
करुणामयि-वात्सल्य भाव अतिशय उद्गारी।
उसे चलाकर प्रीति अम्ब में उपजाओगे।
सैन्य-संगठन-निरत सुकर अगणित पाओगे।
'अनासक्ति' शर एक अम्बकृत परम भयानक।
जिसका देख प्रयोग मरेगा शत्रु अचानक।
सैन्य-प्रचालन आप करेगी तब जगमाता।
जब उसका जन बन न चलेगा स्वार्थ विधाता। १३०

'साम्ययोग' खर बाण एक हिमकर-लोचन का।
करता जो नित कर्म दैत्य के मदमोचन का।
कहां दनुज में शक्ति चोट जो उसकी सह ले।
छोड़ेगा वह प्राण विद्ध होने के पहले।

महाकाल का एक बाण 'कंकाल' कहाता।
चला काल की भाँति शत्रु दल जो बिनसाता।
छोड़ोगे जब उसे बने विकराल गात्र ही।
रह जायेंगे दैत्य दलित कंकाल मात्र ही।

नीलकंठ का एक 'हलाहल' बाण लयंकर।
छोड़ोगे जब उसे ज्वलित होंगे अभयंकर। १४०
दीन व्यथा में व्यथित सहज संहारक होंगे।

अपना ही रण मान अनय के मारक होंगे।"
षट् विज्ञान महान षड़ानन के आनन थे।
जिनमें द्वादश नयन-सरोरुह ज्योति-सदन थे।
धनुष कान तक तान लक्ष्यरत दो दो कर थे।
जगमग जगमग वाण तेज के पुंज प्रखर थे।
दिव्य दृष्टि थी तदपि चकित थकते थे लोचन।
मुकुट, विलोचन, वदन देखते ऋषि आकुलमन।
चातक को थी प्यास मिले स्वाती का पानी।
धारामय वह आज पधारा जीवन-दानी।
जो अव्यक्त.अमान, अगोचर, अलख कहाया।
महाकाल के गूढ़ ध्यान में जो न समाया।
दृगों-सामने आज सहज ही वही दिखाया।
जिसका गाकर गान वेद ने पार न पाया।

क्रमशः रूप विराट महा प्रभुवर ने धारा।
चरण गये पाताल मुकुट ने गगन सँवारा।
व्याप्त हो गयीं सकल दिशाएं औ विदिशाएं।
क्षितिज हो गया पार बढ़ीं प्रभु-दीर्घ भुजाएं।
आनन छः विस्तीर्ण निगलने लगे अखिल जग।
सहज बने उदरस्थ स्वयं ऋषिवर विचलित-पग।
विविध भाँति के दृश्य प्रीति औ भय-उत्पादक—
वहां देखकर विकल हो चले ऋषि-कुल-नायक।
कहीं सृष्टिरत शक्ति रंग भरती दिखती थी।
रचना का कर अंत कहीं वह 'इति' लिखती थी।
कुसुम-वाण ने वाण कहीं संधान लिया था।
महाकाल ने कहीं भवों को तान लिया था।
कोटि-कोटि शत कल्प लक्ष अगणित मन्वन्तर।
नव-नव अज हरि शम्भु आगमन-गमन निरन्तर।
एक निमिष के मध्य महाप्रभु ने दिखलाया।
दिव्य दृष्टि-सम्पन्न विकल ऋषि ने भय खाया।
'डरो न मेरे भक्त'—वचन श्रीमुख से आये।

सहज रूप को प्राप्त हो गये प्रभु मनभाये।
"आओ मेरे साथ मोर पर बैठ चलो अब।
पारङ्गत हो गये अवध की विपद दलो अब।"
ज्योतिधाम को धार वितरता शोक - त्राण सा।
चित्रकूट को मोर चला तब दीप्ति-वाण सा।
अंधकार क्यों शेष अवध का रह जायेगा?
तारक-आशा-महल नहीं क्यों ढह जायेगा?
अकस्मात ही विवश लिया वाहन ने फेरा।
लोचन में भर वारि उसे प्रभु ने था प्रेरा। १८०
नील जलद सी कान्ति स्वर्ण आभा से मण्डित।
तीर्थराज की ओर चली गति तीव्र अखंडित।

तीथराज में पूत जाह्नवी-तट पर सुन्दर।
दीन कुटी में एक वास करता था द्विजवर।
संकट अगणित झेल खोजता था प्रभुवर को।
घने तिमिर के बीच तिमिरनाशक दिनकर को।
प्रभु के अमित स्वरूप कल्पना ने दिखलाये।
नहीं एक प्रति प्रेम-भाव उसमें आ पाये।
उलझन अति विकराल रूप धारण करती थी।
करती अधिक अशान्त भाव भय का भरती थी। १९०
कार्त्तिकेय की क्षीण झलक उसने तब पायी।
हृदय-कली तत्काल विकच उसकी हो आयी।
उमँगा सहज सनेह सकल मानस-मल खोता।
खनने पर अविराम मिला पानी का सोता।
किन्तु नहीं था अंत अभी यात्रा का आया।
द्विज ने था अनुमान मात्र प्रभुवर का पाया।
वह भी कोमल शस्य चर गये पशु मनमाने।
द्विज होकर असहाय लगा रह रह पछताने।
तारकारि का स्मरण किया फिर यत्न अमित कर।
पशुता की बल-हानि हो गयी किंचित सत्वर। २००
अंकुर आये नवल बढ़े फिर लह लह होकर।

पशु ने हो बलवान उन्हें फिर वहीं लिया चर।
द्विज करता उद्योग उसे पशु विफल बनाता।
रह-रह तिमिर अपार दृगों आगे छा जाता।
अश्रु-आह अवलम्ब ले चला तब हतभागा।
वह भी टूटा हाय बड़ा कच्चा था धागा।
करुणामय-प्रति आर्त्ति-भावना फिर धारण कर।
स्मृति ही में संकल्प मरण का निरधारण कर।
ग्राह-ग्रस्त गजराज सदृश ही त्रस्त-निपीड़ित।
२१० यों ही स्तुति में निरत हो गया वह अचलीकृत।

—गीत—

जयति षड़ानन, गिरिजानंदन
पारस ही की भाँति कान्तिमय
जड़ लौहता-निकन्दन।
हूं आकंठ निमग्न पंक में,
लीन अमित काले कलङ्क में,
हाथ पकड़ मुझको भी खींचो,
दो निवास पूनो-मयंक में,
मिले अमृत त्रयताप-विभंजन। जयति०
अहंकार बन अश्रु बहा सब,
२२० नहीं पराक्रम शेष रहा अब,
तुम्हीं उबारो तो उबरूं मैं,
अधिक न जाता क्लेश सहा अब,
शिथिल हो गया करके क्रंदन। जयति०
तुम्हीं रुद्र हो, तुम शंकर हो,
शक्ति-उमा-लाड़िले कुँवर हो,
अमरों के उद्धारक तुम हो,
तारक-मारक तुम्हीं प्रवर हो,
दीन नयन के पावन अंजन। जयति०
जग ने कर साधना प्रखरतम,
२३० पाया तुममें अपना ही श्रम,
मैंने तो श्रम किया न कोई,

दया-योग्य ही हूं अधमाधम,
मुझ पर हो न नियम का बंधन। जयति०
अमित भ्रान्ति से हूं अकुलाया,
मुझे चाहिए शीतल छाया,
प्राण ले लिये विस्मृतियों ने,
शेष रही अब केवल काया,
प्राण भीख दो जन-मन-रंजन। जयति०
ऋद्धि-सिद्धि दे दीन करो मत,
श्री-समृद्धि में लीन करो मत, २४०
मुझे चाहिए भक्ति तुम्हारी,
निज करुणा से हीन करो मत,
खल पशुता-शिर कर दो खंडन। जयति०

होकर निपट निराश शिथिलता उर में पाकर।
खोया वह असहाय सिंधु में जल ज्यों जाकर।
मानो मादक द्रव्य किया हो उसने सेवन।
वह विषाद से विकल हो गया अमित अचेतन।

सोया था वह, कौन जगाने उसको आया?
जड़-अन्तर में क्रान्ति कौन चेतन यह लाया?
टूटी गहरी नींद, खुले द्विजवर के लोचन। २५०
झलकी मंजुलमूर्त्ति महाप्रभु की भयमोचन।
स्वर्णवर्ण वर मुकुट मंजु कच घूँघरवाले।
लहरित शोभाधाम वायु-लालित मतवाले।
षट आनन षट शीश बाहु द्वादश आलम्बित।
मुक्ता माल-ललाम कम्बु से कण्ठ अलंकृत।
शृंगी ऋषि क्षणमध्य और क्षण में अखिलेश्वर।
दिखे मिले, फिर विलग, मोर-मोहन वाहन पर।
उमँगी शक्ति अपार महा प्रभुवर का भेंटूं।
चरणों पर धर शीश क्लेश जावन का मेटूं।
फैला कर निज बाहु बढ़ा द्विज मनवांछित हित। २६०
युगल दृगों से वारि-अनवरत धार प्रसारित।

लिया गोद में खींच हाथ फेरे द्विज-सिर पर।
बोले प्रभु, "हे वत्स! डरो मत, तुम अविनश्वर।"
"अधमाधम मैं पतित शरण में लिया मुझे भी।
जीवन का जो परम लाभ वह दिया मुझे भी।
था पशुता में लीन हो गया मैं भी मानव।
चेतन बना अदीन अभी तक मैं जो था शव।"
यों ही करके गान विवश हो नाच उठा वह।
जिसे मिली धनराशि उसी कँगले सा था वह।
उसका नृत्य विलोक प्रेम से ही मुसकाते।
देकर मिलन अनन्त दिखे प्रभु नभ में जाते।

एक दिवस अति सरस धूप में मंजु शिला-पर।
सभासदों के संग विराजित थे अवधेश्वर।
चरचा थी हो रही नहीं अब लौं ऋषि आये।
बीते जाते दिवस कहां किसने बिलमाये।
इसी समय नभ मध्य दृश्य अभिराम दिखाया।
मंजु मोर-आसीन दिव्य कोई मनभाया।
अरुणोदय-आक्रान्त तिमिर सा मनहारी था।
पूर्ण चन्द्र इव हृदय-सिंधु-प्रमुदितकारी था।
कोशलपति की ओर किये रुख आता था वह।
उत्कण्ठा का भाव प्रबल सरसाता था वह।
आया थोड़ा उतर अलौकिक खेल वहां था।
तेजसश्च षट पद्मवदन का मेल वहां था।
दिनमणि को ज्यों कंज उन्हें नृप ने अवलोका।
रुका न दृग से वारि गया कितना ही रोका।
अनायास अनुमान आ गया उर के अन्तर।
आये करुणाधाम षड़ानन प्रभु अभयंकर।
वह आलोक अनन्त सहन किसको हो पाता।
अतिशय दीप्ति-निधान नयन भी था झँप जाता।
जब तक दृग को खोल सकें अति पीड़ा-कातर।
तब तक थे ऋषिराज खड़े आगे शोभाकर।

क्षण भर में पट वदन बने फिर तेजसदन वे।
मंजु मोर आसीन निराशा-तिमिर-कदन वे।
फिर लोचन झँप गये दीप्ति का झोंका खाकर।
श्याम मोर आरूढ़ षड़ानन ऋषि को पाकर।
गूँजी तब आकाश गिरा पावन कल्याणी।
"घबराओ मत नृपति आ गये जीवन दानी।
ज्योतिपुंज में तिमिर समा कर ज्योति कहाया।
त्यों ही ऋषि ने रूप आज प्रभुवर का पाया।"

चमत्कार तब किया महाप्रभुवर ने सत्वर। ३००
धँसे मानसों बीच ज्योति की किरणें लेकर।
अन्तर के पट खोल किया दीपित नव दर्शन।
रोम-रोम में रमे प्रबल दानव-मद-मर्दन।
खुले आप ही नयन, कंज ज्यों देख प्रभाकर।
प्रेम सने प्रिय वचन कहे प्रभु ने मुसकाकर।
डरो नहीं मैं तुम्हें निडर करने आया हूं।
बढ़े तुम्हारे ताप सकल हरने आया हूं।"
नृपति, मांडलिक विकल सजल-लोचन तनु पुलकित।
"त्राहि, त्राहि" कह गिरे चरण पंकज पर विचलित।
"नाथ मिले तो हृदय हमारे क्यों न खिलेंगे? ३१०
दैत्य हमारे शत्रु धूलि में क्यों न मिलेंगे?"
भीतर का उद्गार किसी विधि यों कढ़ पाया।
प्रभु ने नृप को उठा प्रेम से अङ्क लगाया।
फिर क्रम-क्रम से सकल मांडलिकगण को भेंटा।
करुणालय ने खेद सभी के उर का मेटा।
कहा मोर की ओर देख कर सत्वर जाओ।
मनिनायक को शीघ्र अवध-नगरी से लाओ।
लेकर ऋषि-सन्देश दैत्य ढिग जाना होगा।
साम्ययोग-आलोक उसे दिखलाना होगा।
मोर उड़ा गति प्रखर दृष्टि भर देखा सबने। ३२०
हुआ अति द्रुत कार्य असंशय लेखा सबने।

लिया गोद में खींच हाथ फेरे द्विज-सिर पर।
बोले प्रभु, "हे वत्स! डरो मत, तुम अविनश्वर।"
"अधमाधम मैं पतित शरण में लिया मुझे भी।
जीवन का जो परम लाभ वह दिया मुझे भी।
था पशुता में लीन हो गया मैं भी मानव।
चेतन बना अदीन अभी तक मैं जो था शव।"
यों ही करके गान विवश हो नाच उठा वह।
जिसे मिली धनराशि उसी कँगले सा था वह।
उसका नृत्य विलोक प्रेम से ही मुसकाते।
देकर मिलन अनन्त दिखे प्रभु नभ में जाते।

एक दिवस अति सरस धूप में मंजु शिला-पर।
सभासदों के संग विराजित थे अवधेश्वर।
चरचा थी हो रही नहीं अब लौं ऋषि आये।
बीते जाते दिवस कहां किसने बिलमाये।
इसी समय नभ मध्य दृश्य अभिराम दिखाया।
मंजु मोर-आसीन दिव्य कोई मनभाया।
अरुणोदय-आक्रान्त तिमिर सा मनहारी था।
पूर्ण चन्द्र इव हृदय-सिंधु-प्रमुदितकारी था।
कोशलपति की ओर किये रुख आता था वह।
उत्कण्ठा का भाव प्रबल सरसाता था वह।
आया थोड़ा उतर अलौकिक खेल वहां था।
तेजसश्च षट पद्मवदन का मेल वहां था।
दिनमणि को ज्यों कंज उन्हें नृप ने अवलोका।
रुका न दृग से वारि गया कितना ही रोका।
अनायास अनुमान आ गया उर के अन्तर।
आये करुणाधाम षड़ानन प्रभु अभयंकर।
वह आलोक अनन्त सहन किसको हो पाता।
अतिशय दीप्ति-निधान नयन भी था झँप जाता।
जब तक दृग को खोल सकें अति पीड़ा-कातर।
तब तक थे ऋषिराज खड़े आगे शोभाकर।

क्षण भर में पट वदन बने फिर तेजसदन वे।
मंजु मोर आसीन निराशा-तिमिर-कदन वे।
फिर लोचन झँप गये दीप्ति का झोंका खाकर।
श्याम मोर आरूढ़ षड़ानन ऋषि को पाकर।
गूँजी तब आकाश गिरा पावन कल्याणी।
"घबराओ मत नृपति आ गये जीवन दानी।
ज्योतिपुंज में तिमिर समा कर ज्योति कहाया।
त्यों ही ऋषि ने रूप आज प्रभुवर का पाया।"

चमत्कार तब किया महाप्रभुवर ने सत्वर। ३००
धँसे मानसों बीच ज्योति की किरणें लेकर।
अन्तर के पट खोल किया दीपित नव दर्शन।
रोम-रोम में रमे प्रबल दानव-मद-मर्दन।
खुले आप ही नयन, कंज ज्यों देख प्रभाकर।
प्रेम सने प्रिय वचन कहे प्रभु ने मुसकाकर।
डरो नहीं मैं तुम्हें निडर करने आया हूं।
बढ़े तुम्हारे ताप सकल हरने आया हूं।"
नृपति, मांडलिक विकल सजल-लोचन तनु पुलकित।
"त्राहि, त्राहि" कह गिरे चरण पंकज पर विचलित।
"नाथ मिले तो हृदय हमारे क्यों न खिलेंगे? ३१०
दैत्य हमारे शत्रु धूलि में क्यों न मिलेंगे?"
भीतर का उद्गार किसी विधि यों कढ़ पाया।
प्रभु ने नृप को उठा प्रेम से अङ्क लगाया।
फिर क्रम-क्रम से सकल मांडलिकगण को भेंटा।
करुणालय ने खेद सभी के उर का मेटा।
कहा मोर की ओर देख कर सत्वर जाओ।
मनिनायक को शीघ्र अवध-नगरी से लाओ।
लेकर ऋषि-सन्देश दैत्य ढिग जाना होगा।
साम्ययोग-आलोक उसे दिखलाना होगा।
मोर उड़ा गति प्रखर दृष्टि भर देखा सबने। ३२०
हुआ अति द्रुत कार्य असंशय लेखा सबने।

"आओ हम सब बैठ कार्य थोड़ा-सा कर लें।"
बोले प्रभुवर, "पत्र एक तारक हित लिख लें।"

श्याम शिला थी रुचिर उसी पर नाथ विराजे।
केवल ऋषि को संग लिये नव छवि से छाजे।
आस-पास सब लोग शिलाओं पर यों सोहे।
ज्यों वट विशाल विटप नमित शाखा मन मोहे।

अपना तेज सँभाल, सहन के योग्य बनाकर।
३३० औरों की भी शक्ति साथ ही अधिक बढ़ाकर।
छोटों के सँग आप महाप्रभु छोटे बनकर।
लगे लिखाने पत्र और लिखने श्री ऋषिवर।
"दानवेन्द्र, मैं शम्भु - उमा का अंश षड़ानन।
आया जग में कार्य लिये जन-ताप निवारण।
तप कर परम कठोर विश्व ने मुझको पाया।
निर्मल वह हो जाय हृदय में मेरे आया।
लिये प्रेम का वाण समर करने जाता हूं।
कोई आकर लड़े नहीं ऐसा पाता हूं।
लेकर भौतिक अस्त्र न रण में ठहर सकोगे।
३४० कर मुझसे संग्राम आपदा-ग्रस्त थकोगे।

दैत्य धर्म अनुदार, प्रवञ्चक, उसको छोड
मानव धर्म उदार, उसी से नाता जोड़ो।
औरों का ले ग्रास उदर का भरना त्यागो।
दे सबको उल्लास मोद में नित अनुरागो।
तुम हरते ही रहे अमर-नरगण-श्री सारी।
तुमसे रहीं सदैव त्रस्त उनकी प्रिय नारी।
सती धर्म का नाश रहे करते मनमाना।
लेते रहे डकार हड़प कर उनका खाना।

की सीमा आक्रान्त हरण शान्ता का करके।
३५० मानो अपने हाथ खड्ग निज सिर पर धर के।
सोचो समझो बात पाप-शोधन कर डालो।
पङ्कमयी निज देह अमल जल से प्रक्षालो।

मेरा यह अवतार तुम्हारा वध करने को।

जगती में सन्तुलन प्रेममूलक भरने को।
मानो यदि तुम शीघ्र-शीघ्र ही नव रस पाओ।
व्यर्थ करो मत द्रोह शरण में मेरी आओ।

लेकर पत्र मनीश जा रहे पास तुम्हारे।
उद्बोधन की प्रबल कामना उर में धारे।
मानोगे यदि बात चले सत्त्वर आयेंगे।
ठानोगे संघर्ष वहीं वे रह जायेंगे। ३६०

प्रेम-समर आरम्भ हमारा तब होवेगा।
उर का न्यारा दम्भ तुम्हारा सब खोवेगा।
कोटि-कोटि नर और नारियां प्राणदान कर।
तुम्हें करेंगी निहत धीरता का प्रमाण कर।

करने में संहार तुम्हें वीरत्व दिखाया।
मरने का वीरत्व नहीं तुमने लख पाया।
मरने ही के हेतु हमारे वीर चलेंगे।
निर्दयता के भाव तुम्हारे सकल दलेंगे।

मुनि आयेंगे जो न जान लेंगे यह हम सब—
करना होगा समर तुम्हारे साथ हमें अब। ३७०
दलित दीन का दैन्य हरण करने आया हूं।
त्रासक गण के हेतु मरण, पीड़न लाया हूं।

शब्द लिखे ये स्वल्प समझना अधिक इन्हें तुम।
अपना रक्षण-मंत्र मानना दनुज! इन्हें तुम।
कर के उचित विमर्श पाप का पंथ भुलाओ।
दूँगा जीवन-स्वाद शरण में मेरी आओ।"

लिखित पत्र पर किये षड़ानन ने हस्ताक्षर।
गगन ओर देखने लगे तब दृष्टि उठाकर।
कहीं बादलों पास मोर उड़ता दिखलाया।
सब लोगों ने नयन वहीं नभ ओर लगाया। ३८०

धीरे-धीरे मोर व्योम से नीचे आया।
प्रभुवर थे जिस ओर उधर मुनिवर को लाया।
खड़े हो गये नाथ महामुनि के स्वागत-हित।

खड़े हो गये शेष भक्ति-भावना-निरत-चित।
भू पर उतरा मोर मुनीश्वर उससे उतरे।
कितने ही नत शीश चरण-कमलों पर बिखरे।
खब को दे अशीश प्रणत प्रभु पद-पद्मों पर।
धन्य हुए मुनिनाथ जगतपति-आदृत होकर।
आसन लेकर आप पास मुनि को बिठलाया।
हों सब जन आसीन सैन द्वारा बतलाया।
जगस्वामी ने पत्र दिया तब मुनि के कर में।
पढ़ा चाव के साथ उन्होंने सब पल भर में।

अपने रण की रीति कही प्रभु ने तदनन्तर—
"कभी प्रेम का भाव मलिन होवे न तनिक भर।
आग्रह जैसा प्रखर प्रेम वैसा ही होवे।
मेरा अस्त्र अमोघ क्यों न अरि का मल धोवे।
जाओ हे मुनिनाथ दैत्यवर को समझाने।
महाकाल-आह्वान-रूप मुझको वह जाने।
आवे मेरी शरण सुमन की भाँति खिला।
मेरा जन हो जाय मधुर पीयूष पिला दूं।"

उत्कंठित था मोर सरस यात्रा करने को।
दैत्य देश अवलोक हृदय में रस भरने को।
पा औरों से प्रणति प्रणति प्रभुवर को देकर—
बैठे मुनिवर; मोर चला उड़ उनको लेकर।
चमत्कार उस काल वहां सब ने अवलोका।
दिया नाथ ने एक सरस विस्मय का झोंका।
क्षण भर के हित छिपे दिखे क्रमशः जन-जन में।
नव आलोक समान विराजे प्रभु मन-मन में।
गूँजी वाणी मधुर, "नहीं मैं विलग कहीं हूं।
खोज करो जिस ठौर उपस्थित सतत वहीं हूं।
भक्त-हृदय में लीन आर्त्त स्वर हो जगता हूं।
जन के त्राण निमित्त शेष जग को तजता हूं।"

था अनन्त साम्राज्य कीर्त्ति धन वैभव अतुलित।
तो भी दानवराज आज दिखते थे चिन्तित।
मुनिनायक की बात याद जब तब आती थी।
हलकी शंका एक हृदय में उपजाती थी।
था उपवन अभिराम कुसुम-द्रुम-वेलि-अलंकृत।
खग-कुल-केलि-कलाप-व्याज यश-वादन-झंकृत।
एकाकी दैत्येश वहीं विचरण करते थे।
अनायास ही प्राप्त ध्यान मुनि का धरते थे। ४२०
आँखें ऊपर उठीं मोर पर कोई आता—
दीखा अवनी ओर तेज किरणें छिटकाता।
रहे उठे ही नयन नहीं जब लौं पहचाना।
मुनि-आगमन विलोक हर्ष अति मन में माना।

उतरा महि पर मोर महामुनि उससे उतरे।
तारक-उर में भाव मधुर लहराये गहरे।
दानव - पति ने दौड़ प्रेम का हाथ बढ़ाया।
पाकर मुनि कर-कंज मोद से मन उमँगाया।
तारक औ मुनिनाथ मिलाते हाथ दिखे यों।
चन्द्र दिवाकर-निरत प्रणयमय काव्य लिखे ज्यों। ४३०
एक सुआसन पास महामुनिवर को देकर।
बैठे दानवनाथ आप भी आसन लेकर।
क्षेम-कुशल का प्रश्न किया पहले मुनिवर ने।
यहां नहीं कब कुशल कहा हँस दैत्येश्वर ने।
मुनि ने तारक-हृदय तनिक आक्रान्त किया तब।
उचित समय अनुमान षड़ानन पत्र-दिया तब।
पढ़ कर सारा पत्र आदि से अंतिम अक्षर।
आनन पर गंभीर अचल मुद्रा धारण कर।
दैत्यराज ने कहा, "श्रवण करिए मुनि ज्ञानी।
मुझे नहीं यह मान्य षड़ानन की खर वाणी। ४४०
रुद्रदेव आराध्य हमारे निशि औ वासर।
हम हिंसा में निरत प्रेरणा उनसे पाकर।

शंकर-गिरिजा-तनय आज रण-वरण करेंगे।
स्वत्व हमारा हरण; उसी का हरण करेंगे।
हिंसा की साधना नहीं हम छोड़ सकेंगे।
रुद्रदेव-सम्बन्ध नहीं हम तोड़ सकेंगे।
हमें मिला जो कार्य उसी में लीन रहेंगे।
पालन कर निज धर्म सदैव अदीन रहेंगे।
भोग हमारा धर्म भोग ही कार्य निरन्तर।
४५० डाल सकेगा कौन तनिक भी इसमें अन्तर?
जिसने डाला विघ्न शीश! उसने दे डाला।
मैं जब कोपा कौन उसे रख लेने वाला?
क्या शरीर को छोड़—जानता मैं न उसे हूं।
अपने हित ज्ञातव्य मानता मैं न उसे हूं।
जरा-मरण को जीत सका विज्ञान हमारा।
लाया महि पर स्वर्ग एक आह्वान हमारा।
कार्त्तिकेय ये कौन हमें सिखलाने वाले।
देखें अपना पंथ पंथ दिखलाने वाले।
अहंकार में मग्न राह में मेरी आये।
४६० मैं कहता हूं, व्यर्थ आज वे क्यों बौराये?
कला प्रेम के साथ समर की नयी निराली।
मैंने देखी आज विनोद बढ़ाने वाली।
कभी समर में प्रेम न सम्भव मैंने जाना।
जहां प्रेम, रण वहां असम्भव मैंने माना।
नारी ही से प्रेम पुरुष अब तक थे करते।
पुरुषों पर न कदापि पुरुष देखे थे मरते।
कार्त्तिकेय ने जाल प्रेम का क्यों फैलाया?
आकर कर लें समर व्यर्थ यह सब छल, माया।
बारम्बार न दैत्य छले यों ही जायेंगे।
४७० कपट मोहिनी का न शीघ्र वे बिसरायेंगे।
कार्त्तिकेय ले अस्त्र खड़े हों आकर आगे।
करें नहीं पाखंड क्लीवता में अनुरागे।
सदा पुरुष का कर्म शत्रु-मद-मर्दन करना।

उसके उर को चीर विमल यश अर्जन करना।
शत्रु नहीं जब शेष प्रेम-अभिनय करते तब।
कामिनियों का ध्यान घड़ी भर को धरते तब।
मिला जभी हुंकार प्रेम का भाव भुलाते।
नहीं सेज पर वीर बाण-शैया पर जाते।
नारि-जनोचित भाव षड़ानन लेकर आये।
अति विचित्र यह प्रेम-समर क्यों मुझको भाये? ४८०
देवाङ्गना ललाम प्रेम-प्यासी मिल जायें।
तो उनसे कर प्रेम हृदय अपना बहलायें।
यहां प्राण पर खेल अगर आना हो आयें।
पौरुष का फल एक—समर वैरी से पायें।

मुनि ने तारक-वचन ध्यान से श्रवण किया सब।
उत्तर में मुसकान मधुर सह कथन किया तब—
"हे दानव-सम्राट! प्रेम तुम जान न पाये।
उसके बाण अमोघ अभी पहचान न पाये।
कहते हो तुम आप देह ही तक गति मेरी।
होगी मति भी सहज चर्म-लोचन से प्रेरी। ४९०
अंतर के खर नेत्र नहीं तुम खोल सके हो।
आगे दिव्य पदार्थ उसे न टटोल सके हो।
प्रेम तुम्हारा कथित सार से हीन असंशय।
नवल कामिनी-देह-रक्त अति दीन असंशय।
दिवस चार चाँदनी, देह मिट्टी में मिलती।
उससे कर के नेह हृदय की कली न खिलती।
विष्ठा मज्जा मूत्र आदि का आलय यह तन।
उससे कैसे प्रेम करेगा वीरों का मन?
उससे तो अति श्रेष्ठ रुद्रता का साधन ही।
क्रोध लोभ मद मोह आदि का आराधन ही। ५००
प्रेम षड़ानन-कथित रुद्रता से पावनतर।
शक्ति प्रेम की प्रबल रुद्रता से भी खर तर।
अस्त्र तुम्हारे रोक नहीं सकते उसकी गति।
चला न चंद्र-विरोध चंडकर-किरणों के प्रति।

नहीं षड़ानन-प्रेम कामिनी ही तक परिमित।
अखिल जगत के जीव उसी से सेवित, जीवित।
त्याग-याग-अनुराग उसी ने तो सिखलाया।
सब में अपना रूप उसी ने तो दिखलाया।

करने को संहार आततायी यदि आये।
वह भी प्रेम अपार जगत-प्रेमी से पाये।
प्रेमालिंगन अस्त्र वशीकर इतना होगा।
नहीं शस्त्र-आघात प्रबलतम जितना होगा।

कर के शस्त्र-प्रयोग देह ही तुमने पायी।
पाकर प्रेम-नियोग देह मन के संग आयी।
बिजली ही की चमक तुम्हें निशि-वासर भायी।
नहीं मेघ की याद दृगों में पानी लायी।

कार्त्तिकेय उपदेश तुम्हें भी मंगलकारी।
उसको कर स्वीकार मेट लो बाधा सारी।
उसमें तव कल्याण मान पत्री लाया हूं।
दानवेन्द्र! मतिमान जान तुमको, आया हूं।

प्रेम षड़ानन-कथित इष्ट मुझको भी संतत।
वही नित्य आहार वही निशि-दिन जीवन-व्रत।
उसके रस के हेतु अमर-नगरी को छोड़ा।
दानव, मानव, देव सभी से नाता जोड़ा।

करता हूं अनुराग अमर, नर से जितना ही।
दैत्यों से भी प्रेम मुझे अविचल उतना ही।
मानो दानवराज, तुम्हारा हित ही होगा।
मानो यह संदेश मोद नव नित ही होगा।

यदि शान्ता से प्रेम, करो जो उसको भावे।
उसका ही कल्याण चिन्तना तुमसे पावे।
होकर पिता समान उसे बेटी सा मानो।
उसका सरल विकास साधना अपनी जानो।

मानोगे यह बात तुम्हारी बात बनेगी।
ठानोगे यदि रार प्रेम की रार ठनेगी।
कोटि-कोटि जन प्राण हवन करने आयेंगे।

अस्त्र रूप में एक नहीं तृण भी लायेंगे।
आयेंगी पति संग रानियां अवधेश्वर की।
आयेंगी बलहीन बूढ़ियां अवध नगर की।
आयेंगे शिशुवृन्द फूल से भी जो कोमल।
मारे जिनको बात, तूल से भी जो कोमल। ५४०

आग्नेयास्त्र प्रचंड चला देना तुम उन पर।
नहीं करेंगे आह प्रेममय वे जल भुन कर।
अथवा उनके पोत सिन्धु-उर-शायी करना।
वे पा जायं निरीह परम नीरव ही मरना।

सोचो मत दैत्येश! दया के प्रार्थी आते।
बालक औ बूढ़ियों रूप में दाँत दिखाते।
शक्तिमान वे शक्ति दखाने को आयेंगे।
शक्ति-समन्वित प्रेम सिखाने को आयेंगे।

अमर लोक में तुम्हें हराया जिसने लड़कर।
सेनापति रणधीर यहां आयेगा सत्त्वर। ५५०
देखोगे तुम अस्त्र-हीन उसके कर होंगे।
प्रेम-पाठ के रसिक बढ़े विजयी वर होंगे।

मानवेन्द्र-वीरता नहीं तुमको बतलानी।
दानवेन्द्र! विज्ञात तुम्हें वह विशद कहानी।
महारथी आरूढ़ प्रबल दशरथ पर दशरथ।
दिखला पाये कब न शत्रु को यम-मन्दिर-पथ?

अस्त्रहीन वे तदपि अस्त्र से हीन न जानो।
उनका अस्त्र महान अचल जयकारी मानो।
महासत्य की शक्ति हृदय में धारे आते।
तुमको बिना प्रयास वहीं से मारे आते। ५६०

"तुम करते संहार और हम रचनाकारी।
तुम देते हो मेट और हम रस-संचारी।
उपयोगी पतझाड़ वहीं तक कहलायेगा।
मधुऋतु का शृंगार जहां तक कर पायेगा।"

करते यह घोषणा सत्य लेकर अति खर तर।
आयेंगे जन कोटि-कोटि पावक इव द्रुततर।

तिनके को जिस भाँति जला देता अंगारा।
वे कर देंगे भस्म क्षुद्र यह सत्य तुम्हारा।
दानवपति! मैं आप प्रेम-सैनिक बन आया।
बंदी होना आज तुम्हारा मुझ को भाया।
शान्ता यदि परतंत्र मुझे परतंत्र बनाओ।
नियमों का खर खड्ग शीश पर मेरे लाओ।
तुमसे अति अनुराग; इसी से व्रत लेता हूं।
अपने को अवरोध तुम्हारे हित देता हूं।
बंदीगृह-सेविनी तुम्हारा नाश करेगी।
शान्ता हो स्वाधीन नवीन विकास करेगी।"
यह कह मुनिवर मौन हो गये सहज हासमय।
तारक वदन मलीन हो गया कान्तिह्रासमय।
नीचे महितल ओर गड़े दानवपति-लोचन।
त्यों तारक-मुख-ओर नयन मुनि के दुख मोचन।

स्वल्प काल में दैत्यराजराजेश्वर बोले—
"अगणित तर्क-कपाट महामुनि तुमने खोले।
संशय-दृश्य अनेक सामने मेरे आये।
मेरे अति दृढ़ भाव तद वे मेट न पाये।
यदपि घिरे घन घोर अँधेरी रात न आयी।
बिजली चमकी किन्तु मनोहर प्रात न लायी।
मेरे दृढ़ विश्वास-दुर्ग को भेद न पाया।
मुने! तुम्हारा वचन नहीं आश्वासन लाया।
फिर भी तुममें दिव्य शक्ति कोई अनजानी।
लेती मेरा हृदय खींच मुनिवर विज्ञानी।
यदि हित कोई नहीं तुम्हारे द्वारा होगा।
मेरा निश्चय अचल अहित न हमारा होगा।
राजकीय आतिथ्य करो मम स्वीकृत तब तक।
मैं न करूं स्वीकार तुम्हारा जाना जब तक।
करो द्वीप में वास जहां मन माँगे जाओ।
स्वतन्त्रता सब भाँति मिलन-भाषण की पाओ।

कार्त्तिकेय ने अमित हमारा लाभ कराया।
देकर निज संदेश तुम्हें इस ओर पठाया।
तुमसे हों यदि और उन्हें मेहमान बनाऊं।
सुमन-वाटिका एक निराली नवल सजाऊं।" ६००
यों ही बातें विविध रहे दनुजेश्वर करते।
उत्तर देकर उचित महामुनि प्रीति वितरते।
पाकर मुनि-संकेत प्रेम रस ही का कामी।
प्रणति-अनन्तर उड़ा मोर प्रभु पद-अनुगामी।

जोह रहे थे राह महामुनि की ऋषिनायक।
श्री दशरथ सम्राट मनुज-कुल-कीर्त्ति विधायक।
आया केवल मोर मर्म सब ने अनुमाना।
प्रेम-समर अनिवार्य सकल वीरों ने जाना।
मन ने प्रबल उमङ्ग रंग आनन ने पाया।
वाणी में उल्लास चरण में चालन आया।६१०
बढ़ा प्रखर उत्साह लगी होने तैयारी।
मानो पाकर प्राण जो गयी सेना सारी।
अकस्मात ही दृश्य विलोका प्रति लोचन ने।
प्रगट किया निज रूप अनूपम भयमोचन ने।
चढ़े मोर पर नाथ प्रकाशित थे छविशाली।
जैसे कमल - सनाथकरण हित हों करमाली।
रत्नजटित अभिराम शीश षट मुकुट मनोहर।
नव-नव कान्ति ललाम खेलती सी थी जिन पर।
निर्मल उन्नत भाल तिलक मण्डित गोरोचन।
मंजु सरोज समान प्रफुल्लित द्वादश लोचन।६२०
नासा ललित सुडौल अधर लालिमा-सदन से।
अमल कपोल अमोल कुमुद-उर-तिमिर-कदन से।
कम्बु-विनिन्दक कंठ भक्त-उर-तापविदारी।
वृषभ-कंध छवि-धाम शत्रु-मानस-मलहारी।
वज्र समान कठोर वक्ष पर मौक्तिक - माला।
विराजती थी शम्भु संग-ज्यों हिमगिरि-बाला।

पीताम्बर उपवीत पीत तनु ऊपर सोहा।
छवि अवलोक पुनीत मुक्ति का भी मन मोहा।
कटि-तट में भी धौत वसन पीला-पीला था।
गौर चरण-नख-ज्योति-हृदय जिसने कीला था।
छः तूणीर ललाम कंध पर धार रहे थे।
अमर सैन्यपति प्रखर प्रभा विस्तार रहे थे।
कभी दयामय दिव्य, दिव्यतर हो चलते थे।
शृंगीऋषि में शेष दिखयी फिर पड़ते थे।
चन्द्रानन वे हसित-वदन मन सरसाते थे।
फरते खेल विचित्र जनाम्बुधि लहराते थे।
बढ़ा दिव्य आकार परसता गगन दिखाया।
मानो मघवा-धनुष-छोर अवनी पर आया।
जगमग-जगमग किरण-जाल उसने फैलाया।
किरण-किरण ने गान प्रेम की जय का गाया।
अमृत-वाहिनी गूँज चली प्रभुवर की वाणी।
श्रवण-श्रवण में पड़ी जगत के हित कल्याणी—
"आज महा संग्राम प्रेम-आधारित होगा।
अखिल विश्व का क्लेश सहज ही वारित होगा।
शृंगी ऋषि में आज रूप मेरा ही पाओ।
कर उनको सरदार सिपाही सब बन जाओ।
ऋषि के हित नृप शीघ्र महारथ सज्जित कर लें।
मुझको उर में धार उन्हीं को नेता वर लें।"
दौड़ पड़े राजेन्द्र दिव्य रथ के ढिग आये।
दौड़ पड़े जन अमित उरसि उल्लास बढ़ाये।
बोले श्री अवधेश—"पूत पल्लव दल लाओ।
हो अब समर-प्रयाण यान अविलम्ब सजाओ।"
तोरण प्राप्त अशोक पर्ण के मंजु बनाये।
सुमन-वृन्द से सकल प्रान्त रुचि साथ सजाये।
किया अमित शृंगार यथावांछित जन-जन ने।
महायान अर्चना विविध विधि की मन-मन ने।
अरुन्धती गुरुदेव अवधवासी बहु आये।

पहले समर-प्रयाण में न जो थे आ पाये।
सब ने श्रद्धा-सहित महारथ को आराधा।
बाधा कटने हेतु देवताओं को साधा।
"हर लो अखिल विषाद आज इस अवनी भर का—"
महाराज ने तिलक किया यों कह ऋषिवर का।
दे आशीश अनेक बिठाया रथ के भीतर।
सप्त - अश्व - रथवान - सदृश ऋषि दीखे श्रीधर।
उच्च पताका लसित यान की शोभा न्यारी।
दीखी स्वप्न-समान शारदा-मति-धृतिहारी।
चले महाप्रभु एक व्योम धरणी को करते।
शृंगी ऋषि भी चले उन्हीं की कान्ति वितरते।
पीछे था रथ एक विराजे जिसमें दशरथ।
मांडलिकों के संग किये अंगीकृत ऋषिपथ।
अरुन्धती गुरुदेव एकरथ पर चलते थे।
मानो ऊषा-तरणि तिमिर का दल दलते थे।

पैदल श्रेणीबद्ध चले अगणित अनुगामी।
करते सिन्धु निनाद—'जयति तारक-अरि स्वामी।'
एक संग पदपात और उत्थान सुनियमित।
धरणि-हृदय था व्यग्र, प्रकम्पित, शंकित, पीड़ित।
मंजु मोर ने पंख अमित नभ में फैलाया।
सब ने बिना प्रयास प्राप्त की शीतल छाया।
मानों नीले मेघ संग ही सँग चलते हों।
आतप-क्लान्ति समस्त प्रेमियों का दलते हों।
"दानवता हो नष्ट विकसिता मानवता हो।
पाये व्यक्ति विकास शक्ति, गत पाशवता हो।"
यही गर्जना कण्ठ-कण्ठ करता चलता था।
देकर खर हुङ्कार कान नभ के मलता था।
बालक, वृद्ध, जवान एक से तरुण बने थे।
प्रभु-बल से बलवान सिंह की भाँति तने थे।
नहीं मारना इष्ट प्रेमपथ पर मर जाना।

जन-जन ने सौभाग्य अपरिमित था निज माना।
"संग महाप्रभु आप, हृदय में किसका डर हो।
क्यों न विगत हो तिमिर समागत जब दिनकर हो।
होगा निशिचर-अंत नाथ ने पाँव बढ़ाया।
आयेगा मधुमास गान कोकिल ने गाया"—
गाते थे सब लोग चले जाते थे अविरत।
स्फूर्त्ति निराली नवल अमल पाते थे अविरत।
भूख प्यास भी पास नहीं आती दिखती थी।
शोणितनगरी पास दिखे—वासना यही थी।
शब्द-शब्द आह्वान श्रवणकारी का करता।
चलता था संकर्ष अचल उर में भी भरता।
भोजन-जल के संग हृदय भी निज दे देते।
पथ के सारे लोग षड़ानन-पथ ले लेते।
यही नहीं, ज्यों सिन्धु ओर को सरिता धायी।
सरिता से ज्यों क्षुद्र नालिका मिलने आयी।
त्यों ही जनता विविध दिशाओं से आती थी।
कार्त्तिकेय के सैन्य-वृन्द में मिल जाती थी।

दक्षिण के महिपाल प्रथम जो अवरोधी थे।
वे ही अब राजेन्द्र अवधपति के खोजी थे।
लंकेश्वर को छोड़ और सब दृढ़ अनुरागी।
आये प्रभु-पद-पद्म-रसिक अलि बन बड़ भागी!

सेनादल में वृद्धि निरन्तर ही होती थी।
नव उमंग की वेलि हरिततर ही होती थी।
विश्वम्भर ही आप जहां प्रतिपल अधिनायक।
देंगे क्यों न प्रसिद्धि अनुज गणनाथ विनायक।
हलके थे सब भाँति छड़ी भी हाथ नहीं थी।
कामेश्वर थे प्राप्त कामना साथ नहीं थी।
क्या जाने था कौन भोग सब को देता था।
क्या जाने था कौन खबर सब की लेता था।
यों ही गुर्जर-देश-पोतगृह पास पधारे।

प्रभु ने किया पड़ाव सहित दल जलधि किनारे।
दिया स्वल्प विश्राम पंथ की श्रान्ति मिटायी।
शोणित नगर-प्रयाण-लालसा फिर विकसायी। ७२०
कोटि-कोटि जन संग देख दशरथ चिन्तित थे।
पोत वहां थे स्वल्प समारोही अगणित थे।
प्रभु ने नृप का भाव समझ मन ही मन सारा।
लक्ष पोत सम्पन्न किया पोतालय प्यारा।
रथ औ बाजि गजादि भार स्वजनों को देकर।
चले महाप्रभु सिन्धु पार इच्छा उर में धर।
धन्य हो गया जलधि परस पद - पंकज पावन।
गाया उसने गान जयति जय जयति षड़ानन।
चले अग्र हरतनय अम्बुनिधि - खेद नसाते।
सहज व्योम-सम्बन्ध उसे देकर हरषाते। ७३०
महायान-आरूढ़ चले ऋषियों के स्वामी।
अमित-पोत की पंक्ति चलीं द्रुततर अनुगामी।
विमल दिवाकर-वंश-पताका फहर रही थी।
पोत-पोत पर दिव्य नवल छवि छहर रही थी।
मारुत अति कृतकृत्य ध्वजाओं से क्रीड़ाकर—
गाता था प्रिय गान जयति प्रभुवर पीड़ाहर।
पूत दृश्य अवलोक दिवाकर प्रीति-चलित थे।
कर के कर-विस्तार महाप्रभु - चरण-नमित थे।
सहज प्रकृति निज छोड़ चले शीतलता देते।
प्रेम-पथिक का ताप आप अपने सिर लेते। ७४०
पोत-पोत से घोष तुमुल जय का जारी था।
'हो दानवता-नाश', नाद होता भारी था।
"मानवता का फूल खिले जग के उपवन में।"
चिल्लाते थे लोग—"शूल यों हों न सुमन में।"
"हो श्रम-धर्म-विकास कर्म का आराधन हो।
पर से कर अनुराग न तस्करता-साधन हो।"
गरज-गरज कर लोग घोषणा यह करते थे।
प्रति पल नवल तरंग मानसों में भरते थे।

देखा नृप ने दृश्य खड़े हो किंचित बाहर।
वह उत्साह-समुद्र, तरंगित वह रतनाकर।
पुलकित होकर आप रानियों को दिखलाया।
देवि, विलोको आज महाप्रभुवर की माया।

सेनापति रणधीर देख यह दृश्य चकित थे।
कैसा यह संग्राम ! पराजय-भय-विचलित थे।
दानवेन्द्र की चाल कहीं हमको न फँसाये!
अनुतापानल घोर कहीं हमको न जलाये!

मन था शंकाधाम किन्तु कहते तो किससे ?
वही मानता मूढ़ बात वे करते जिससे।
एक स्वप्न सा दीख रहा था उनको यह सब।
अस्त्र-कुशल वे प्रेम-समर पहचान सके कब ?

———

सप्तदश सर्ग

निज आवास-प्रबन्ध प्राप्त कर के उपवन में।
बोल पड़े मुनिनाथ विनोदित-मोदित मन में—
"अखिल द्वीप के मध्य बात मैं एक कहूँगा।
दैत्यराज, उपदेश-दान से विरत न हूँगा।
लिये प्रेम-सन्देश तुम्हारे घर जो आते।
नहीं शत्रुताभाव, प्रेम का चाव बढ़ाते।
आने दो निर्विघ्न बात भी उनकी सुन लो।
काँटों में भी फूल मिले तो उसको चुन लो।
अस्त्र न उनके हाथ प्रेम ही उनका बाना।
होगा उचित कदापि न उनपर अस्त्र चलाना। १०
सुमन-माल ले मृदुल तुम्हें पहनाने आते।
अनल-ज्वाल की माल उन्हें तुम क्यों पहनाते?
प्रेमपन्थ आरूढ़; मरण उनका बल सारा।
उनकी रंच न हानि उन्हें यदि तुमने मारा।
होंगे आहत; वृद्धि उन्हीं के बल की होगी।
शक्ति तुम्हारी क्षीण समस्त सहज ही होगी।
मेरा यह मुनि-धर्म बात हित की बतला दूं।
करो नहीं अन्याय धर्म का पथ दिखला दूं।
तुम्हें नहीं यदि मान्य मुझे स्वाधीन न छोड़ो।
यह संकोच असार बाँध यह सारा तोड़ो।" २०

बोले दानवराज, "अहितकारक अविधायक।
कैसी बातें आज कथन करते मुनिनायक।
कहीं किसी की ओर हृदय यदि लग्न हमारा।
तो सच मानो एक अलौकिक भाव तुम्हारा।

तुमको कारागार कौन जन दे पायेगा?
अपना कारागार कौन यों निरमायेगा?
व्योमचरों की भाँति परम स्वाधीन मुनीश्वर?
विचरो चारों ओर दनुज-जनता के भीतर।

मेरे दानव सकल नियंत्रित अनुशासन से—
नहीं डिगेंगे नेक देखना तव भाषण से।
बात एक ही किन्तु नहीं मैं मान सकूँगा।
शत्रु सदा ही शत्रु, प्रेम उससे न करूँगा।

समर-नीति-नद-मीन चपल-मन होते हम सब।
लेकर अरि-उर-रक्त धरा-तन धोते हम सब।
बैर-कलुषमय भाव लिये जो जन आयेंगे।
गोलों की वे आग अनवरत ही पायेंगे।"

तारक की यह बात श्रवण कर मुनि मुसकाये।
बोले, "हे दैत्येश वचन ये मुझको भाये।
वीरों का यह भाव तुम्हारे हित यशकारी।
पौरुष का यह रूप पुरुष की शोभा सारी।

द्वीप-भ्रमण-व्याख्यान कार्यक्रम मेरा देखो।
मानस का सुविकास-यत्न ही इसमें लेखो।
बात कही इस ठौर वही सब ठौर कहूँगा।
तुमने किया स्वतन्त्र अधिक परतन्त्र रहूँगा।

लिखित कार्यक्रम देख दैत्यपति ने स्वीकारा।
मुनि ने भ्रमण-प्रयाण-समय पावन निरधारा।
वाहन-उचित प्रबन्ध कराया दैत्येश्वर ने।
दैत्य-मण्डली-मध्य लगे मुनिनाथ विचरने।

दानव युवती युवक जहां शिक्षण पाते थे।
मुनि आनन्द-निधान वहीं पहले जाते थे।

कहने से भी पूर्व बात गुंजित होती थी।
मानस में अनुकूल ऊर्म्मिमाला बोती थी।
मुनि का यह उपदेश अमित छात्रों के द्वारा।
अनायास ही गेह गेह में फैला प्यारा।
होने लगा कुतर्क-तर्क-संघर्ष अनोखा।
कहा एक ने, "कभी न रण का पथ यह चोखा।
जहां न तड़पी तोप अनल-ज्वाला-संचारक।
जहां न चमका खड्ग ढेर शव का विस्तारक।
जहां न भौंहें बंक, न लोचन रक्त दिखाये।
रण ने प्रकृत स्वरूप कहां कब अपने पाये?" ६०
कहा एक ने, "भीख दया की दीख रही यह।
स्वाभिमान-हेकड़ी तनिक सी सीख रही यह।
इसको कहना समर समर-उपहास कराना।
करना जिसको समर प्रकृत धारे वह बाना।"
सकल कुतर्क प्रसार हरे मुनि के भाषण ने।
मानस-भ्रमण अपार हरे मुनि के भाषण ने।
कान्त तरणिजा-मध्य दिवाकर-किरण लसी ज्यों।
दानव-उर में बात महामुनि की बिलसी त्यों।

सैनिकगण भी मुक्त प्रभावों से न रहे थे।
मुनि के पावन शब्द-सरित में सरस बहे थे। ७०
"जो निरस्त्र सब भाँति उसे हम क्यों मारेंगे?
कहते थे सब लोग, "न कायरता धारेंगे।"
चमत्कार तब एक महामुनि ने दिखलाया।
शोणितपुर को परम कृपा का पात्र बनाया।
भ्रम का परदा टाल तत्व-आभा झलकायी।
दिव्य स्वप्न की दीप्ति लिये जो आगे छायी।
धुँधला एक स्वरूप विमल क्रमशः हो आया।
नयनों ने छविधाम षडानन ही को पाया।
छोटा वह आकार शीघ्र ही गगन-स्पर्शी।
दीखा सहज प्रमोद-अमल विस्मय-रस-वर्षी। ८०

लहरित अम्बुधि - वक्ष-उपरि पदपद्म लसित थे ।
नील गगन में स्वर्णमुकुट रवि से विकसित थे ।
कन्धे पर तूणीर नहीं देखा जाता था ।
भीतर से आलोक शरों का चौंधाता था ।
दीख पड़े ऋषिनाथ महारथ पर छवि-छाये ।
वे ही षट तूणीर षड़ानन मय मन - भाये ।
दीख पड़ी जन - राशि तुमुल आन्दोलनकारी ।
"जयति षड़ानन जयति"-अनवरत गर्जनकारी ।
ऊसर में भी आज उमड़ आयी रसधारा ।
प्लावित होने लगा दानवों का उर सारा ।
द्वेष अनल से दग्ध प्रेम लतिका लहरायी ।
प्रफुल्लता रसलीन सुमन - लोचन ने पायी ।
दृश्य दिखा अभिराम, किया फिर नयन अगोचर ।
मेघ-पटल दें डाल चन्द्र पर ज्यों अमरेश्वर ।
आकुलता का स्रोत बहाया यों मुनिवर ने ।
ज्यों जाह्नवी-प्रवाह चलाया हिमभूधर ने ।
तृषित चकोर समान रसिक चन्द्रानन के हित ।
दानव-वृन्द अधीर षड़ानन-चिन्तन-विचलित—
चंचल अतिशय प्रखर महानद सा कल्लोलित ।
पोतालय की ओर चला सउमङ्ग अतोलित ।

गुप्तचरों ने भेद दिया तारक को सारा ।
नित्य नवीन प्रबन्ध दैत्यपति ने विस्तारा ।
मुनि का प्रेम - प्रकाश रोकना चाहा उसने ।
अन्धकारमय त्रास झोंकना चाहा उसने ।
नव नियमों की बाढ़ चली शोणितनगरी पर ।
ज्यों ओलों की मार फली-फूली खेती पर ।
सहन किये सब क्लेश लेश भी डरे न कोई ।
प्रेमासवकर पान दनुज गण चिन्ता सोयी ।
मुनिपति का व्याख्यान लोह को सोना करता ।
जो थे जड़ पाषाण प्राण उनमें भी भरता—

दनुजनाथ को दीख पड़ा अतिशय संहारी ।
दानव-जीवन-भवन-भित्ति ही विचलितकारी ।
प्रतीकार के यत्न अनेक विचारे सत्त्वर ।
मुनि-आन्दोलन-विघ्न हृदय में धारे सत्त्वर ।
किन्तु कार्य-विधि एक खोज कर ला न सका वह ।
गति-अवरोधक ढङ्ग एक भी न पा सका वह ।
निर्धारित जो बात—न था उसका उल्लंघन ।
मुनिवर ने निर्वाह किया था अपना बन्धन ।
घबराता था, दोष नहीं उन पर धरता था ।
कूटनीति में निरत दनुजनायक डरता था । १२०

मुनि को छोड़ स्वतन्त्र पृथक ही पन्थ निकाला ।
निकला लेकर लक्ष्य सगठन-भाषण-माला ।
"कपट-प्रेम का नाट्य शत्रु-दल करता आता ।
लाता अस्त्र अनेक'—यही तारक समझाता ।
सब देवों के अस्त्र ला रहे प्रबल षड़ानन ।
उमा-शत्रु ब्रह्मास्त्र सङ्ग उनके सहसानन ।
गुप्तचरों की बात सत्य ही होगी मानो ।
कार्त्तिकेय को क्रूर दनुज-ध्वंसक ही जानो ।
शृङ्गीऋषि में कार्त्तिकेय में तनिक न अन्तर ।
कार्त्तिकेय ने अस्त्र उन्हें दे किया भयङ्कर । १३०
करो न तनिक प्रमाद आ रही सेना भारी ।
करो न व्यर्थ विवाद देशहित विपदाकारी ।
व्योमयान आरूढ़, अमित गोले बरसाओ ।
सकल शत्रु का सैन्य एक छन में बिनसाओ ।
मानवेन्द्र का शीश काट लो शोणितपुर में ।
राजभवन पर टाँग सीख दो मानव-उर में ।
हो आये यों ढीठ कीट से थे जो मानव ।
उनसे भी भयभीत पराक्रमशाली दानव ।
दण्ड उन्हें दो आज ढिठाई यों करने का ।
पाठ पढ़ा दो आज उन्हें फिर से डरने का—" १४०

कहते दानवराज प्रखर उत्साहित स्वर में।
"नहीं, नहीं" का घोष गूँज जाता उत्तर में।
"शत्रु नहीं वे मित्र प्रेम का गाना गाते।
कर हम पर विश्वास हमारे घर में आते।"
धधक उठी क्रोधाग्नि, विरोधीगण को कारा—
देने का प्रतिकार दैत्यपति ने निरधारा।
गरज पड़े सब लोग,"हमें भी बन्दी कर लो।
बन्दी की क्या बात शीश ही धड़ से हर लो।"
देकर शीघ्र निदेश गयी सेना मँगवायी।
१५० करके सबको कैद राजधानी में लायी।
"मारे जायें आज हमारे विद्रोही जन।
देखे सारा देश कड़ा मेरा अनुशासन—"
तारक बोला गरज, अस्त्र सेना ने डाले।
"प्रभु की जो जो वस्तु आप के आज हवाले।
भाई का संहार अकारण कर न सकेंगे।
सिर पर अपने भार भयङ्कर धर न सकेंगे।"
राजवसन सब फेंक पहन कपड़े साधारण।
मिले कैदियों मध्य मरण-निश्चय कर धारण।
सैनिकगण - विद्रोह देख क्रोधित दनुजेश्वर।
१६० लगा पीसने दाँत अरुण-दृग, कम्पित थर थर।
आयी सेना अन्य वही उसकी भी गति थी।
किंकर्त्तव्य-विमूढ़ दानवेश्वर की मति थी।
जीवन में यह प्रथम ग्लानि उसके ढिग आयी।
घोर निराशा-रात्रि दृगों के आगे छायी।

लेकर पीड़ित हृदय गया निर्जन चिन्तन में।
उत्तर दिशि के परम विशद उद्यान-भवन में।
जहां निरन्तर नाद उदधि का गुरु, गुरुतर था।
वातायन से रुचिर पोतगृह दृगोचर था।
स्वाभिमान को ठेस लगी थी इतनी भारी।
१७० पैठा प्रखर विषाद हृदय में हृदय-विदारी।

शैया पर असहाय, गिरा ज्यों द्रुम अवनी पर।
कठिन कुठाराघात, वात से विदलित, जर्जर।
था करवट इस ओर कभी उस ओर बदलता।
चैन किसी भी भाँति न था दानवपति लहता।
तप्त अँवा की भाँति आज जलती छाती थी।
रह रह करके आह कंठ से कढ़ जाती थी।
वातायन के पास पलँग से उठ जाता था।
पोतालय की ओर बिलोचन बिलमाता था।
दानवगण को द्रोह-उल्लसित अवलोकन कर।
भरता था फिर आह बारि नयनों में भर भर। १८०
धधका क्रोध प्रचण्ड महामुनिवर के ऊपर।
दीख पड़े वे शत्रु प्रबलतम उसके भूपर।
उनका ही संहार क्यों न पहले कर डालूं?
क्यों न आज प्रतिशोध-नीति अपनी मैं पालूं?
रह मेरे अस्तीन मध्य यह सर्प भयंकर।
धीरे-धीरे रूप ले चला यह प्रलयंकर।
मेरा ही अस्तित्व आज संकट में आया।
मेरे आगे अन्धकारमय घन घहराया।
जिसके डर से आज काँपती जगती थर-थर।
छिपे गुफा में देव बिताते दिन रो-रो कर। १९०
देव-देव का ताव नहीं आँखों को खोलें।
मुझसे ठानें द्रोह विरोधी वाणी बोलें।
बही आज मैं दीन देश के भीतर अपने।
देख रहा हूं भंग हो रहे जीवन-सपने।
बंक भृकुटि अवलोक प्राण जिनके थे चलते।
सहता हूं अपमान उन्हीं से निज कर मलते।
मुनि के कारण आज दशा यह मेरी सारी।
वे ही मेरी कीर्ति, धरा, धन के अपहारी।
देखी केवल ज्योति अँधेरा देख न पाया।
काँटा बन कर हाय सुमन मेरे ढिग आया। २००
सेवा-रत निस्वार्थ प्रफुल्लित, विहसित देखा।

पूर्ण चंद्र की भाँति मनोरम विकसित देखा।
अपने से अति भिन्न देख कर ललच गया चित।
दे बैठा अनुराग अपरिचित हेतु अपरिमित।
विश्वासी बन हाय! उन्हें मेहमान बनाया।
दी स्वतंत्रता अमित महापौरुष दिखलाया।
लेश न था संदेह बनेंगे वे अपकारी।
जो सब काल त्रिलोक-ओक-आलोकितकारी—
यों ही विविध विचार हृदय में उसके आये।
२१०नींद खड़ी थी दूर उसे वे पास न लाये।
व्याकुलता नव रूप निरन्तर ही लेती थी।
कोई भी आधार नहीं टिकने देती थी।
आँखों ही में रात काट दी उसने सारी।
आया मंजु प्रभात लिये शोभा मनहारी।
सहसा बादल बीच दामिनी जैसी दमकी।
नवल भावना एक चित्त में उसके चमकी।

देता हूं क्यों दोष व्यर्थ ही मैं मुनिवर को।
दिन समान ही विमल कार्य-संचालक वर को।
निर्धारित जो ढंग उसी अनुसार ढले वे।
२२० कहीं न बदली बात सत्य के साथ चले वे।
आकर्षण अनिवार्य भरा उनकी गति-गति में।
मिला मधुर विश्राम सरस उनकी यति-यति में।
अपने आपे में न आप जब मैं रह पाया।
क्या आश्चर्य प्रभाव दैत्यगण-उर पर छाया।
युग-युग से आधीन चले आये जो मेरे।
ताराओं की भाँति रहे मुझ शशि को घेरे।
मुझे छोड़ कर आज बने उनके अनुयायी।
मानूं क्यों न विचित्र शक्ति मुनिवर ने पायी।
भय से पीड़ित दीन दैत्य स्वाधीन बने सब।
२३० सत्य भाव में लीन लौह की भाँति तने अब।
जादू सा यह आज किया मुनिवर ने कैसा!

पानी में भी आग ! आज ही देखा ऐसा !!
क्या मेरे आतंकवाद में दोष कहीं है ?
क्या वह दैत्य-समाज-प्रगति का कोष नहीं है ?
जीवन का आधार सभी क्या मिथ्या मेरा ?
क्या मुझको अविराम भ्रान्ति ही ने था घेरा ?
था अदम्य विश्वास उसी से बल पाता था।
ले उसका अवलम्ब सिंह सा चल पाता था।
टूट गया वह दुर्ग जिसे दुर्जय माना था।
पिघली वह हिमराशि जिसे अक्षय जाना था। २४०

आज मिटा संदेह हृदय में था जो भारी।
भय का शासन व्यर्थ, नहीं वह जन-हितकारी।
सत्य, प्रेम की विजय देख ली आँखों आगे।
अहंकार-अंगार शीत-विचलित हतभागे—
आनन पर ये भाव दीप्तिमय दमक रहे थे।
ले नव अनुभव-ज्योति विलोचन चमक रहे थे।
इसी समय दी खबर द्वार-रक्षक ने आकर।
मिलने आये आप महामुनिवर करुणा कर।
उमड़ा उर-उद्गार लोचनों में रस बन कर।
दौड़ा तारक स्वयं प्रेम से बेबस बन कर। २५०
'दानवेन्द्र, आदेश बिना ही मैं आया हूं।
तुमको जो संताप दवा उसकी लाया हूं'—
तारक पर ज्यों दृष्टि पड़ी त्यों ही मुनि बोले।
होकर अधिक अधीर दानवेश्वर भी डोले।
"ज्योतिधाम हे देव ! तिमिर में भटक रहा हूं।
जीवन-वन कंटकित, उसी में अटक रहा हूं।
मिली दवा भी, आज राज निज मैंने त्यागा।
प्रेमपंथ की ओर हृदय मेरा अनुरागा।"
"प्रेममार्ग स्वीकार किया तो राज न छोड़ो।
हृदय प्रजा का भग्न प्रेम-औषधि से जोड़ो।" २६०

"मानस ही नीरोग करूँगा पहले अपना।
मुझको अब अनुताप-अनल धारण कर तपना।
त्याग सकल अधिकार आज विश्राम करूँगा।
मिला नवल आलोक उसी से हृदय भरूँगा।
यों कहते मुनि संग कक्ष के भीतर आये।
देकर आसन उचित लेख में मग्न दिखाये।
"भय-आधारित राजनीति मैंने जो थापी।
लाया उसका अंत काल बलवान प्रतापी।
सिंहासन का त्याग आज से मैं करता हूं।
पाया प्रेम-प्रकाश उसे उर में धरता हूं।
तारकाक्ष सम्राट शीघ्र ही अधिकृत होवें।
राज्यासन आरूढ़, प्रजा - मानस मल धोवें।
मुनि-सम्मत आधार हमारे जीवन का हो।
आज नया संस्कार दैत्यगण के मन का हो।
यहीं अम्बुनिधि-तीर राजदरबार विशद हो।
मेरे नयन-चकोर-हेतु शशिकर हर्षद हो।
कार्त्तिकेय आगमन पूर्व सब काम यहां हो।
आयें सहित समाज उन्हें विश्राम यहां हो।"
दी जब यह पत्रिका नयन में जल भर आया।
मुनि ने उठकर दानवेन्द्र को कंठ लगाया।
बोले, "हे दनुजेश, त्याग-धन-धनिक बने तुम।
तुम सा धन्य न अन्य प्रेम-रस-खनिक बने तुम।
तुम हो परम महान जगत-श्रद्धा के भाजन।
तुमसे शोणित द्वीप कीर्ति पायेगा पावन।
भोगो ज्ञान नवीन यही जीवन का प्रिय रस—
जिसके हित हम लोग सृष्टि में आते बरबस।
यह भी लो तुम जान मोह भी सरस, मनोहर।
जो वह माना जाय सत्य जगदीश-धरोहर।
अवधि न जाये बीत प्रथम ही यदि दे डालें।
तो जीवन-सौन्दर्य्य-स्वाद निरुपम हम पा लें।
समझाने का लक्ष्य यहां लेकर मैं आया।

तुमको ज्ञान-निमग्न देख मैंने सुख पाया।
रुद्र शम्भु से भिन्न—यही था मोह तुम्हारा।
इसने ही दुर्भाव भरा था तुममें सारा।
माना था आतंक मात्र को जीवन-शासक।
किया तिरस्कृत प्रेम, उसी का जो रस-साधक।
दोनों ही का मेल तत्व अनमोल जगत में।
प्रेम समर्थ अपार शक्ति के साथ जगत में।
महासचिव को पत्र तुम्हारा दे दूँगा मैं।"
इच्छित सारा कार्य-प्रबन्ध सहेजूँगा मैं। ३००
देकर दिव्य प्रकाश विविध वचनों के द्वारा।
मुनि ने चरण-सरोज कक्ष के बाहर धारा।

महा सचिव को पत्र मिला मुनिवर से ज्यों ही।
बिजली ही की भाँति खबर प्रिय फैली त्यों ही।
होंगे राजकुमार राजपद के अधिकारी।
होंगे अब निर्मूल लोक-संकट सब भारी।
नाच उठे ज्यों मोर देख घन-छवि मनहारी।
बालक, वृद्ध, जवान नगर भर के नर-नारी।
दौड़ पड़े सब लोग देह की याद भुलाये।
गिरते-पड़ते गेह महामंत्री के आये। ३१०
बाजे बजे अनूप प्राण जनता ने पाया।
दृग में सलिल-प्रवाह, गात कंटकित दिखाया।
उमड़-उमड़ कर हृदय लगा निधि सा लहराने।
सत्य-सत्य या स्वप्न?—भ्रान्ति में सीमा पाने।
अनायास ही बाँध पंक्तियां प्रेम सहारे।
महामात्य के संग पाँव जन गण ने धारे।
बालक बूढ़े युवक मोहिनी-ढिग गमने सब।
देकर प्रिय संवाद पिलाया नव प्रेमासव।
दे उसको नेतृत्व चले सब बंदी घर को।
नृत्य-हास-उल्लास-मुखर करते अवसर को। ३२०
कारागृह के द्वार शीघ्र ही जय जयकारी।

गूँजा घोष अपार गगन-उर-पुलकितकारी।
शीलमयी मां-संग विनोदित बातें करते।
दीखे राजकुमार खेद में भी मन हरते।
दानवेन्द्र का पत्र दिया मंत्री ने उनको।
विदित वृत्त भी सकल किया मंत्री ने उनको।

शीलमयी का हृदय प्रमोद-विषाद-सदन था।
अंतर का संघर्ष दिखाता अमल वदन था।
लेकर दोनों भाव नयन ने नीर बहाये।
३३० नहीं किसी ने भेद गूढ़ मानस के पाये।
तारकाक्ष-मोहिनी विराजे मंजु यान पर।
बैठी माता संग ईश-पद-पद्म ध्यान धर।
जनता-जयजयकार चला पथ भर में होता।
उमड़ा अति उत्साह प्रखर अनियंत्रित सोता।
आध घड़ी की राह चार घड़ियों में आये।
नियम सहज ही आज प्रेम में मग्न दिखाये।
राजभवन भी आज बिहँसता सा दिखलाया।
मानों पारस आप रंक के कर में आया।

ब्रह्म-भाव में निरत महामुनि राज रहे थे।
३४० अवनी पर पीयूषधाम इव भ्राज रहे थे।
फुल्ल कमल इव सरस नेत्र जिनके अनुरागे।
तारकाक्ष - मोहिनी-सहित वे दीखे आगे।
अभिवादन की रीति निभाकर उचितासन पर—
बैठ गये वे उभय लिये श्रद्धा आनन पर।
"लेकर संशय कौन आज तुम दोनों आये?"
मुनि बोले सस्नेह भाव जब भंकृत पाये।
"देव, लगा सन्देह-वाण हमको अति तीखा।
समाधान का ढंग कहीं भी एक न दीखा।
जीवन-चक्र कठोर चला जो भ्रममय अविरत।
३५० उसमें हमको मान्य, अर्थ ही का सब अनुगत।

अर्थ केन्द्र ने अखिल सभ्यता-राशि प्रसारी।
अर्थ नहीं तो व्यर्थ जगत की संस्कृति सारी।
अर्थ हेतु ही समर और संघर्ष निरन्तर—
बोझिल कर निज पीठ चला अविरत अवनी पर।

भोजन-वस्त्र-निवास मान के संग मिलें जब।
अखिल अर्थ की सिद्धि मान्य प्राणी के हित तब।
इनके हित ही क्रान्ति जगत में होती आयी।
धरती बारम्बार रुधिर-रंजिता दिखायी।

बिना जीवनोपाय चलेगा जीवन कैसे?
और रहे या जाय; मिले यह जैसे-तैसे। ३६०
स्वार्थी जन ने छीन लिया यह साधन सारा।
जन-साधारण दीन गया युग-युग में मारा।

अर्थोत्पादन-यंत्र, विविध अनुभव, श्रम-कौशल।
परिवर्त्तन के पात्र कालकृत होते चंचल।
एक तंत्र का अंत एक का उदय दिखाता।
किन्तु श्रमिक के हाथ नहीं कुछ आने पाता।

श्रमिकों-प्रति अन्याय सदा से होता चलता।
वह साधन से हीन नहीं शोषण से बचता।
जो भी होता सबल उसी को पीसा करता।
उसके साधन और सकल धन को भी हरता। ३७०

शोषित जो जन आज वही होवें अधिकारी।
उनके कर में जाय राज्य की सत्ता सारी।
शोषण का अवसान तभी जग में आयेगा।
शोषित ही आराध्य महत्ता जब पायेगा।

श्रम कर के सब खायं, नियम परिचालित हो यह।
बैठे ठाले लोग मरें, व्रत पालित हो यह।
जीवन-मरण-विकास नया अब होगा जग में।
होगा दिव्य प्रकाश दलित मानव के मग में।

होगी प्रगति महान यंत्र नव नव आयेंगे।
श्रमिकों के हित मुक्ति अमित श्रम से लायेंगे। ३८०
सकल श्रमिक समुदाय अधिक अवकाश लहेगा।

जगत सरसता-धाम बिना आयास बनेगा।
इस अभीष्ट की सिद्धि हेतु विप्लव ही साधन।
उसके बिना कदापि न सम्भव जन-आराधन।
प्रगति-विरोधी तत्व दमन करना ही होगा।
दुराग्रही का प्राण हरण करना ही होगा।
राज्य-ग्रहण-अधिकार समझ में आ न रहा है।
अनधिकार यह कार्य हमें तो भा न रहा है।
विप्लव ही से राज्य मिले तो लें हम उसको।
अपने मन अनुरूप रूप भी दें तब उसको।"

"तारकाक्ष नयशील! तुम्हारा संशय समुचित।
नहीं किसी को योग्य धर्म निज करना विस्मृत।
खोजो अपना धर्म हृदय में उसे बसाओ।
उसमें निज व्यक्तित्व मग्न करके सरसाओ।
धर्म तुम्हारा लोक-व्यथा का वारण करना।
व्यक्ति व्यक्ति के प्रगति-चक्र का चारण करना।
पायें सभी विकास और उन्नति के अवसर।
यह प्रयत्न ही धर्म तुम्हारा धीरवीरवर।
अब तक दानव-धर्म हरण माना जाता था।
पीड़ा और विषाद जगत उससे पाता था।
तुमने पत्नी-सहित प्रेम का बाना धारा।
कर के अपनी हानि जगत का लाभ विचारा।
श्रम का अमित महत्व किया घोषित तुमने ही।
मृत का भी अमरत्व किया पोषित तुमने ही।
मानव-दानव-देव विषमता खोकर भारी।
तुमने मानव धर्म चलाया करुणाधारी।
त्याग और उपकार तुम्हारा धर्म मनोहर।
समता-सरस प्रसार तुम्हारा धर्म मनोहर।
करो सभी का त्याग, धर्म अपना मत त्यागो।
पायी दिव्य विभूति उसी के प्रति अनुरागो।
जन-सेवा ही साध्य तुम्हें मुझको जितना ही।

लोक-लाभ आराध्य मुझे तुमको जितना ही ।
विप्लव भी स्वीकार लोक का हित यदि होवे ।
वह भी स्वागत-योग्य समल का मल यदि धोवे ।

साधन को ही साध्य मान कर चलना जग में—
होगा बाधक किन्तु प्रगति-पथ के पग पग में ।
तरु को ही फल कौन मान लेगा विज्ञानी ?
तरु साधन, फल साध्य बात यह सबने जानी ।

लोक-लाभ के हेतु कभी विप्लव भी हितकर । ४२०
सच मानो यह बात, नहीं विप्लव ही हितकर ।
रक्तपातमय क्रान्ति कहीं गति भी दे देती ।
किन्तु कहीं सब सार प्रगति का भी ले लेती ।

जीवन-सत्य महान भ्रमण में निरत निरन्तर ।
नित्य-नित्य नव रूप ग्रहण रुचिमय अभयङ्कर ।
एक रूप के रसिक व्यर्थ आसक्ति बढ़ाते ।
होकर रूढ़ि-निबद्ध सत्य की शक्ति गँवाते ।

फिर भी कारण कौन बने विप्लव-अनुयायी ?
प्रेम-राज्य की क्यों न भावना तुमको भायी ?
सुनूं तुम्हारे तर्क सार उनका भी ले लूं ।
मेरी बानि कभी न पक्ष का बन्धन झेलूं ।" ४३०

"देव ! प्रकृति सम्बद्ध, पूर्णता मण्डित, अविकल ।
अवलम्बित अन्योन्य भाग जिसके सब प्रतिपल ।
द्वन्दात्मक अध्ययन प्रगति उसकी बतलाता ।
नित परिवर्त्तनशील रूप उसका दिखलाता ।

निहित विरोधी तत्व प्रकृति को गति दे देते ।
गति ही से सौन्दर्य-भावना हम ले लेते ।
संघर्षण के मध्य बिजेता दिखता सुन्दर ।
मरण-पात्र हो विजित बना सब काल अरुचिकर ।

भिन्न प्रकृति के अंश सतत विपरीत प्रभावित—
नीच उच्च प्रति उच्च नीच प्रति अविरत धावित । ४४०
प्रखर ध्वंस के संग चली रचना रससानी ।

कहीं विगत निर्जीव, कहीं भावी गति-मानी ।
पानी होता भाप ताप जब अतिशय पाता ।
इसी भाँति अति शीत उसे हिम रूप दिखाता ।
उग्र प्रभावाधीन सकल चलते परिवर्तन ।
घोषित करती प्रकृति सृष्टि में बस संघर्षण
मनुज प्रकृति का अङ्ग प्रकृति-नियमों से शासित—
होकर ही वह प्रकृत मार्ग पर होगा चालित ।
रक्तक्रान्ति - प्राधान्य इसी से मैंने माना ।
४५० विप्लव ही को मूल अखिल जीवन का जाना ।
विष-आक्रान्त शरीर मनुज का जब हो जाता ।
विकृत अंग दें काट यही उपचार दिखाता ।
त्यों ही मनुज-समाज अधिक विष-पीड़ित होकर ।
होगा प्राण-विहीन योग विप्लव का खोकर ।"

तारकाक्ष के वचन श्रवण करके ये सादर ।
बोले मुनिवर ज्ञान, प्रेम के वर रतनाकर ।
तारकाक्ष - मोहिनी चित्त एकाग्र बनाकर ।
सत्वर ही थे सजग श्रवण-हित कान लगाकर ।
"नव युग के सिरताज, लोकरक्षण में सक्षम—
४६० तारकाक्ष ! यह प्रश्न उठाया परम मनोरम ।
मुझमें तुममें भेद मतों का अति साधारण ।
करो विमर्श अखेद तथा समुचित का धारण ।
द्वन्दात्मक संघर्ष सतत ही स्वीकृत मुझको ।
विजय-पराजय-पक्ष उभय अंगीकृत मुझको ।
नित्य अमर की विजय; पराजित होता दानव ।
दोनों ही ले पक्ष समर-रत अविरत मानव ।
चेतन जड़ को जीत विजेता होकर चलता ।
खोकर अपनी शक्ति वहीं जड़ता - दिशि ढलता ।
जड़ - चेतन-संघर्ष चला यह सरस निरंतर ।
४७० नित चेतन-अवतरण हृदय रस से देता भर ।
निर्दय जीवन-सत्य-चक्र नित चलता रहता ।

अपने ही प्रिय पूर्व रूप को दलता रहता।
कभी दिवाकर दीप्त कभी शशिकर बन आता।
कभी दिवस की जीत कभी रजनी की लाता।

नहीं अमर की जाति, दैत्य का देश कहीं पर।
ऊँची-नीची भूमि सामने बस दिखती भर।
रस औ विष का दान सतत मिलता ही रहता।
झड़ता एक प्रसून एक खिलता ही रहता।

मत-अभिन्नता किंतु नहीं बस एक वहीं पर।
विप्लव को अनिवार्य जहां कहते हो हठकर। ४८०
बर्बरता-आक्रमण न विप्लव मान्य तुम्हारा।
अमित स्वार्थ-आचरण नहीं वह विप्लव प्यारा।

हिंसा-सम्मत, तदपि दया पर ही वह आश्रित।
त्याग-भाव की नींव उसे करती आधारित।
विप्लव का भी क्रोध दया से ही बल पाता।
लोक-हितैषी भाव उसे भी चलित बनाता।

जंगल ही के नियम नहीं जगती में चालित।
मानव का भी धर्म-भाव इसमें परिपालित।
सबल निबल दो तत्त्व विरोधी ही न यहां पर।
आया एक तृतीय तत्त्व कोई करुणाकर। ४९०

तत्त्व महान तृतीय उभय पर शासन करता।
दे नयनों का नीर निबल में भी बल भरता।
साम्ब सदाशिव वारि रुद्र-पावक बन जाता।
उससे कर विद्रोह सबल जब अनय बढ़ाता।

निर्बल होता सबल उसी के बल को पाकर।
बना खोखला सबल उसी की प्रीति गँवाकर।
सीमित वह न विराट भूमि ही के अंतर्गत।
अति लघु घटना मध्य उसे पाओगे अविरत।

मिली गर्त्त को पूर्त्ति किसी की करुणा से ही।
भरे, हरे जो घाव, कहीं मरहम पा के ही। ५००
अमरलोक से खींच मुझे करुणा ही लायी।
करुणा ही से विवश तुम्हें मानवता भायी।

जीवन का जो सत्य, तुम्हीं गतिशील बताते।
हिंसा ही में बद्ध उसे फिर क्यों दिखलाते?
कभी अहिंसा और कभी हिंसा में परिणत।
करता रहता भ्रमण सरसता-वितरण में रत।
केवल दल ही चपल नहीं होते परिचायक।
तरु-जीवन का मूल अनवरत नीरव गायक।
क्यों सशस्त्र ही क्रान्ति? अस्त्र से रहित नहीं क्यों?
५१० सत्य संचरणशील आत्मबल-सहित नहीं क्यों?
विप्लव बिना महान क्रान्ति जो तुमने पायी—
साम्यवाद की विजय नहीं क्या वह ले आयी?
सत्य-स्वरूप अखण्ड, खण्ड उसके मत कर दो।
समता के सिद्धान्त मध्य वैषम्प न भर दो।
मानवता का दीप तुम्हीं जग को दिखलाओ।
दानवता का लोप तुम्हीं जीवन में लाओ
अमर-अमरता-मूल सींच दो निज दृग-जल से।
सरस शान्ति का फूल खिला दो सेवा-बल से।"

"एक प्रश्न ही शेष कहूं कुछ उस पर भी अब।
५२० आया उसका उचित सहज अति अवसर भी अब।
तुम कहते हो अर्थ मात्र जीवन का साधक।
सृष्टि-आदि से मनुज बना उसका आराधक।
करुणा का जो तत्त्व अभी मैंने बतलाया।
प्रकृति-हृदय में निहित वृक्ष उर में ज्यों छाया।
उसका किया अभाव, बात आधी ही भायी।
रुचा अर्थ औ काम धर्म औ मुक्ति भुलायी।
मुझे नहीं आपत्ति बात सच सोलह आने।
भूख-प्यास से विकल ब्रह्म-सुख को क्या जाने।
यंत्रों का हो चलन मनुज सुविधाएं पाये।
५३० कोई नहीं विवाद सुघर जीवन बन जाये।
किन्तु अर्थ को मूल मान लें यदि जीवन का।
बहिष्कार कर अन्य सकल सुख के साधन का।

मानव के मानसिक जगत के तत्त्व घवेरे।
लायेंगे उत्पात-उपद्रव साँझ-सबेरे।
प्रगतिशील जो सत्य उसे मत कैदी कर दो।
अपने कण्ठ कुठार न अपने कर से धर दो।
बंधन पाकर सत्य तुम्हीं को फाँसी देगा।
आप अमर वह प्राण तुम्हारा हो ले लेगा।"

"जीवन-सत्य वसन्त कभी ब्राह्मण बन आता।
क्षमा, अहिंसा, प्रेम, दया के दृगजल लाता।५४०
क्षात्र धर्ममय ग्रीष्म कभी आता बन योधा।
उसने ही विकराल आततायी को शोधा।
जीवन-सत्य स्वरूप शीत - बनिये का लेता।
पैसे को अधिकार कभी शासक का देता।
तीनों ही में विकृति शोचनीया जब आती।
शूद्र रूप अनुरक्ति उसे पावस की भाती।
जीवन-सत्य प्रचण्ड कभी झंझामय बनता।
अनिमंत्रित, अनिवार्य वेग से सबको हनता।
सतत अवज्ञाशील सरल दुर्बल द्रुम के प्रति।
करता नित अन्याय दुराचारी खल दुर्मति।५५०
चला यहीं ले नियम विश्व-जीवन यह अविकल।
शासित कल्प विराट तथा इससे ही लघु पल।
ऋतुओं का आगमन-गमन इससे अनुमादित।
मानव का भी हृदय सतत इससे उद्बोधित।
अखिल भावना प्रकृति-विकृति इससे गति पाती।
नव यथार्थ-आदर्श-प्रीति इससे लहराती।
नये काव्य-अवतरण नये रस देने वाले—
इससे ही तो नित्य गये साँचे में ढाले।"
यों कह लिया विराम प्रेम-अम्बुधि मुनिवर ने।
लगी मंजु मुसकान खेल अधरों पर करने।५६०
दैवी विमल प्रकाश दृगों से बिखर रहा था।
मानस, मल से मलिन, सहज ही निखर रहा था।

"कहते चलिए देव, आप की बातें प्यारी—
होतीं मेरे हेतु भ्रान्ति-वन-पटल-विदारी।
मेरा अति सौभाग्य पधारे आप यहां पर।
आया सरसिज पास आप ही प्रखर प्रभाकर।
मुझको था यह ज्ञात प्रकृति में दो गुण केवल।
कहे आपने तीन; चमत्कृत हूं मैं चंचल।
मिटता जाता एक मिटाता अन्य दिखाता।
दोनों ही से मुक्त अन्य जीवन का त्राता।
ले दो का आधार अर्थ ही मैंने पाया।
लिये आपने तीन दृश्य ही और दिखाया।
समझा मैंने, दृष्टिकोण मेरा अति सीमित।
निज गति का अवरोध हो गया मुझको भासित।
आगे कहिए और, विगत हो मेरा संशय।
हिली कहीं पर नींव हृदय में धँसा अनिश्चय।
कहीं अभी त्रुटि शेष, करें उसका भी वारण।
मुझे पूर्ण से प्रीति पूर्णता करनी धारण।"

बोले फिर मुनिनाथ, "मिलें श्रोता तुम जैसे।
वक्ता मेरे सदृश मौन रह जायें कैसे!
तत्त्व सकल सामान्य दिया श्रोता ने गौरव।
बिना भूख के स्वाद नहीं भोजन में संभव।
विश्व-समान-विकास इष्ट तुमको जीवन में—
तो संतुलन-विधान न छोड़ो मूल्याङ्कन में।
देखो युग की ओर बनो युग के अनुसारी।
किन्तु समझ लो मूल्य, जान लो संगति सारी।
ब्राह्मण युग ही श्रेष्ठ क्षमा, संतोष, प्रेममय।
उसका जहां अभाव श्रेष्ठ क्षत्रिय ही निश्चय।
क्षत्रिय युग में क्रोध-वृद्धि हो, शेष न जायें।
और वैश्य युग मध्य अर्थ की सिद्धि बढ़ायें।
सकल युगों में हीन शूद्र युग माना जाता।
तनु-सेवा ही मूल्य वहां गौरवमय पाता।

उसका सामंजस्य अन्य सब युग से होवे।
तो वह भी परिताप लोक के किंचित खोवे।
इन सब का हो लोप विकृत-हिंसक-युग आये।
तो मिट जाय समाज प्रबलता बर्बर पाये।
समझो यह सम्बन्ध समन्वय सब में थापो।
सब की लघुता और महत्ता विधि से नापो।
मेरा तो अनुरोध ब्रह्म-युग जग में लाओ।
सेना का क्या काम प्रेम का दंड चलाओ। ६००
लघु महान् हो जाय महत्ता हो लघुतामय।
अहंकार खो जाय लोक सब होवें निर्भय।"

"प्रकृति-विषय में शेष मुझे दो शब्द कथन अब।
प्रकृति सदैव अपूर्ण, तरसती पूर्ण मिले कब।
जिसे मिला आकार पूर्ण वह हो न सकेगा।
लेकर सकल प्रसार कहीं वह लीन बनेगा।
प्रकृति अनादि अनन्त अंत फिर भी पायेगी।
पाकर के निज अंत आदि फिर से लायेगी।
निराकार का हृदय गूढ़ उसका शयनालय।
नीरव ही कर वास कथन करती निज आशय। ६१०
जो उसका आराध्य उसी प्रति जड़ता-धारिणि।
अपने चेतन-हेतु स्वत्त्व अपना उपहारिणि।
ले प्रिय की अनुहार सृष्टि चेतन का करती।
अपने ही अनुरूप रूप जड़ता का रचती।
करती प्रकृति प्रयत्न भाव प्रियतम का पाऊं।
जिसमें हो मिल जाय उसी को सफल बनाऊं।
मारण, रक्षण, सृजन इसी से चलता रहता।
प्रिय-आराधन-स्रोत निरन्तर बहता रहता।
अर्थ, काम औ धर्म, मुक्ति ही के आश्रय पर—
विरचित आश्रम चार वर्ण भी चार मनोहर। ६२०
विकसित मंजुल शस्य सहज दानव-खर-बाधित।
अन्न देव को कृषक करे श्रम से आराधित।

पुरुष-प्रकृति का विरह-मिलन जो जगत-सृष्टिलय।
वर्णाश्रम-संतुलन उसी को करता रसमय।
ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रता सकल समन्वित।
सीमा समुचित बाँध बनाती उसको लहरित।
मर्यादा सब तोड़ चली बर्बरता चंचल।
वर्णाश्रम पर चोट उसी ने की उच्छृंखल।
झंझावात-समान सामने दानव आया।
६३० उसने अति झकझोर मही पर सुतरु गिराया।
दानव का सहयोग अगर वर्णाश्रम पाता—
तो उसका वर वर्ण और भी दीप्त दिखाता।
घेरा राहु समान दैत्य ने उस रविकर को।
कर न सका प्रतिभात निपीड़ित वह जग भर को।
अमित ज्ञान-विज्ञान-दक्ष जो राष्ट्र शक्तिधर।
वे ही रवि इव नवल ज्योति जग-मग में दें भर।
शक्तिदण्ड से हीन न जीवन-रस ठहरेगा।
रस पाकर निज राशि पवन-प्रेरित लहरेगा।
सीदित हो मत व्यक्ति राष्ट्र परतंत्र बने मत।
६४० दो सब उसको प्रीति अखिल जग का मल हो गत।"
यों कर कथन समाप्त मौन हो मुनि मुसकाये।
शब्दों से भी अधिक भाव उसमें से आये।

तारकाक्ष-मोहिनी उभय अतिशय हर्षित थे।
प्रेम राज्य का मूल मान रसमय कर्षित थे।
"देव, मिटा संदेह बात हमने सब जानी।
होंगे मान्य निदेश आप के हे विज्ञानी।
तप्त भाप-उर चीर मेघमाला ज्यों आयी।
संशय-वन में ज्ञान-कली हमने त्यों पायी।"
यों कह गमने युगल प्रेममय कर अभिवादन।
६५० करने लगे मुनीश सहज हरि-रस-आस्वादन।

नर-नारी आबाल वृद्ध थे परम प्रफुल्लित।
तारकाक्ष-अभिषेक-हेतु उत्कंठित अतुलित।

पल भर का न विलम्ब सहन उनको होता था।
कल्पित बाधा-भीति प्रेम अतिशय बोता था।
मंडप-रचना रुचिर लगी होने निधि-तट पर।
करने लगे प्रसार सरस छवि विविध कुशल कर।
मुनि से बोले वचन मंजु तब महासचिव वर—
"मेरी इच्छा एक श्रवण कर लें करुणाकर।"
उत्कंठित जब अमित महामुनिवर को पाया।
महामात्य ने भेद हृदय का यों बतलाया। ६६०
"कार्त्तिकेय ही तारकाक्ष को तिलकित कर दें।
मेरी यह अभिलाष, मोद मन मन में भर दें।
हो यदि सम्मत आप व्यवस्था सब कर लूँगा।
राजतिलक दिन समय सकल अनुकूल धरूँगा।"
महामात्य की उक्ति महामुनि को अति भायी।
बोले, "मेरी बात कहां से तुमने पायी?"

चिन्तित थे रणधीर मति-भ्रम देख सभी का।
मानव प्रकृति-विरुद्ध व्यतिक्रम देख सभी का।
लेटे ज्यों, आ गयी नींद धीमे पावों से।
लगे देखने स्वप्न विकल विचलित भावों से।६७०
दीखे दानव उन्हें सदा जैसा जाना था।
हिंसक कपटी क्रूर सदा जैसा माना था।
कर के मीठी बात प्राण लेना भी आया।
उन्हें धर्म औ सत्य त्याग देना भी आया।
छेड़ दिया संग्राम अचानक ही छलियों ने।
धोखा खाया खूब हमारे ऋषि-मुनियों ने।
नहीं एक भी अस्त्र हाथ में रखने पाये।
शत्रु-भवन में हाय हाथ रीते हम आये।
हाय आत्म-सम्मान होगया नष्ट हमारा।
विजयी का अभिमान हो गया भ्रष्ट हमारा।६८०
दानवगण के दास आज होने हम आये।
दैत्य देश में हाय लाज खोने हम आये।

शान्ता को स्वाधीन करेंगे क्या मँह लेके।
यहीं समद्र-विलीन बनेंगे अब ले देके।
हाय साधु अवधेश साधुओं के चक्कर में।
पड़ कर चकना चूर हो गये रिपु-टक्कर में।
कोशलेश का दैन्य और अपमान विलोकें।
फिर भी करें न वार हाथ हम अपना रोकें।
कैसी यह बेबसी मूढ़ता कर हम लाये!
कैसा यह दुर्दैव सभी जिससे बौराये!
बाल वृद्ध भी हाय चले कितने ही आये।
रोके जितने गये ढले उतने ही आये।
अहह! सभी की मौत साथ ही सब को लायी।
काल-विवश ही भ्रान्ति सभी के मन ने पायी।

सेन पति - उर-मध्य भाव ये क्षण में आये।
और एक क्षण मध्य एक ही साथ बिलाये।
बिजली का संचार हो गया उनमें ऐसा।
क्रुद्ध केसरी में न कभी भी देखा जैसा।
अस्त्र हाथ में था न किन्तु वे रण में पैठे।
करूं शत्रु संहार भयंकर प्रण में पैठे।
और एक आश्चर्य देखने में यह आया।
रण का सब सामान कोशलेश्वर ने पाया।
क्या कहना फिर वीर केसरी के गर्जन का।
सबल सैन्य के संग वैरि दल के मर्दन का।
घेरा शोणित-नगर अवध के वीर वरों ने।
बंदी-सा कर दिया चतुर्दिशि अनल-शरों ने।
मानों भुजग कराल अग्नि फूत्कारित करता।
कंठ किसी का बाँध चला प्राणों को हरता।
यही नहीं, आकाश-यान से गोले छूटे।
दानव-योधा-वृन्द विकल दल के दल टटे।
सारा शोणितनगर भवन था ज्वालाओं का।
भवन-भवन था केन्द्र अनल की मालाओं का।

केवल वे ही बचे दैत्य ने जिन्हें सताया।
जीने का अधिकार जिन्होंने पिस कर पाया।
किया प्रयत्न अनेक दानवों ने बचने का।
किन्तु न सके सँभाल समय आया लचने का।
पैठे शोणितनगर-मध्य तब वीर अवध के।
भानुवंश की ध्वजा लिये रणधीर अवध के।

औचक टूटी नींद गयी सपने की माया।
सेनापति ने अमित व्यथा का अनुभव पाया। ७२०
इसी समय बहु व्योमयान नभ में मँड़राये।
मानों यम के विहग खेल करने को आये।
हाथ मींजना और दाँत पीसना भयंकर—
वाक्य-बाण की वृष्टि संग ही संग निरन्तर—
सेनापति रणधीर रिक्त-कर हो करते थे।
अस्त्रहीन हो आज बिना मारे मरते थे।

'तारक निज संहार-कार्य अब करने वाला।
तो न यहां भी नेक एक भी डरने वाला'—
बोले बालक वृन्द मोद-रत नर्तन करते।
अमित हृदय- उल्लास लोचनों में अनुसरते। ७३०
"जयति षड़ानन जयति"—नाद गूँजा मनहारी।
गरजा अम्बुधि घोर—"जयति तारक-संहारी।"
जन-जन ने संकल्प मरण का मन में ठाना।
स्वर्गारोहण समय सहज आगत अनुमाना।
और परम आश्चर्य! गगन से अनल न आया।
सुरभित मंजुल सुमन यान-दल ने बरसाया।
"पश्चिम में दिननाथ आज क्यों उदित दिखाते?
पावक को क्यों चंद्र-सरिस शीतल हम पाते?
दानव-कर से फूल झड़ें यह बात अनोखी।
क्रान्ति संघटित कौन नियति की कृति में चोखी?" ७४०
कहते थे कुछ लोग, "दैत्य की यह सब माया।

पहले मीठा रूप सदा उसने दिखलाया।"
देखा सब ने पोत-प्रगति-क्रम के अनुसारी।
चलते व्योम-विमान सुमन-आवर्षणकारी।
उमड़ा था उत्साह, शिथिल सारा हो आया।
मरने का आनन्द न कोशल-जन ने पाया।

आया अम्बुधि तीर, जहां जनगण थे अगणित—
करते जयजयकार षड़ानन के प्रति प्रणमित।
तारकाक्ष, मुनिनाथ, सचिव आगे शोभित थे।
७५० पीछे लोग असंख्य महाप्रभु-छवि-मोहित थे।

परम कृपा कर नाथ दृष्टि-बल सब को देते।
अपना सैन्य अपार संग में क्रम से लेते।
अति विराट आकार सहज ही सीमित करते।
चले षड़ानन रूप महाऋषि में संचरते।

मुनिनायक संकेत अनुगमन करते आये।
जहां रुचिर दरबार साज सब थे मनभाये।
उनसे पहले शीघ्र वहां अगणित जन धाये।
अनायास ही उचित सुआसन सब ने पाये।

लक्ष-लक्ष जन परम व्यवस्थित बैठ गये थे।
७६० नेह-नीर-निधि-मध्य प्रेममय पैठ गये थे।
थी तन की न सँभाल तृषित थे अधिक विलोचन।
तनिक अघाते थे न पान करते छवि मोहन।
एक ओर सरदार वसन-भूषण-समलंकृत।
बहु अधिकारी वर्ग एक दिशि शोभा-मंडित।
रूप गर्व की खानि एक दिशि थीं महिलाएं।
जिन्हें देख कर सकल चंचला-कला बिलायें।

फैल गया आलोक प्रखर मंडप के भीतर।
पैठे जब ऋषि-रूप महाप्रभु हृदय-वशीकर।
खड़े हो गये लोग विमोहित चित्र-लिखे से।
७७० मानो हरिण-समाज गीत-स्वर-हाथ-बिके से।

दो सिंहासन स्वर्ण-रचित अतिशय आलोकित।
तारकाक्ष हित एक एक था प्रभु-हित शोभित।

जय-जयकार महान घोष सँग उभय विराजे।
परम अलौकिक और सुलौकिक छवि से साजे।
सिंहासन थे तीन रत्न से जटित रजत के।
राजित हित मुनिनाथ और तारक-दम्पति के।
पृष्ठ-भाग में मोर पंख फैलाये सोहा।
मणियों में प्रतिबिम्ब देख दर्शक मन मोहा।
दानवेन्द्र का मुकुट रखा था प्रभु के आगे।
सकते थे न विलोक जिसे लोचन अनुरागे। ७८०
रत्नों की अभिराम जटित उसमें माला थी।
या अंगारक राशि-प्रज्वलित वह ज्वाला थी।
देखा सब ने, बात महाप्रभु ने मुनि से की।
मण्डप-बाहर प्रगति शीघ्र ही मुनिपति ने की।
करते विविध विमर्श महामुनि सत्वर गति पर।
पीते थे प्रभु-रूप तृषित जन-लोचन रुचिकर।

गमने जब मुनिनाथ दनुजनायक मधुकर से।
कुसुम-कुसुम के रसिक भाव-उपवन में दरसे।
पछतावे की सुरभि सकल सुमनों से आयी।
प्रथम बार ही आज वारि नयनों में लायी। ७९०
समाधिस्थ शिव मूल जगत-जीवन के प्यारे।
शाखादल औ फूल रुद्र ने केवल धारे।
हाय रुद्र को मूल मान कर शूल बढ़ाया।
जीवन में विश्राम नहीं रंचक भी पाया।
किया रुद्र से प्रेम शम्भु को वैरी जाना।
मेरा परम प्रमाद भिन्न दोनों को माना।
शंभु-उमा ने स्नेह-भाव अपना निरवाहा।
थोड़ा भी अपकार न मेरा करना चाहा।
लाखों ही के प्राण सताये निशिदिन मैंने।
लाखों ही को हाय रुलाये निशिदिन मैंने। ८००
दुर्जन ही को नित्य चढ़ाया सिर पर मैंने।
नित्य सुजन-अपमान कराया हँसकर मैंने।

चिंतन यह अविकार हृदय-मंथन करता था।
युग-युग के सब कलुष सहज सत्वर हरता था।
चमत्कार लो देख आग पानी में सोती।
तारक-नयन कराल आज बरसाता मोती।
ले पत्नी को संग पिता से मिलने आये।
तारकाक्ष नयधाम संग जननी को लाये।
पति-दृग सजल विलोक महारानी अकुलायीं।
सकीं न पीड़ा रोक अवनि-तल पर गिर आयीं।
तारकाक्ष का साथ दौड़ तारक ने देकर।
की चेतना प्रदान यत्न के द्वारा सत्वर।
बोले दानवराज, 'व्यथा की बात न कोई।
क्यों फिर तुमने देवि, विकल हो संज्ञा खोयी?
"नाथ! व्यथा की बात नहीं कुछ कैसे जानूं?
जब अपमान-विदीर्ण आप का उर अनुमानूं।"
तारकाक्ष ने कहा, " तात, तुम राज सँभालो।
संतति ही की भाँति प्रजाजन को प्रतिपालो।"
"बेटा, मेरे अश्रु देख कर मत घबराओ।
उसे दैन्य से जनित जान मत धोखा खाओ।
यह दृगजल वह अमृत खोज में था मैं जिसकी।
दो मुझको एकान्त अर्चना कर लूं इसकी।
मरुस्थली में आज भटकना छूटा मेरा।
मदान्धता-सम्बन्ध प्रबल अब टूटा मेरा।
जीवन का आधार प्रेम-बल मैंने माना।
कार्त्तिकेय की शरण आज मुझको अब जाना।
बेटा, प्रेम-समेत राज तुमको देता हूं।
बदले में सामोद सरस जीवन लेता हूं।
कर मम पद स्वीकार जगत-मानस सरसाओ।
पग-पग पर आशीश जनक-जननी से पाओ।
खिड़की से सब दृश्य प्रीतिकारक देखूँगा।
इसमें ही सौभाग्य सकल अपना लेखूँगा।
जैसे भोगा भोग कठिन तप भी करने दो।

पाई-पाई आज मुझे निज ऋण भरने दो।"

पति के मन की बात महारानी ने जानी।
जनक-हृदय-भावना तनय ने भी अनुमानी।
बोले, तब "हे, अम्ब, पिता ढिग तुम रहजाओ।
उत्सव के दिन किन्तु सम्मिलित होने आओ।"
जननी-मन-अनुकूल बात थी तारकाक्ष की।
नहीं जनक-प्रतिकूल बात थी तारकाक्ष की। ८४०
कालचक्र का ध्यान हृदय में अपने धर कर।
तारकाक्ष-मोहिनी गये तब अभिवादन कर।

———

अष्टादश सर्ग

कला कलाधर संग और द्रुम सँग ज्यों छाया।
शीलमयी ने आज स्वयं को त्यों ही पाया।
पारस पाकर रंक धन्य हो जाता जैसे।
पति का पाकर प्रेम कृती थीं वे भी वैसे।
तारक बोले, "देवि, दया तुमसे लूँगा मैं।
पावन प्रीति-प्रतीति आज अपनी दूँगा मैं।
आँखें कर के बन्द कपट मैंने ठाना था।
तुम्हें आपदामूल शूल ही सा जाना था।
ज्यों पूनो की रात पूर्व कृत घात भुलाती।
हास-सेज के अंक हृदय की ग्लानि सुलाती।
त्यों ही मेरे दोष आज तुम भी बिसराओ।
मेरे अत्याचार ध्यान में भी मत लाओ।"
बोला चाहा शब्द, एक भी बोल न पायी।
गूँगे के मुँह आज मनों मिसरी लग आयी।
नीरव ही थे अश्रु उन्हीं में कुछ-कुछ बोली।
अधिक लाभ से शीलमयी पागल सी हो ली।
शीला की गति देख सजल-लोचन तारक थे।
लाख-लाख अनुताप सलिलकण में धारक थे।
"प्रेम सदा बेबोल सभी जन ने बतलाया।
देवि, तुम्हीं में रूप देख उसका मैं पाया।

अपने जी की बात एक तुमको बतलाऊं।
देकर तुमको भार तनिक हलका हो जाऊं।
कार्त्तिकेय सामने कौन मुँह लेकर हूँगा ?
शृंगी ऋषि से भेंट भला किस भाँति करूँगा ?

काला मेरा कर्म आज मेरा मुँह काला।
अपने मुँह में आप हलाहल मैंने डाला।
बिलगपने का भार कहां तक ढोऊँगा मैं !
मन का अति शैथिल्य कहां तक खोऊँगा मैं !

अहंकार - अवशेष हो रहा मेरा बाधक।
मैं साहस से हीन प्रेम-प्रारम्भिक साधक। ३०
रघुकुल नाथ समक्ष खड़ा मैं हो न सकूँगा।
पाप-पयोनिधि-लीन परम असहाय थकूँगा।

मेरा दुर्बल भाव देवि, सब को समझाना।
मेरा यह एकान्त बचे जिस भाँति बचाना।
तारकाद्द को बात हमारी सब बतलाना।
दोनों मिल उद्योग हमारे हेतु बढ़ाना।

मुझे परम सन्देह न प्रभु स्वीकार करेंगे।
मेरे पाप अपार निरत उद्धार थकेंगे।
बालचन्द्र किस भाँति तिमिर अघमय खोयेगा।
करता करता यत्न, गँवाकर बल, सोयेगा। ४०

दूरबीन से देख तृप्ति अपनी कर लूँगा।
मुझे न देखें लोग इसी का यत्न करूँगा।
शम्भु-उमा का भक्त किसी दिन कहलाऊँगा।
मुँह दिखलाने योग्य उसी दिन हो जाऊँगा।"

पति को देख अधीर धीर अति शीला बोली।
"नाथ तुम्हारी पीर पीर अब मेरी होली।
हलका कर लो हृदय न होगी कोई बाधा।
चिन्ता क्यों जब शम्भु-उमा ही को आराधा।"

यों ही बातें विविध कथन करती रहती थी।
कार्त्तिकेय-गुणमाल-ग्रथन करती रहती थी। ५०
धीरज होता नेक अधीरज फिर आ जाता।

आता था आलोक अँधेरा फिर छा जाता।

चला बीतता समय उन्होंने जान न पाया।
औचक मुनि-आगमन द्वारपति ने बतलाया।
आगे बढ़कर शीघ्र किया स्वागत दम्पति ने।
आसन देकर प्रश्न किये अति विचलित-मति ने।
उत्तर देकर उचित, कहा मुनिवर ने सत्वर।
चलो महाप्रभु पास सकल संकोच नसाकर।
ठानोगे हठ आप वही दौड़े आयेंगे।
६० वे अति करुणाधाम न तुमको बिसरायेंगे।
तारकाक्ष अभिषेक अधूरा रह जायेगा।
तुमसे आशीर्वचन नहीं यदि वह पायेगा।
चलो चलो अविलम्ब जोहते होंगे पभु मग।
हर लेंगे सन्देह सँभालेंगे पग उगमग।
हों यदि मनि से दूत कार्य में सिद्धि न हो क्यों?
आये तरणि प्रभूत प्रभा की वृद्धि न हो क्यों?
शीलमयी के संग बिसारा संशय सारा।
मुनिनायक-अनुगमन दैत्यपति ने स्वीकारा।
प्रभु का मंजुल रूप पी रहे थे जन-लोचन।
७० मिली न शक्ति अपार अश्रु करते थे मोचन।
कर के बन्द कपाट हृदय में धर देते थे।
नव नव रस से व्याप्त सुमन को कर लेते थे।
तारक दम्पति-संग व्यर्थ क्यों आये मुनिवर?
रसदायक अविराम-विघ्न क्यों लाये मुनिवर।
लोगों ने यह बात कही नीरव ही मन में।
उमड़ीं परम अतृप्ति-भावनाएं जन जन में।
मुनि तारक औ शीलमयी आसन पर राजे।
अथवा गुरु शशि संग रोहिणी छवि से छाजे।
पाकर सचिव-निदेश पत्रियां पद-अधिकारी।
८० वितरित करने लगे कार्य्यक्रम की मनहारी।
प्रभु-स्वरूप की ओर प्राण औ नयन गड़ाये।

सभा-कार्य की ओर कान भी तनिक लगाये।
सामंजस्य अनूप साध कर सबने प्रति पल।
श्रवण मङ्गलाचरण किया मुनिवरकृत अविचल।
प्रभु प्रति उन्मुख भाव देखने को ललचाये।
अन्तर दृग प्रभु ओर दैत्यपति-दिशि दृग धाये।
नयन-श्रवण का योग हो गया नव रसवर्षी।
तारक का व्याख्यान चला जब हृदय-स्पर्शी।
"श्री प्रभु के पदकंज प्रणति मेरी स्वीकारें।
आये जो जन संग विनति मेरी स्वीकारें। ९०
वे करुणाकर आज करें करुणा अंधे पर।
मेरे अघ की राशि वहन कर लें कन्धे पर।
रुद्र-शक्ति औ शम्भु-उमा में भेद बताया।
शम्भु-उमा अपमान किया, दिन-रात कराया।
शम्भु-उमा-प्रतिमूर्त्ति सकल अपराध बिसारें।
लेकर अपनी शरण आज मुझको भी तारें।
मेरे राजकुमार राज का काज सँभालें।
पाये प्रजा विकास नीति वैसी प्रतिपालें।
तारकाक्ष का तिलक देव निज कर से कर दें।
नव उमङ्ग अनुराग लोक-मानस में भर दें।" १००

यों ही कर के कथन मौन थे ज्यों दानववर।
उठे महाप्रभु मधुर हास नव अधरों पर धर।
द्वादश भुज ने मुकुट नये नृप हित जब धारा।
प्रखर ज्योति से दिव्य हो गया मण्डप सारा।
सिंहासन निज छोड़ स्वल्प ही आगे बढ़कर।
तारकाक्ष ने मुकुट लिया सविनय निज सिर पर।
'तुमसे हे दैत्येन्द्र! त्राण पायें जग-प्राणी।'
गूँजी ज्यों घनघोष षड़ानन की वरवाणी।
"कार्त्तिकेय जय जयति जयति जय तारकाक्ष जय।
जय जय शोणित द्वीप जहां छवि विकसित अक्षय"—११०
दर्शकगण ने नाद किया लव तक यह भारी।

जब लौं दृश्य अनूप दिखा जीवन-मलहारी ।
सिंहासन-आसीन हुए जब नव दैत्येश्वर ।
देने को आशीश चले तब सक्षममुनिवर ।
'हे दानव-सम्राट, प्रेमशासन संचारो ।
दण्डनीय जो लोग प्रेम-शर उन पर मारो ।
साम्यभाव की छाप जगत-सम्बन्धों पर हो ।
साम्यभाव पर छाप प्रेम की परम प्रखर हो ।
पायें नहीं प्रवेश द्वेष के भाव कलंकित ।
१२० नव समाज-निर्माण प्रेम पर हो अवलम्बित ।
पर जीवन-आधार हरण कर लेना त्यागें ।
श्रममय कर्म-प्रसार-धारणा में अनुरागें ।
दानव-मानव-देव-प्रेम का धर्म सँवारें ।
प्रेम-हृदय में धार नृपति-शासन निरधारें ।
मिले प्रेम-आधार, विश्व रसमय हो जाये ।
बढ़ता जाता भार रसा का क्षय हो जाये ।
पारिश्रमिक प्रसाद यही लेता हूं राजन् ।
सौ-सौ आशीर्वाद तुम्हें देता हूं राजन् !"
"जय जय जय मुनिनाथ प्रेम की राह दिखायी–"
१३० कंठ-कंठ-ध्वनि कलित तरंगित अविरत आयी ।
तदनंतर ही चला नवल दैत्येश्वर-भाषण ।
मानो अलिकुल हेतु सरस सरसिज-आश्वासन—
"प्रभु ऋषि मुनिवर अम्ब पिता औ सब श्रोतागण ।
प्रथम करो स्वीकार विनत मेरा अभिनन्दन ।
दिया आपने भार उसे सिर पर लेता हूं ।
पा शासक-अधिकार प्रथम आज्ञा देता हूं ।
कारागारों मध्य हमारे जो बन्दीजन ।
वे अविलम्ब स्वतन्त्र किये जायें इस ही छन ।
परम समादर साथ पधारें अवधकुमारी ।
१४० जिनके तप से आज प्रसादित जगती सारी ।
मानवेन्द्र-प्रति द्वेष हमारे जनक भुलायें ।
उन्हें प्रीति के साथ कंठ से आज लगायें ।

उनकी थाती सौंप उन्हें हलके हो जायें ।
धर्म पिता अधिकार माँग लें धन्य कहायें ।
जो परतन्त्र प्रदेश न अब परतन्त्र रहेंगे ।
शोणित द्वीप समान सदैव स्वतन्त्र रहेंगे ।
हरण आज से दैत्यवृन्द का धर्म न होगा ।
करना पर अपकार हमारा कर्म न होगा ।
जो अतीत के कलुष उन्हें भी हम धोयेंगे ।
जिन्हें मिला सन्ताप संग उनके रोयेंगे । १५०
कोष हमारा अमित जगत-पीड़न का दर्पण ।
जग-सेवा के हेतु आज से वह सब अर्पण ।
नहीं धूलि की भाँति उड़ेंगे अखिल गगन में ।
रस का प्रकृत स्वरूप इष्ट होगा जीवन में ।
नव-नव प्रणय-प्रसार विकृति का था जो पोषक—
होगा वह सब अब न प्रकृत गृह-जीवन-शोषक ।
पालेंगे श्रम-नियम करेंगे कार्य सभी जन ।
मित आहार-विहार करेंगे धार्य सभी जन ।
राजकीय भण्डार यथा आवश्यक देगा ।
जनता का श्रम कार्य मात्र बदले में लेगा । १६०
कहां घृणा का काम ! कहां संघर्ष निरन्तर ।
कहां लोभ-विस्तार व्यक्ति-उत्कर्ष निरन्तर ।
सैनिक होकर श्रमिक धर्म श्रम का पालेंगे ।
प्रेमाधारित लोक-कर्म सब संचालेंगे ।"

तारकाक्ष-आदेश श्रवण करके यह न्यारा ।
"जय दानव सम्राट"—सभा ने घोष उचारा—
"जो-जो हों निर्देश हमारे प्यारे शासक !
पालेंगे हम सकल तुम्हारे परम उपासक ।"
आसन पर आसीन हो गये जब दानवपति ।
आये भाषण हेतु मंच पर दशरथ दृढ़-मति । १७०
बोले, 'हे दैत्येन्द्र ! धन्य तव मति जगपालिनि ।
धन्य तुम्हारे जनक, धन्य जननी यशशालिनि ।
तुमको पाकर धन्य हो गया आज दनुज-कुल ।

बना तुम्हीं से आज जगत-सिर-ताज दनुज-कुल।
घाव हमारे आज हृदय के सब भर आये।
देख तुम्हारा भाव हमारे खेद नसाये।
मानव-दानव-देव भिन्नता प्रकृत न कोई।
मैंने जाना आज भिन्नता भ्रम ने बोयी।"
बोल न पाये अधिक प्रेम से गद्गद नृपवर।
१८०मन का वेग सँभाल गये सत्वर आसन पर।

मन्त्री ने अविलम्ब कर्मचारी दौड़ाये।
शान्ता का सन्देश एक क्षण में जो लाये—
"आये करुणाधाम, पधारें तो मेरे ढिग।
पायें जीवनस्वाद यहीं पीड़ित मेरे दृग।"
बन्दी-दल हो मुक्त गया शान्ता-दर्शन-हित।
घोषित करता—"देव आप आयेंगे विचलित।"
मानवेन्द्र-व्याख्यान-अन्त में अवसर पाकर।
मन्त्री ने संवाद दिया यह नव रस-आकर।
उठे नाथ अविलम्ब, उठे दनुजेश्वर सत्वर।
१९० तारक-दम्पति उठे उठे दशरथ धरणीश्वर।
मुनिनायक के साथ सभी ने आसन त्यागा।
शान्ता-दर्शन-हेतु सभी का मन अनुरागा।

मुक्त बन्दियों संग जोहती पथ शान्ता थी।
कहीं न आयें देव—सोच में पड़ भ्रान्ता थी।
जाती मैं ही हाय कौन सी थी कठिनाई?
प्रभु को जिससे क्लेश बात वह कैसे भायी?
आप मोह से विवश दैत्य-कारा में आयी।
उरदाहक संताप आप ही अपना लायी।
अपराधिन हूं तदपि गरज कर बोल रही हूं।
२०० अतुलनीय जो नाथ उन्हीं को तोल रही हूं।
आशा औ नैराश्य द्वन्द से विचलित जब थी।
स्वाभिमानिनी तनिक दीनता-विदलित जब थी।
करता जय जयकार तुमुल जनवृन्द अपरिमित।
पड़ा निकट ही जान निरन्तर क्रमशः वर्द्धित।

लगी न पल की देर सामने प्रिय रथ सोहा।
उसमें प्रिय आसीन; देखकर लोचन मोहा।
"मेरे प्रिय भगवान एक में दोनों आये।
सौरभ ही के संग स्वर्ण भी मैंने पाये—"

यों ही गाकर गान मंजु आरती उतारी।
फिर फिर शोभा अमल कान्त कीउर में धारी। २१०
लाखों ही थे लोग एक प्रिय ही को जाना।
प्रिय ही में परमेश परम प्रभु को पहिचाना।

तन्मयता अवलोक दिव्य रथ में बिठलाया।
मुनि ने प्रेम - समेत अवध का मार्ग बताया।
दे सब को आशीश अभयकारक आश्वासन।
शान्ता को ले संग, महाऋषिवर दीप्तानन—

दिव्य यान आरूढ़ चले नभ - गामी होकर।
पृथ्वी के सिर ताज गगन के स्वामी होकर।
वाहन मंजुल मोर छटा छिटकाता जाता।
कार्त्तिकेय - घनश्याम - धारणा से रस पाता। २२०

चला महारथ - उपरि पंख की छाया करता।
लोक-नयन में तेज, प्रीति मानस में भरता।
लक्ष - लक्ष थे नयन उन्हीं के ऊपर केन्द्रित।
टँगे उन्हीं की ओर परम प्यासे, रस के हित।

चले गये वे प्राण तदपि उनमें अटके थे।
एक झलक मिल जाय खोज करते भटके थे।
गये ज्योति के धाम तिमिर लोचन ने पाया।
मिली निराशा घोर उसी में धीरज आया।

"बन्दी गण निज गेह शीघ्र ही भेजे जायें।
हो सब राज-प्रबन्ध पंथ में क्लेश न पायें—" २३०
बोले दानवराज—"देर का काम नहीं अब।
ऋण का हो परिशोध, मुझे विश्राम नहीं अब।"

राजकीय आदेश अनन्तर बोले तारक।
बन्दी गण से वचन प्रीति - श्रद्धा-विस्तारक—
"क्षमा करो सब लोग, रहे कारा में आकर।

मैं था बन्दी आप स्व अन्तरदृष्टि गँवाकर।"
बोले बन्दी मुक्त, "जयति तारक, जय तारक।
सत्य भाव-अनुकूल भूल निज अंगीकारक।
अंधकार स्वीकार किया जब लों प्रिय जाना।
२४०तजा एक ही बार हानिकर ज्यों ही माना।"
दीखे शीघ्र अनेक यान दिशि दिशि में जाते।
स्वाधीनता प्रभाव गान की झंकृति पाते।
तारक के प्रति द्वेष अनल में जो जलते थे।
उनके दृग-जल आज यान-नीचे ढलते थे।

कोशलेश गुरुदेव आदि के चरणों पर सिर धर कर।
माँगी तारकाक्ष ने करुणा परम आर्त्ति उर में भर।
दानवेन्द्र की पद-मर्यादा राघव ने निरवाही।
बारम्बार सजल-लोचन हो उनका विनति सराही।
तारकाक्ष ने नृप प्रयाण का किया प्रबन्ध निराला।
२५० संग-संग आधे मग तक जा आँखों देखाभाला।
नहीं अभाव किसी ने जाना थे सब अमित प्रभावित।
चलते समय सभी के लोचन हो आये जल-प्लावित।
रोक लिया मुनि को तारक ने कह विनीत वर बानी।
उचित जान अवलम्ब-दान हित ठहर गये वे ज्ञानी।
जीवन-तत्त्व बताये गहरे कृपाधाम ने जन को।
विविध भाँति से किया प्रबोधित तारक दम्पति-मन-को।
चित्र षड़ानन का अंकित कर दिया एक मनहारी।
समझाया जैसे आराधन सम्भव ज्ञान-प्रसारी।
"अभी करोगे अमृत पान तुम," वे बोले धृतिसागर—
२६० "आयेंगे फिर दर्शन देने दीनबन्धु नय-नागर।"

तारकाक्ष-दम्पति मुनिनायक के समीप फिर आये—
राजधर्म-उपदेश-श्रवण-हित उत्कंठित ललचाये।
मुनि ने उनके सद्भावों को बारम्बार बखाना।
फिर यों कथन किया निज अनुभव हितकारक रससाना—

"आये हम सब यहां कर्म ही के लिए।
अमर लोक को छोड़ मर्त्य इस लोक में।
यदि प्रमाद वश कर्म करेंगे हम नहीं,
तो यह अविचल सत्य—पड़ेंगे शोक में।

नहीं रात को प्रभा तरणि की मिल सकी।
इससे ही तो विभा चंद्र की खिल सकी। २७०
रजनीश्वर आभा-अभाव भी हो जहां।
अंधकार की नींव वहां कब हिल सकी?

तज कर के अमरत्त्व कर्म हमने लिया।
पूर्त्ति उसी से अमर भाव की हो सकी।
त्याग चला जो कर्म, अमरता से गिरा,
मानवता भी स्फूर्त्ति न उसमें बो सकी।

रुद्रदेव-अति - कर्म शम्भुता दे सका।
जिसमें निहित समाधि महारसदायिनी।
सब को ही अधिकार सदा उतना मिला।
होती जितनी प्रकृति प्रकर्म-विधायिनी। २८

मानवता जब दीन कर्म से हीन हो।
देवों का तब कर्म महा मानव बनें।
देकर अपनी शक्ति सजग उसको करें।
अनायास ही क्षीण प्रबल दानव बनें।

मानव हो जब सबल, देव को भोग दे।
आराधन में, हवन, यज्ञ में योग दे।
दैत्यवृंद पर विजय सत्य - बल से करे।
द्वेष-घृणा की प्रगति सहज ही रोक दे।

दानव का 'संहार' कर्म माना गया।
किन्तु वही 'संहार' जहां रचना छिपी। २९०
लेना केवल एक अन्य को त्याग कर।
इसमें तो अज्ञान-भावना ही दिपी।

रुद्रदेव केवल विनाश करते नहीं।
शम्भु रूप में लोक-त्राण-रत भी बने।
दानव जीवन-तत्त्व ग्रहण इससे करे।

केवल मारण कर्म मान कर मत हने।

देवलोक में अमर भोग-कामी बसे।
मनुज लोक में कर्म-मग्न मानव मिले।
दैत्यलोक में वास हरण-रत दनुज का।
भिन्न भूमि में सुमन भिन्न छवि के खिले।

किन्तु नहीं यह कथन सत्य सर्वांश में।
सभी वर्ग सब ठौर सदा आये गये।
देव-मनुज-संस्कार दनुजगण में मिले।
देव, मनुज में दनुज भाव पाये गये।

सप्त अश्व रथ पर विराज कर सूर्य ज्यों।
जग में चारों ओर भ्रमण करते चले।
कर्मदेव त्यों देव, मनुज औ दनुज में—
क्रमशः मंजु विकास सतत भरते चले।

कर्मदेव को कहीं नहीं विश्राम है।
कहीं नहीं आसक्ति, विरक्ति कहीं नहीं।
जहां पात्रता मिली वहीं जाते चले।
अपात्रता में वास-अशक्ति सभी कहीं।

कभी देव में मनुज-भावना बढ़ चली।
कभी मनुज में बढ़ी दानवी नीचता।
कभी दिव्यता और मनुजता-स्राव से।
दानव भी निज दग्ध हृदय को सींचता।

कर्म-देव-पथ में न तनिक दुविधा कहीं।
उनकी गति,क्रम,लक्ष्य पूर्व-निश्चित वहां।
जायेंगे अविराम जहां जाना उन्हें।
बाधा उनको कौन रोक सकती, कहां?

हममें वही महान बुद्धि का धाम है।
नेता वही प्रकाण्ड, वही विद्वान है।
जिसने पाया मर्म कर्म की प्रगति का।
शासक नीति - निधान वही श्रीमान है।

जिस समाज को कार्यक्षेत्र वह ले बना।
उसका कार्य-प्रवाह प्रथम पहचान ले।
उसी ओर उत्साह बढ़ा उसका चले—
करना ऐसे कार्य हृदय में ठान ले।
भौंरा पागल बना सुमन-रस के लिए।
चन्द्र-किरण-रस-चाह चकोरी में बढ़ी। ३३०
कार्य-प्रवाहन हेतु वही अनुरक्ति हो—
नेता राजा, लोकपाल-चित पर चढ़ी।

दानवता का रूप अग्रसर हो जभी।
उससे मानव-दे व-भाव घट जाय जब।
मानवता भी बढ़े दनुजता ओर को।
निरवलम्ब हो देव अधिक लट जाय जब।
मानवता देवत्व-समन्वय के लिए।
कर्म-योग-रत करे सत्य-आराधना।
वे अकाम अभिराम काम स्वीकृत करें।
हो परिणय-सम्पन्न शक्ति की साधना। ३४०
समाधिस्थ जब सत्य, प्रबल दानव तभी।
उसको जाग्रत देख बनेगा हीन-बल।
नवल जागरण-संग शक्ति जब आयगी।
होता ही जायगा दनुज-दल दीन-बल।
सत्य शक्ति का मिलन प्रबल परिणाम की—
कर देगा उत्पत्ति दनुजता-अन्तकर।
मानवता का उदय तृप्ति देवत्व की—
लायेगा निज संग नवीन वसंतकर।
पिता तुम्हारे दनुज-भाव में मग्न थे।
तुम मानवता-वृद्धि सतत करते रहे। ३५०
सफल हो गयी सकल तुम्हारी साधना।
दिव्य बने, जो देव-शान्ति हरते रहे।
हिंसा का उपयोग न दशरथ ने किया।
हिंसा का अवलम्ब नहीं तुमने लिया।
सत्य-शक्ति के मिलित प्रखरतम शौर्य ने।
जग का सारा कार्य सहज ही कर दिया।

किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता छीनो नहीं।
सत्य शक्ति का ही विकास करते रहो।
भूमण्डल में अमर रहोगे सर्वदा।
हरण-भाव का ही विनाश करते रहो।

जीना केवल सत्य-साधना के लिए।
मरना भी बस सत्य-दृष्टि ही के लिए।
निज समाज को सीख मनोहर दो यही।
आये हम सब सत्य-सृष्टि ही के लिए।

चलें सहारा लिए सत्यमय शक्ति का।
स्वाधीनता-निमित्त प्राण भी दे सकें।
नहीं स्वप्न में पराधीन कर पायँगे।
जग के सारे राष्ट्र यत्न करके थकें।

व्यक्ति-व्यक्ति में स्वतन्त्रता का भाव हो।
व्यक्ति-व्यक्ति में सत्य शक्ति का चाव हो।
नीच स्वार्थ से विकृत-बुद्धि कोई न हो।
राष्ट्र-स्वार्थ से विलग न अन्य प्रभाव हो।

अपना नेता आप व्यक्ति ही हो सके।
आलोचना अकाम आप अपनी करे।
होगा राष्ट्र स्वतन्त्र, न राजा चाहिए।
क्यों वह भी स्वाधीन प्रकृति उसकी हरे?

सेना का क्या काम सभी सैनिक जहां?
राजदण्डधर व्यर्थ, न तस्कर एक भी।
कर देंगे सब काम बिना वेतन अधिक—
कर पाये वैतनिक जिसे न अनेक भी।

ऐसा दिव्य समाज बना पाओ अगर।
तारकाक्ष! पुरुषार्थ तुम्हारा हो अमर।
करते रहो प्रयत्न, इसी पथ पर चलो।
होंगे विघ्न अनेक, रहो बाँधे कमर।"

यों कह मुनि ने प्रश्न किया नृप तारकाक्ष से।
"तृप्ति मिली या नहीं अभी तुमको प्रकाश से?
और कहूं सविशेष, न यदि सन्तोष मिला हो।

सुमन खिलाऊं और न यदि मधुकोष मिला हो।"
"देव, ज्योति कर प्राप्त तृप्त होता जाता हूं।
अधिक ज्योति की प्यास किन्तु नूतन पाता हूं। ३९०
कहते चलिए आप, आप ही इति आयेगी।
हे असीमता-रसिक आप! सीमिति आयेगी।"

तारकाक्ष के नम्र वचन मुनिवर को भाये।
परम प्रीति के साथ मन्द ही वे मुसकाये।
अन्धकार के दीप-सदृश अनमोल वचनवर।
बोले करुणाधाम, ज्ञान-गर्भित, रस-आकर—

"प्रकृत ज्ञान-विस्तार करो अपने लोगों में।
वे न लगायें चित्त विकृत मिथ्या भोगों में।
इन्द्रिय का आस्वाद व्यर्थ अपना न बढ़ायें।
संग्रह का गुरु भार न अपने सिर पर लायें। ४००

आयी संग्रह-वृत्ति संग बंधन भी लायी।
हृदय-शिला की कान्ति-हरणकारिणि वह काई।
फैलाओ यह ज्ञान सभी जन त्यागी होवें।
संग्रह-मल से मलिन न अपयश-भागी होवें।

आयी संग्रह-वृत्ति संग पूँजीपति लायी।
बिछा ठगी का जाल, विपद जन-जन पर आयी।
टूट गया संगठन राष्ट्रबल बिखरा सारा।
पूँजीपति ने पाँव जभी जनता में धारा।

पूँजीपति का लक्ष्य कमाना केवल पैसा।
कर के कपट-प्रपंच बढ़ाना केवल पैसा। ४१०
"सेवा हो उद्देश्य—" श्रवण करके घबराता।
उसे चाहिए लाभ, लाभ ही से बस नाता।

विलासिता की ओर वृत्ति जनता की मोड़ी।
उसने होकर क्रूर सत्य की गरदन तोड़ी।
जिनमें हो सद्भाव उन्हें भी पतन सिखाना—
पूँजीपति ने मूल मन्त्र जीवन का जाना।

कितनों को घर-द्वार-हीन उसने कर डाला।
पूँजीपति ने हाय! गरीबों का घर घाला।

मारक गर्त्त महान, न उसमें धँसना राजन्!
उसके गूढ़ प्रपञ्च में न तुम फँसना राजन्।

पूँजीपति का मान नहीं करना जनपालक!
उससे तो बस सावधान रहना जनपालक!
दनुज-भावना-स्रोत वही जनता का शोषक।
मानव-देव-अनन्त क्लेश-विपदा का पोषक।

अपना शासन-यंत्र विमल सेवामय रखना।
पूँजीपति मल रूप न पैठे उसमें, बचना।
पैसे के बल प्राण सत्य के वह ले लेगा।
कर के सब को पतित आप सच्चा निकलेगा।

पूँजीवाद महान विषैला विषधर राजन्!
घातक उसका दंश प्राण-जीवन-हर राजन्!
कुचलो उसका शीश प्रगति सब उसकी रोको।
अगति-गर्त्त में लोक-वृंद को व्यर्थ न झोंको।

पूँजीवाद-प्रमाद बढ़ा जितना जनता में।
खर अवसाद-विषाद बढ़ा उतना जनता में।
प्रबल संघ-बल तोड़ शक्ति सारी बिखराता।
अंग-अंग में प्रखर गरल-ज्वाला फैलाता।

घातक संग्रह - वृत्ति नीचता - जाल बिछाती।
राष्ट्र-स्वार्थ की ओर विरोधी भाव बढ़ाती।
जन-मन में दुर्भाव भरा उसने क्षयकारी।
दारुभोगकर दारु-कीट की भाँति प्रहारी।

छल के मार्ग विचित्र खोजता ही रहता नित।
पूँजीवाद विधान सोचता ही रहता नित।
कभी धर्म की ओट ग्रहण कर वाण चलाता।
कभी जाति-सम्बन्ध-भाव को आगे लाता।

दनुज-भावना मूल उसी की शाखा ये सब।
चले स्वार्थ के हेतु, हितैषी ये किसके कब?
दानव को भी नाम पड़ा ईश्वर का लेना।
निज निर्मल उद्देश्य-धारणा जग को देना।

अति लोलुप साम्राज्यवाद उसका प्रिय भाई।
शनि सी उसकी दृष्टि मरण ही सब को लायी। ४५०
मीठा पूँजीवाद मारता मोहित कर के।
यह कराल साम्राज्यवाद आतंकित कर के।
दोनों का उद्देश्य व्यक्ति का जीवन हरना।
निराहार, निर्वसन, मृतक जीते ही करना।
दोनों का यह लक्ष्य त्रस्त हों जन-साधारण।
थोड़े ही से लोग करें सब सत्ता धारण।
जन-साधारण-भाग्यचक्र ने पलटा खाया।
यहां अंत साम्राज्यवाद का न्यारा आया।
पूँजीवाद परन्तु पनपता दीख रहा है।
जन-उत्पीड़क-मार्ग नित्य नव सीख रहा है। ४६०

पूँजीवाद - विनाश न हो हिंसा के द्वारा।
फैलेगा विष घोर खेल बिगड़ेगा सारा।
भूले-चूके बंधु राह पर उनको लाओ।
तुमने पाया ज्ञान उन्हें भी ज्योति दिखाओ।
जनता का धन मान, दान जनता को दे जो।
आवश्यक परिमाण मात्र अपने हित ले जो।
अहंकार-अमलीन, त्याग में दीन नहीं जो।
पूँजीपति वह क्षम्य राष्ट्र-रति-हीन नहीं जो।
श्रमिक बनें सब लोग करें सच्चाई से श्रम।
पर-श्रम-फल का हरण त्याग दें होकर निर्मम। ४७०
सत्याराधन-संग शक्ति विकसे अन्तर कृत।
व्यक्ति-व्यक्ति-आसक्ति बढ़े गिरिजात्मजवर हित।
होगा चलित प्रवाह कर्म की रति का निर्मल।
कर्म-प्रगति उद्दाम दलित कर देगी सब छल।
पूँजीपति भी आप विमलता आराधेंगे।
लोक-नियम अवलोक साधना नव साधेंगे।
जो असत्य में लीन सत्यमय उसको कर दो।
अंधकूप का वारि जाह्नवी-भीतर भर दो।

दानव अपने आप श्रमिक-जीवन स्वीकारे।
यही तुम्हारी विजय, आप अपने को मारे।
प्रभु का कर्म-प्रकाश सभी को मिलता रहता।
कोई भी हो सुमन कभी तो वह भी खिलता।
पायें सभी विकास करो आयास वही तुम।
उदासीनता जहां, भरो उल्लास वहीं तुम।

साम्यवाद-निर्घोष हो रहा जिसके द्वारा।
पूँजीपति को हाय व्यर्थ ही उसने मारा।
कली फूल हो जाय उसे ऐसा अवसर दो।
खिलने ही के पूर्व तोड़कर चूर न कर दो।
पक्षपात का भाव किसी के प्रति न दिखाना।
सेवा ही की नाप-तौल सब ओर लगाना।
जनता ही का लाभ लक्ष्य हो अमल तुम्हारा।
पूँजीपति की शुद्धि धर्म हो अचल तुम्हारा।

सारा दंडविधान तुम्हारे करगत होवे।
सत्य-तुला पर तौल न्याय नयसंगत होवे।
परिशोधन हो लक्ष्य दंड में क्रोध न होवे।
दंडित जन के हेतु उचित उद्बोधन होवे।
अपराधी की ओर प्रेम का हाथ बढ़ाओ।
केवल उसका दोष द्वेष का पात्र बनाओ।
ले अपने ही आप दंड अपराधी सिर पर—
शिक्षा दो दनुजेश! राज्य में ऐसी हितकर।
करते हो कर-ग्रहण उसी कर को छिटकाओ।
करते हो कर-ग्रहण न उस कर को छिटकाओ।
कर-द्वारा ही कार्य जाल ऐसा फैलाओ।
भय अकाल का हो न, सरल जीवन बरसाओ।
होंगे कर्मठ लोग कहां फिर चोर बसेगा?
चोरों में बस एक चित्त का चोर रहेगा।
कर सेवा के कार्य मोह लेगा जो जन को।
उसको ही सब लोग दे सकेंगे निज मन को।

करो धैर्य से श्रवण स्वल्प ही कथन करूँगा।
कर्म-प्रवाहन-हेतु सरल सम्मति निज दूँगा। ५१०
निज अनुभव की बात तुम्हें बतलाऊँगा मैं।
जगत-विकास-रहस्य सकल समझाऊँगा मैं।

बनते व्यक्ति समाज एक में ग्रंथित होकर।
होता सबल समाज व्यक्ति की बाधा खोकर।
निज समाज में व्यक्ति-व्यक्ति गणना निरधारो।
कर्म उसी के योग्य प्रगतिमय प्रकृत सँवारो।

अखिल देश का कार्य विभाजित सब में कर दो।
सेवा की दुर्दम्य कामना सब में भर दो।
अहंकार से हीन देश-सेवा-अनुरागी।
रहो परीक्षण-निरत, देशहित होवें त्यागी। ५२०

जो मंत्रणा-प्रवीण नहीं वह झाड़ू देवे।
जो सैनिक रणवीर न वह धोबी-पद लेवे।
चिन्तन-रत विद्वान न कूड़ा ढोने पाये।
राष्ट्र-सम्पदा-ह्रास न नाहक होने पाये।

आत्म-शक्ति के पुंज करें रक्षा अन्तर की।
कार्त्तिकेय की खोज प्रीति गिरिजाशंकर की।
राजनीति के रसिक मार्ग निर्मल अवलोकें।
वाह्य राष्ट्र-आक्रमण आ रहा हो तो रोकें।

जो विशेष धनवान, राष्ट्र-निर्माण करायें।
नये-नये उद्योग राष्ट्र-रक्षार्थ चलायें। ५३०
अन्य न कोई शक्ति देह-बल जिनमें केवल।
उनका भी उपयोग राष्ट्र-सेवा में अविचल।

निज उपयोजन - हेतु वस्तु का उत्पादन हो।
पर से नहीं कदापि वस्तु का आवाहन हो।
अपने से परितोष प्राप्त करना हम सीखें।
स्वावलम्ब का सरल मंत्र पढ़ना हम सीखें।

दनुज-हनन भी कार्य, दनुजता विकृत निवारो।
और साथ ही दनुज भाव तुम आप न धारो!
यहीं तुम्हारी विजय मानवी प्रकृति प्रसारो।

५४०ऊब रहे जो देव क्लेश से उन्हें उबारो।
रहें गुप्तचर विविध लोकसेवा-अनुसारी।
लोक-वेदना - वृत्त राष्ट्रहित-ज्ञापनकारी।
जानो जब कर्त्तव्य हो गये तृप्त सभी विधि।
शयन करो हे आर्य! गहन नृप-धर्म नीति-निधि।

साम्यवाद की हार कहां होगी, कहता हूं।
मैं अतिशय स्वाधीन पक्ष-विरहित रहता हूं।
तर्क-तुला पर तौल बात मेरी हे नृपवर!
निरधारो निज मार्ग लोक को हो जो हितकर।
कैसे कर उपचार वैद्य रोगी मल धोवें?
५५० रोगी ही की भाँति आप जो रोगी होवें।
नव समाज-संताप कौन विधि कट पायेंगे?
साम्यवाद में आप दोष जब बस जायेंगे।
इंद्रिय का आस्वाद भुजग सा परम भयंकर।
उससे ही आक्रान्त किया उसने निज अंतर।
साम्यवाद का अन्त आप ही वह लायेगा।
पूँजीवाद नवीन रूप में दिखलायेगा।
हिंसामय आक्रमण अहिंसा ला न सकेगा।
प्रतिहिंसा का भ्रमण आप ही आप चलेगा।
पूँजीपति से अधिक पतित ये श्रमिक बनेंगे।
५६० जग-जीवन के हेतु क्लेश की खानि खनेंगे।
श्रमिक-कलाधर को न भोग के मेघ छिपायें।
त्याग-मग्न ही सरस दिखें कमनीय कलाएं।
जिसने पाया अमृत अकेला ही न पिये वह।
बने पूर्ण से क्षीण, दान दे अधिक जिये वह।
देश-देश में कुशल प्रचारक अपने भेजो।
कहीं न हो संघर्ष प्रेम का पन्थ सहेजो।
आये यदि आक्रमण शौर्य दुर्जय दिखलाओ।
शत्रुवर्ग को वीर समर-कौशल सिखलाओ।
कहा परम संक्षिप्त अधिक उससे अनुमानो।

रहना यदि स्वाधीन किसी से द्रोह न ठानो । ५७०
ठाने कोई द्रोह न उसको छल से जीतो ।
तज हिंसा का मोह सत्य के बल से जीतो ।"

साम्यवाद की विमल व्यवस्था तारकाक्ष को भायी ।
मुनि को मौन देख वे बोले वचन सरल रसदायी ।
"देव उऋण हम हो न सकेंगे अति उपकृत आभारी ।
तुमने राह दिखायी हमको राष्ट्र-सुरक्षाकारी ।"
पत्नी-सहित उन्होंने फिर-फिर प्रणति दान की सविनय ।
गमने निज निवास को वे, ले कर्म हेतु दृढ़ निश्चय ।
प्रकृत राष्ट्र-सेवा-ज्योत्स्ना ने बरसाया रस प्यारा ।
दैत्य द्वीप की निखर गयी छवि रूप हो गया न्यारा । ५८०
देख प्रबन्ध रुचिरता फैली अखिल द्वीप के भीतर ।
कार्य समाप्त समझकर गमने विधि के लोक मुनीश्वर ।
मुनि थे नहीं, वचन थे उनके मान उन्हें उनसे बढ़ ।
दानव सत्य-प्रगति-सीढ़ी पर बिना प्रयास गये चढ़ ।

रोग अन्त करने की औषधि पहले उसे बढ़ाना ।
उसे चढ़ा ले जाना ऊपर फिर नीचे ले आना ।
नये निराले शिशिर-वैद्य ने पाठ यही सिखलाया ।
अधिक समादर कर सरदी का उसका निधन दिखाया ।
राज-नियम में कठोरता ही अविरत बरती जाती ।
निर्ममता द्वारा ही उसकी कान्ति निखरती आती । ५९०
करुणाहीन शीत-शर मारा शिशिर-राज ने आकर ।
बैठ गये डरकर सब घर में प्रबल आक्रमण पाकर ।
पके सरस अमरूद डाल पर लगे हृदय ललचाने ।
तोतों की टोलियां मनोरम लगीं वहीं मँड़राने ।
हानि-लाभ का एक न लेखा शिशिर सफल व्यापारी ।
ले मन-दाम बेचते फलियां मटर चने की प्यारी ।
आबदार मोती ले आये शिशर जौहरी न्यारे ।
खेती की प्रहशान्ति के लिए दौड़े कृषक बिचारे ।

माँग वहां सच्चे पानी की कैसा इनमें पानी ।
बड़े-बड़े होकर भी छलिया मेटी नाम निशानी ।

आये शिशिर कबाड़ी, फैला नाम चतुर्दिक भारी ।
लेने को सामान गयीं सज किशोरियां सुकुमारी ।
और बड़ी अन्धेर वहां बस आँधी-अन्धड़ पाया ।
बादल-बिजली गर्जन तर्जन ने दिल को दहलाया ।

पक्षपात कैसा ले आये शिशिर बड़े अन्यायी ।
धनिकों का सम्मान बढ़ाया निर्धन-व्यथा बढ़ायी ।
राव रहा महलों में मोदित मतवाला मधुपायी ।
रंक गया रोटी हित बाहर उस पर बिजली आयी ।

मरजादा समाज की तोड़ी शिशिर बड़े ही नंगे ।
पेड़ सभी नंगे हो आये दीख पड़े बदरंगे ।
नंगेपन में दोष न कोई वह भी प्रगति-विधायक ।
क्या यथार्थवादी हो बनते वे उपदेश-प्रदायक ?

सेना से विहीन ज्यों राजा चन्द्र बिना तारागन ।
अलंकार-हीना नारी ज्यों बच्चों के बिन आँगन ।
त्यों ही पत्तों से विरहित हो बने ठूँठ से तरुवर ।
भय उपजाने लगे तिमिर में दैत्य-रूप में दिखकर ।

पाला लता कमल के ऊपर ! कैसी बात निराली !
कैसी यह वीरता हृदय में लज्जा लाने वाली !
चली न एक शिशिर की गिरि से, निर्बल ही को मारा ।
कौन हृदय वाला न कहेगा उसे परम हत्यारा ।

उग्र पवन को साथी करके आये शिशिर कुसंगी ।
देने लगे यन्त्रणा पाकर कुमन्त्रणा बेढंगी ।
दुर्दिन में हिम-व्यथित विहंगम कढ़ न नीड़ से पाये ।
रातें कई-कई दिन यों ही बीत गये बिन खाये ।

लिये विषाद-प्रसाद करों में एक संग ही आये ।
अति वर्षा से गेह ढहाये काम-जन्य रस लाये ।
हिम के क्लेश बढ़ाये अतिशय की मधुहित तैयारी ।
कहें शिशिर को क्यों हम पापी ? वे जग-मंगल कारी ।

"महाशक्ति में औ गिरिजा में एक न अन्तर पाया ।

रुद्रदेव में शिवशंकर में एक स्वरूप दिखाया—"
की घोषणा शिशिर ने आकर भाव उभय दरसाये।
जग-जीवन के तत्व मनोरम अनायास समझाये।
"रोग हो गया जब संक्रामक औषधि केवल मरना।
मरने से नव जीवन मिलता मरने से मत डरना—"
कहा पत्तियों ने पेड़ों से गिर जब नीचे आयीं।
नव जीवन चाहो तो खोदो नित्य मरण की खाईं।
"मर कर भी औरों को मारा ओला कितना भोला।
नहीं जानता ज्ञान जगत का उसका कितना पोला।
मन्मथ ने मरकर अमरों को दान किया नव पोषण—"
फागरागमय ढोल व्याज ही किया शिशिर ने घोषण।
"मैं कठोर बादाम सरीखा बाहर अधिक कड़ा हूं।"
कहा शिशिर ने, 'भीतर देखो, सहृदय सरस बड़ा हू।
जिनके मन में गाँठ बड़ी थी उनका मलन कराया।
होली की लपटों में सारा रोष-भाव बिनसाया।"
कठिन परीक्षा ली अचलों की तिल भर हिल न सके वे।
पेड़ धराशाया हो आये पल भर टिक न सके वे।
"वीर बनो गम्भीर बनो रण-धार बनो सब लोगो।"
आँधी मिस ललकार शिशिर ने कहा, "तभी रस भोगो।"

शोणित नगर न जा पाये थे रहे अवध में वे ही।
शक्ति-अभाव, प्रभाव व्यथा का उनमें था पहले ही।
यों ही सभी उदास पड़े थे विरह-सिन्धु में डूबे।
शिशिर-आगमन की पीड़ा से अधिक और भी ऊबे।
कैसे भी यातना भयंकर धीरज धर सह आयें।
शान्ता के आने तक कैसे भी जीवित रह जायें—
इसी यत्न में रत रहते थे महासचिव मतिशाली।
आशा संचारित करते थे जीवन देने वाली।
किन्तु अँधेरी कहां अमा की कहां क्षुद्र वे तारा।
धीरज दे न सके व्यथितों को व्यर्थ गया श्रम सारा।
अन्धकार विकराल रूप में उनको रहता घेरे।

वे निष्प्राण बने रहते थे प्रबल निराशा-चेरे।
"चले गये जो वे न मिलेंगे दैत्य - नगर से आकर।
प्राण व्यर्थ ही अटके तन में क्यों न शान्त हों जाकर।"
महामात्य के समझाने पर उत्तर में यों कहते।
प्रबल सहारा मिलने पर भी विरत बने ही रहते।
"अन्धे को विश्वास न होगा जब तक आँख न पाये।
मानेंगे हम तब जब शान्ता दिखलायी पड़ जाये—"
बूढ़े और बूढ़ियां यों ही कथन किया करती थीं।
पाँव इसी पथ पर रोगी औ रोगिणियां धरती थीं।

फिर भी आया दिवस, नहीं थी जिसकी आशा।
स्वयं पूर्त्ति साकार बनी सब की अभिलाषा।
अकस्मात ही दिव्य महारथ नभ में आया।
पीड़ित जन ने आप देख आँखों से पाया।
पतला विहगाकार गगन में वह मँड़राया।
असहनीय आलोक-माल-आवृत छवि-छाया।
अंधे ने भी प्राप्त किया तेजस्वी लोचन।
बोले वे, 'यह कौन अंधता-दोष-विमोचन!'
क्षण ही भर में यान अमल ज्योत्स्ना-मंडित सा—
आया सब के बीच महाप्रभु - समलंकृत सा।
जैसी जिसकी प्रीति, आर्त्ति प्रभु ने अवलोकी।
बैसी ही दे तृप्ति वेदना उर की रोकी।

ऋषि ने रथ से निकल महाप्रभु रूप दिखाया।
षट आनन षट मुकुट बाहु द्वादश मन-भाया।
कंधों पर तूणीर शंभु-गिरिजा-शर-धारक।
भक्त-हृदय-वन-मध्य केसरी-सरिस विहारक।
शान्ता का वह रूप देखकर कौन न मोहा?
ललित नवल लावण्य वदन में उसके सोहा।
विमल शारदा-कान्ति झलक उसमें आयी थी।
अतुलित छवि-रस-राशि छलक उसमें आयी थी।

शान्ता औ ऋषिनाथ मिले प्रति जन से ऐसे।
मिले सभी को छोड़ एक उससे ही जैसे।
होकर प्रेम-विभोर आरती मंजु उतारी।
सब ने बारम्बार प्यार से ली बलिहारी।

महारानियां नृपति और गुरुदेव न आये।
अमित नागरिक बाल युवाजन भी न दिखाये।
अभी न आये धीर वीर कोशल के न्यारे।
आ न सके रणधीर सैन्य-संचालक प्यारे।

तो भी नहीं अभाव किसी ने कोई माना।
शान्ता-शृङ्गी-मिलन मिलन सब का अनुमाना।
होकर अपलक भी न रूप रस पीने पाये।
करके यत्न अपार किसी विधि दृग न अघाये।

महासचिव ने व्यर्थ भीड़ को रोका चाहा।
नयनों का विश्राम व्यर्थ ही टोका चाहा।
बढ़ा अमित संघर्ष बढ़े जब आगे ऋषिवर—
राजभवन की ओर संग शान्ता को लेकर।

कभी षड़ानन और शारदामय हो जाते।
मंजु मोर आसीन परम शोभा सरसाते।
कभी सहज निज रूप दिखाकर बोधित करते।
शान्ता-ऋषिवर चले प्रीति उर-उर में भरते।

पाँच मिनट की राह एक घंटे में आये।
तो भी जन-संतोष नहीं साधन कर पाये।
यह पड़ता था जान प्यास युग-युग की थी वह।
युग युग की अभिलाष आस युग-युग की थी वह।

नहीं जायँगे कहीं यहीं अब वास करेंगे।
नित कर प्रेम-विकास हमारा त्रास हरेंगे—
यही सोच विश्राम स्वल्प उनको देने को।
लौट सके घर लोग अधिक रस फिर लेने को।

गुरु, अरुन्धती, संग अवधपति तीनों रानी।
सेनापति रणधीर, सकल सैनिक अभिमानी।

आये क्रमशः विजय-विनय से अति उल्लासित।
करते, जय-जयकार-निरत, उत्साह प्रकाशित।
ज्यों जल पाकर सरित गगन शशितारा पाकर।
जननी पाकर पूत विटप फल प्यारा पाकर।
बनी अयोध्या आज धन्य त्यों ही छविधामा।
ज्यों पंकजिनी प्रात काल अलि-संग ललामा।
दग्ध लता सी दीन अयोध्या छविहीना थी।
वही आज उल्लास-सरसि में रसलीना थी।
प्राणहीन में प्राण किसी ने डाला मानो।
रोगी को था प्राप्त अमृत का प्याला मानो।
राजभवन का रूप हो गया मानसहारी।
क्रीड़ामय अभिराम बना वह नव छविधारी।
चला गया था एक एक फिर पावस आया।
जिसने रस अविराम सकल दिशि में बरसाया।
जीवित था वह कीर प्रेम का धाम हठीला।
पाती थी न विराम चपल अति जिसकी लीला।
ले रसाल मंजरी खिलाते औ दुलराते।
शान्ता-शृंगी आज प्रेम-रस थे बरसाते।
कौशल्या कैकयी सुमित्रा हर्षमयी थीं।
उर में प्रबल उमङ्ग-भरित उत्कर्षमयी थीं।
कोशलपति उत्साह-पवन-चालित सागर से।
दो-दो चन्द्र विलोक प्रफुल्लित अतिशय दरसे।
विरह-ताप से तप्त सुमन-गण कुम्हलाये थे।
मिट्टी में मिल सुमन बने फिर फिर आये थे।
उनका तपना आज सफल हो आया सारा।
शान्ता ने प्रिय-संग चरण उपवन में धारा।
भूखी श्यामा आदि मिली हथिनी मार्जारी।
सब ने विविध प्रकार कही निज पीड़ा सारी।
ऋषि-शान्ता की प्यार भरी कर-थपकी पाकर।
तृप्त हुए सब लोग नयन से जल बरसाकर।

उत्सव नित्य नवीन लगे घर-घर में होने।
प्रति मानस में सरस मोद की लहरें बोने।
जैसी ही थी रात दिवस भी वैसा आया।
अमरों को भी अवध नगर में आना भाया।

आयी चिन्ता एक एक दिन नृप के मन में।
राजकुमार न एक केलि करता आँगन में।
शान्ता-ऋषिवर-गमन-अनन्तर सूना होगा।
सारा महल मनोज्ञ मोद से ऊना होगा।
नृप ने गुरु को बात सकल जी की बतलायी।
गुरु ने ऋषि को नृपति-वेदना श्रवण करायी।
कर सब भाँति विमर्श यजन-साधन निरधारा।
ऋषिवर ने नेतृत्व स्नेह से अंगीकारा।
बढ़ा अमित उत्साह यज्ञ की चरचा फैली।
आयी मोद तरंग संग ले नव रस-शैली।
अगणित ऋषिमुनि पास निमंत्रण गये पठाये।
सब आदर के साथ पत्र पाते ही आये।
आये श्री वाल्मीकि तीन कालों के ज्ञाता।
आये मुनिवर भरद्वाज विज्ञान - विधाता।
घड़ी न कोई एक कभी खाली जाती थी।
मुनि-मंडली अनेक न जब विहसित आती थी।
गुरु वशिष्ठ, मुनिनाथ सभी का स्वागत करते।
नृप सब के पदपद्म शीश पर अपने धरते।
वृद्धा माता संग जनक ऋषिवर के आये।
उनके स्वागत हेतु सकल मुनिवर भी धाये।
अति निष्ठा के साथ यजन के कार्य अनन्तर।
प्रगटे पावक देव संग ले हवि संततिकर।
कर के उसके भाग रानियों ने जब खाया।
गभ-धारणा-भाव उसी क्षण सब ने पाया।
गमने नारद आदि सकल मुनि आशिश देकर।
नृप थे परम कृतार्थ चरण-रज सबकी लेकर।

मान नृपति-अनुरोध विभांडक रहे वहीं पर।
करते जप औ पाठ गर्भ के संरक्षणकर।

बीते जब नव मास प्रसव का काल पधारा।
कौशल्या ने लाल परम लोकोत्तर धारा।
श्यामल रूप ललाम राम छविमय कहलाया।
विहसित आनन नवल कमल ही सा मनभाया।

कैकेयी ने एक सुमित्रा ने दो पाये।
भरत, लखन, रिपुदमन नाम जिनके हो आये।
रूप अनूपम देख सकल माताएं फूलीं।
सुमनावलि से लसित ललित लतिका सी झूलीं।

नित्य नवीन उछाह नित्य नूतन था मंगल।
बाल-केलि से सतत राजमंदिर था चंचल।
बाल चंद्र की भाँति लगे चारों वे बढ़ने।
नव-नव शोभा शैल शृंग पर प्रति पल चढ़ने।

शान्ता-ऋषि के हृदय फँसे उनकी क्रीड़ा में।
धँस जाते थे विरह-कल्पना से पीड़ा में।
फिर प्रमोद-वन याद विषादित कर देती थी।
रुकने का उत्साह अचानक हर लेती थी।

करते तर्क - वितर्क मास दो बीता यों ही।
अवध-वास-उल्लास दिनों दिन रीता यों ही।
आग्रह बारम्बार विदा के हेतु बढ़ाया।
कर दें अस्वीकार नृपति ने मार्ग न पाया।

देकर दायज अमित विदाई की नृप ने तब।
ले शान्ता को संग महा ऋषिवर गमने तब।
'मानस' व्योम-विमान उड़ा उनको ले करके।
प्रखर विरह-आघात अवध को फिर दे करके।

वही षड़ानन कांत वही शारदा महाछवि —
जिनका वर्णन कर न सकेंगे कोटि महाकवि —
दिखे मोर आरूढ़ यान के ऊपर राजित।
दे कर कर की छाँह उसे करते आह्लादित।

बीते थोड़े दिवस प्राप्त सामान सँभाले—
गये विभांडक वहीं यान ले द्रुत गति वाले। ८१०
पत्नी उनके संग हर्ष से पागल सी थीं।
अपना ऐसा भाग्य मानती वे न कभी थीं।
विरह-निमग्न प्रमोद-विपिन फिर सरस हो गया।
उसके उर का ताप आप ही सकल खो गया।
बीते दिन की बात कहानी होकर आयी।
कथन-श्रवण से प्रीति नित्य ही नवनव लायी।
"मां होंगी अति विकल ऋषे! अब मैं जाता हूं।
घबराना मत तनिक न तुमको विलगाता हूं।
कभी करोगे याद एक पल में आऊँगा।
मानो दृढ़ विश्वास, न तुमको बिसराऊँगा।" ८२०
दे आश्वासन अमित गये कैलास-अचल पर।
कार्त्तिकेय छविधाम तीव्र वाहन की गति कर—
जोह रही थीं राह जहां गिरिजा अकुलानी।
देख रहे थे मार्ग स्वयं शंकर विज्ञानी।

कालचक्र से विवश राम वन गमने।
नृप दशरथ ने प्राण दिये तज अपने।
लंकेश्वर ने हरण किया सीता का।
कपट-जाल में सरला अपनीता का।
राघव ने भी प्राण हरे दानव के।
मेटे अंतिम क्लेश देव, मानव के। ८३०
अर्द्धांङ्गिनि के संग अवध को आये।
मानवेन्द्र आदर्श पुरुष कहलाये।
रामचन्द्र का राज्य शान्ति कारक था।
मर्यादा-विद्रोह-भाव-हारक था।
दानवेन्द्र-सहभाव निरन्तर पा कर।
वे लाये प्रिय स्वर्ग अवनि के ऊपर।
मानव थे अब धर्म-निरत भय-त्यागी।
देवाराधन-यजन-कर्म-अनुरागी।

दैत्यों से सहयोग सतत पाते थे।
८४० जीवन के रस - भोग सहज पाते थे।

देव मनुज का रूप धारते रहते।
कर्म - रोग से उन्हें तारते रहते।
श्रम-महिमा का सार सारते रहते।
धर्माचार - विचार चारते रहते।

ब्राह्मण थे बस ब्रह्म भाव ही भजते।
क्षत्रिय देशनिमित्त प्राण भी तजते।
निर्मल धन - साधना वैश्य थे करते।
सब का श्रम थे शूद्र देह से हरते।

जन-जन कर्म-विभाग भेद खोता था।
८५० उर-उर में अनुराग अमल बोता था।
साम्यवाद अविवाद प्रणयमय लाया।
मर्त्यलोक में स्वर्ग आप ही आया।

दैत्यदेश - प्रेयसी भ्रान्ति रोती थी।
रो-रो कर ही वदन-कान्ति खोती थी।
गणिका सी वह वृद्ध रसिक - रहिता थी।
प्रबल निराशा व्यथा दैन्य - सहिता थी।

आ सकती थी क्लान्ति किसी के पास न।
करती थी सब ओर शान्ति ही शासन।
लाकर नव आलोक शोक हरती थी।
८६० मानस में रस - राशि रुचिर भरती थी।

एक घाट पर बाघ - धेनु जल पीते।
विचर रहे थे हरिण - संग ही चीते।
मैत्री में थे निरत नेवले - विषधर।
मानो परम अचेत प्रेम-मधु पीकर।

राज - नियम का काम नहीं था कोई।
सब ने यों अपराध - कालिमा धोयी।
भूल-चूक से दोष कहीं यदि होता।
तो उर में अनुताप-अनल वह बोता।

रवि देते थे ताप प्राण-पोषण हित।

शशि देते थे शीत हृदय-तोषण हित। ८७०
संध्या, रजनी, उषा अमित मनहारी—
लाती थीं पीयूष प्रफुल्लितकारी।
ऋतु न कभी प्रतिकूल किसी प्राणी के।
प्रकृति सदा अनुकूल सभी प्राणी के।
सरस फलों से लदे ललित द्रुमवर थे।
खेत अन्न से भरे अतीव सुघर थे।
भोजन-हित संघर्ष नहीं होता था।
विरह-गान ही हृदय-ताप खोता था।
शृंगी-वन-उन्माद जगत में फैला।
नहीं कहीं था शेष एक मन मैला। ८८०

———

--उन्नीसवां सर्ग---

पल्लविनी की अपति श्रवण कर क्षोभ भरे मधु आये।
नव किसलय के पुलक प्रेयसी के उर में उमँगाये।
देख प्रिया-प्रिय मिलन पपीहा पी-पी करने वाला।
इस डाली से उस डाली पर डोल उठा मतवाला।

वाम भाग के अंक सरीखे हो ऋतुराज पधारे।
सूने में भी नवल चपलता, गुंजन प्रिय धन धारे।
पाकर परस सरस पारस का स्वर्ण हो गया लोहा।
वनस्थली में मधु की रचना देख-देख मन मोहा।

शिशिर-बाण के घावों की अब औषधि दिव्य पधारी
दीख पड़ीं बौरों में कोमल मंजरियां मनहारी।
औषधि भी विचित्र वह आयी सहज रोग उद्भाविनि।
सुरभि मात्र सेवन करने में बिरह - वेदना-स्राविनि।

पहन मौर दूलह बन आये तरु रसाल बौराये।
मंजुल लातका - जयमाला-हित मोदित शीश नवाये।
वेदोच्चार किया मधुकर ने गान पिकी ने गाया।
यों परिणय मधुराज-सभा में दोनों का हो आया।

मंजु उषा ने अधर-लालिमा अधिक निराली पायी।
तप के धाम तरणि-किरणों में सरल रसिकता आयी।
संध्या बड़ी सलोनी दीखी रजनी बड़ी रसीली।
मधु में कलित कलाधर आये छवि ले नवल, नशीली।

नदियां सुघर, सुशीतल, सुमधुर, रस से बनीं सुशोभित।
केलिमयी चिड़ियां लहराते जल पर हुईं विमोहित।
उनका स्नान देखकर शशिकर का मानस लहराया।
निज लावण्य - दोष प्रक्षालन-भाव अधिकतर भाया।

राजसभा वसंत की विलसी वन में मानसहारिणि।
पहरेदार पलाश सुमन, वर भ्रमरी विरदोच्चारिणि।
कविता-पाठकारिणी कोयल कवयित्री रस-वर्षिणि।
नीलकंठ मंत्रीवर जिसकी प्रज्ञा परम प्रकर्षिणि।

कल्प-कल्प में सृष्टि निराली ब्रह्मा ने सरसायी।
त्यों ही कुसुमाकर ने आकर रचना नयी दिखायी। ३०
प्रलय काल की बातें बिसरीं कल्प नया जब आया।
आयी चहल-पहल, तरुओं ने पत्र नवल जब पाया।

महुए की डालों से टपके वे मीठे फल प्यारे।
अथवा गिरे प्रमोद-नयन-जल प्रकृति देवि के न्यारे।
बेला, कुंद, चमेली भी थीं लिखती वही कहानी।
क्यों न प्रकृति-दृग जल बरसायें आये जीवनदानी।

पृथ्वी ने सुगंधि सागर ने तरल तरंगें पायीं।
पावक में प्रकाश मारुत में नवल उमंगें आयीं।
व्योम हो गया निर्मल जैसे हृदय मित्र का प्यारा।
मधु ने चरण-सरोज जगत में करुणा कर जब धारा। ४०

कहीं आम्र मंजरियां मंजुल कहीं फालसे, लीची।
कहीं अनार, संतरे सुन्दर, पाँति-पाँति रस-सींची।
नारंगी अँगूर कहीं मृदु पके पुनीत पपीते।
भाँति-भाँति के फल से तरुगण लसे बड़े मनचीते।

बिजली ही की चमक हँसी की मंजुमाल में देखा।
घन लहराता बालाओं के केश-जाल में देखा।
देख कहीं पागल मोरों ने सतत बरसता पानी।
धोखा खाया लगे नाचने उन्मादित, अभिमानी।

जन्म शिशिर ने दिया मदन को मधु ने दी तरुणाई।
प्रबल काम ने काम सभी तज आज्ञा कड़ी पठायी। ५०

"जो न करेंगी प्रिय - आराधन वे द्रोही बालाएं।
दंड रूप में देंगी हमको मोती की मालाएं।"
क्रूर अधिक हो गये मनोभव मधु के मत में आकर।
हत्या ही करना निरधारा वियोगिनी को पाकर।
नहीं जपा, कचनार कुसुम वे लाल-लाल दिखलाते।
कटा कलेजा किसी व्यथित का रक्त बहे से आते।
वह तो कोयल कूक उठी थी, क्यों यह भ्रान्ति ग्रहण की?
प्रियतम की मीठी बोली वह तुमने नहीं श्रवण की।
मुग्धा के लोचन ने बढ़ कर कहा सरल कानों से—
६० "यों न बनो घायल मधुऋतु में मनसिज के बानों से।"
परम कृतार्थ भावना-विचलित मलय-पवन मनहारी—
विपिन-वीथिका में देती थी झोंके रस-संचारी।
मेंहदी सुरभिवती थी, इसमें मधु की कौन बड़ाई?
किन्तु नीम ने तो उससे ही सारी श्री थी पायी।

यों तो अखिल विश्व ने मादक विभव - राशि पायी थी।
किन्तु प्रमोद-विपिन की शोभा विशेषता - छायी थी।
पत्ते पत्ते के मर्मर में था संगीत मनोहर।
किसी सरस अज्ञात लोक से मिलता था जिसको स्वर।
परम दिव्यता अंकित सी थी विपिन-रूप के ऊपर।
७० था आश्चर्य यही कैसे थी मर्त्यलोक में भूपर!
स्वर्गिक भावों से झंकृत थे सब के हृदय सलोने।
क्या नन्दन वन उतर पड़ा था धन्य सहज ही होने?

कभी सहज सुकुमार मनुज आकार दिखाते।
कभी पर्वताकार नभ-स्पर्शी बन जाते।
एकानन की कान्ति कभी आँखों में बसती।
कभी षड़ानन-मूर्त्ति अतुल शोभा ले धँसती।
दो भुजमय शिर-मुकुट-रहित शृंगी ऋषि आते।
कभी, सरलता-सहित हृदय को हर ले जाते।
द्वादश भुजमय, मोर चढ़े, शिर-मुकुट-विराजित।

कभी कान्तिमय कार्त्तिकेय दिखते थे भ्राजित। ८०
शान्ता-नयन-सरोज खिले फिर भी सकुचाये।
छवि की दीप्ति अपार नहीं धारण कर पाये।
चाहा, देखूं प्राण-रमण को पलकें रोके।
किन्तु झँपीं वे आप कहीं से आये झोंके।

बोले परम कृपालु, "अहो मम मानस-पोषिणि—
कुम्भज से भी अधिक यशस्विनि, अघनिधि-शोषिणि!
तुमसे ही तो प्रगति मिली मुझको जीवन की।
एक वदन में वृद्धि हो गयी पंच वदन की।
कानन-प्रति सोहार्द मिला था मुझको मोहन।
तुमने ही तादात्म्य दिया जगती प्रति शोभन। ९०
देकर रूप विराट व्योम का स्पर्श कराया।
परम अपरिमिति-स्वाद तुम्हीं ने मुझे चखाया।
तुम मानव की शक्ति देव की धृति आधारिणि।
तुम दानव-आसक्ति भक्ति में परिणतकारिणि।
आद्या शक्ति-स्वरूप हंसवाहिनि शतरूपा।
अबला तदपि अजेय कीर्त्ति तव अकथ अनूपा।"

मध्याह्नोत्तर काल सरस था मादकता से विचलित।
प्रकृति देवि ने सुमन-विभूषण पहने थे छविमंडित।
शृंगीऋषि से बोली शान्ता देख समय मन-भावन।
"चलो आज प्रिय देखें दृगभर दृश्य परम प्रिय पावन।" १००
ऋषि बोले सस्नेह, "तुम्हारी बात मुझे भी भायी।
चलो विलोकें प्रिये! प्रकृति के तनु की ललित लुनाई।"
संध्या तक गुरु जनहित हमको फल भी है ले जाना।
सो ले लेंगे नवल द्रमों से स्वाद भरे मनमाना।"
कर्क राशि में चन्द्र रोहिणी सँग ज्यों समद विचरते।
नन्दन-वन में काम-कामिनी गति-विलास ज्यों करते।
त्यों ही शान्ता औ शृंगी ऋषि संग चले मनहारी।
शोभाधाम ललाम विपिन में नव-नव रस-संचारी।

मग में शान्ता बोली, "प्रभुवर ! एक विनय स्वीकारो ।
आयें जिसमें बन्धु हमारे मधु-उत्सव निरधारो ।
लोकाराधन में रत रघुवर व्यथित वियोगी होकर ।
यहां तनिक विश्राम लहेंगे मानस का तप खोकर ।
रामचन्द्र, सौमित्रि, भरत औ रिपुसूदन प्रिय आयें ।
लव, कुश राजकुमार सलोने आकर छवि छिटकायें ।
श्रुतकीरति, मांडवी, उर्मिला यहाँ पधारें जैसे—
एक बार प्रिय सम्मेलन हो यत्न करो, प्रिय, ऐसे ।"
"हे सुकुमारि ! लगी अति रुचिकर मुझको बात तुम्हारी ।
मधु-उत्सव - प्रस्ताव मनोहर मोद - विवर्द्धनकारी ।
शीघ्र प्रबन्ध करूँगा सब मैं आयेंगे सब प्रियजन ।"
ऋषि बोले—"उल्लास लहेंगे रंजित हो सबके मन ।"

खगरव व्याज साँझ प्रियभाषिणि नव मोरनी सरीखी ।
मणिमय दिवस-भुजंग निगलती क्रमशः आती दीखी ।
लेकर प्रिय फल शान्ता ऋषिवर जनक-जननि ढिग आये ।
अवसर पाकर मां ने तब ये शब्द-प्रवाह चलाये ।

"बेटा तुमने अखिल लोक में पायी अमित बड़ाई ।
हम दोनों की जीवन-कलिका सरस, प्रफुल्ल बनायी ।
प्रखर साधना से सब साधन पास तुम्हारे आया ।
यही देख कर एक साध ले मेरा चित ललचाया ।
जिसके आराधन में रत हो मैं बूढ़ी हो आयी ।
उसकी एक झलक भी मैंने नहीं आज लौं पायी ।
स्वामी कार्त्तिकेय का दर्शन बेटा हमें दिलाओ ।
हम दोनों के हृदय-सुमन में नव विकास सरसाओ ।"
कहा विभांडक मुनि ने, "बेटा, हम तप करके हारे—
मंजु मल्लिकार्जुन मंदिर में, मिटे न ताप हमारे ।
करते ही व्रत-नियम गये दिन अब पुरुषार्थ न होता ।
तुम्हीं बना दो सहज तरंगित इस जीवन का सोता ।"
ऋषिवर बोले, "पिता, कृपा का यह प्रसाद लेता हूं ।
अपनी सीमित शक्ति-भावना भुला सकल देता हूं ।

मधु-उत्सव-निमित्त आमंत्रण अमरों हित जायेंगे।
कार्त्तिकेय प्रभु भी करुणामय सहज खिचे आयेंगे।" १४०

जननी और जनक-मानस में बरस पड़ा आशा-रस।
अकस्मात ही मिला लोह को मानो सुपरस पारस।
"बेटा तुमने बात कही यह जो हमको अतिभायी—"
कहते दोनों ही के तनु में पुलकावलि बढ़ आयी।

कर प्रणाम शान्ता समेत ऋषि निज आश्रम को आये।
जननि-जनक आज्ञा-परिपालन के प्रति प्रीति बढ़ाये।
चिन्ता में रत रहे रात भर कर प्रातः आराधन।
बिना विलम्ब किया खगपति का ऋषिवर ने आवाहन।

भक्त-आर्त्ति हरने - हित श्रीहरि-वाहन सपदि पधारे।
भक्ति-सहित शान्ता-ऋषिवर ने चरण-सरोज पखारे। १५०
सब प्रकार सत्कार-प्रफुल्लित बोले खग-कुल-नायक।
"कार्य अभीष्ट बताओ हे ऋषि जिसमें बनूं सहायक।"

"निखिल विश्व में नाथ तुम्हारी गति अविराम अबाधित।
एक स्वार्थ ले आज इसी से किया तुम्हें आराधित।
मेरे मधु उत्सव-आमन्त्रण अमरों ढिग ले जाओ।
आग्रह करो कृपा कर आयें मुझको कृती बनाओ।"

बोले विहगराज मुसकाकर, "होगा कार्य तुम्हारा।
जाऊँगा मैं लोक-लोक में लिये निमन्त्रण प्यारा।
इन्द्रलोक में, शम्भु लोक में, वरुण लोक में जाकर।
दूँगा मैं सन्देश तुम्हारा ओक ओक में जाकर। १६०

नहीं कहीं मेरे हित बाधा मैं हूं विश्व-विहारी।
केवल तप्त तरणि-किरणों से भय पाता हूं भारी।
चन्द्र देव-कर - अमृत पान कर नाग वहां जायेंगे।
मेरे हित जो कार्य विपदकर उसको कर लायेंगे।"

यह कह उड़े चंचला-मोहन वाहन - वेग अपरिमित।
तीन दिवस-रजनी गत कर के आये आनन विकसित।
अमित प्रतीक्षा-रत ऋषिवर को अपने कार्य बताये।
स्वीकृति-पत्र दिये अमरों के सब संशय बिनसाये।

स्वीकृति देखी ऋषि-शान्ता ने कार्त्तिकेय प्रभुवर की ।
दोनों ही के कमल-नयन ने छवि पायी जलधर की ।
दीन कुटी में प्रभु आयेंगे नाच उठे उनके मन ।
मोर नाचता ज्यों विलोक कर उमड़े सावन के घन ।

शेष पत्रियां स्वीकृति की तब लगे देखने दम्पति ।
भाँति-भाँति से रस लेने हित उत्कंठित चंचल-मति ।
ब्रह्मलोक-राजित मुनिवर के अक्षर देख मनोरम ।
किसी प्रकार सँभाल न पाये उत्कंठा-कृत संभ्रम ।

"मण्डपादि-निर्माण के लिए लिये विविध कारीगर ।
शीघ्र विश्वकर्मा आयेंगे रचने को शोभा घर—"
अवसर जान कहा खगपति ने ऋषि ने धीरज पाया ।
लगे सोचने, होगी कैसी—रंजित वन की काया !

विविध भाँति करके आराधन परम तोष-परिसाधन ।
विदा किया शान्ता-ऋषिवर ने, गमने नाग-विनाशन ।

मधु-उत्सव ज्यों-ज्यों नियराया प्रीति-राशि अधिकायी ।
मर्त्यलोक-प्रति गमन-वासना वासव में भी आयी ।
कन्या के विकसित आनन के अवलोकन के कामी ।
मुनिनायक संग चले विधाता लोक-लोक के स्वामी ।

जग-पोषण के प्रखर परिश्रम से अति थकित रमावर—
पड़े लोभ में मधु-उत्सव की मधुर कल्पना पाकर ।
वरुण कुवेर अनल मरुतादिक रवि शशि हृदय तरंगित—
विचल गये निज-निज आसन से प्रिय विश्राम-उमंगित ।

मानवेन्द्र को दानवेन्द्र को मधु-उत्सव अति भाया ।
आया यद्यपि पास उन्होंने पास न उसे बताया ।
एक-एक पल उन्हें कल्प सा अति दुरन्त लगता था—
क्यों न चलें कतिपय दिन पहले भाव प्रबल जगता था ।

मोद-विपिन लावण्य-धाम था अब हो गया अधिकतर ।
बना प्रकृति-कौशल-सहयोगी कलित विश्वकर्मा-कर ।
काट-छाँट के अलंकरण से कानन ने छवि पायी ।
जटिल त्रिशूली को हरि-आकृति-स्वीकृति मानो भायी ।

पश्चिम पूर्व याम्य उत्तर में विलस गये पथ शोभन ।
जिनमें सुमन बिखेरे मधु ने मंजु सुमुनि-मन-मोहन । २००
शैलोपरि निर्झर रव-गुंजित रुचिर निकेत बनाये ।
सुर-शिल्पी ने कुसुम-लता-दल-कौशल अमित दिखाये ।
उचित समय के पूर्व हो गयी सब प्रबन्ध - तैयारी ।
पहले ही से आने वाले चकित हो गये भारी ।
ऋद्धि-सिद्धि अविराम विराजीं सेवा में जन-जन की ।
सिद्धि-कामना को देती थीं प्रगति-ज्ञान मन-मन की ।

ऐरावत गज पर चढ़ आये इन्द्र मेघ-छवि-धारी ।
उनके संग-संग बिजली सी इन्द्राणी सुकुमारी ।
विविध वाहनों पर चढ़ आयी अमरावलि अभिरामा ।
ऋषि-प्रमोद-वन परम रूप रस पान निमित्त सकामा । २१०
आये श्री कैलासधाम से शंकर उमाविहारी ।
बाल गजानन कामदेव रति भूत प्रेत दल भारी ।
भ्राता, भ्रातृवधू, प्रिय माता अरुन्धती औ गुरुवर —
संग आदि कवि राघव आये बातें करते रुचिकर ।
देखी जाने लगी राह तब कार्त्तिकेय प्रभुवर की ।
देव-विभूति-शारदा-नायक रसमय जगदीश्वर की ।
गये शम्भु के पास अमरगण जिज्ञासा वर लेकर ।
किया समाहित शिव ने सब को उत्तर रुचिकर देकर—
"कार्त्तिकेय के हेतु हो रहा प्रखर तपस्वी तारक ।
शीलमयी उससे भी समाधिक करुणा-रस-उद्गारक । २२०
परम भक्तवत्सल निज जन के श्रम से हारे होंगे ।
सहज प्रेममय सदय षड़ानन वहीं सिधारे होंगे ।
आयेंगे भगवान षड़ानन चिन्ता करो न कोई ।
सदा सींचते रहते अपनी बेलि प्रेम की बोई ।
अमरों और नरों का जीवन ज्यों सरसाना उनको ।
दैत्यों के मानस में भी त्यों रस बरसाना उनको ।"

मधु उत्सव की खबर नहीं थी शीलमयी थीं भूली ।
अपने पति की सेवा में ही परम प्रीति से फूली ।
अकस्मात ही याद आ गयी मैं तो जा न सकूँगी ।

तारकाक्ष के जाने में क्यों बाधा डाल सकूँगी ?

चर-द्वार संदेश उन्होंने बिना विलम्ब पठाया।
मधु-उत्सव में जाना उनको अति अनिवार्य बताया।
यह आदेश-वारि-धारा पा हृदय - लता लहरायी।
दानववर ने निज रानी को तब सब बात बतायी।

राजभवन-अम्बुधि में था अब नव रस सतत तरंगित।
मधु-उत्सव में जाने के हित थे सब लोग उमंगित।
चपल मोहिनी ने चंचलता अधिक और भी धारी।
पति को स्फूर्त्ति नयी दे-दे कर कर ली सब तैयारी।

तारकाक्ष पत्नी - सँग आये पास अम्ब के सत्तम।
पति-सेवा में निरत जहां थीं वे अविचल, सपरिश्रम।
किया प्रणाम, कहा फिर, "जननी, जाता हूं ऋषिवन को।
आना संग पिता को लेकर शान्ति मिलेगी मन को।"

हाथ फेर मोहिनी - शीश पर चूमा बारी-बारी।
राज-जननि ने उसको आशिश दिये प्रफुल्लितकारी।
ताकाक्ष को विदा किया तब माथा चूम मनोहर—
"जाओ बेटा, पंथ तुम्हारा हो सब विधि मंगलकर।"

तारकाक्ष गमने नभपथ से यों आश्वासन पाकर।
हृदय मोहिनी का सरसाते निरुपय दृश्य दिखाकर।
कहीं पहाड़ कहीं सागर थे कहीं द्वीप छविशाली।
कहीं सघन कांतार अलंकृत निर्झर-सरित-द्रु माली।

मोद-विपिन के निवासियों ने यान उतरता देखा।
प्रभु की दया मिली सब ने ही परम भाग्य निज लेखा।
किन्तु वहां तो थे न कहीं प्रभु तारकाक्ष दलबल था।
क्षण भर में सब के ही मन का गत उत्साह सकल था।

किसी-किसी ने पूछा—"तुमने प्रभु को कहीं विलोका।
क्यों न यहां आने हित उनको एक बार भी टोका।"
तारकाक्ष बोले उत्तर में—"मिली न प्रभु की छाया।
मैं तो उन्हें यहीं पाने के हेतु तरसता आया।"

एक आँवला तरु के नीचे मंजु कुटी थी राजित।

उसमें ही प्रभु कार्त्तिकेय थे एकाकी ही भ्राजित।
जननि-जनक-अनुगमन हेतु ही करते थे तैयारी।
अकस्मात ही बाधा आयी विकल हो गये भारी। २६०
किसी भक्त के आवाहन से सदय पसीजी छाती।
ज्यों बछड़े के आर्त्तनाद से धेनु द्रवित हो जाती।
कहा स्वयं से, "दनुज-श्रेष्ठ का बड़ा प्रखर आवाहन।
चलूं विलम्ब करूं क्यों? कर दूं अब उसका आश्वासन।
प्रभु-आनन-मुद्रा से मन का भाव समझने वाला।
मोर सजग हो गया सुवाहन मुनि-मन हरने वाला।

यों ही अधिक बढ़ी थी देरी फिर यह बाधा आयी—
सोचा उसने, लेकर प्रभु को अति द्रुत प्रगति बढ़ायी।
अचल साधना-निरत जहां थे तपनिधान दानववर।
आये वहीं विकल करुणा से भक्त हृदय पीड़ाहर। २७०
वह समाधि-मग्नता देखकर मुग्ध हो गये प्रभुवर।
'वरं ब्रूहि' बोले करुणामय पीड़ित-आर्त्ति - हरणकर।
मधु संगीत समान महाप्रभु की गूँजी वर वाणी।
आयी अन्तर्नयन खोलने मानो वीणापाणी।
रजनी सी बीती, प्रकाश का सरस सँदेसा आया।
दैत्य-प्रवर लोचन-सरसिज ने प्रिय विकास नव पाया।

जिनका करते ध्यान दिवस निशि अमित वर्ष थे बीते।
वे ही आज खड़े थे आगे करुणाकर मनचीते।
द्वादश दृग में दीप्त दिवाकर का प्रकाश लाये थे।
षट आनन वे अरुण अधर पर चंद्र - हास लाये थे। २८०
दिव्य अमूल्य महामणि रंजित मुकुट शीश पर शोभन।
श्यामल कुंचित केश विलम्बित पावन भक्त-विमोहन।
काँधे ललित दुकूल विराजित गले मनोहर माला।
कटि में कलित पीत पट भ्राजित कल्मष हरने वाला।
छः तूणीर उपरना ऊपर कर शर धनुष-अलंकृत।
दीखा प्रभुवर प्रखर तेज इव वर आकृति से अंकित।

आपे में न रहे दानवपति देख रूप मनभावन।
अपलक नयन लगे बरसाने रस ज्यों रसमय सावन।
'पाहि-पाहि,करुणा निधि'-कह कर विह्वल गिरे चरण पर।
'नाथ मुझे भी निज जन जानो यही परम ईप्सित वर।'
प्रभु ने प्रेम समेत उठाया दिया अमित आश्वासन।
कहा, "अदेय न कुछ मेरे हित माँगो जो माँगे मन।'
प्रभु के सँग तब दनुज-मुकुट मणि यों छविधाम दिखाये।
ज्यों रवि-आतप से निर्झरमय गिरि नव-नव श्री पाये।
"देव, प्रसाद तुम्हारा पाया तो प्रसाद यह दीजे।
सरस विमोद-प्रमोद-चक्र यह फिर-फिर मेरा कीजे।
मूल रहेगा तो नव पल्लव अनायास निकलेंगे।
मूल रहेगा तो पल्लव में फल भी सहज फलेंगे।
मेरा मूल प्रमाद मुझे प्रिय फल भी नहीं तजूँगा।
तिमिर-ज्योति दोनों ही का रस बारी-बारी लूँगा।
पूर्त्ति चाहती मेरे उर में एक और अभिलाषा।
सफल करो यह नवल वेलि सी कोमल मेरी आशा -
मेरे नव जीवन के कारण ऋङ्गी ऋषि औ शान्ता।
करो अनुग्रह उनकी पद-रज पाऊं मैं अक्लान्ता।"

"एवमस्तु",कह कर करुणानिधि भाव-सहित मुसकाये।
"दैत्यराज, तुमने जीवन के मर्म कहां ये पाये?
कल्प-कल्प के सृष्टिकाल में प्रिय प्रमाद पाओगे।
कल्प-कल्प-अवसान-काल में मम प्रसाद पाओगे।"
"इच्छा एक और भी मेरी तृप्ति उसे दें स्वामिन्!
ये हिंसात्मक अस्त्र हमारे आप इन्हें लो स्वामिन्!
रुद्र देव के श्रीचरणों में शीघ्र इन्हें गति दे दें।
अपने प्रेम-अस्त्र-प्रति मुझको अनुरतिमय मति दे दें।"
"ऋंगीऋषि-शान्ता-दर्शन की जो कामना तुम्हारी।
तो मेरे ही संग चलो तुम प्यास मिटाओ सारी—"
यह कह प्रभुवर शीलमयी से करुणा-विह्वल बोले—
"बेटी तुमने ठान महातप मेरे धीरज तोले।

तुम भी अब कोई वर माँगो मैं भी हलका होऊं।
तुमने भार हमारा ढोया भार तुम्हारा ढोऊं।"
झर-झर वारि झरा लोचन से शीलमयी रानी के।
आज महाप्रभु बोझिल होंगे ले अघ अज्ञानी के। ३२०

फिर मन को समझा कर बोली, "हे प्रभु अंतरयामी।
परिजात ले कर पद-पूजा इष्ट मुझे हे स्वामी।"
"तो तुम परिजात पाओगी चलो संग ही मेरे।
अमरलोक के विभव मिलेंगे सुमन-समेत घनेरे।"

यह कह बैठे प्रभु वाहन पर मुनिवर को बिठलाया।
शीलमयी-तारक को आसन दे संकोच नसाया।
मोर उड़ा आकाश-मार्ग में बिम्ब जलधि का देता।
जाना जहां वहीं की चिन्ता निज मानस में लेता।

आयी थी यह त्वरा कहां से उसकी गति के भीतर?
किसने दी थी प्रखर प्रेरणा उसकी मति के भीतर? ३३०

ऋष्यशृङ्ग गिरि पर आलम्बित अति विस्तृत मनहारी।
मंजु सभा-मंडप विरचित था चित आकर्षितकारी।
तीन ओर थे द्वार मनोहर एक-एक योजन पर।
उपद्वार भी बीस-बीस थे एक-एक से रुचिकर।

उपद्वार औ द्वार मध्य थी सरस नेह की डोरी।
जिनमें सरल सुमन के ग्रंथन करते थे चितचोरी।
बंदनवार अशोक आम्रदल-रचित नयन-अनुरंजन।
करते थे सामोद हृदय के सकल खेद का भंजन।

रुचिर पर्ण का आच्छादन-तल खम्भों सहित मनोहर।
ललित रेशमी पट आवृत था सब शोभाओं का घर। ३४०
कार्त्तकेय प्रभु के विचित्र बहु चित्र विविध जीवन के।
चारों ओर टँगे शोभित थे प्रीति-धाम से मनके।

दिव्य मंच पर रत्नजटित था सिंहासन सोने का।
जिसे देख दृग ने प्रण ठाना अपलक ही होने का।
दायें,बायें रजत-विनिर्मित आसन विविध लसित थे।
मानों यूनो के मृगाङ्क सँग तारकगण विहसित थे।

दायें, बायें और सामने लक्ष-लक्ष आसन थे।
जिनके छवि-रस के पीने में निरत अनंत नयन थे।
कल-कल नादकारिणी तुंगा लहराती जाती थी।
'जयति महर्षि-विपिन,' यह मानों गीत सरस गाती थी।
दिव्य रत्नजटिता नौकाएं गहों से समलंकृत।
सरिता के उस पार बँधी थीं लोकोत्तर छवि-मंडित।
द्रुम से सुमन, गान खगकुल से, चकित दृष्टि मृगियों से।
पाते थे मुसकान-मधुर रस सरल मृगी - दृगियों से।
अभिमानी कुसुमों के ढिग जा मानो अलि थे कहते—
"मान सहेंगे अब न तुम्हारा रहे सदा ही सहते।
मधु-उत्सव में कमी न मधु की चाहे जहां छकेंगे।
मधु का अन्त कदापि न होगा पीते हमीं थकेंगे।"

मधु उत्सव का समय पधारा नहीं महाप्रभु आये।
उपस्थितों के हृदय - गगन में चिन्ता घन घहराये।
बोल पड़े अगणित बड़बोले अब न विलम्ब लगाओ।
एक चित्र धर सिंहासन पर अपना कर्म चलाओ।
मुनिवर बोले, "देव-देव शिव बैठें सिंहासन पर।
कार्य करें प्रारम्भ, पधारें जब लौं यहां न प्रभुवर।"
इन्द्र देव ने किया समर्थन शंकर ने स्वीकारा।
बैठी सभा विनोद-पिपासा-शमन - निमित्त अपारा।
बैठे अमर निमंत्रित मानव दानव अग्रासन पर।
शान्ता ऋषिवर बैठे अतिशय विनय भाव धारण कर।
देश-देश के रस-लोलुपगण जो रस के हित आये।
रुचि अनुकूल सुआसन पाकर विकसित-वदन दिखाये।
बायें उमा गजानन दायें मध्य उमापति सोहे।
देख अनूप रूप रचना छवि रसिक वृन्द मन मोहे।
होकर जिनके तनय महाप्रभु आप अवतरे जग में।
क्यों वे जगदाराध्य न होवें जीवन के पग-पग में।
कनक-रचित मणियों से मण्डित रत्नजटित अभिरामा।
चौकी पर अमरों के गुरु थे राजित कान्ति ललामा।

पीत तिलक ऊँचे ललाट में पीत जनेऊ तन में।
काँधे में कटि में पीताम्बर प्रफुल्लता आनन में।
पद्मराग - मुद्रिका - अलंकृत करांगुली चालन कर—
पीत आवरण-रहित बनाया 'मधु-गायन' मानस-हर। ३८०
भोजपत्र पर लिखित पंक्तियां लगे प्रीति से गाने।
ध्यान-निमग्न सकल श्रोतागण-हृदय लगा लहराने।

"मधु का रुचिर रहस्य यही बस प्रिय से विरह बढ़ाओ।
दीपशिखा - ऊपर पतंग इव अपना हृदय तपाओ।
जलने से रह जाय राख जो उससे मसी बनाओ।
प्रिय का नाम उसी से लिख-लिख चारों ओर गुँजाओ।

मधु का रुचिर रहस्य यही बस अपने को संहारो।
चीर कलेजा अपना डालो भाला उसमें मारो।
रक्त बहे तो लिखो उसी से प्रिय का नाम सलोना।
एक बार परिचित हो जाये जग का कोना-कोना।३९०

मधु का रुचिर रहस्य यही बस प्रिय से मुक्ति न माँगो।
परम वियुक्ति-भुक्तिमय लेकर परम मुक्ति में रागो।
मधु का रुचिर रहस्य यही बस दैहिक मुक्ति न लेना।
लेकर चले अमोल हृदय तो यों ही फेंक न देना।

मधु का रुचिर रहस्य यही बस प्रियतम हो को भजना।
कोई और मिले प्रतिद्वन्दी उसे भुजग इव तजना।
प्रियतम हों निरमोही हो लें मोह तुम्हें तो करना।
प्रिय के हित ही तुमको जीना प्रिय के हित ही मरना।

मधु का रुचिर रहस्य यही बस कभी मरण फिर जीवन।
कभी वियोग, कभी सम्मेलन, कभी हास फिर रोदन।४००
सत्य शक्तिमय-अन्वेषण हित प्रति पल अस्थिर रहना।
सरिता-जल ज्यों बहता रहता त्यों ही अविरत बहना।

मधु का रुचिर रहस्य यही बस हिंसा-विकृति निवारो।
विकृत अहिंसा मायाविनि का विषमय हृदय विदारो।
प्रकृत - अहिंसा - अनुमोदित ही हिंसा प्रकृत सँवारो।
राजमार्ग पाओ जीवन का प्रभु को उर में धारो।

महाशक्ति ने रुद्रदेव से विरह लिया रस साना।
एक बूँद रस के हित उसने सृष्टि प्रलय यह ठाना।
उसका मिलन विनाश जगत का और विरह ही सर्जन।
कोई कौन प्रकार करेगा किसी एक का वर्जन?

कर यों कथन अमर गुरुवर ने अमित प्रसंग चलाये।
कल्प-कल्प की विरह-कथा कह रस के स्रोत बहाये।
सांध्यकाल से अर्द्ध रात्रि लौं चला यही क्रम प्रति दिन।
बीत गये छः दिवस इसी विधि युग सम थे जिनके छिन।
थम न सके कितने ही होकर समय-प्रेरणा-पीड़ित।
उत्सव चला तथापि अखंडित, अविचल औ अव्रीड़ित।
कार्त्तिकेय-करुणा थी जिन पर अक्षत रहे निरन्तर—
प्रभु-दर्शन की अभिलाषा से परम दीप्त उर-अन्तर।
जड़-जंगम चर अचर सभी ने हिंसक भाव भुलाया।
गुरु-वचनावलि-अमृत पान कर जीवन-खेद नसाया।
करुणा रस से सिक्त नयन में पावन भाव बसाया।
अनायास ही जीवन का जो परम तत्त्व सो पाया।
आया अंतिम दिवस सातवां, लगी कथा फिर होने।
किन्तु आज की ललित कथा भी लगी व्यथा ही बोने।
नहीं महाप्रभु आये अब लौं विरह-वेदना तीखी—
अमरों के गुरु के लोचन से जल बरसाती दीखी।
"व्यर्थ कथा वह जहां दयानिधि नहीं दया कर आये।
आयोजन वे व्यर्थ नहीं जो दीनबन्धु को भाये।
मधु-उत्सव कैसे मधु पाये मिले न मधु के दाता।
मंदभाग्यता कैसी छायी आये अभी न त्राता।
आभूषण ज्यों वस्त्र-रहित तनु की शोभा न बढ़ाते।
त्यों प्रभु-स्वीकृति बिना अलोने कर्म सकल रह जाते।"
गुरु-वाणी कंठावरोधमय, जलज-चलित जल-धारा—
हरने लगी सकल श्रोतागण का उर-धीरज सारा।
सुरपति शम्भु, उमा, सब निर्जर मानवेन्द्र श्रीरघुपति।
मुनिवर तारकाद्य सब के सब हो आये विचलित-मति।

अंधकार आषाढ़ - सजल - घन - सा दृग-आगे छाया ।
कौन चूक हो गयी दयामय का पद-पद्म न आया ।
शृंगीऋषि, शान्ता की पीड़ा मैं किस भाँति बखानूं ?
मिला जिन्हें आहार विरह में उनकी गति क्या जानूं । ४३०
केवल जननी-जनक-व्यथा से विचलित से दिखते थे ।
दृग - जल द्वारा कमल-पत्र पर आर्त्ति-पत्र लिखते थे ।

और इसी घनघोर तिमिर में औचक देव पधारे ।
पारिजात दे शीलमयी के मन के खेद निवारे ।
ऋषि की दृष्टि उठी ज्यों ऊपर दिखे त्रिलोकविहारी ।
मंजु मोर पर विहसित बैठे जन-मानस-भयहारी ।
दृष्टि गयी मघवा, शिव,गुरु, की, सुरगण की, रघुवर की ।
झलक मिल गयी तारकाक्ष को आलोकित प्रभुवर की ।
किन्तु सभी से पहले ऋषि-शिर थे प्रभु चरण-कमल पर ।
गद्गद-कंठ प्रवाहित - लोचन देह कंटकित छविधर ।४४०
उतरे प्रभु वाहन से सत्वर, उठा लिया ऋषिवर को ।
परम प्रीति से कंठ लगाया अभय किया ऋषिवर को ।
तब तक लक्ष लक्ष कंठों ने मिल संग ही गुँजाया—
जयति षड़ानन कार्त्तिकेय जय शम्भु शक्ति-कृत-काया ?
दौड़ पड़ी अमरावलि स्वागत-निरत रूप रस प्यासी ।
आगे बढ़े महाप्रभु दानव-मानव-देव - विकासी ।
ऋषि दाहिने महामुनि बायें पीछे तारक-दम्पति ।
इन्द्र, अमरगण मार्ग दिखाते चले राग-रंजित अति ।
हर्षोद्गारमयी जनता की दृष्टि लगी थी प्रभु पर ।
हो उतावले विलोकते थे सब जन उचक-उचक कर ।४५०
सकल व्यवस्था का अभाव औ रव, कोलाहल भारी ।
मिटा सहज ही प्रभु जब दीखे सिंहासन - अधिकारी ।
वाम ओर मुनिवर थे दायें शीलमयी औ तारक ।
दृश्य सभी लोगों ने देखा अतिशय विस्मयकारक ।
शम्भु, उमा, गणपति ने आसन शीघ्र पास ही पाया ।
नीरव विनत प्रणाम महाप्रभु का उनके ढिग आया ।

शिव-शैलजा-वदन-पंकज पर प्रसन्नता अंकित थी।
जनक पराजित हो आत्मज से शोभा अकलंकित थी।
"धन्य-धन्य",कह गरज पड़े सब धन्य सदाशिव शङ्कर।
धन्य पार्वती माता जिनके तनय नाथ अभयंकर।"
सत्य-शक्तिमय दिव्य विभा ने नयन अनेक झँपाये।
दिव्य दृष्टि दे शीघ्र नाथ ने उन्हें सनाथ बनाये।
मिला लोचनों का फल सब को प्रभु का रूप विलोका।
अनायास ही पाया सब ने परम प्रीति का झोंका।

ऋषि-संकेत प्राप्त कर जननी-जनक शीघ्र ही आये।
लोचन ही के जल से धोये चरण-कमल-मन भाये।
दोनों ही की प्रसन्नता का पार नहीं मिलता था।
डूब रहे थे उस निधि में, आधार नहीं मिलता था।
सिंहासन से उठ दोनों को प्रभु ने अंक लगाया।
एक निमिष में जन्म-जन्म का सारा ताप मिटाया।
प्रभु की परम कृपा पाकर भी नहीं अघाते थे वे।
अधिक लाभ के हेतु पिपासा फिर-फिर पाते थे वे।

उतारने लग गयी आरती तब वृद्धा मतवाली।
फिरा फिरा कर परम प्रीति से स्निग्ध ज्योतिमय थाली।
जय-जय-कार किया जनता ने धन्य विभांडक-दम्पति।
शृङ्गी ऋषि सा लाल जि-होंने जनमाया निर्मल-मति।
ली आरती भक्ति से सबने सिर से उसे लगाया।
अन्तर में आलोक अपरिमित दिव्य प्रदीपित पाया।
करने लगे अर्चना प्रभु की तब क्रम-क्रम से सब जन।
लेकर नवल प्रसून मृदुल दल देव दनुज, मानव गन।
परमानन्द-अमित पुलकित से फूले नहीं समाये।
आत्म-विभोर दशा में अस्फुट स्वर अधरों पर आये।

—गीत—

जयति षड़ानन ज्योति-निचय जय।
पंचाननमय शक्ति चमत्कृत,

घन तमराशि सतत समलंकृत,
बिजली ज्यों घनश्याम-समावृत,
सीपी में ज्यों मौक्तिक निर्भय। जयति०
चतुरानन - संकल्प विमलतम,
नारायण - अवतरण अनूपम,
शंकर - सुयश - प्रसारक सक्षम, ४९०
जीवन-प्रगति-विधायक अक्षय। जयति०
करुण, हास्य, वीभत्स, भयंकर
रौद्र, शान्त, शृंगार, वीर वर—
अद्भुत-संसृति के नव निर्झर,
सब में रमण-निरत प्रिय रसमय। जयति०
विकृति अहिंसा औ हिंसागत,
अगणित जो देती रहती क्षत,
उसके उपचारण में नित रत—
सतत प्रवाहित, सतत कर्ममय। जयति०
सुन्दर से सुन्दरतर जग हो, ५००
स्वर्ण-विभामय उसका मग हो,
सुमनावलि-सेवित पग-पग हो,
इसके हित नित उद्योगालय। जयति०
प्रकृति - समर्थित हिंसा लेकर,
प्रकृत अहिंसा चली जहां पर,
तुम से ही नव-नव गति पाकर,
कर पायी पियूष का परिचय। जयति०
तुम्हीं कवच हो, ढाल तुम्हीं हो,
जग के जीवनपाल तुम्हीं हो,
आत्महनन के काल तुम्हीं हो, ५१०
सत्यशक्तिमय सत्याग्रहमय। जयति०
भटक रहे हम अंध परिधि पर,
केन्द्र! रहे तुम नयन-अगोचर,
औचक झलक पड़े करुणा कर,
आज मिली कुभाग्य पर भी जय। जयति०

उठे महा प्रभु सिंहासन से केन्द्र सकल लोचन के।
वाणी बोल रसाल खोलने लगे पटल मन-मन के।
"शृङ्गी ऋषिवर, अमर, मनुज औ दनुज यहां जो आये।
मेरे अति विलम्ब के कारण सब ने क्लेश उठाये।
मानो फिर भी सत्य न मैंने तुमको कभी भुलाया।
अमर लोक से भेंट तुम्हारे हेतु निराली लाया।
यह देखो अनुराग-चूर्ण यह अरुण कणों का संचय।
इसे हृदय में धारण कर लो ले लो जीवन अक्षय।
अमल भावना अंगीकृति का चिन्ह अरुण स्वीकारें।
माथे लगा, लगा दें मुँह में उर में मूठें मारें।"
यह कह प्रथम पिता-माता के चरण किये अनुरंजित।
छः शीशों से प्रणत षड़ानन द्वादश बाहु-नमस्कृत।
अवसर जान रखे चरणों पर हिंसकास्त्र तारक के।
पाकर जिन्हें शम्भु-गिरिजा को भाव मिले मारक के।
प्रभु ने किया, किंतु सब नीरव अनदेखा, अनजाना।
दिया नहीं संकेत, जगत का अंत यदपि अनुमाना।
मधवा, राघव तारकाक्ष को अरुण चूर्ण सब देकर।
सिंहासन पर राजे प्रभुवर परम रिक्तता लेकर।

मिला स्वल्प परिमाण किन्तु वह शीघ्र अधिक हो आया।
प्रभु का विमल प्रसाद सभी ने प्रेम सहित अपनाया।
उस गुलाल की मूठ अलौकिक जिसने जिसको मारी।
वह हो गया उसी का रसिया भूल देह-गति सारी।
धूम मची पावन सनेह की दिव्य अरुणिमा छायी।
दानव, मानव, देव - सभी की देह अभिन्न दिखायी।
मादक प्रणय-भावना लाया दिव्य चूर्ण मनहारी।
कार्त्तिकेय प्रभुमय ही दीखी सबको जनता सारी।
तारक प्रभु-संकेत - प्राप्ति हित शान्त अभी बैठे थे।
ऋषि - आशीश लहूँगा कब मैं चिन्ता में पैठे थे।
उठी नाथ की दृष्टि अचानक उचित समय बतलाती।

शीतल सहज हो गयी दानववर की जलती छाती।
उधर प्रेरणा शृङ्गीऋषि में अनायास विकसी थी।
दैत्यराज को गले लगाने की उमंग हुलसी थी।
आसन से उठने वाले थे वे होकर अति विचलित।
दैत्य-शिरोमणि उनसे पहले चले मनोज्ञ मिलन-हित।
उसी समय सब ने अवलोकी चकितकारिणी शोभा— ५४०
दानववर-आनन पर क्रीड़ित, हृदय न किसका लोभा?
कृष्ण गगन अरुणाभा-मंडित पाता ज्यों अनुरंजन।
देख अलंकृत दैत्य-वदन त्यों वारा सब ने तन-मन।
विधि का वचन सत्य करने की बात हृदय में धारी।
मन में बसे प्रचण्ड शक्ति धर प्रभु आनन्द-प्रसारी;
अपना रूप दान कर ऋषि को उन्हें निमित्त बनाया।
प्रभु ने पीछे रख अपने को जन को कब न बढ़ाया?
एक अलौकिक दृश्य हो गया कार्त्तिकेय दो दीखे।
एक संग दो भानु लसित थे मानो नभ में तीखे।
मर्त्यलोक की अखिल समलता दम तोड़ती दिखायी। ५५०
अमर लोक की संधि सहज ही प्रभु की स्मिति में आयी।
शृंगी ऋषि की ओर एक टक तारक रहे निरखते।
रूप-पियूष पान कर अविरत नयन नहीं थे थकते।
बढ़ता गया हृदय के भीतर खर आनन्द अपरिमित।
नहीं सँभाले संभल रहा था थे अतिशय विचलित-चित।
लक्ष-लक्ष जनता ने तारक वदनालोक विलोका।
देखा उन्हें अवारित खाते लोकोत्तर रस-झोंका।
"दानव-मौलि-मुकुट-मणि-की जय" मचा घोष तब भारी—
"सच्चे कृती तुम्हीं दानव वर मुक्ति-मुक्ति-अधिकारी।"
अवसर उचित जान प्रभुवर ने अपना रूप छिपाया। ५६०
तारक - परम पुनीत हृदय में वर सिंहासन पाया।
दीन कुटी में कनकाचल से नाथ रमे भयहारी।
होने लगे प्रयास बिना ही उसके हित लयकारी।
क्लान्त हो गये प्रीति-भार से सहन न था अब होता।
करता प्रगति चला आया था परम अगति-ढिग सोता।

अति अदम्य अनुराग-वेग से ऋषि-शान्ता-चरणों पर।
धर कर शीश सदा को सोये परम शान्त दानववर।

तारक ओर नयन उलझे थे, नहीं किसी ने जाना।
चले गये प्रभु अन्तर्हित से अन्तर तनिक न माना।
और मिला अवकाश तनिक तो दृश्य भयंकर आया।
प्रलयंकर संदेश शक्ति का संग-संग ही लाया।

झंझावात-हता लतिका सी निरवलम्ब महि डोली।
खसने लगे सभी आसन से गति विचित्र अति हो ली।
धारण करती थी जो धरणी लगी वही अब खाने।
अचल, सरित, सर, कुसुम, लता, द्रुम लगे उदर में जाने।

गरजे मेघ, दामिनी तड़पी, मारुत चला भयानक।
छन भर ही में विकृत हो गया मर्त्यलोक का बानक।
दिव्य रूप धारण करके सब दिखे ऊर्ध्व दिशिगामी।
जड़ औ चेतन पीछे, आगे शंकर अंतरयामी।

ताप-दग्ध लतिका को जैसे मिले सलिल की धारा।
त्यों ही अमर - लोक ने पाया नव रस शीतल न्यारा।
अमरों ने आवास बनाये नव-नव गाने गाये।
कोकिल-कूजित-कुंज-विभव सब अमर-लोक में आये।

अमरेश्वर के राजभवन ने आब निराला पाया।
मानो शोभा ही ने उसको अपना भवन बनाया।
इन्द्राणी - आनन पर गौरव-आभा थी मनहारी।
उनकी सेवा में अनुरत थे अनुचर आज्ञाकारी।

राजसभा अमराधिराज की सजी प्रतिष्ठा-मंडित।
राजे जिसमें अमरों के गुरु प्रतिभा - ज्ञान-अखंडित।
अर्द्धांगिनियों - संग देवता परिषद में आते थे।
स्वयं शम्भु गिरिजेश्वर भी नव प्रीति वहां पाते थे।

अमरों के आनन्द-लाभ का ध्यान हृदय में धरते।
ऐरावत पर चढ़ अमरेश्वर लोक-निरीक्षण करते।
वाम भाग में शची विराजित जन-अभाव दरसातीं।

करुणामय - लोचन से वत्सल प्रेमामृत बरसातीं।

दिनकर संध्या उषा चन्द्रमा रजनी सभी पधारे।
हिमदेवी के संग अचलपति आये गौरव धारे।
सब का देव-स्वरूप सरस था सब नव छवि-मंडित थे।
मर्त्यलोक-रस-भोग - योग से अब न हृदय झंकृत थे।
आये कालिन्दी औ पावस प्रीति-चलित लहराते। ६००
अति प्रिय था विश्राम उन्हें अब गीत उसी का गाते।
संग-संग दीखा निदाघ भी निर्विकार सहचर सा।
दीनों ही से हृदय मिलाये परम शान्ति का घर सा।
असन्तोष की ज्वाला से जो नित्य जला करते थे।
विरह-विषाद, आह, आँसू के रस के हित मरते थे।
वे सन्तोष भाव के गहरे सिन्धु-तले अब डूबे।
पाते थे न विकार किसी विधि यों क्रीड़ा से ऊबे।

चतुरानन - आँखों की सूजन मिटने के दिन आये।
अकस्मात शारदा - षड़ानन आगे खड़े दिखाये।
पड़ती थी न प्रतीति किसी विधि आँख लगे वे मलने—६१०
भूखी चित्तवृत्ति क्या लायी रूप मधुर यह छलने?
चरणों पर गिर कर दोनों ने सब संवाद बताया।
तब विधि ने आश्वासित होकर उनको गले लगाया।
नयनों से अविराम चली फिर मोदमयी जलधारा।
जिसमें लगा निमज्जित होने मानस-कल्मष सारा।
वनस्थली में ज्यों मधु आकर चहल-पहल कर देता।
अथवा चपल समीर सरित की क्लान्ति सकल हर लेता।
त्यों ही शान्ति विचित्र पधारी सृष्टिकार के मन में।
पीड़ा के उर में से लायी नव रस-धारा छन में।
दिवस-कार्य से मिले साँझ के स्वर्णिम जाग्रत सपने।६२०
विलग न रख पाये निद्रा से क्लान्त नयन विधि अपने।
सरल पाकशासन-शासन से रहित चिन्तना होकर।
सोये अखिल प्रपंच - विधायक सारा कल्मष खोकर।

निर्विकार शारदा षड़ानन नव विहार से थककर।
कोमल सुमन दलों से सज्जित फेनोज्वल शैया पर—
अलस शिथिलतामय निद्रा के स्वप्निल स्वर्ण-सदन में।
श्रीहरि में तल्लीन हो गये परम तृप्ति ले मन में।

महाशक्ति ने रुद्रदेव की प्रिय अंगीकृति पायी।
प्रिय-विराग से जलती छाती अति शीतल हो आयी।
बाधा तोड़ चला ज्यों निर्झर त्यों उल्लास - तरंगें—
उमड़ पड़ीं मानस में लेकर यौवन - जात उमंगें।

ज्यों धनेश का विभव प्राप्त कर रंक विकल हो जाता।
सत्य सत्य यह अथवा सपना—यह सब समझ न पाता।
त्यों विमोहिता महाशक्ति ने अपना आपा खोया।
सहज मोद-कल्लोल-राशि से मानस का मल धोया।

ब्रह्मा की सारी विभावरी इन्द्र - सरलतम शासन।
निशि औ दिवस अमित अमरों के किये काल ने यापन।
मोहावस्था गयी शक्ति की तब चेतनता आयी।
प्रिय मोहन-शैली-रहस्य पर नवल चिन्तना लायी।

बारम्बार गयी बलि देवी प्रिय विचित्र माया पर।
जिसने रोष-भाव को माना सकल रसों का आकर।
अकस्मात ही अरुण अधर ने शशिकर - माला पायी।
मानो ज्योत्स्ना के प्रकाश में विहसित उषा दिखायी।

वह ऊषा थी नवल सृष्टि की रचना करने वाली।
स्नेह जगत-जीवन - दीपक में छिपकर भरने वाली।
ब्राह्मकाल में ब्रह्मा जागे रचना चली निराली।
दिवस-कार्य कर पायी निशि में फिर निद्रा मतवाली।

बारम्बार चला यों ही क्रम विधि-जीवन भी बीता।
विविध विरंचि गये औ आये वय-घट सब का रीता।
नारायण को भी तब निद्रा कार्यमग्नता लायी।
वाम अंग में कमला को ले बने शेष पर शायी।

नारायण-जागरण-शयन की लीला चली अनवरत।
उनका भी अवसान आ गया काल-प्रगति का अनुगत।

चलता चला काल का पहिया कितने ही नारायण—
आये-गये मदन-रति का भी क्लान्त हो गया नव तन।
नन्दन वन में तब रसाल दल-पल्लव-सेज बनाये ·
सोये रहित विकार मनोभव रति को अंक लगाये।
उनका भी जब अंत आ गया नव नव मनसिज आये।
सबने महाकाल - चरणों में उन्नत शीस नवाये।

क्रम-क्रम से उस महा प्रलय का महा मुहूर्त्त पधारा।
नभवाणी गूँजी—प्रपंच यह चूर्णित हो अब सारा।
कोई जान न पाया अब तक कढ़ी कहां से वाणी—
रुद्र-शम्भु-आवाहनकारिणि भयंकरी कल्याणी।

—गीत—

हर, संहार करो
अतिशय सारित यह संसार,
जिसका कोई बार न पार,
शीघ्र बने विरहित आधार,
सारा सार हरो। हर०
अज द्वारा विरचित-विस्तार,
कमलाकान्त-प्रवाहित प्यार—
बढ़ा रहा प्रतिपल आकार,
सकल विकार हरो। हर०
ठानों स्थूल-हनन व्यापार,
सूक्ष्म-सूक्ष्मतमकरण अपार,
कोटि-कोटिशः विकलनकार,
प्रखर प्रहार करो। हर०
बीज-बीज का हृदय विदार,
परम - परम परमाणु प्रचार,
अज - मनोज - हरि-प्राण-प्रसार,
शिव-आहार करो। हर
ताण्डव-नृत्व प्रचण्ड विहार—

हेतु चरम पौरुष उर धार,
महाशक्ति को कर स्वीकार,
एकाकार करो। हर०

रुद्रदेव ने अंतिम रतिपति को निज उर में धारा।
महाशक्ति के प्रति विरक्तिका सारा भाव बिसारा।
६९० वाम अंग में लीन उन्हें कर नृत्य लगे वे करने।
प्रलयंकर जीवन-संहारी प्रणय-समेत विहरने।

द्रष्टा कहीं नहीं कोई था उस ताण्डव-नर्तन का।
महाशक्ति औ रुद्रदेव के एकाकृति-वर्त्तन का।
रुद्र-हृदय में लीन मनोभव का भी अंत सिधारा।
विरह-वासना-उर से रमने आया भाव दुलारा।
रूप भयंकर परिणत दीखा क्रमशः अभयंकर में।
प्रिया-समेत निमग्न हो गये रुद्र उमा-शंकर में।
और उमा-शंकर भी क्रमशः पैठे किसी अतल में।
जहां समन्वय अगति-प्रगति में चंचल और अचल में।
७०० महाशक्ति-हर मिलन-विरह यह चलता रहता अविरत।
महाशक्ति का यत्न निरंतर प्राणनाथ हों अनुरत।
शक्ति-कामना, रुद्र-विरति से रस जगती ने पाया।
जैसे चंड किरण ने जीवन सरसिज का सरसाया।

———

विश्राम

मेरी, प्रिय वनदेवि ! हृदय में रुद्रशक्ति को धर लो ।
जग-जीवन का स्वाद बिरह में, प्रीति उसी से कर लो ।
दे देता विश्राम निरन्तर मिलन इसी से प्रियतर ।
सरस रुचिरता भरता उसमें विरह इसी से रुचिकर ।

अगम विषाद-सिन्धु में अपने को न गिराओ नाहक ।
दोनों को न बिलग होने दो हो यदि नव रस-चाहक ।
धूपछाँह दोनों का जोड़ा; छाँह न केवल माँगो ।
छाँह धूप ही से रस पाती, कड़ी धूप मत त्यागो ।

विकृत अहिंसा औ हिंसा से व्यर्थ नहीं घबराओ ।
प्रकृत अहिंसा औ हिंसा को उनसे सरस बनाओ । १०
कहीं किनारा यदि न रहेगा धारा कहां रहेगी ।
किसकी मंजु भुजा से रक्षित वह उन्मुक्त बहेगी ।

सत्य शक्तिमय सत्याग्रहमय को सब ओर विलोको ।
उनकी गति हो जिधर उधर से अपने पाँव न रोको ।
अतल सिंधु के तल में मोती रखा किसी ने सच्चा ।
मोल बढ़ा मोती का न्यारा—काम कहां यह कच्चा ?

परम पियूष पिलाने वाली कथा श्रवण की तुमने ।
नहीं जानता मैं यह कितनी बात ग्रहण की तुमने ।
मेरी देवि ! तुम्हारी शंका का अब शमन करूँगा ।
जो दुरूह हो, अधिक सरल कर आगे उसे धरूँगा ।" २०

बनदेवी ने कहा, "देव जो रस तुमने बरसाया ।
उसने मेरे प्राण-हृदय को शीतल आज बनाया ।
लू में जलती जाती थी मैं मिली कल्पतरु छाया ।
मीठी लगी मुझे तो अति ही रुद्र देव की माया ।
फिर भी कैसे कह दूं सारी बात समझ ली मैंने ।
रखी बाँधकर, यही कहूँगी संशय-गठरी मैंने ।
तीन प्रश्न करती हूं मेरा समाधान कर दीजे ।
अज्ञानी हूं, ज्ञान-प्रभा से मेरा उर भर दीजे ।

प्रथम प्रश्न मेरा यह स्वामिन् द्वेषपात्र क्यों दानव ?
विधि रचना का साधन जब वह क्यों निर्जर औ मानव ।
शंकर-कृपा-पात्र प्रति क्यों हम घृणा हृदय में धारें ?
वह भी अपना धर्म पालता, क्यों यह नहीं विचारें ?

प्रश्न द्वितीय पूछती हूं मैं यदि दानव अपकारी ।
धरे हाथ पर हाथ रहें क्यों मानव देव दुखारी ।
मर्त्यलोक में केवल दानव-हिंसा सफल बनेगी—
यह प्रतीति तो मानव-निर्जर-आशा सकल हनेगी ।

मेरा प्रश्न तीसरा है यह, वर्ण और आश्रम की—
रुचिर व्यवस्था जो मानव ने थापी यम-संयम की ।
उससे शान्ति बढ़ी वह जिसमें अन्त सृष्टि ने पाया ।
किसे लाभ फिर होगा उससे नहीं समझ में आया ?"

मधु ने कहा, "लगे अति रुचिकर मुझको प्रश्न तुम्हारे ।
क्रमशः दूँगा सब के उत्तर श्रवण करो धृति धारे ।
सकल लोक - कल्याणकारिणी अति प्रिय ये शंकाएं ।
इनमें निंहित जगत-जनता के मानस की बाधाएं ।

मानव - दानव - देव त्रयी में भेद न सच्चा कोई ।
भेद-कल्पना कर तीनों ने प्रीति - भावना खोयी ।
अंधकार में रस्सी को भी साँप समझ हम लेते ।
अपना काल मानकर उसको भय निज मन को देते ।

सृष्टि प्रगट दानव से होती मानव से नित पलती ।

फिर अमरत्व विकास ग्रहण कर प्रलय-दिशा में ढलती ।
फिर अमरत्व विभाजित होता तान रूप में मोहन ।
अपने में फिर आप समाता दृश्य देखकर शोभन ।

अमरों को जब अमरलोक में स्वाद न कोई मिलता ।
मर्त्यलोक-निर्माण-सुमन तब सहज भाव से खिलता ।
भेदभाव के उपजाने में नवल सरसता आती ।
करने में संसार-सारणा हृदय - वृत्ति लग जाती ।

अमरों का जब मर्त्यलोक कृत स्वाद सकल नस जाता ।
मानस में तब अमर लोक कृत प्रेम अमल बस जाता ।
यों ही आवागमन निरन्तर रसमय होता रहता ।
सतत कामना-विचलित लहरित जीवन-सोता रहता ।

जिसने ज्ञान-विलोचन खोला पाया भेद निराला ।
नव पंकज-पराग पाता ज्यों अति चंचल मतवाला ।
रोक अखिल चंचलता मन की करो प्रेम का अंजन ।
निर्मल नयनों से देखोगी जगत-दृश्य मन - रंजन ।

दैत्य भयंकर गर्जन करता ज्यों भादों का बादल ।
अनल वासना की उर में धर बिजली से भी चंचल ।
आँखों के देखते-देखते गिरकर होगा पानी ।
तो फिर व्यर्थ डरे क्यों उससे जो कहलाता ज्ञानी ।

हिमकी भाँति कड़ा मानव ने जीवन अपना पाया ।
पानी वह भी बना सहज जब ताप अनल का आया ।
दैत्य चोट खाकर नत होता मानव करुणा - विह्वल ।
फिर भी रस दोनों में मिलता अविनाशी औ अविचल ।

मर्त्यलोक औ अमरलोक के मध्य बसी अमराली ।
ललित कामना के धागे से बँधी केलि रतिशाली ।
दिनकर के हलके झोंके से कुहरे सी उड़ जाती ।
एक फुहारा रस से भीगा रसिक रसा यह पाती ।

बादल हिम कुहरा तीनों में भेद प्रगट में दीखा ।
किन्तु रसिक ने अभेदता का पाठ यहीं से सीखा ।
हिम औ कुहरे ही को मानें, क्यों न मेघ को चाहें ?

८०करें प्रशंसा हिम, कुहरे की घन को क्यों न सराहें ?

ज्वालामुखी अचल की ज्वाला दानव धारण करता।
भस्मीभूत बनाता जग को करुणा-भाव न धरता।
भय न करे उससे अनुरागी वही ताप का दाता।
जिसको लेकर जगत बनाता शिल्पी, कुशल विधाता।

तप्त निदाघ-तरणि-किरणों सा मानव-जीवन तपमय।
पाकर दाह प्रचंड-किरण से बनता जलधर रसमय।
ज्वालामुखी अचल होता जल अति मारक ज्वाला से।
शीतलता निदाघ भी पाता शीतल घनमाला से।

मर्त्यलोक औ अमर लोक के मध्य निवास अमर का।
९० ज्यों दो सुमनों के प्रदेश में वास-प्रवास भ्रमर का।
शीतकिरण-भीतर पावक सा उसने गेह बनाया।
कभी शम्भु से कभी धरा से अमल सनेह लगाया।

पावक, दिनकर, चन्द्र-किरण में भेद न एक दिखाया।
केवल आँखों ने यदि अंजन निर्मलता का पाया।
दिनकर शशिकर ही को क्यों दें निज अनुराग सलोना ?
हाहाकार-विकल पावक से क्यों विराग खर होना ?

ब्रह्मा होकर रचना करता हरि हो पोषण करता।
महाकाल ही शूली होकर जग का शोषण करता।
जग में दोष कहीं न किसी का काल-प्रेरणा केवल—
१०० प्रति पल भिन्न स्वरूप-ग्रहण की बनती रहती सम्बल।

स्नेह-शृंग पर चढ़ कर सब को सिक्त भाव से देखो।
उदासीनता-तल पर अथवा रिक्त भाव से देखो।
अथवा सुरुचि-कुरुचि अन्तर कर प्रीति कहीं दरसाओ।
कहीं प्रगाढ़ उसे करने को घोर घृणा बरसाओ।

दानव से दानवता से भी स्नेह करे रस-लोभी।
सृष्टि-स्वाद-कामना जिसे हो ले वह दानव को भी।
इतने ऊँचे जा न सकें जो बनें स्वल्प-परितोषी।
दानव-प्रति रति दानवता-प्रति हों तटस्थता-पोषी।

निरपेक्षता भाव भी भारी कन्धे को यदि तोड़े।
रोष-भावना हृदय-विदारक गरदन अगर मरोड़े।
दानवता प्रति क्रोध बढ़ाओ घृणा अधिक विकसाओ।
दया दनुज को देना, तो भी, उर से मत बिसराओ।
यह भी हो न सकेगा जिससे, कौन उपाय करेगा?
दोनों के प्रति घृणा हृदय में, हो असहाय, धरेगा।
हिंसामय अति प्रखर समर का यहीं अवतरण होगा।
राशि-राशि मानव-प्राणों का यहीं अपहरण होगा।
हिंसा और अहिंसा दोनों धूप तथा छाया सी।
छाया उर को शीतल करती धूप निरन्तर प्यासी।
हिंसा प्रबल घृणा की बेटी रक्त बहाने वाली।
अमल अहिंसा प्रेमकुमारी अमृत पिलाने वाली।

प्रथम प्रश्न के उत्तर के हित इतना ही कहता हूं।
आगे नव रसमय तरङ्ग में प्रीति-सहित बहता हूं।
तुमने पूछा मनुज-देवगण कौन जतन निरधारें।
दानव यदि अपकार करे तो कौन प्रकार निवारें?

मैं कहता हूं दानव का बल बस भावना हमारी;
स्वीय कल्पना से हम उसको बली बनाते भारी।
अपने आतुर उर में शंका हम जैसी भर लेते।
वैसा ही बलवान दनुज को अनायास कर देते।
रिक्त हृदय में समल धारणा प्रतिपल आती रहती।
अन्धकार से भरी निशा सी अविचल छाती रहती।
सरोजिनी-वल्लभ, सकलेश्वर करुणामय को लाओ।
उनकी छवि से कोना-कोना उर का दीप्त बनाओ।
आयेंगे जब वे मानस में दानव धँस न सकेगा।
मरण-पराभव-दलदल में फँस अपने आप थकेगा।
कार्त्तिकेय-बल जहां, दनुज-बल अपना तेज गँवाता।
चन्द्र भानु-घर में आकर ज्यों किरणहीन हो जाता।

किन्तु वंचनाकारक जो जन कनक-कामिनी-किंकर।

नहीं षड़ानन प्रभु पर जिनकी प्रीति हृदय-आरतिहर।
वे दानव को जीवन देकर आप बढ़ाते रहते।
उसकी भयावनी आकृति से नित भय खाते रहते।
सीता के मानस में बसते थे श्री अवधविहारी।
रावण से भय मिला उन्हें कब प्रण से विचलितकारी।
दानव-अहंकार को दलता बस हुंकार सती का।
क्या कर सका भुजंग भयङ्कर शंकर-मन्त्र-व्रती का।
लोक-विमोहन राम विराजित थे प्रह्लाद-हृदय में।
रही नहीं ज्वाला, शीतलता आयी प्रखर अनल में।
त्रिविलोचन-लोचन-मन में थी रमारमण-छवि अंकित।
घातक विष भी बना अमृत की घूँट सरल अकलंकित।

जगदीश्वर को भूल शस्त्र की झंकृति में जो भूला।
अपने आप उचक फाँसी के तखते पर वह भूला।
अस्त्रशस्त्र लेना हाथों में दानव-दर्प बढ़ाना।
चलो निरस्त्र चकितकारक बन यदि हो उसे मिटाना।
भ्रमर-गान घलवे में पाया किया कमल-आराधन।
प्रभु का भक्त विलोके रवि का परम प्रेममय साधन।
अस्त्र-शस्त्र तो आप मिलेंगे प्रभु को पहले पाओ।
उन्हें गँवा दयनीय दीनता को मत गले लगाओ।
वे यदि संग हमारे होवें, अस्त्र अलंकृतिमूलक।
और नहीं तो प्रबल त्रिशूली शूल-हनन-इव शूलक।
विधवा का शृङ्गार किसी को कब आँखों भर भाया।
होकर खर किरकिरी दृगों की कब न व्यथा वह लाया।
अहंकार में, अनाचार में मग्न अस्त्र मत धारे।
दानव ही का पन्थ ग्रहण कर अपने को मत मारे।
देव, मनुज को प्रभु का आश्रय कभी न खोना होगा।
खोयेंगे तो दनुज-पराजित होकर रोना होगा।
प्रभु ही में तो कहीं दनुज भी यदि ईश्वर को लेंगे।
भूख दनुज की परम प्रीति से अपने आप हरेंगे।
मूलावास भुला देंगे यदि परदेसी से होकर।

व्यर्थ विघातक यत्न करेंगे बीज घृणा के बोकर ।

बूँद-सिन्धु में रहकर, लहकर नव गौरव, लहराती ।
वही अकेली पड़ मरुथल में अपने को बिनसाती । १७०
मनुज, देव प्रभु की संगति से रहित नहीं हो जायें ।
दानव की माया अति मोहक उसमें पड़ न बिलायें ।

जिसकी क्षीण कलाएं लेकर रवि ने जगत तपाया ।
मघवा ने मेघों का गर्जन-तर्जन कर डरपाया ।
वज्राघात अनल मारुत की प्रलयंकर लीलाएं ।
निमिष मात्र में जिसकी करती अतिक्रान्त सीमाएं ।

सकल विराट सृष्टि यह जिसके भ्रूइंगित की दासी ।
बालू की ज्यों भीत सहज ही स्वीय विनाश-विकासी ।
उसका भजन करेंगे जो जन क्यों भव-खेद लहेंगे ?
उनके संकट तो निवारते करुणाधाम रहेंगे । १८०

प्रभु का नाम हृदय में धर ले मंजु राजपथ पाये ।
द्रुतगति शील यान पर चढ़कर स्वीय सदन को जाये ।
नहीं राजपथ पाया जिसने वह कुपंथ पर भटके ।
अनाचार में रत दानव के महाजाल में अटके ।

प्रश्न तृतीय तुम्हारा सुन्दर उसका भी उत्तर लो ।
सभी भाँति शंका-मल निर्गत निज मानस से करलो ।
वर्ण और आश्रम मरजादा विधि ने नहीं सिखायी ।
मानव के विवेक ने जग को राह अनेक दिखायी ।

आश्रम-वर्ण-व्यवस्था आती ज्यों ऊषा की लाली ।
लाती निद्रारत जग-निशि हित किरण जगाने वाली । १९०
ऊषा के स्वरूप-चिन्तन से निशि को मिलती आशा ।
त्यों ही वर्ण-व्यवस्था में भी मानव-शान्ति-पिपासा ।

जीवन को संयम सिखलाती आश्रम-वर्ण-व्यवस्था ।
अनुरंजित आभा दिखलाती आश्रम-वर्ण-व्यवस्था ।
परम शान्ति का पन्थ दिखाती आश्रम-वर्ण-व्यवस्था ।
बिगड़ी बात सदैव बनाती आश्रम-वर्ण-व्यवस्था ।

अपना-अपना अंश ग्रहण कर जगजीवन सरसायें ।

नहीं किसी को भी तरसाए प्रणय-भाव दरसायें ।
विग्रह के काँटे न बखेरें करें अनुग्रह प्रतिपल ।
जड़-चेतन सब में अवलोकें अपने ही को अविचल ।

अपना-अपना कर्म करें सब धर्म-निरत हों प्रानी ।
कोई भाग न ले औरों का सभी न्याय के ध्यानी ।
गला न काटा जाय किसी का पेट न छाँटा जाये ।
जिसको जन्म दिया प्रभुवर ने वह जीने भी पाये ।

आश्रम-वर्ण-व्यवस्था समता-प्रीति-प्रदीप जलाती ।
औरों के हित जलना सीखो बारम्बार बताती ।
विभिन्नता के अन्धकार में ज्योति न जो वह लाती ।
तो संसृति-कलिका हँसने के पहले ही नस जाती ।

कभी वेगवाली सरिता सी वह बाधाएं खोती ।
कभी प्रबल अवरोध प्राप्त कर गति-रहिता वह होती ।
काल-प्रेरणा से बनती अति-प्रगति अचल-यति-मंडित ।
जग कर सोती सोकर जगती उसकी केलि अखंडित ।

जहां-जहां विवेकमय मानव को प्रदीप्ति दिखलायी ।
उसने देश-काल से सम्मत वर्ण-व्यवस्था पायी ।
हिंसा-आश्रित साम्यवाद भी घोष यही तो करता—
क्यों मानव मानव-हाथों से पीड़ा पाकर मरता ।

भरत देश की महिमा न्यारी उसने जीवन जाना ।
प्रगट दीनता अङ्गीकारी मन में दैन्य न माना ।
मूल भाव अपनाया उसने तज कर दल-शाखाएं ।
वर्ण-व्यवस्था शशि ने उससे पायीं सकल कलाएं ।

देखी देवों की विडम्बना ब्राह्मण-दुरगति देखी ।
क्षत्रिय-वैश्य-पतन अन्त्यज की पीड़ा भी अति देखी ।
बादल में यह बिजली ही सी वर्ण-व्यवस्था मानो ।
विकृत रूप में अनल धारिणी नाशकारिणी जानो ।

वर्ण-व्यवस्था आज सो रही दनुज-भाव से पीड़ित ।
नहीं जागरण चलता अविरत बाधाओं से व्रीड़ित ।
ब्रह्मज्ञान की हँसी उड़ाते पामर नीच निशाचर ।

मूर्त्तिमान जो काम - लोभ - मद वे ही पाते आदर ।
आज काल की यही व्यवस्था भानु हँसा जायेगा ।
कलाविहीन कलंकित शशिकर सकल कीर्त्ति पायेगा ।
आज समय की यही प्रेरणा सिंह अनादृत होगा ।
गीदड़ सिंहासनासीन हो विरद-समावृत होगा ।
कितनी भी हो दीन परिस्थिति क्यों चिन्ता भी करना ।
जब सब का उद्देश्य सरसता नित मानस में भरना ।
लोप नहीं होगा दिन का तो संध्या कहां मिलेगी ?
कुमुद-कली आशा-उमंग से फिर किस भाँति खिलेगी ?

भेद-कल्पना कर के ही तो हम जगती में आये ।
अभेदता की एक भावना संग-संग ही लाये ।
भेद-अभेद उभय के भीतर राग-विराग बसाया ।
निशि औ दिन में सोकर जग कर जीवन सकल बिताया ।

ताराओं की भाँति हमारा जग में आना जाना ।
नियत प्रकाश नियत गति नियमित ठाँव-ठिकाना पाना ।
मिटे, बात हो गयी कहानी आये तो सब नियमित ।
कक्ष-कक्ष में कर्म विभाजित जब लौं जीवन प्रचलित ।
भेद-भाव में चरम प्रगति पा जीवन-स्रोत थकेगा ।
तब अभेदता - सिन्धु - गले से अपने आप लगेगा ।
पात्र-भेद से वर्ण-व्यवस्था ने विकास निज पाया ।
परम व्यवस्थित अभेदता से अन्त जगत का आया ।
एक कोटि मुद्रा का प्रेमिक निर्धन यत्न बढ़ाता ।
एक-एक पर धरता जाता प्रीति अपरिमित पाता ।
जिस दिन लक्ष्य सिद्धि पायेगा क्या होगा फिर करना ?
कर्म बिना होता स्वभाव से प्राणिमात्र का मरना ।
खोकर निज अमरत्त्व यहां हम आये कर्म-निरतिमय ।
जायेंगे फिर अमरलोक को होकर कर्म-विरतिमय ।
आने-जाने के इस क्रम में सभी कहीं रसधारा ।
इस गन्ने के पोर पोर में स्वाद अमृत का न्यारा ।

मग में कितनी ठोकर खाकर ले अपवाद घनेरा।
वर्ण-व्यवस्था ने मानव को अमर-लोक-प्रति प्रेरा।
सोचो नहीं जगत का मिटना, वह स्वाभाविक लीला।
२६० कालदेव ने कभी चलाया कभी सभी को कीला।
अज के एक दिवस का चिन्तन कर हम लोग थकेंगे।
रुद्र-शक्ति की मिलन धारणा धर किस भाँति सकेंगे!
प्रखर शक्तिमय हर - नर्त्तन का कौन देखने वाला।
महाकाल ने उसको भी तो कवलित ही कर डाला।
भेद-अभेद सकल जगती में महाकाल-उपजाये।
उसके ही इंगित से दोनों कर्मक्षेत्र में आये।
किया भेद ने विकल जगत को औ अभेद ने पाला।
धीरे-धीरे मिली अमरता लिये अमृत का प्याला।
क्यों कहती हो वर्णाश्रम को जगत-नाश का दोषी।
२७० जब उसके द्वारा मानवता गयी निरन्तर पोसी।
पाशवता का मल सब धोकर उसने विमल बनाया।
मानव को पीयूष पिलाकर उसने अमर बनाया।"
इतना कहकर मौन हो गयी मधुमोहन की वाणी।
बोली तब श्रद्धा से अवनत वनदेवी कल्याणी।
'देव, गये सब संशय मेरे ज्यों मारुत-हत बादल।
मिला प्रकाश बनाया जिसने दीपित मानस का तल।
अन्धकार से आवृत दानव महापाप से पंकिल।
तुमने करुणा-पात्र बताया सकल रहस्य गया मिल।
आँखों में वह अंजन तुमने लगा दिया मनहारी।
२८० रस का धाम वियोग हो गया मिलन प्रकृत रसहारी।
भगा दिया मेरा भय औ भ्रम हर ली जगत-निराशा।
वाणी अमर तुम्हारी लायी पीड़ित-हित नव आशा।
धन्य हो गयी कथा श्रवणकर अमृत-वर्षिणी न्यारी।
मुझसे अधिक कृतार्थ न होगी अखिल लोक में नारी।"
मधु ने कहा, "प्रिये! कहती हो सत्य, कथा रस-धामा—
कार्त्तिकेय की यह अति पावन गङ्गा सी अभिरामा।
गङ्गा से बढ़कर भी कह दूँ गङ्गा सुलभ नहीं यों।

पतित पावनी कहां सकी मिल सब को सभी कहीं यों?
मेरी कीर्त्ति न इसमें कोई मुनिकृत सकल भलाई।
शाप उन्होंने देकर हमको प्रभु की राह दिखायी। २९०
शाप हो गया परम अनुग्रह मैंने प्रभु को पाया।
जन्म-जन्म का ताप अपरिमित अपने आप भुलाया।
सन्त-समाज-खोज में निशिदिन फिर कर मारा मारा।
मैंने प्राप्त किया पियूष यह लोक - प्रीतिकर न्यारा।
मिला धन्यता-अनुभव तुमको कृतार्थता यह मेरी।
आज मिटी मेरे मानस की अन्तिम व्यथा घनेरी।
तिथि मुहूर्त्त का काम न कोई प्रभु की कथा-श्रवण-हित।
कार्त्तिक मास द्वितीया, षष्ठी सरस विशेष सितासित।
जो पावन नवरात्र काल में इसका गान करेंगे।
चंडी रुद्राणी - प्रताप से दानव से न डरेंगे। ३००
माघ शुक्ल पंचमी सुतिथि में मदन-जन्म जब होवे।
साधक कर आरम्भ कथा यह मानस का मल धोवे।
उक्त सकल तिथि पूनो, नवमी, शंभुरात्रि में पूरित।
देगा प्रबल पराक्रम होंगे दैन्य-भाव दूरीकृत।"
यह कह कर जब एक ओर को मधुमोहन ने देखा।
प्रभु के परम प्रसाद रूप में लाभ निराला लेखा।
औचक पड़े दिखायी वे मुनि जिनसे शाप मिला था।
उनका आनन आज प्रफुल्लित कमल-समान खिला था।
दृष्टि गयी वनदेवी की भी पति की जहां गयी थी।
उसने भी देखी मुनि में वर विमल विभूति नयी थी। ३१०
प्रिय-अनुसरण-रता पत्नी ने किया प्रणाम विनयमय।
बोले मुनि प्रसन्न अति वाणी में करके रस-सञ्चय।
"हे दम्पति! प्रकोपवश मैंने तुमको शाप दिया था।
तुम्हीं बताओ क्या प्रमाद ही भर उस काल किया था।
काँटा सुमन-शरीर छेदता लोग कोसते रहते।
काँटा ही सुमनों का रक्षक—बात न कोई कहते।
तारकारि का कीर्त्तिगान कर आज प्रफुल्ल बने तुम।
समदर्शिता मिली लोचन को सरस सनेह-सने तुम।

उर में धार षड़ानन प्रभु को सारा भार गिराया।
तुमने आज महाप्रभु-जन बन जीवन का फल पाया। ३२०
मैं अतिशय प्रसन्न हूं तुमसे माँगो प्रिय कोई वर।
यद्यपि आज हो रहे हो तुम अकामता के अनुचर।"
मुनि की बात श्रवण कर दोनों प्रेम सहित मुसकाये।
फिर मधु मोहन-अधर-द्रुमों ने ये मृदु सुमन गिराये।
"देव आपके शाप ने मुझे परम कृतार्थ बनाया।
उसके ही प्रभाव से मैंने तारकारि को पाया।
मिला नहीं होता मुझको यदि विरहानल में जलना।
तो होता संभव न किसी विधि प्रभु-चरणों में ढलना।"
"हे श्रद्धेय! प्रसन्न आप हों तो हमको वर दीजे।
फिर-फिर घटना घटे इसी विधि यों संभव कर दीजे। ३३०
भ्रम के अंधकार से कढ़ कर ज्ञान-लोक में आयें।
पाकर प्रिय आलोक, तिमिर फिर विकृत रूप में पायें।"
अट्टहास कर के बोले मुनि, "तुम दोनों रस-ज्ञाता।
हास-रुदन दोनों की संगति—से उल्लास-विधाता।
जाओ, पाओगे निज अभिमत सहज सरस जीवन में।
मिलन और फिर आँख-मिचौनी खेलो जग-कानन में।"
यों कह कर आँखों से ओझल मुनि हो गये उसी छन।
गिरी कान्त के श्री चरणों पर वनदेवी विकसित-मन।
वर आनन्द-वारिधर-धारा लगी कमल-कुल धोने।
मधु-उत्फुल्ल नयन-उत्पल भी लगे सलिलमय होने। ३४०
जीवन - अमल ज्ञान ने दोनों का विषाद सब मेटा।
चंद्रकला ने कुमद - कुसुम को आज गले लग भेंटा।
चक्रवाक-दम्पति का रोना सरस हास बन आया।
पाने से भी बढ़ कर खोना रस विकासमय लाया।
"देखो प्रिये! जाह्नवी की प्रिय लहरों का लहराना।
पाकर परस कलाधर-कर का दमक-दमक सा जाना।
चलो चलें नौका पर चढ़कर छवि-रस लेते विचरें।
आज षड़ानन से जो पाया उसे जगत में वितरें।"

उठा लिया पत्नी को यह कह मधु ने चरणों पर से।
खड़े हो गये दोनों, गमने गिरिजा-गिरिजावर से। ३५०
नाव पास ही मिली मनोहर उसमें बैठे दोनों।
चली, धँसी रस की धारा में वे भी पैठे दोनों।

नाविक डाँड़ चलाता जाता तरणी छप-छप करती।
लहरों का उर चीर-चीर कर उनमें थी छवि भरती।
अमित वेग से प्राची दिशि की ओर गयी अभिरामा।
शीघ्र बनी नयनों से ओझल अति चंचला ललामा।

वनदेवी - मधुमोहन नौका गयी कहां क्या जानें।
नहीं दृगों ने देखा जिसको उसको बस अनुमानें।
कार्त्तिकेय प्रभु की करुणा का अम्बुधि जहां तरंगित।
वहीं गयी होगी सरिता सी वह अविराम उमंगित। ३६०

प्रेम भाव से श्रवण कर लिया गान क्षुद्र यह मेरा।
प्रभु ने मेरे उर भीतर का काटा सकल अँधेरा।
प्रभु मिल गये, मिले सब मुझको, विरह कहां जीवन में?
मिलन-सिंधु ही अतल तरंगित, खेद करूं क्यों मन में?

भाव-भरा अनमोल गान यह किससे मैंने पाया?
मेरे मन-मरुथल में किसने रस का स्रोत बहाया?
दलदल में फँस आप कौन वह जिसने मुझे उबारा?
ले कुरूपता-ताप कौन वह जिसने मुझे सँवारा?

एक मूर्त्ति बिजली सी चंचल चली अचानक आयी।
देख दिखा कर, मुझे जगाकर घन-अंक में समायी।३७०
अंधकार में से आयी वह अंधकार दे भागी।
अंधकार ही में मिलने को वह अतिशय अनुरागी।

विश्व-विपिन में करता उसकी खोज बना मतवाला।
चारों ओर फिरा मैं अविरत सहता कठिन कसाला।
पाया उसका हँसना मैंने बादल के रोने में।
अपना सर्वनाश करने के हित आतुर होने में।

हास-रुदन के इसी मिलन में गान मिला यह प्यारा।
रीझ गये मेरे प्रभुवर भी रस पी जिसका न्यारा।

तीता नहीं विरह लगता अब वह भी सरस सलोना।
भेद मिटा, अभेदता आयी, व्यर्थ खेद क्यों होना ?३८०

जहां मिलन यह वहीं महाप्रभु जहां महाप्रभु प्यारे।
वहीं निवास मिलेगा मुझको मैंने क्लेश बिसारे।
प्रभो ! तुम्हीं ने भेजी थी क्या चपला-चमक निराली ?
जीवन-कृत अवसादमयी सब क्लान्ति मिटानेवाली।

तो हे देव ! निवेदन मेरा चरणों में स्वीकृत हो।
बारम्बार विरह से मेरा हृदय व्यथित-पीड़ित हो।
और अन्त में पाकर तुमको मिलन विरह में पाऊं।
मिले फूल काँटे में मुझको गान यही फिर गाऊं।

॥ इति ॥

परिशिष्ट

[संशोधन-पत्र]

पृष्ठ	पंक्ति	शब्द	पृष्ठ	पंक्ति	शब्द
४३	१७	चरणों	३००	३१७	दिव्य विपिन
५७	४४३	क्या	३०२	३८६	जभी सरिता के
६८	२५५	चलता	३०४	४४६	की
७१	३४७	वर्षिणि	३०६	८३	अमल
११६	२	अरुं	३१७	३३२	नर्तन
१२५	१८६	पहनो	३२४	३७	हिम
१४४	७५६ ख	देवियो	३२५	५२	थी, नों
१७५	१३	अकरुण	३२५	५४	मूर्ति
२०७	२८	प्राणों को	३२५	६६	देखा
२०६	६४	अहो	३३४	३३७	परम
२३२	२४७	ह्रत	३४१	४१	हो
२४०	४७६	विश्रान्ता	३४१	४६	धीर
२४२	५४४	निर्ममता	३४३	१०३	हुंकार
२४५	६२४	लज्जित न	३४३	११४	बिनसा कर
२४७	६८४	ओर	३४४	१२८	हमको
२६८	३८०	प्रबल	३४६	१६७	प्रखर
२८८	१०१६	हँसती	३४८	२४१	मार्ग
२६१	५६	दिव्य विपिन	३४८	२६१	सैनिक
२६३	१३८	शत्रु	३४८	२७१	अर्जुन
२६८	२८६	तुलक मानसबल	३५०	३०१	ऊँच

पृष्ठ	पंक्ति	शब्द
३५१	३५०	हो
३५२	३८८	ही
३५३	३६८	दानवों
३५५	४६४	जो
३५६	५६८	लताएं
३६०	६१४	आश्रय
३६०	६१७	निरखते
३६६	७६४	आयगी
३६८	८५६	जीवन
३६६	८८६	बल
३७७	७२	प्रकृति
३७६	१५३	मुनि
३८१	२०६	आदेश
३६३	५७६	तुमने
३६६	६५२	रातदिन
४०३	८४८	वृत्तियां
४०६	१४६	शर
४१४	३२४	होंगे
४१५	३४४	मुनि
४२०	४७३	शृंगार
४२५	६४१	तभी
४३१	८१८	दैत्य
४४६	३४१	छोड़ो
४७६	५४८	अनियंत्रित
४७६	५४६	द्रुम
४६२	६४	डगमग
४६२	६५	मुनि
४६३	१११	गण
४६३	१११	तबतक

———